पंजाब का इतिहास

लेखक

धर्मवीर, एम्० ए०

(संपादक, "हिन्दू" तथा "आकाशवाणी," जालन्धर)

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण] १९५० [मूल्य ५)

Published by
K. Mittra.
at The Indian Press, Ltd.
Allahabad.

Printed by
Abhyudaya Press
Allahabad.

परम पूज्य राष्ट्र-नायक

के० बा० हेडगेवार

की पुण्य स्मृति में।

FOREWORD.

The story of a brave people who have for centuries acted as the sword-arm of our mother land, fought and repelled many an invading horde from the North-West, and struggled, hard and with considerable success, when defeated and subjugated by superior numbers and military skill, to save their religion and culture from the onslaught of their foreign rulers, is a fascinating theme for poets and patriots as well as for historians. And yet no uptodate history of the Panjab, now unhappily torn into two unequal and irreconcilable divisions, exists in any language. Shri Dharmavira has undertaken the laborious but patriotic duty of constructing a connected and uptodate narrative of the doings of the people whose progenitors were the first men and women to chant the Vedic hymns and to hold aloft the torch that has served as the beacon light of our entire race, and influenced for many centuries the life and thought of our neighbours who looked to our more fortunate ancestors for inspiration and guidance. The discerning eye of the critical reader will notice in the pages of this learned work that inspite of many ups and downs of fortune and their having been profoundly influenced by foreign thought and mode of life as the result of their long contact with foreign peoples, the Panjabis have not abandoned the ideals and aspirations that characterised our common ancestors of the ancient age. This book will not only serve as a convenient history of the Panjab for the general reader but will also act as warning against the pitfalls of the past. It is designed to impart courage and strength and inspire faith in our future. Shri Dharmavira deserves congratulations on the publication of this learned production.

Agra College,
Agra.
March 28, 1950.

A. L. Srivastava,
M.A., Ph.D., D.Litt (Luck).,
D.Litt (Agra).
Professor & Head of the Deptt.
of History & Political Science.

प्राक्कथन

जिन वीर लोगों ने कई शताब्दियों तक हमारी मातृभूमि की रक्षा की है, जिन्होंने उत्तर-पश्चिम से आनेवाले अनेक आक्रमणकारी दलों से युद्ध किये और उन्हें पछाड़ा और जिन्होंने अधिक संख्या तथा प्रबल सैन्य-शक्ति के कारण पराजित होने पर अपने धर्म तथा संस्कृति पर विदेशी शासकों के आक्रमणों के विरुद्ध सफलता-पूर्वक घोर संघर्ष किया उनकी कथा कवियों तथा देशभक्तों और इतिहास के लेखकों के लिए आकर्षक विषय है। फिर भी पंजाब का, जिसके अब दुःख से कहना पड़ता है, दो असम तक असंधेय टुकड़े कर दिये गये हैं, आज तक का इतिहास किसी भाषा में नहीं मिलता।

इसे देशभक्ति का कार्य समझते हुए श्री धर्मवीर ने बड़ा श्रम करके उन लोगों के कारनामों का आज तक का क्रमबद्ध इतिहास तैयार किया है जिनके पूर्वज स्त्री पुरुषों ने सर्वप्रथम वेद-मंत्रों का उच्चारण किया और उस ज्योति को थामे रखा जो हमारी जाति के लिए आज तक ज्योति स्तंभ का कार्य कर रही है और जिसने हमारे उन पड़ोसियों के जीवन तथा विचारों को कई शताब्दियों तक प्रभावित किया जो हमारे अधिक सौभाग्यवान पूर्वजों से स्फूर्ति एवं पथप्रदर्शन की आशा करते थे।

इस विद्वत्तापूर्ण कृति के पृष्ठों में समालोचक की खोजनेवाली दृष्टि को मालूम होगा कि यद्यपि पंजाबियों के भाग्य ने कई उथल-पुथल देखे हैं और विदेशियों के साथ रहने के कारण उनके विचारों तथा रहन-सहन पर बहुत प्रभाव पड़ा है, तो भी उन्होंने उन आदर्शों तथा महत्त्वाकांक्षाओं को नहीं छोड़ा जो हम सबके प्राचीन पूर्वजों की विशेषता थे।

यह पुस्तक सामान्य पाठक के लिए पंजाब के इतिहास का काम तो देगी ही, इसके साथ ही भूतकाल में की गई भूलें भी बतलायगी, ताकि हम भविष्य में उन्हें न करें। पुस्तक से हमें प्रोत्साहन तथा शक्ति का संदेश मिलता है और अपने भविष्य के विषय में विश्वास उत्पन्न होता है। इस विद्वत्ता-पूर्ण कृति के प्रकाशन पर श्री धर्मवीर बधाई के पात्र है।

आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव

एम्० ए०, पी० एच० डी०, डि० लिट० (लख०),
डि० लिट (आगरा),
इतिहास तथा राजनीति के
अध्यापक तथा विभाग के अध्यक्ष।

आगरा कालेज,
आगरा
२८ मार्च, १९५०

कृतज्ञता-प्रदर्शन

यह पुस्तक एक दृष्टि से मेरी नहीं है। इधर-उधर से सामग्री जुटा कर उसका नाम 'पंजाब का स्फूर्तिदायक' इतिहास रख दिया गया है। कई वर्ष हुए, प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता श्री भाई परमानंदजी ने उर्दू में योरप तथा भारत के इतिहास के संबन्ध में कई एक पुस्तकें लिखी थीं। इनमें से दो 'तारीख़ पंजाब' और 'तारीख़ योरप' के लिखने में मुझे भी उन्हें सहयोग देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। 'तारीख़ योरप' का हिंदी रूपान्तर तो मैंने ही किया, (जिसे इंडियन प्रेस ने प्रकाशित किया)। 'तारीख़ पंजाब' आजकल अनुपलब्ध है। एक प्रकार से उसे ही आधार बना कर यह पुस्तक तैयार की गई है। इसलिए आदरणीय भाईजी का मैं बहुत कृतज्ञ हूँ।

इसके अतिरिक्त इन पुस्तकों से बड़ी सहायता मिली है—सैयद मुहम्मद लतीफ़-कृत 'हिस्ट्री ऑव दि पंजाब', श्री अविनाशचन्द्र दास-कृत 'ऋग्वेदिक इंडिया,' श्री चिंतामणि विनायक वैद्य-कृत 'हिस्ट्री ऑव् दि संस्कृत लिट्रेचर,' 'हिस्ट्री ऑव् मिडीवल हिंदू इंडिया' तथा 'एपिक इंडिया,' जे० आर० सीले-कृत 'एक्सपैंशन ऑव् इंग्लैंड,' कर्नल मैलि-सन-कृत 'डिसाइसिव बैटल्स ऑव् इंडिया' मेजर ह्यू पर्स-कृत 'मेमा-यर्स ऑव् एलैक्ज़ांडर गार्डनर,' श्री संपूर्णानन्द-कृत 'आर्यों का आदिदेश,' श्री कृष्णवल्लभ द्विवेदी-कृत 'भारत-निर्माता,' तथा अध्यापक डि० आर० भांडारकर-कृत 'स्लो प्रोग्रेस ऑव् इस्लाम इन् एनशेंट इंडिया,' श्री संतराम-कृत 'रणजीत-चरित,' संत सूरजसिंह-कृत 'चमकदे लाल' तथा डाक्टर हरिश्चन्द्र सेठ-कृत 'एक और एले-क्ज़ेंडर'। इन सब के लेखकों तथा प्रकाशकों का आभार मानता हूँ। मान-चित्र 'ऋग्वेदिक इंडिया' तथा 'हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिट्रेचर' से लिये गये हैं।

लेखक

वक्तव्य

काफ़ी देर से यह आवाज़ कानों में आ रही थी कि सर्वसाधारण के लिए हिंदी में पंजाब का इतिहास नहीं है, इस अभाव की पूर्ति होनी चाहिए। कुछ एक अधिकारी सज्जनों से इस विषय में कहा गया, परंतु एक या दूसरे कारण से यह काम नहीं हुआ। इस देश में पत्रकार तो प्रायः ऐसी पुस्तकें लिख ही नहीं सकते जिनमें अन्य ग्रन्थों का आधार लेना पड़े। कारण, हिन्दी पत्रकार की वर्तमान परिस्थिति में उसके पास इतना समय नहीं रहता। लेकिन भला हो रोग का कि उसके कारण लगभग तीन मास तक वर्तमान लेखक को घर पर क़ैद रहना पड़ा। मित्रों आदि से मिलना खतरनाक था (डर था कि किसी अन्य को भी यह मुसीबत चिमट न जाय)। इसलिए अपने पूज्य पूर्वपुरुषों की सुसंगति का सौभाग्य मिल गया। बहुत आनंद प्राप्त हुआ। उसी का यह एक फल है।

एक दृष्टि से यह इतिहास नहीं है। इसमें तो प्रायः उन आन्दोलनों का वृत्त है जो इस प्रांत के हिन्दुओं के द्वारा भिन्न-भिन्न समयों पर चलाये गये हैं। वे आन्दोलन राजनीतिक थे, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक भी। इन्हीं के अध्ययन को इस पुस्तक में एक प्रकार से इतिहास समझा गया है।

पुस्तक में छोटे-बड़े दस प्रकरण हैं। यहाँ हम एक-एक प्रकरण को लेते हैं। पहले में इतिहास का विवेचन किया गया है। इतिहासवेत्ता सीले का मत है कि इतिहास और राजनीति वास्तव में एक ही विद्या के दो नाम हैं। इतिहास के विद्यार्थी को इसके अध्ययन से सब से बड़ा प्रसाद यह मिलता है कि उसे स्थूल रूप से वे घटनाएँ भी दिखाई देने लगती हैं जो भविष्य के गर्भ में छिपी होती हैं। जिस मनुष्य

को इतिहास का सत्य ज्ञान है वह आगे होनेवाली बातें मोटे तौर पर बता सकता है। इस दृष्टि से इतिहास-वेत्ता को राजनीतिक ज्योतिषी या भविष्यवक्ता कहा जा सकता है।*

दूसरे प्रकरण से पंजाब का इतिहास आरंभ होता है। संसार के इतिहास में भारत का क्या स्थान है? और, भारत के इतिहास में पंजाब का क्या महत्त्व है?—इस प्रकार की बातें इस प्रकरण में दी गई हैं।

तीसरा प्रकरण बड़े महत्त्व का है। इसका संबंध वेद और वैदिक साहित्य से है। इससे पता चलता है कि हिंदुओं के पूर्वजों ने किस प्रकार दक्षिण भारत, ईरान, असीरिया, बेबिलोनिया, मिस्र आदि में अपनी सभ्यता का प्रसार किया। आध्यात्मिकता तथा तत्त्व-दर्शन की दृष्टि से ये लोग कितने ऊँचे उठे, यह बात उपनिषदों के अध्ययन से मालूम हो जाती है।

चौथे प्रकरण के आधार-स्तंभ रामायण तथा महाभारत हैं। इन दो के अतिरिक्त भगवद्गीता एक महारत्न है। जो जाति या सभ्यता ऐसे रत्नों का निर्माण कर सकती है वह कभी मर नहीं सकती। उसे तो शायद अमरत्व का वरदान मिला हुआ है।

पाँचवें प्रकरण से पता चलता है कि प्राचीन हिंदू एकांगी नहीं थे। वे सभी क्षेत्रों में उन्नति करना जानते थे। विदेशियों को वे आक्रमणकारी के रूप में अपने यहाँ आने की इजाज़त न दे सकते थे। वे अतिथि के तौर पर आते तो हिंदू उनका आदर-सत्कार करते। यही नहीं, अपनी संस्कृति के प्रसार के लिए अनेकों विद्वान्, राजकुमारों तथा अन्य वर्गों के युवकों ने गृह-त्याग कर चीन आदि देशों में जीवन व्यतीत किया और पूर्व तथा पश्चिम के अनेक देशों में हिंदू सांस्कृतिक साम्राज्य स्थापित किया।

---

* देखिए परिशिष्ट क।

छठे प्रकरण के अध्ययन से पता चलता है कि भारत के एक-दो पंथों ने जीवन के एक अंग पर अपेक्षतया बहुत ज़ोर देकर महा भूल की। निर्वाण तथा मोक्ष की धुन हिन्दुओं पर ऐसी सवार हुई कि वे इह-लोक को एक प्रकार से भूल ही गये। इस पर बाहर की बर्बर शक्तियों ने आकर उनको बुरी तरह से झँझोड़ा, लताड़ा और अपमानित किया। वे स्वार्थ का त्याग कर परमार्थ की ओर चले थे। परंतु यह बात भूल गये थे कि एक दृष्टि से परमार्थ का आधार सामाजिक स्वार्थ होता है। राष्ट्रीयता की भावना लुप्त हो जाने से हिंदू पहाड़ की चोटी से फिसल कर खड्ड में जा गिरे।

सातवें प्रकरण से विदित होता है कि जब इन्हें होश आया तब गुरु गोविंदसिंह और वीर बैरागी-जैसे पुरुष-रत्न उत्पन्न हुए। ऐसे राष्ट्र-पुरुष हिन्दू जाति ही पैदा कर सकती थी।

आठवें प्रकरण से पता चलता है कि महापुरुष उगलनेवाली रत्न-गर्भा भूमि का शक्ति-स्रोत बन्द नहीं हुआ। उसने रणजीतसिंह और हरिसिंह-जैसे वीरों को जन्म दिया। जहाँ पर गुरु गोविंदसिंह ने हिंदुओं को मरने का क्रियात्मक शिक्षण दिया वहाँ पर वीर बैरागी, रणजीतसिंह और हरिसिंह ने उन्हें अत्याचार के उन्मूलन का क्रियात्मक पाठ पढ़ाया। फलस्वरूप जो नदी एक हज़ार वर्ष तक उत्तर-पश्चिम से पंजाब की तरफ़ बहती रही उसका मुँह मोड़ कर उसे वहाँ पहुँचा दिया गया जहाँ से वह निकली थी। आक्रमणकारिता को मार-मार कर पहले गड्ढा बना दिया गया और फिर कान से पकड़ उसी के घर ले जाकर छोड़ दिया गया।

इस प्रकरण के उत्तरार्द्ध के साथ नवें प्रकरण को पढ़ने से आंतरिक वेदना होती है। जब मानवता पशुत्व में विलीन हो जाय तब परिणाम दुःखजनक ही होता है। राजपुरुषों ने सेना के रूप में अपने हाथ-पाँव जान-बूझकर विदेशियों से कटवाने का नित्य प्रयत्न किया। नतीजा यह निकला कि सारा राज्य लूला-लँगड़ा होकर मर गया।

अंतिम प्रकरण में नवीन युग के आन्दोलनों का उल्लेख है। इनमें से कुछ का विवेचन विस्तार से नहीं किया गया, क्योंकि इनको अभी पचास बरस नहीं हुए और इतिहास में पचास वर्ष से कम उम्र की घटनाओं का विवेचन प्रायः नहीं हुआ करता।

इस इतिहास का अध्ययन करने से वर्तमान लेखक को प्रायः स्फूर्ति ही मिली है। आठवें के उत्तरार्द्ध और नवें प्रकरणों का वृत्त सुन कर दयानन्द कालेज, लाहौर, के अध्यापक श्री महावीरजी ने एक बार कहा—"स्फूर्ति-दायक! यह तो अश्रुदायक इतिहास है!" एक हद तक यह बात ठीक है। फिर भी सामान्यतः यह इतिहास स्फूर्ति-दायक है। जिस जाति की आयु पचास-साठ हज़ार वर्ष (या इससे भी अधिक) है, जिस जाति ने पूर्व तथा पश्चिम की अनेक जातियों को ज्ञान, विज्ञान तथा कलाएँ प्रदान कीं, जिस जाति ने अपने सामर्थ्य से संसार के बड़े भाग में अपना सांस्कृतिक साम्राज्य स्थापित किया, जो जाति कृष्ण, व्यास, शङ्कर, पतंजलि, कौटिल्य, चन्द्रगुप्त, नानक, गोविन्दसिंह, वीर बैरागी, वीर हकीकत राय और हरिसिंह-जैसे महापुरुष उत्पन्न कर सकती है वह कितनी महान् है, इसका अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है। यही क्यों? इस जाति का शक्ति-स्रोत सूखा नहीं। हमारा तो विश्वास है कि इसने अमृत पान कर रखा है, अमरत्व इसे विरसे में मिला है। इसलिए यह एक बार फिर अपना उच्च आसन ग्रहण करेगी। इतिहासवेत्ता की सूक्ष्म दृष्टि यही देख रही है।

इस पुस्तक की त्रुटियों को जितना लेखक जानता है उतना और कोई नहीं जानता। उनके लिए वह विज्ञ पाठकों से क्षमा चाहता है।

लेखक

विषय-सूची

१ : इतिहास और हिन्दू (१-३४)

आवश्यकता १; भूत और वर्तमान २; इतिहास का महत्त्व ३; इतिहास में संयोग ५; इतिहास का तत्त्वदर्शन ७; मनुष्य का सामूहिक जीवन १०; इतिहास में आचार-नीति १०; हिन्दू और संगठन १२; समाज और जीवन १४; मानवीय सभ्यता की विभिन्न अवस्थाएँ १६; सहयोग १८; विभिन्न जातियों के जन्म २०; मानव-समाज और घटना-क्रम २७; जाति का सच्चा इतिहास क्या है ? २६; क्या प्राचीन हिन्दुओं को इतिहास का ख़याल न था ? ३२ ।

२ : पंजाब (३५-४७)

पंजाब आर्यों का आदि देश है ३५; भारत के इतिहास में पंजाब का भाग ३६; पंजाबियों का चरित्र ३७; पृथ्वी की आयु ३८; जलवायु का प्रभाव ३६; वर्तमान पंजाब ४०; द्राविड़ आदि ४२; आर्य ४३; आर्य नसल की अन्य शाखाएँ ४६ ।

३ : वैदिक-काल (४८-८६)

योरप के इतिहास का स्रोत ४८; वेद और हिन्दू ५०; आर्यों का आदि देश—सप्तसिंधव ५२; सरस्वती ५८; सप्तसिंधव की भूमि ५६; जनपद ६०; उपज ६०; दास या दस्यु ६४; देवासुर-संग्राम ६६; दक्षिण और पणि लोग ६७; पणियों का फैलाव ६८; असीरिया ६६; बेबि-

लोनिया ६६; मिश्र आदि की सभ्यता ७२; वैदिक समाज ७५; सभा आदि ७८; वेद में राजनीति ८०; वैदिक साहित्य ८२; व्यक्तिगत जीवन ८६।

४ : महाभारत-काल (९०-१३०)

इतिहास का विभाजन ९०; नवीन युग ९१; महाभारत ९२; भारत का भूगोल ९४; राजनीतिक अवस्था ९७; राजा की शक्ति १०१; राजमंत्री आदि १०३; न्याय-प्रबंध १०४; महकमा माल १०५; राजनीति तथा युद्ध १०७; सामाजिक अवस्था १११; स्त्री की स्थिति ११४; धर्म और साहित्य ११६; भगवद्गीता १२०; उद्योग-धंधे १२१; रूप-रंग तथा वेश १२३; भोजन आदि १२६।

५ : बौद्ध-काल (१३१-२०७)

पंजाब पर बाह्य आक्रमण १३२; गौतम बुद्ध का जन्म १३४; देश की अवस्था १३७; पंजाब में सिकन्दर १४०; तक्षशिला १५०; मौर्यवंश का शासन १५८; कनिष्क १६६; गुप्तवंश १६७; फाह्यान १६९; तोरमाण तथा मिहिरकुल १७०; हर्षवर्द्धन १७२; बौद्ध संघ १७५; चीन में भारतीय पंडित १८४; कुमारजीव १८७; गुणवर्मन १९०; जिनगुप्त १९३; अमोघवज्र १९५; ह्युएनसांग १९६; काश्मीर १९७; ह्युएनसांग के समय का भारत १९९।

६ : इसलाम का चक्र (२०८-२७६)

संघर्ष का परिणाम २०८; अल्बेरूनी का भारत-चित्र २११; इसलाम का जन्म तथा उत्कर्ष २१८; महमूद के आक्रमण २२५; गजनी और लाहौर २३१; लाहौर और देहली २३६; खिलजी शासन २४०; तुगलक राज्य २४५; गक्खड़ों का नेता जसरत २४६; मुगल-शासन २४९; शेरखाँ २५१; अकबर २५३; जहाँगीर २५९; नूरजहाँ २६१; शाहजहाँ २६३; औरंगज़ेब २६५; बहादुरशाह २७०; नादिर २७३।

७ : हिंदू-जाग्रति (२७७-४०४)

गत एक हज़ार वर्ष २७७; प्रतिक्रिया २८२; गुरु नानक का आन्दोलन २८३; मज़हबी स्वतंत्रता २८७; गुरु नानक २८९; गुरु अंगद २९१; गुरु अमरदास २९३; गुरु रामदास २९६; गुरु अर्जुन २९८; गुरु हरगोविंद ३०१; गुरु हरराय ३०७; गुरु तेगबहादुर ३०९; गुरु गोविंदसिंह ३११; वीर वैरागी ३२९; तत्खालसा का पश्चात्ताप ३४३; दुरात्मा हक़ीक़तराय ३४५; खालसा का संघर्ष ३४८; अब्दाली ३५४; मीर मन्नू ३५५; जस्सासिंह ३६०; राघोबा ३६२; लाहौर में सिख ३६८; मिसलें ३७१; भंगी मिसल ३७७; रामगढ़िया मिसल ३८३; कन्हैया मिसल ३८४; निक्की मिसल ३८६; आहलूवालिया मिसल ३८७; डाली-वालिया मिसल ३९१; निशानवाला मिसल ३९१; फ़ैज़लपुरिया मिसल ३९१; करोड़ासिंह मिसल ३९२; शहीद या निहंग मिसल ३९२; फुलकियाँ मिसल ३९२; जींद ३९५; नाभा ३९५; सुखरचकिया मिसल ३९६।

८ : महाराज रणजीतसिंह (४०५-५२५)

पंजाब की राजनीतिक अवस्था ४०५; ईर्षा और षड्यंत्र ४०५; पहाड़ी राजाओं से राजस्व ४०८; कसूर ४११; गुजरात और वज़ीराबाद ४१२; अंगाला ४१३; निक्की तथा फ़ैज़लपुरिया मिसलें ४१४; झंग ४१४; मुलतान ४१५; डेरा इस्माईलखाँ, डेरा गाज़ीखाँ और हज़ारा ४२०; काश्मीर ४२३; सतलज पार की सिख रियासतें और अँगरेज़ ४३५; काबुल और पेशावर ४४१; काबुल-राज्य ४४६; काबुल और अँगरेज़ ४५५; महाराज की मुलाक़ातें ४५६; कुँअर नौनिहालसिंह का ब्याह ४६५, जन तथा धन ४७१; कुँआह के दीवान ४७५; डोगरा घराना ४७८; मिश्र दीवानचंद ४७९; वीर हरिसिंह नलवा ४८०; फ़क़ीर भाई ४८२; भवानीदास आदि ४८२; योरपीय अफ़सर ४८३; बीमारी और मृत्यु ४८४; चरित्र ४८८; अंधेर ४९६; नौनिहालसिंह ४९७; रानी

चंदकौर ४९९; शेरसिंह ५०४; सिंधियांवाले सरदार ५०६; हीरासिंह ५१०; दिलीपसिंह ५१५; पेशावरासिंह तथा काश्मीरासिंह ५१७; सुचेतसिंह ५१८; बाबा बीरसिंह ५१९; जल्ला पंडित ५२०; जवाहरसिंह ५२२।

९ : पंजाब में अँगरेज़ी राज्य (५२६-५९६)

अँगरेज़ों का आगमन तथा उन्नति ५२६; मराठों का उत्कर्ष ५३०; अँगरेज़ और पंजाब का साम्राज्य ५३५; अँगरेज़ों से युद्ध ५४१; पंजाब का नवीन प्रबन्ध ५५०; मुलतान का विद्रोह ५६३; रानी जिंदां का निर्वासन ५६८; अटारी के सरदार ५७२; अँगरेज़ों और सिखों में दूसरा युद्ध ५८३।

१० : नवीन युग (५९७-६३५)

स्वतंत्रता का अंत ५९७; सन् सत्तावन ५९९; नामधारी आन्दोलन ६०५; आर्यसमाज ६१२; इंडियन नेशनल कांग्रेस ६१९; स्वदेशी तथा स्वराज्य-आन्दोलन ६२१; असहयोग ६२६; गुरुद्वारा-आन्दोलन ६३०।

परिशिष्ट अ

अँगरेज़ भारत को कब छोड़ेंगे ? ६३६।

परिशिष्ट आ

भारत में सिकंदर की पराजय हुई ६४७।

परिशिष्ट इ

फतहनामह ६५३।

परिशिष्ट क

महाराज रणजीतसिंह का मृत्यु दल ६५८।

परिशिष्ट ख

वीर हरिसिंह और पठान ६६२ ।

परिशिष्ट ग

वीर हरिसिंह और .खैबर ६६५ ।

परिशिष्ट घ

पंजाब के कुछ वर्तमान मुसलमान घराने ६७१ ।
पाकिस्तान बनने से पूर्व और बाद में ६७५ ।

पहला प्रकरण

इतिहास और हिन्दू

प्रदीपा सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणाम् विद्योद्देशे प्रकीर्तिता ॥

(कौटल्य अर्थशास्त्र ।)

यह (इतिहास) समस्त विद्याओं तथा शास्त्रों का दीपक है, सब कर्मों का उपाय है और सभी धर्मों का आधार है।

मानव-समाज की उत्पत्ति, उन्नति और अवनति का वृत्तांत उसका इतिहास कहलाता है। यह आवश्यक नहीं कि किसी एक ग्रन्थ में इन सबका उल्लेख पाया जाय। इसमें से किसी एक का वृत्तान्त भी इतिहास कहला सकता है।

आवश्यकता—अपनी वर्त्तमान परिस्थिति को अच्छी तरह से समझने के लिए इतिहास का जानना बहुत आवश्यक है। मानव-समाज का जो चित्र हम अपनी आँखों के सामने देखते हैं, उसकी सुस्पष्ट व्याख्या इतिहास करता है। यह उसका एक बड़ा कार्य है। इतिहास हमें बतलाता है कि यह सब कुछ क्योंकर और कैसे हुआ। उदाहरणार्थ हम पंजाब में देखते हैं कि यहाँ पर हिन्दू (जिनमें सिक्ख सम्मिलित हैं) आबाद हैं और मुसलमान भी। इस प्रान्त में हिन्दुओं और मुसलमानों की रियासतें भी हैं। फिर भी समस्त पंजाब अँगरेजों के अधीन है। इतिहास के अध्ययन से हम यह मालूम कर सकते हैं कि हम पर शासन करनेवाली अँगरेज जाति कहाँ से, क्यों और किस तरह आई और किस प्रकार उसने पंजाब पर अपना अधिकार कर लिया? सिक्ख कैसे उत्पन्न हुए और उनकी वर्त्तमान रियासतें कैसे बन गईं? सिक्खों के अन्दर साम्प्रदायिक

और राजनीतिक जोश इतने जोर से क्यों पाया जाता है? मुसलमान कहाँ से आये? इनका इस देश से क्या संबंध रहा है? इस देश के प्रति इनकी धारणा एक विशेष प्रकार की क्यों है? इनके मजहबी मतभेद और जोश के अन्तस्तल में कौन-सा विचार काम करता है? पंजाब में मुसलमानों की संख्या इतनी अधिक कैसे हो गई? हिन्दू कौन हैं? इनका इस देश से क्या सम्बन्ध है? मुसलमानों को वे अभी तक पराया क्यों समझते हैं? इन सब और ऐसे ही अन्य प्रश्नों के उत्तर हमें इतिहास के अध्ययन से मिलते हैं।

भूत और वर्त्तमान—हमारी वर्त्तमान अवस्था पहले की अवस्थाओं का परिणाम है। यह एकाएक या एक ही समय नहीं पैदा हो गई, बल्कि यह उन हजारों परिवर्त्तनों के कारण उत्पन्न हुई है जिनसे हमारे पूर्वजों को गुजरना पड़ा है। ये परिवर्त्तन भी स्वयमेव या अचानक नहीं हुए, प्रत्युत सतत काम करनेवाले कार्य-कारण की एक शृङ्खला का परिणाम है। यह क्रम सारी प्रकृति और प्रकृति के द्वारा सभी मनुष्यों के अन्दर चिरकाल से काम करता चला आता है। जिस प्रकार वर्त्तमान युग गत अवस्थाओं के कारण बना है, उसी प्रकार आनेवाला युग इन सभी अवस्थाओं से बन रहा है। जितनी दूर पीछे तक हम विचार कर सकते हैं, उतनी दूर तक यह सिद्धान्त या नियम काम करता हुआ दिखाई देता है। कौन कह सकता है कि एक हिन्दू के वर्त्तमान जीवन का कितना बड़ा भाग रामायण और महाभारत की शिक्षा का फल है? रामायण और महाभारत की घटनाएँ हजारों बरस हुए, इस देश में घटीं। परन्तु एक हिन्दू के दैनिक जीवन तथा भावनाओं से मालूम होता है कि जैसे वे अभी घट रही हैं। वेद उनसे भी हजारों वर्ष पूर्व रचे गये। परन्तु इस समय

भी हम यह देखते हैं कि वेदों की शिक्षा देनेवाले ऋषि हमारे कानों में वैसे ही मीठे स्वर से गायन कर रहे हैं, जैसे वे हजारों वर्ष पूर्व किया करते थे। एक हिन्दू बहुत जल्दी उस सारी उन्नति को जान जाता है, जो इस जाति ने हजारों वर्षों में की है।

इतिहास का ज्ञान हमारे जीवन को अपरिमित रूप से लम्बा कर देता है। कहा जाता है कि पिछली शताब्दी में विज्ञान ने जो उन्नति की है, उसका एक बड़ा चमत्कार यह है: इस पृथ्वी पर और इस पृथ्वी और अन्य ग्रहों के बीच फ़ासले को उसने काट दिया है। भाप और बिजली की सहायता से किये गए आविष्कारों ने इस पृथ्वी पर दूर-दूर रहनेवाली जातियों को इतना निकट कर दिया है कि हमें अपने घर में बैठे-बैठे मिनट-मिनट के बाद यह खबर पहुँचती रहती है कि संसार के किस भाग में क्या हो रहा है। जो फ़ासला हम कई वर्षों में तय करते थे, उसे अब कुछ दिनों में तय करके हम दूसरे लोगों से मेल जोल और व्यापार कर सकते हैं। कई यंत्रों के कारण अन्य ग्रहों आदि के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान भी बढ़ रहा है।

जिस प्रकार विज्ञान फ़ासले—देश—को काटकर कम कर देता है, उसी प्रकार इतिहास हमारे लिए समय—काल—को काटकर बहुत छोटा कर देता है। फ्रान्स की क्रान्ति पर एक पुस्तक पढ़ते हुए हम यह अनुभव करते हैं कि उस क्रान्ति की घटनाओं को हम अपनी आँखों से देख रहे हैं। हमारा जीवन स्वयमेव डेढ़ सौ वर्ष के लगभग लम्बा हो जाता है। जब हम रामायण पढ़ते या सुनते हैं, तो हमें अनुभव होता है कि हम उसी युग के भारत में रहते हुए उस युग की सामाजिक अवस्था को अपनी आँखों से देख रहे हैं। इस प्रकार हमारे कुछ वर्षों का जीवन कई हज़ार बरस लम्बा हो जाता है।

इतिहास का महत्त्व—यदि पिछले युगों की घटनाओं का

ज्ञान विद्यमान न हो तो हमारा वर्त्तमान और भविष्य बिलकुल कोरा हो जायगा और हम अपने आपको शून्य के महासागर में उस कण के समान लटकता हुआ पायँगे, जिसका कोई आगा-पीछा नहीं है। इतिहास का सबसे बड़ा लाभ यह है कि हम उसके अध्ययन से पिछले समस्त मानव-अनुभव का ज्ञान प्राप्त करके उससे अनेक बातें सीख सकते हैं। यह ज्ञान हमारे अन्दर जितना अधिक बढ़ता है, उतनी ही अधिक हम उन्नति करने के योग्य बन जाते हैं। इसी के द्वारा हमें उन कानूनों का पता लगता है जो हमें व्यक्तिगत और समष्टिगत उन्नति में काम आते हैं। वैयक्तिक जीवन को स्थिर रखने और ऊँचा उठाने के लिए जो नियम मनुष्य मालूम करता है, वही हमारे धर्मशास्त्र अर्थात् मज़हबी और नैतिक क़ानून बन जाते हैं। एक प्रकार से समष्टिगत जीवन को ऊँचा-नीचा करनेवाले क़ानूनों को राजनीति-शास्त्र कहा जाता है। नैतिक नियमों को तोड़ना हमारे वैयक्तिक ज़ीवन के लिए घातक होता है। इसी प्रकार समष्टिगत जीवन के क़ानून तोड़ना हमारी उन्नति के लिए विनाशकारी होता है। कई जातियों में अपनी सामूहिक शक्ति का घमंड इतना बढ़ जाता है कि वे मनुष्य की व्यक्तिगत विशेषताओं की सर्वथा उपेक्षा करने लग जाती हैं। कुछ समय तक उनको इस निर्बलता का ज्ञान नहीं होता। परन्तु समय आता है जब उन्हें किसी ऐसी जाति से वास्ता पड़ता है, जिसमें सामूहिक विशेषताओं के साथ-साथ वैयक्तिक गुण भी प्रबल होते हैं। तब वे टक्कर खाते ही चूर-चूर हो जाती हैं। इसी प्रकार एक जाति के व्यक्तियों का सारा ध्यान अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं में लग जाता है। अब जब उन्हें सामूहिक शक्तिवाली जाति से मुक़ाबला पड़ता है, तो उनके व्यक्तिगत गुण उन्हें बचा नहीं सकते।

संसार में कई जातियों ने उन्नति की। इससे उनका गर्व बढ़ा

और उन्होंने दूसरों पर प्रभुत्व प्राप्त किया इस। प्रभुत्व के कारण उन्हें बहुत सा धन मिला। इस आर्थिक उन्नति का परिणाम यह हुआ कि उनमें विलासप्रियता आगई। इससे उनमें वह उदासीनता और सुस्ती आई जिसने उनको कमजोर करके नष्ट कर दिया।

उन्नति के अन्दर ही घमंड का बीज होता है। घमंड के अंदर दूसरों पर प्रभुत्व का, प्रभुत्व में विलासप्रियता और विलास प्रियता में विनाश का बीज पाया जाता है। कई ऐसी जातियों के उदाहरण हमारे सामने हैं जिनमें उन्नति का रुख दूसरी तरफ चला गया। उनमें हम न जातीय घमंड देखते हैं, न दूसरों पर प्रभुत्व की इच्छा। उनकी उन्नति उन्हें सांसारिक घमंड तथा प्रभुत्व की इच्छा पर लात मारकर इनसे ऊपर आध्यात्मिकता की ओर ले जाती है। इससे वैयक्तिक ऊँचाई के गुण उत्पन्न हो सकते हैं, परन्तु सामूहिक जीवन निर्बल हो जाता है। तब उन्हें यह बात भूल जाती है कि यह संसार बड़ी भारी संघर्ष-स्थली है। प्रकृति के इस नियम की उपेक्षा कर वे भी एक अन्य प्रकार की सुस्ती का शिकार हो जाते हैं, जो उनके विनाश का कारण सिद्ध होती है। बात विचित्र है, लेकिन है सत्य कि एक तरफ घमंड का होना और दूसरी तरफ घमंड का न होना, दोनों में जाति के विनाश का बीज पाया जाता है।

इतिहास में संयोग—मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में हम देखते हैं कि उससे एक छोटी-सी भूल हो जाती है। परन्तु इससे उसके समस्त जीवन का नक्शा बदल जाता है। ट्रामकार से एक आदमी सफ़र कर रहा है। उसका पाँव फिसल जाता है जिसके कारण उसके शरीर का एक हिस्सा कट जाता है। परिणामस्वरूप शेष जीवन के लिए वह एक तरह से नाकारा बन

जाता है। इसी प्रकार की दुर्घटनाएँ हम जातियों के जीवन में भी देखते हैं। बड़ी-बड़ी क्रांतियों या युद्धों के समय हमें कई बार यह कहने का अवसर मिलता है कि यदि यह न होता तो भविष्य का इतिहास बदल जाता।

एक बड़ा प्रश्न है—जातियों के इतिहास में संयोग का कितना भाग है और छोटी-छोटी दुर्घटनाओं का इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ता है? इसका उत्तर दो भिन्न तरीकों से दिया जा सकता है। पहला तो तर्क से सम्बन्ध रखता है। यद्यपि वैयक्तिक जीवन की तरह राष्ट्रीय जीवन में भी दुर्घटनाएँ होती हैं तो भी उनका स्थायी प्रभाव उसी अवस्था में होता है, जब जाति के अंदर उनको पैदा करनेवाली निर्बलता अधिक पाई जाती है। जो मनुष्य ट्राम से फिसलकर अपने आपको सदा के लिए लँगड़ा बना लेता है, उसके स्वभाव में एक प्रकार की लापरवाही पाई जाती है जो ऐसे नाजुक मौके पर उसे उदासीन बना देती है। यह लापरवाही यदि उस समय अपना परिणाम न उत्पन्न करती, तो किसी अन्य अवसर पर इसके कारण वैसा ही परिणाम होता। वैयक्तिक जीवन के समान जातीय अवस्था में भी जाति में कुछ ऐसे नुक़्स आ जाते हैं, जो उसे ग़लतियों का शिकार बना देते हैं और इससे उसके शत्रुओं को बहुत लाभ पहुँचता है। उदाहरणार्थ जब एक जङ्गी अफ़सर युद्ध क्षेत्र में कमज़ोरी दिखाता है या अपने राष्ट्र के साथ घात करके शत्रु से जा मिलता है, तो यह केवल संयोग की बात नहीं होती। इसका अर्थ तो यह है कि उस जाति में राष्ट्र-भक्ति की सम्भावना इतनी निर्बल हो चुकी है कि वह अपने लिए पथ-प्रदर्शक चुनने में अच्छे-बुरे की पहचान नहीं कर सकती या इस राष्ट्रीय निर्बलता के कारण उसके नेता भी निर्बलता का शिकार बन जाते हैं।

प्रश्न का दूसरा उत्तर यह है: कुछ नाजुक मौक़ों पर

प्रकृति की ओर से दुर्घटनाएँ हो जाती हैं जिनका प्रभाव इतिहास पर चिरस्थायी होता है। इससे यह निष्कर्ष निकालना आसान है कि ऐतिहासिक घटनाओं की गति में कोई छिपी हुई शक्ति काम करती, है जिसे हम संयोग या भावी कह सकते हैं। इसी गुप्त शक्ति को कुछ दर्शनवेत्ताओं ने ईश्वरीय शक्ति नाम दिया है। उनका कहना है कि संसार में जो कुछ होता है वह विशेष नियमों के अधीन ईश्वर की इच्छा के अनुसार होता है। जातियों के उत्कर्ष और अपकर्ष में इसी शक्ति का हाथ काम करता दिखाई देता है। उनके विचार में यह संसार एक बड़ी भारी नाट्यस्थली है। इस रंगमंच पर विभिन्न नट-नटियों के समान जातियाँ आती हैं और अपना-अपना खेल करके परदे के पीछे चली जाती हैं। इस समस्त नाटक के अंतस्तल में ईश्वर की इच्छा काम करती है। इस बात को विकास का सिद्धांत अपने ढंग से हल करता है।

इतिहास का तत्व दर्शन—जातियों के इतिहास का बड़ा भाग प्रायः युद्धों या लड़ाइयों के वृत्तान्त से भरा होता है। ये युद्ध अधिकतर पड़ोसी जाति के विरुद्ध होते हैं। अन्दर से देखने पर हर देश में आबादी की कई विभिन्न श्रेणियाँ पाई जाती हैं और इनका एक दूसरे के साथ संघर्ष चलता रहता है। विभिन्नतम-मतांतरों या मजहबों ने भी देश और जाति पर विशेष प्रभाव डाला होता है। मजहबी मतभेद के कारण भी जाति में बहुत-सी गड़बड़ी मच जाती है। कई राजाओं और राज-वंशों ने भी अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण अपनी जाति तथा अन्य जातियों के भविष्य को बदल दिया है। इतिहास के तत्त्व दर्शन से हमको यह बात देखने में सहायता मिलती है कि वे कौन-से कारण हैं जिन्होंने इन ऐतिहासिक शक्तियों को चलाने का काम

किया है और जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से युद्धों और क्रांतियों के अंदर काम करते हैं।

हम फ्रान्स की क्रान्ति को लेते हैं। इसने जन साधारण के भावों को क्योंकर भड़काया और किस प्रकार इसके कारण पैरिस तथा फ्रांस के अन्य बड़े शहरों में लोगों का खून हुआ? तत्पश्चात् इस क्रांति के कारण योरप के देशों में कितने बड़े युद्ध हुए? इन सब बातों से किताबों के पृष्ठ भरे पड़े हैं। परन्तु इतिहास के एक अन्वेषक की दृष्टि में इन घटनाओं का इतना महत्त्व नहीं। वह इसके अंतस्तल में उस शक्ति को जानने का यत्न करता है जो ये सभी दृश्य हमारी आँखों के सामने लाती है। इन ऐतिहासिक घटनाओं को उत्पन्न करनेवाला प्रायः एक विचार होता है, जो मनुष्यों के दिलों पर अपना प्रभाव डालकर उनके कामों को एक साँचे में ढाल देता है। इस विचार को जानना और उसके कारणों तथा परिणामों को अच्छी तरह समझना वास्तविक योग्यता उत्पन्न करता है। क्या हम यह बात भली भाँति नहीं जानते कि फ्रांस की क्रान्ति के अन्तस्तल में वह विचार काम करता था जिसकी नीव फ्रांस के दार्शनिकों ने एक समय पहले से ही फ्रांस की भूमि में डाल दी थी? इस विचार को क्रान्तिकारी रूप देनेवाला रूसो नाम का तत्त्ववेत्ता था। उसने एक छोटी-सी पुस्तक, "सामाजिक मुआहिदा," लिखकर मानव समाज की असभताओं के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। उसने लिखा—"अपनी प्राकृतिक पशु-अवस्था में मनुष्य वर्त्तमान उन्नत अवस्था की अपेक्षा अधिक सुखी था; क्योंकि सारी वर्त्तमान उन्नति मनुष्य की असमता पर आश्रित है।" इस विचार को पढ़कर फ्रांस के धनी रूसो पर हँसने लगे। परन्तु इसकी गहराई को समझनेवाले अँगरेज़ तत्त्ववेत्ता कार्लाइल ने लिखा—"समय आयगा जब इस पुस्तक से दिल्लगी करनेवाले लोगों के बेटों और

पोतों की चमड़ियाँ इसकी जिल्दें बाँधने के काम आयेंगी।" यह भविष्यवाणी बड़ी प्रबल किन्तु सत्य सिद्ध हुई। इस विचार ने बल पकड़कर फ्रांस में वह सामाजिक तथा राजनीतिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी जिसके कारण सैकड़ों हज़ारों धनी स्त्री-पुरुषों के सिर सिर्फ इसलिए काट दिये गए कि उनके जन्म धनाढ्यों के घर हुए थे।

योरप के पिछले दो महायुद्धों में समुद्र के अन्दर, भूमि के ऊपर और हवा में विनाश का जो चित्र देखने में आया, वह कितना भयानक था! यह चित्र एक बड़े वृक्ष के तने, शाखाओं और पत्तों के समान है। इस चित्र का वास्तविक कारण उस महान वृक्ष के बीज के समान एक सूक्ष्म-सा विचार है, जिसने मनुष्य के मन में घर कर लिया है। जर्मनी के कैसर, विल्हेल्म और उसकी जाति में यह इच्छा जागृत हुई कि संसार में जर्मनी के मस्तिष्क और संस्कृति का प्रभुत्व होना चाहिए। इस इच्छा ने योरप में एक महान् युद्ध खड़ा कर दिया। जर्मनी में यह इच्छा क्यों उत्पन्न हुई? इसका एक कारण यह था कि पिछले तीन सौ वर्षों से योरपीय जातियों में अपनी शक्ति तथा व्यापार को दुनिया भर में फैलाने का भाव उग्र रूप से काम कर रहा था जब योरप की अन्य जातियाँ, इँग्लैंड, फ्रांस आदि, इस भाव को पूरा करने के लिए परस्पर लड़ रही थीं तब जर्मनी गहरी नींद सो रहा था। जब जर्मनी की आँख खुली तो उसने देखा कि दुनिया लुट गई है और अब उसका भी यह काम है कि उस लूट से अपना हिस्सा प्राप्त करे। योरप की जातियाँ कुछ सदियों से दुनिया की पिछड़ी हुई जातियों को हड़प करने में संलग्न थीं। इस लोलुपता को पूरा करने के लिए उनका पारस्परिक युद्ध वैसा ही दृश्य है जैसा हड्डी को छीनने के लिए लड़नेवाले कुत्ते प्रस्तुत किया करते हैं।

मनुष्य का सामूहिक जीवन—मनुष्य की कई परिभाषाएँ की गई हैं। उनमें से एक यह है कि मनुष्य दो पैरों से चलने-वाला पशु है। दूसरी—मनुष्य बातें करनेवाला पशु है। तीसरी—आदमी सामाजिक पशु है। अंतिम परिभाषा का अर्थ यह है कि मनुष्य उस समय मनुष्यत्व प्राप्त करता है जब बहुत-से मिलकर समाज के रूप में रहना आरम्भ कर देते हैं। व्यक्तिगत अवस्था में मनुष्य का महत्व अकेले पशु से बढ़कर नहीं होता। किसी मनुष्य को जंगल में अकेला छोड़ दीजिए या अकेली कोठरी में बंद कर दीजिए। उसके साथ मेल-मुलाक़ात करनेवाला कोई न होने से वह अपने आपको पशु से बदतर पाता है। जो कुछ हम हैं, समाज की उपज हैं। हमारा जीवन विशेष प्रकार की खुशियों, विचारों, दुःखों और भावों का समूह है। ये सब हमारे अन्दर हमारे समाज से उत्पन्न होते हैं। एक दृष्टि से समाज व्यक्तियों से ऊपर और अलग एक स्वतंत्र अस्तित्व है। इस सामाजिक जीवन के प्रारंभ होने पर ही मनुष्य सभ्य बनने लगता है, इसी समय से उसकी सभ्यता की नींव पड़ती है। इस सभा या समाज को बनाये रखना मनुष्य का कर्त्तव्य है। एक विद्वान का कथन है कि अपने समाज को स्थिर रखने के लिए हमें अपने व्यक्तित्व का बलिदान कर देना चाहिए और यदि हम अपने अस्तित्व को अपने समाज से अधिक महत्त्वपूर्ण या अच्छा समझते हैं तो हमें समाज छोड़कर जंगल में जा रहना चाहिए।

इतिहास में आचार-नीति—भलाई-बुराई को जाँचने के लिए मनुष्य ने कुछ नियम निश्चित कर दिये हैं। इनको विभिन्न पंथों या मजहबों के प्रवर्त्तकों ने आश्रय देकर अपने-अपने पंथ या मजहब का बना लिया है। हर जगह मानव-समाज

मजहबी या नैतिक दृष्टि से इन नियमों को ठीक समझता है और इनकी शिक्षा देना अपना कर्त्तव्य ख़याल करता है। उदाहरणार्थ, सच बोलने को मनुष्य ने सबसे ऊँचा स्थान दिया है और हम को बार-बार यह बताया जाता है कि संसार में सच की विजय होती है और हमें सच बोलने में हर प्रकार का ख़तरा उठाने पर तैयार रहना चाहिए। दूसरा बड़ा नियम वह सुनहला नियम है जिसमें यह सिखाया जाता है कि हम दूसरों से वैसा ही व्यवहार करें जैसा हम चाहते हैं कि वे हमारे साथ करें, अर्थात् हम किसी को कष्ट न दें और न किसी के माल को अनुचित रूपसे लेने का यत्न करें। इस प्रकार के नैतिक नियमों की शिक्षा पाते हुए हमारी इच्छा होती है कि हम इतिहास में इन्हीं नियमों पर आचरण होता देखें। परन्तु इतिहास का अध्ययन इस विषय में हमारे लिए बहुत निराशाकारी है। इतिहास में हमें न नैतिक सत्य की विजय नजर आती है न प्रेम की, प्रत्युत जहाँ कहीं भौतिक शक्ति अधिक होती है वह मैदान में बाजी ले जाती है।

अपने इतिहास में हमें यह देखने के कई अवसर मिलते हैं कि जिन लोगों ने सदियों तक पंजाब पर आक्रमण करके लूट मचाई, वे शक थे या हूण, अफ़गान थे या मुग़ल, सबके सब नैतिक गुणों की दृष्टि से हिन्दुओं की अपेक्षा बहुत ही हीन थे। इन आक्रमणकारियों के अंदर न दया का भाव था न मानव-प्रेम का, न दूसरों के प्राणों या धन-संपत्ति का मान था न नैतिक शुद्धता। हिन्दुओं में ये सब बातें विद्यमान थीं। परन्तु फिर भी ये हिन्दुओं को आक्रमणों से बचाने में सहायक न हो सकीं। इतिहास को ध्यान से पढ़नेवाला यह देखकर घबरा जाता है, बल्कि चिल्ला उठता है—क्या संसार में कोई ईश्वर है जो अच्छे और बुरे कर्मों का बदला देता है? यदि

ईश्वर है तो क्या कारण है कि अत्याचारी लोग दुनिया में फलते-फूलते हैं और नेक तथा न्याय-प्रिय सदा कष्ट में रहते हैं ? इतिहास में इस निर्दयता और अन्याय को देखकर कुछ आदमी ईश्वर और न्याय से ही मुँह मोड़ लेते हैं।

वास्तव में बात दूसरी है। यह हमारी समझ का फेर है जिसके कारण हम तथ्य को समझने के अयोग्य हैं। सभी नैतिक गुण अच्छे होते हैं, परन्तु इनके लिए शान्ति की अवस्था का होना आवश्यक है। जब शान्ति के बजाय गैरों से कड़े संघर्ष या कशमकश का समय आ जाता है (यों तो इस संसार में हर समय संघर्ष ही रहता है) तो इन सभी गुणों की निस्बत पारस्परिक संगठन का एक गुण अधिक महत्त्वपूर्ण तथा लाभकारी होता है। जिन लोगों में संगठन अधिक होता है, उनमें नैतिक गुण चाहे न भी हों, वे उन लोगों पर सदा विजय प्राप्त करते हैं जिनमें अन्य नैतिक गुणों के होते हुए भी संगठन नहीं होता। संघर्ष के इस संसार में यदि नैतिक गुणों को तराजू के एक पलड़े में और संगठन-बल को दूसरे में रखा जाय, तो संगठन का पलड़ा कहीं नीचे झुक जाता है। इँग्लैंड के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता हरबर्ट स्पेंसर ने इस विषय पर विचार करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है (और यही उसके दर्शन का आधार है)—"जो जातियाँ अधिक समाजनिष्ठ होती हैं वे उन पर शासन करती हैं जिनमें सामाजिक भावना कम होती है।"

हिन्दू और संगठन—चाहे यह हिन्दू-दर्शन के कारण था चाहे बौद्ध और जैन पंथों की शिक्षा के कारण, पर हम हिन्दुओं में यह देखते जरूर हैं कि उनके अंदर मानव-प्रेम तथा सहानु-भूति का भाव इतना बढ़ गया था कि उन्हें किसी विदेशी,

गैर या पराये से घृणा न रही और न उन्हें अपने संगठन की आवश्यकता अनुभव हुई। इस संगठन का न होना हिन्दुओं के लिए उस निर्बलता का कारण था, जिसने उनको संसार में अपमानित कर दिया। निस्संदेह ईसा की शिक्षा में यह बात पाई जाती है कि तुम अपने शत्रु से प्रेम करो। लेकिन ईसा के चेलों ने इस पर कभी आचरण नहीं किया। गौतमबुद्ध ने न केवल इसकी शिक्षा दी प्रत्युत् हिन्दुस्तान को इस बात का गर्व है कि गौतम बुद्ध ने इस को क्रियात्मक रूप देने का यत्न किया। उनकी शिक्षा का सार यह था—"शत्रु पर प्रेम के द्वारा विजय प्राप्त करो; युद्ध के साधनों को परे फेंक दो।" यह बड़ा तजरुबा किया गया और इसमें देश को असफलता हुई। इसने हिन्दुओं की सामूहिक शक्ति को नष्ट करके अपने शत्रुओं का उन्मूलन करने की प्रवृत्ति भ्रष्ट कर दी।

अब संगठन हो तो किस आधार पर? हिन्दुओं के मुक़ाबले पर कई शक्तियाँ काम करती हैं। उनमें से कुछ को मजहब के द्वारा संगठित किया गया है, कुछ को देशभक्ति के द्वारा। क्या हिन्दुओं को भी किसी ऐसे मजहब का आश्रय लेकर संगठित होना चाहिए? मजहब के द्वारा जितने संगठन हुए हैं, उनमें बड़ी बुराई यह पाई गई है कि वे अन्तरात्मा की स्वतंत्रता और सहिष्णुता की भावना को नष्ट कर देते हैं। मजहबी संगठन उन सब लोगों के विरुद्ध होता है, जो मजहबी विचारों में उसके साथ सहमत नहीं होते। वर्त्तमान अवस्था में हिन्दुओं के संगठन का उद्देश उनके अस्तित्व को बचाना और संसार में अंतरात्मा की स्वतंत्रता को बनाये रखना है। जो नियम या सिद्धान्त दुनिया को एक पग आगे ले जा सकता है और जिसकी इस समय बहुत जरूरत है, वह यही है कि इन मजहबी संगठनों को एक

ओर करके अंतरात्मा की स्वतंत्रता के झंडे के नीचे एकत्र किया जाय। इसका प्रयोजन यह है कि दुनिया को अंतरात्मा के उस दासत्व से, जो इन मजहबों ने फैला रखा है, मुक्त किया जाय। हिंदुओं ही की एक जाति है जिसने आत्मा की स्वतंत्रता को सबसे ऊँचा स्थान दिया है। किसी भी प्रकार का मजहबी विचार रखनेवाला मनुष्य हिन्दुओं में मान्य समझा जा सकता है। इसलिए हिन्दू-राष्ट्र ही संसार में इस स्वतंत्रता को फिर से खड़ा करेगा। सभी विचारों, बल और कार्यों को शरीर, बुद्धि और आत्मा की उन्नति में लगाना, प्रेम और सहिष्णुता से व्यवहार करना, 'मैं' को 'हम' के हित के अधीन करना, दूसरों के हित के लिए व्यक्तिगत लाभ का त्याग करना, आत्मा को परमात्मा में लीन करना, इस सत्य को अनुभव करना कि समस्त ब्रह्मांड में एक ही आत्मा काम कर रही है और हम सब उसी के अंश हैं—यह हिन्दू संस्कृति का उद्देश है।

समाज और जीवन—संसार में दो प्रकार की चीजें हैं—एक, सजीव या सप्राण, दूसरी निर्जीव या निष्प्राण। दोनों में एक बड़ा अंतर है। सजीव बाह्य परिस्थिति के प्रभाव से बदलती रहती है और निर्जीव में बाहर के प्रभाव से कोई परिवर्त्तन नहीं होता। एक पत्थर के ऊपर से आँधी और तूफान गुजर जाते हैं, परन्तु वह ज्यों का त्यों बना रहता है। दूसरी ओर एक पौधे को सूर्य का प्रकाश न मिले और उसे जमीन से खूराक न लेने दी जाय तो वह पहले मुरझाने लगता है और कुछ देर के बाद मर जाता है। व्यक्तिगत अवस्था में मनुष्य एक चेतन शक्ति है। प्रश्न यह है कि समष्टिगत अवस्था में मनुष्य कहाँ तक चेतन शक्ति कहला सकते हैं।

जंगल में रहता हुआ अकेला मनुष्य एक प्रकार से पशु-

अवस्था में होता है। जब स्त्री और पुरुष इकट्ठे मिलकर रहते हैं और बच्चे भी पैदा करते हैं तो उनकी अवस्था परिवार की हो जाती है। मनुष्यों के इस समूह में एक हद तक सामूहिक चेतन शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है। उनको सुख और दुःख देनेवाली शक्तियाँ एक जैसी होती हैं। इनका हानि-लाभ प्रायः उसी बात में होता है। इनका जीवन एक दूसरे के साथ गहरे तौर पर संबद्ध हो जाता है। जब कई एक परिवार मिलकर एक स्थान में रहते हैं तो वे एक जनपद या क़बीले (ट्राइब) का रूप धारण कर लेते हैं। इस समय उनमें जनपद या क़बीले की सामूहिक चेतना भी विकसित हो जाती है। इस सब का हानि-लाभ भी प्रायः उसी बात में होता है। शत्रुओं से अपनी रक्षा करने और दूसरों के साथ लड़ाई करने या मित्रता रखने में इनकी ज़िम्मेदारी एक ही होती है। इस समाज के विभिन्न अंग एक दृष्टि से एक सजीव प्राणी या शरीर के समान काम करते हैं। जब बहुत से जनपद या क़बीले मिलने पर उनके अधिकार और ज़िम्मेदारियाँ एक हो जाती हैं तो सामाजिक उन्नति की दृष्टि से उनका पद एक जाति का हो जाता है और उनके अंदर जातीय चेतना उत्पन्न हो जाती है। हमें यह भी मानना पड़ता है कि कुछ छोटे दर्जे के जीवों, उदाहरणार्थ चिउँटियों और शहद की मक्खियों में निसर्गतः इस प्रकार का सामाजिक संगठन पाया जाता है; परन्तु इनका संगठन प्रारंभिक अवस्था से आगे उन्नति नहीं कर पाया।

एक घटक होने से मानव समाज व्यक्तियों पर अपना प्रभाव सम्मिलित रूप से डालता है। समाज अच्छा होने से उसके अंदर रहनेवाले व्यक्ति एक साँचे में ढलकर अच्छे बनते हैं। समाज में बुरे विचार, कुत्सित आचार या गंदा साहित्य होने से उस के व्यक्ति उन्हीं साँचों में ढलते हैं। यदि समाज स्वतंत्र है तो उसके व्यक्ति स्वतंत्रता के जलवायु में पलकर निडर होते हैं। जब

वह समाज दूसरों के अधीन हो कर दास या गुलाम बन जाता है तब उसके व्यक्ति दासत्व के जलवायु में पलकर दासत्व की बुराइयाँ अपने अंदर जज्ब कर लेते हैं। समाज निर्धन हो तो ग़रीबी के बुरे प्रभाव सभी व्यक्तियों पर अपना काम करेंगे। यदि समाज धनवान हो तो उसके सभी व्यक्ति धन से भली भाँति प्रभावित होंगे। काल या मरी, क़हत या बबा का प्रभाव भी सारे समाज पर पड़ता है। समाज में रहनेवाले व्यक्ति इसके ऐसे अंश बन जाते हैं कि उनका अस्तित्व समाज में लीन हो जाता है और वे अकेले न जीवित रह सकते हैं न उन्नति कर सकते हैं।

मानवी सभ्यता की विभिन्न अवस्थाएँ—यह आवश्यक नहीं कि सभी मनुष्य सभ्य अवस्था में ही रहते हों। पृथ्वी के विभिन्न भागों में इस युग में भी ऐसे मनुष्य विद्यमान हैं जो अभी तक जंगलों में पशु-अवस्था में रहते हैं। इनका कोई समाज नहीं। अभी तक इन्होंने वैयक्तिक अवस्था से आगे परिवार के पद तक भी उन्नति नहीं की। इनकी कोई भाषा नहीं बनी। ये बोलते अवश्य हैं, परन्तु इनकी बोली जंगली जानवरों की तरह कुछ आवाज़ों तक सीमित है। इन आवाज़ों के द्वारा ये विशेष परि-स्थिति में एकत्र हो जाते हैं। परन्तु इनका एकत्र होना वैसा ही है जैसा कई अन्य पशुओं का। इनका सबसे बड़ा काम भूख मिटाना है। इसे दूर करने का तरीक़ा भी सीधा-सादा है। यदि वृक्षों से कुछ मिला तो वह खा लिया। यदि उनसे न मिला तो जानवर मारकर निर्वाह कर लिया। इसके लिए उन्हें हथियारों की जरूरत होती है। इनको वे पहले-पहल पत्थरों से और बाद में लोहे से बनाते हैं। इन हथियारों का प्रयोग ही उनकी उन्नति की पहली सीढ़ी है।

जंगली अवस्था से निकलकर मनुष्य परिवार की अवस्था में आता है। वह अपनी भाषा में भी उन्नति करने लगता है। वह भेड़-बकरी जैसे पशुओं को पालना शुरू कर देता है। इन्हीं से वह आवश्यकता के अनुसार अपना खाद्य उपलब्ध करता है। उन्नति का इससे अगला दर्जा खेती है जब कि मनुष्य साग-सब्जी पैदा करना शुरू करता है। खेती करने से पूर्व मनुष्य को भूमि से प्रेम नहीं होता। वह अपने पाले हुए पशुओं पर आश्रित होता है। इनको साथ लेकर वह वहाँ पहुँचता है जहाँ जमीन हरी-भरी होती है। वहाँ वह उतनी देर तक डेरा जमाये रखता है जब तक वह सब्जी खतम नहीं हो जाती। खेती के दर्जे की तरफ जब मनुष्य पग रखता है तब उसे ऐसी भूमि की तलाश होती है जो उसके ज्यादा काम आ सके। इस जमीन पर आबाद हो जाने से स्वभावतः इसके साथ मनुष्य का प्रेम हो जाता है। वह यहीं पर स्थायी रूप से रहने का प्रबन्ध करता है और इसे अपनी समझने लगता है। आसानी से खेती उन्हीं स्थानों पर हो सकती है जहाँ पानी का बाहुल्य हो। इसलिए हम देखते हैं कि संसार की पुरानी सभ्यताओं का श्रीगणेश प्रायः उन स्थानों पर हुआ जो नदियों के किनारों पर स्थित थे। हमारे देश की सभ्यता का प्रारम्भ सिन्धु और उसमें मिलनेवाली पाँच नदियों तथा सरस्वती के तटों पर हुआ। पंजाब ही आर्य सभ्यता का सबसे पहला और प्राचीन घर है। कुछ काल के बाद हम देखते हैं कि यह सभ्यता पंजाब से चल कर गंगा के प्रदेश में जा फैली। यहाँ इसका इतना उत्कर्ष हुआ कि वह प्रदेश भी इस सभ्यता का घर समझा जाने लगा।

इसी प्रकार मिश्र की सभ्यता नील-नदी के किनारे आरम्भ हुई और बेबेलोनिया की दजला और फ़रात के किनारों पर। ऐतिहासिक इस आरम्भिक काल को नदी-सभ्यताका युग कहते हैं।

इसके बाद वह युग आया जब जहाज चलाने की कला का विकास हुआ। इस कला की सहायता से उन जातियों ने उन्नति की जो छोटे-छोटे सागरों के किनारों पर आबाद थीं। इन लोगों ने खेती से आगे बढ़कर व्यापार के क्षेत्र में पाँव रखा और एक स्थान की सभ्यता को दूसरे स्थान में ले जाने में बड़ा काम किया। सभ्यता की इस अवस्था को सागर-सभ्यता कहा जाता है। प्राचीन फीनिशियावासी, यूनानी और इटलीवाले इसी सभ्यता के प्रतिनिधि हैं। वर्त्तमान सभ्यता को कुछ विद्वान समुद्र-सभ्यता कहते हैं। उनके मतानुसार इसका श्रीगणेश उस समय हुआ जब कि महासागरों के मालूम हो जाने पर योरपीय जातियों ने संसार के विभिन्न समुद्री मार्ग मालूम किये और जहाजों के द्वारा संसार में व्यापार शुरू किया।

सहयोग—उन्नति करते हुए मानव-समूह जब जनपद या क़बीले की अवस्था में पहुँच जाता है तब उसमें पारस्परिक सहयोग दो भिन्न तरीकों पर शुरू होता है। पहली हालत में क़बीले को अपने पड़ोसी क़बीले के साथ लड़ाई करनी पड़ती है और उसके लिए हर समय लड़ाई के लिए तैयार रहना आवश्यक होता है। युद्ध के लिए एक विशेष नेता का होना जरूरी होता है। जंगी क़बीले की सफलता इसी बात पर अवलम्बित होती है कि वह अपने नेता की आज्ञा का पालन करे। क़बीले के सभी व्यक्तियों की व्यक्तिगत और समष्टिगत भलाई उसका आदेश पूरा करने में ही पाई जाती है। नेता के शक्तिशाली होने से ही उसको अपने शत्रुओं के साथ सफलतापूर्वक मुक़ाबला करने की आशा होती है। समाज की इस अवस्था को जंगी सहयोग की अवस्था कहा जाता है। युद्ध में विजय प्राप्त करने पर क़बीले की

शक्ति और वैभव बढ़ते है। इस प्रकार उसके व्यक्ति भी बलवान और वैभव-संपन्न होते हैं। यह क़बीला लूटमार पर निर्वाह करने-वाली सेना के समान होता है और इसी कारण उसके घटकों या व्यक्तियों में परस्पर का सम्बन्ध बहुत गहरा और मजबूत होता है। यही क़बीले उन्नति करते करते जाति बन जाते हैं। योरपीय जातियों का राष्ट्रीयता प्रायः इसी सिद्धान्त पर आश्रित है। अभी तक हम यही देखते हैं कि योरपीय जातियाँ, जर्मनी, इंग्लैंड, फ्रान्स, रूस आदि, एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध की तैयारी में संलग्न हैं।

सामाजिक उन्नति का दूसरा सिद्धान्त वह सहयोग है जिसका युद्ध से कोई सम्बन्ध नहीं। इसे ग़ैरजंगी सहयोग कहा जाता है। इसके अनुसार व्यक्तियों का उद्देश्य क़बीले या समाज की उन्नति के बजाय अपनी व्यक्तिगत उन्नति और आराम होता है। हरएक घटक या सदस्य अपने व्यक्तिगत लाभ को सामने रखकर काम करता है और सभी सदस्यों का सामूहिक लाभ समाज की उन्नति बन जाता है। उदाहरणार्थ एक आदमी खेती करता है, दूसरा कपड़ा बुनता है, तीसरा हथियार और चौथा मकान बनाता है। इनमें से हर एक अपने लिए सुख प्राप्त करने के लिए विशेष कार्य करता है। परन्तु जिस समाज में ये रहते हैं उसे भी लाभ पहुँच जाता है। प्राचीन भारत में वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य समाज की सेवा और उन्नति ही था। आर्यों की प्रणाली समाज को एक सजीव शरीर के समान समझती है। इसमें हर एक मनुष्य को उन कर्त्तव्यों का उत्तरदायित्व लेने की स्वतंत्रता है जिनकी पूर्ति की योग्यता उसमें हो। ब्राह्मण अपने मस्तिष्क को उन्नत करके उसे समाज को अर्पण कर देता था। इस बौद्धिक उन्नति की सबसे बड़ी कसौटी यह थी कि मनुष्य आत्मा और शरीर को निर्बल करनेवाली सभी इच्छाओं

से ऊपर हो जाय। ब्राह्मण एक प्रकार से समाज की चोटी समझा जाता था। समाज के संरक्षण के लिए वह आँधी और तूफ़ान को अपने ऊपर झेल लेता था। उसका जीवन एक दृष्टि से आदर्श हुआ करता था। जो मनुष्य अपने शरीर में बल उत्पन्न कर अपनी जान हथेली पर रख समाज की रक्षा के लिए हर समय मृत्यु का सामना करने को तैयार रहते, वे क्षत्रिय कहलाते। इनसे नीचे वे लोग थे जो साधारण सांसारिक मनुष्यों के समान धन कमाया करते। जो लोग अपने अन्दर यह योग्यता भी न पैदा कर सकते, वे समाज की साधारण सेवा करते हुए उसके सेवक कहलाते। एक विचार है कि समाज का यह नमूना यद्यपि उच्चकोटि का है, परन्तु इसमें जातीय या राष्ट्रीय प्रेम का भाव उतना नहीं पाया जाता जितना जंगी नमूने के समाज में पाया जाता है। क्योंकि इसमें परायों से युद्ध नहीं करना पड़ता, इसलिए इसमें न दूसरों से इतनी घृणा होती है और न परस्पर इतना प्रेम कि राष्ट्रीयता की भावना दृढ़ हो सके।

वभिन्न जातियों के जन्म—वैज्ञानिक हमें बताते हैं कि इस जगत् के वर्त्तमान रूप से पूर्व महाभूत परमाणुओं का एक अपार समुद्र था। एक समय इस समुद्र में गति उत्पन्न हुई। इस गति के दो रूप थे। एक संसक्ति की गति थी, दूसरी प्रक्षेपण की। जहाँ पर पहली परमाणुओं को परस्पर मिलाती थी, वहाँ पर दूसरी एक दूसरे को अलग करती थी। इस व्यापक गति का परिणाम यह हुआ कि परमाणुओं के एकत्र और पृथक होने से असंख्य आकाशचारी बन गये। उन में से एक हमारी पृथ्वी भी है।

मनुष्यों की प्रारंभिक अवस्था भी इन परमाणुओं के समुद्र के समान थी। इसके अन्दर गति ने काम करना शुरू किया, जिससे असंख्य जातियाँ बन गईं। इन जातियों की नींव में

पारस्परिक संगठन और परायों के लिए घृणा का विचार काम करता है। जाति को बनानेवाली कई शक्तियाँ हैं जिनमें से बड़ी ये हैं—नस्ल का एक होना, भाषा का एक होना, देश का एक होना, शासन (गवर्नमेंट) का एक होना और मजहब का एक होना। जाति-निर्माण के लिए यह आवश्यक नहीं कि ये सभी अंग एक ही में पाए जायँ। इसके विपरीत यदि इनमें से एक भी असाधारण आकर्षण रखता है तो वह जातीयता उत्पन्न कर सकता है। उदाहरणार्थ, मुसलमानों को एक दृष्टि से मजहबी विश्वास ही एक बनाता है। इनकी अवस्था में मजहबी विश्वास के सामने नस्ल, भाषा, या देश का कोई महत्त्व नहीं। अँगरेज जाति यद्यपि पृथ्वी के विभिन्न कोनों में फैली हुई है, तो भी एक भाषा के सूत्र ने उसको जातीयता में बाँध रखा है। योरप में पुराने आस्ट्रियन साम्राज्य के अंदर एक शासन ही विभिन्न नस्लों और भाषाओं के लोगों को कई सदियों तक एक जाति बनाये रहा। स्विट्जलैंड में भाषाओं का भेद है। अमरीका के संयुक्त-राज्यों में नस्लों का भेद है। परन्तु भूमि के प्रेम ने वहाँ के रहनेवालों में सुदृढ़ जातीय भावना को पैदा कर रखा है।

नस्ल रक्त की लहर को जारी रखती है। एक रक्त से होना पारस्परिक आकर्षण उत्पन्न करता है। यह बात हर समय हमारे दिलों में उन पूर्वजों की स्मृति को ताजा रखती है जिनकी संतान से हम हैं। उनकी वीरता और स्वधर्म तथा स्वराष्ट्र का प्रेम, उनके कृत्य और उनके कष्ट हम सबके दिलों में एक ही प्रकार के भाव पैदा करते हैं। श्रीरामचन्द्र और देवी सीता की कथा पढ़कर हम आज भी आँसू बहाते हैं। उनके तप और बल के कृत्यों को सुनकर हमारे ख़ून में जोश पैदा हो जाता है। कौन हिन्दू है जिसने महाराणा प्रताप के दुःखों की कहानी पढ़-कर एक बार अश्रु-मोचन न किया हो? कौन-सा हिन्दू है

जिसका मस्तक पृथ्वीराज का नाम लेकर गर्व से ऊँचा न हो जाता हो ? वीर-वैरागी और महाराज शिवाजी का वृत्तांत पढ़कर हमारे अन्दर एक ही प्रकार की भावनाएँ जागृत होती हैं। यही भावनाएँ जातीयता तथा राष्ट्रीयता के अंग हैं।

भाषा वह सरस्वती देवी है जो जाति के अन्दर राष्ट्रीयता फूँक सकती है। भाषा के कोष में जाति के ऋषियों और विद्वानों के विचार भरे रहते हैं। भाषा में जाति का साहित्य पाया जाता है। यह उस जाति की सभ्यता का सच्चा इतिहास होता है। उपनिषदों को पढ़कर हमारे सामने तुरन्त ही उन ऋषियों के चित्र आ जाते हैं जो जंगलों के अन्दर पर्ण-कुटियों में बैठे हुए सृष्टि के गहन रहस्यों पर एक दूसरे से प्रश्न-उत्तर किया करते थे। हमको मालूम हो जाता है कि हमारे इन पूर्वजों की मनोकामनाएँ क्या थीं, उनके अन्दर कौन-से विचार काम करते थे और उनके सामने जीवन का आदर्श क्या था।

इससे भी पूर्व के युग में जायँ तो हमारे सामने वैदिककाल आ जाता है जब कि ऋषि नदियों के किनारे बैठे वेद मंत्रों के गायन के साथ यज्ञ किया करते थे। वे वेद मंत्र अब भी हमें सुन्दर ढँग से बताते हैं कि वैदिककाल के ऋषियों के सामने कौन-सा बड़ा आदर्श था। वे ऋषि इस ब्रह्मांड को परमात्मा की ओर से एक बड़ा यज्ञ समझते थे। वे यही चाहते थे कि उनका शरीर, उनकी बुद्धि, उनकी शक्ति और आयु, अर्थात सर्वस्व, इस यज्ञ के संपूर्ण करने में अर्पण हो। उपनिषदों के युग के पश्चात् हमें दर्शनों के वे रचयिता दिखाई देते हैं जो अपनी शिष्य मंडलियों को साथ लिये देश भर में जगह-जगह फिरते और अपने-अपने तत्त्व दर्शन का प्रचार करते थे। इसके पश्चात् हम महाभारत और भगवद्गीता के युग में आ जाते हैं। भगवद्गीता नाम की छोटी सी कविता में हमें अपनी जाति का समस्त उत्कर्ष

और संस्कृति गागर में सागर की तरह बन्द नजर आती है। जब तक संसार में भगवद्गीता विद्यमान है, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू राष्ट्रीयता नहीं मिटाई जा सकती।

यही नहीं, भाषा जाति का वह पटल है जिस पर उन सभी परिवर्त्तनों की छाया बराबर पड़ती रहती है जिनमें से उस जाति को गुजरना पड़ा है। यदि हमारे पास जाति का इतिहास मौजूद न हो, तो हम भाषा के विभिन्न शब्दों के इतिहास ही से उन घटनाओं का काफी पता लग सकते हैं जो जाति के साथ घटी हैं। कुछ शब्दों के रूप से हमें यह मालूम हो जाता है कि ये हमने अन्य जातियों के साथ व्यापार के सम्बन्ध पैदा करके लिये हैं। कुछ ऐसे शब्द हैं जो दूसरों के साथ युद्ध के द्वारा हमारी भाषा में प्रविष्ट हुए। हमारी भाषा के कई शब्द उसी प्रकार चोटों के निशान हैं जिस प्रकार शरीर पर तलवार के घावों के निशान बाकी रह जाते हैं। योरपीय लोगों को पहले आर्य नस्ल के इतिहास का कुछ ज्ञान न था। हाल ही में जब योरपीय विद्वानों को संस्कृत भाषा का ज्ञान हुआ, तो भाषा शास्त्र की और तुलनात्मक भाषा विज्ञान की नींव रखी गई और इस शास्त्र के द्वारा मनुष्य के प्रारम्भिक इतिहास में वह अनुसन्धान हुआ जिसका पता लगाना दूसरी तरह से सर्वथा असम्भव था। इसके द्वारा विभिन्न भाषाओं के अन्दर शब्दों के साम्य से हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि वर्त्तमान योरप की प्रायः सभी जातियाँ आर्य नस्ल की शाखाएँ हैं और किसी समय ईरानियों और हिंदुओं के पूर्वज एक ही प्रदेश में रहते थे।

भूमि के अंश में एक आकर्षण पाया जाता है जो हम आम-तौर पर अनुभव नहीं करते। परन्तु जब हमें अपने देश से बाहर रहने का अवसर हो तो मालूम होता है कि स्वदेश के आकर्षण में कितनी शक्ति है। उस समय हमें यूसुफ का यह कहना

बिलकुल सच मालूम होता है—"मिश्र के साम्राज्य में सिंहासन पर बैठने की अपेक्षा अपने देश, कनआन में भिखारी बनना कहीं अच्छा है।" श्रीरामचंद्र से भी जब लक्ष्मण ने स्वर्णमयी लंका का जिक्र किया तो वे झट बोल उठे—"जन्मभूमि सोने की लंका ही से नहीं, स्वर्ग से भी बेहतर है।" भारत के एक देश-भक्त का कहना है कि कालेपानी में देश से निर्वासित निकृष्ट अपराधियों के दिलों में यह इच्छा बड़े जोर से काम करती है कि यदि जीवन में नहीं तो मरने के बाद ही उनके शरीर की राख स्वदेश की मिट्टी में मिले।

हिंदुओं ने उन स्थानों को जाति के लिए तीर्थों का पद दे दिया, जहाँ उनके राष्ट्र-पुरुषों के जीवन व्यतीत हुए। एक स्थान के तीर्थ होने के लिए इतना ही पर्याप्त है कि उस जगह के कण श्रीकृष्णचंद्र के पैरों से छूते रहे। हम उस भूमि के संबंध में क्या कहें जिसकी मिट्टी में रानी पद्मिनी और उन हजारों सहेलियों की पुनीत राख मिली हुई पाई जाती है, जिन्होंने अपने देश का मान चिरजीवी बनाए रखने के लिए चिताओं पर बैठकर अपने हाथों वे ज्वालाएँ बुलंद कीं जिन्होंने उनके शरीर भस्म कर दिए; परन्तु जो राष्ट्र के मन में अभी तक अग्नि प्रज्वलित कर देती हैं!

शासन (गवर्नमेंट) उस कवच का नाम है जो राष्ट्र के शरीर को सभी संकटों से सुरक्षित रख सकता है। राष्ट्र का शरीर उसी समय तक जीवित रह सकता है जबतक उसका संरक्षण करने-वाली अपनी गवर्नमेंट हो। हिन्दू धर्मशास्त्र के अनुसार क्षत्रिय का बड़ा कर्त्तव्य शासन को स्थिर रखना है। क्षत्रियों के निर्बल हो जाने से शासन कमजोर हो जाता है। जाति में क्षत्रियों का न रहना उसकी मृत्यु का कारण बन जाता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि जाति की रक्षा का कार्य एक विशेष श्रेणी

के ही जिम्मे होना चाहिए। नहीं, राष्ट्र के संरक्षण का कार्य जाति के हर एक घटक का कर्त्तव्य है।

प्राचीन काल में राजा ही शासन के बड़े प्रतिनिधि समझे जाते थे और उन राजाओं के कृत्य को ही जाति का इतिहास माना जाता था। आजकल शासन का क्षेत्र किसी एक मनुष्य या श्रेणी के हाथ से निकालकर इतना विस्तृत बना दिया गया है कि शासन कार्य सभी लोगों के हाथ में आ गया है। जो इतिहास प्राचीन काल में केवल राजाओं का हुआ करता था, वह अब लोगों के जीवन के संबंध में बना या जाने लगा है।

शासन जाति को न केवल आन्तरिक और बाह्य बीमारियों से रोकना है, प्रत्युत शासन का अच्छा या बुरा होना जाति के चरित्र को अच्छा या बुरा बना देता है। यदि एक स्कूल का शासन स्वेच्छाचारी अध्यापकों के हाथ में हो, तो उनसे पढ़नेवाले विद्यार्थी सदा डरते रहते हैं, उनकी खुशामद करते और सज़ा के डर से झूठ बोलने और दूसरी कमजोरियों के आदी हो जाते हैं। उदार अध्यापकों के होने पर विद्यार्थियों के चरित्र में वे गुण पैदा हो जाते हैं, जो स्वतंत्रता के वातावरण में रहने से उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार जहाँ कहीं शासन स्वेच्छाचारी होता है, वहाँ लोगों के चरित्र में कायरता और खुशामदीपन पाया जाता है। स्वतंत्र शासन के अधीन लोग सत्यवादी, ईमानदार और निडर होते हैं।

मजहब सबसे अंतिम शक्ति है जो निकटवर्ती युग में ही लोगों को एकत्र करके विशेष परिस्थिति से उत्पन्न की गई है। मजहब का अर्थ धर्म बिलकुल नहीं है। मनुष्य का अपने विभिन्न कर्त्तव्यों को पूरा करना धर्म है। इसके मुकाबले पर एक-दो या ज्यादा मंतव्यों पर विश्वास रखने का नाम मजहब है इन मंतव्यों के माननेवाले एक मजहब के अनुयायी कहलाते हैं। प्राचीन-

काल में धर्म की शिक्षा दी जाती थी जिसका उद्देश लोगों के जीवन को ऊँचा करना था। गौतम बुद्ध के शिष्यों ने जब जगह-जगह लोगों को बुद्ध के नाम पर धर्म की शिक्षा देनी शुरू की तब मज़हब का बीज दुनिया में बोया गया। इनके प्रचार का साधन लोक-सेवा थी।

इसके पश्चात् ईसा के अनुगामियों ने बुद्ध के शिष्यों का अनुकरण किया और ईसा के नाम पर संसार को हर मज़हब में लाने का यत्न किया। प्रेम के साथ-साथ इन्होंने तलवार को भी मजहब के प्रसार का एक साधन बनाया। तीसरा बड़ा मज़-हब इसलाम है जिसके प्रवर्तक ने कहा कि यदि मज़हब अच्छी बात है तो इसका प्रसार भी अच्छा काम है। इस कारण अच्छा काम करने के लिए तलवार को बड़ा साधन बना लिया जाय तो क्या हर्ज़ है?

इसमें कोई संदेह नहीं कि मजहब ने ईसाइयों और मुसलमानों में बड़ा संगठन उत्पन्न किया है। लेकिन हमको यह भी याद रखना चाहिए कि कुछ-एक विचारों के आधार पर मजहब ने मनुष्यों के टुकड़े-टुकड़े करके जातियों में इतने दंगे और फ़िसाद करवाये हैं कि मजहब की शक्ति मानवता के लिए लानत सिद्ध हुई है। इस समय संसार में हिन्दुओं की ही एक जाति है जो मजहब के प्रभाव से मुक्त है। हिन्दुओं में पंथ या संप्रदाय अवश्य हैं। परन्तु सामान्यतः हिन्दू किसी एक मजहबी मंतव्य में विश्वास नहीं करते। हिन्दू तो राष्ट्रीय नाम है। गौतम बुद्ध की शिक्षा ने एक दृष्टि से हिन्दुओं में राष्ट्रीयता की भावना को बहुत निर्बल कर दिया और जो कुछ राजनीतिक संगठन हिन्दुओं में था उसे भी तोड़ डाला। जिस समय हिन्दुओं पर विदेशियों ने आक्रमण किये, तब उनमें न तो कोई मजहबी संग-

ठन था, न शासन के एक होने से कोई राजनीतिक शक्ति थी और न ही देश प्रेम था।

मानव-समाज और घटना-क्रम—यद्यपि मानव-समूह विभिन्न जातियों में बट गया है, तो भी ये मानव-समाज के भाग हैं और एक दूसरे के साथ ऐसे जुड़े हुए हैं कि पृथक् नहीं किये जा सकते। कार्लाइल का कथन है कि यदि मैं एक पत्थर उठाकर दूसरी जगह फेंकता हूँ तो इससे भूमि का आकर्षण केंद्र बदल जाता है। इसी प्रकार कोई छोटी घटना भी ऐसी नहीं होती जिसका थोड़ा-बहुत प्रभाव दूरस्थ जातियों पर न पड़े। यदि हम संसार के इतिहास और उसकी मोटी मोटी घटनाओं पर एक नजर डालें तो हमें मालूम हो जाता है कि कोई घटना अकेली नहीं घटती, प्रत्युत् वह सभी पिछली घटनाओं के साथ कार्य-कारण के क्रम में बँधी होती है। कई विभिन्न घटनाएँ मिलकर कारण बन जाती हैं जिससे एक नया फल पैदा होता है। प्रत्येक युग में इस प्रकार के असंख्य परिणाम उत्पन्न होते और कारण बनते रहते हैं।

एक मोटा सा सवाल है—हिन्दुस्तान किस प्रकार हज़ारों मील पर स्थित एक छोटे से द्वीप के अधीन हो गया? आइये इसकी खोज करने जरा पीछे जायँ। जब अँगरेज यहाँपर व्यापार करने के लिए आये तो उस समय भारत की राजनीतिक अवस्था ऐसी गिरी हुई थी कि कोई भी समझदार आदमी कुछ लोगों को अपने अधीन एकत्र करके बड़ी आसानी से भारत में राज्य शक्ति-प्राप्त कर सकता था। अँगरेज व्यापारी इस बात को ताड़ गये। उन्होंने भी अन्य लोगों की तरह राज्य शक्ति-प्राप्त करने के लिए हाथ पैर मारने शुरू किये। वे क्यों सफल हुए? इसका कारण यह है कि अपनी जाति के इतिहास का अध्ययन कर

एक अँगरेज के अंदर वे गुण उत्पन्न कर देता है जिनसे किसी भी राजनीतिक संघर्ष में उनके लिए साफल्य कीअधिक संभावना होती है।

दूसरा प्रश्न—अँगरेज व्यापारके लिए इतनी दूर क्यों आये ? इसलिए कि स्पेनवालों के साथ इनकी शत्रुता थी। स्पेनवालों ने 'नई' और 'पुरानी' दुनिया की खोज करके सारा व्यापार अपने हाथ में ले लिया। रुपये से लदे हुए स्पेन के जहाज इधर उधर फिरा करते थे। एलिजाबेथ के राज्य-काल में कुछ अँगरेज लुटेरों ने पूर्व से आनेवाले स्पेन के एक जहाज को लूटा। उसकी दौलत देखकर इँग्लैंड के लोगों की यह इच्छा हुई कि हम भी भारत की ओर व्यापार का मुँह करें।

तीसरा प्रश्न—स्पेनवालों ने समुद्र के मार्ग क्योंकर मालूम किये ? इसका उत्तर यह है कि स्पेन और पुर्तगाल सात सौ बरस तक मुसलमानों के अधीन रहे। पंद्रहवीं सदी के बीच में स्पेन की ईसाई रिआसतों ने अपने देश में इसलाम के शासन का अंत कर दिया। फिर भी उनके दिलों में मुसलमानों के विरुद्ध घृणा का भाव इतना प्रबल था कि वे जहाज बनाकर अफ्रीका के पश्चिमी किनारे पर मुसलमानों का पीछा करने के लिए चल पड़े। बढ़ते-बढ़ते वे अफ्रीका के दक्षिण में जा पहुँचे। एक नाविक पूर्व को तरफ मुड़कर अपना जहाज हिंदुस्तान तक ले आया।

अगला प्रश्न—इसलाम का राज्य स्पेनमें कैसे स्थापित हुआ ? इसका उत्तर हमें इसलाम के श्रीगणेश और उसके प्रवर्तक की शिक्षा की ओर ले आता है। इसलाम की नीव कैसे डाली गई ? इसलाम के प्रवर्तक ने अरब से बाहर जहाज पर सफर करते हुए यहूदी मजहब की शिक्षा को ग्रहण कर लिया और उसके आधार पर अरब में इसलाम की राजनीतिक सत्ता बनाई।

अंतिम प्रश्न—यहूदी मजहब की शिक्षा किन बातों का फल

था ? यह सवाल हमें प्राचीन इतिहास में ले जाता है। यहूदियों ने ईरान से क्या सीखा ? उन्होंने चाल्डिया और मिश्र से क्या सीखा ? चाल्डिया और मिश्र ने हिन्दुस्तान से क्या सीखा ? इस प्रकार का एक गहन क्रम है जो मानव-समाज की ऐतिहासिक घटनाओं को एक दूसरे के साथ बाँध देता है।

जातीयता या राष्ट्रीयता को बनानेवाले विभिन्न अंगों का हमने थोड़ा सा उल्लेख किया है।

जाति का सच्चा इतिहास क्या है ?—इसके साथ इतना और कह देना आवश्यक है कि जिस प्रकार मनुष्य के शरीर के पीछे जीवन की एक छिपी हुई शक्ति होती है जिसे आत्मा कहा जाता है, उसी प्रकार जाति के शरीर के पीछे भी एक छिपी हुई सजीव शक्ति होती है, जो उसकी आत्मा या प्राण कहलाती है। यह आत्मा उस जाति की संस्कृति है। हर एक जाति का इस दुनिया में एक विशेष मिशन या उद्देश होता है। इस मिशन को बनाये रखना और फैलाना उसके जीवन का महान कार्य होता है। यह मिशन उस संस्कृति में पाया जाता है जिसका विकास यह जाति अपने और संसार के लिए करती है। यह संस्कृति क्या है ? यह बताना वैसा ही कठिन है जैसा यह बताना कि आत्मा क्या है।

फिर भी स्थूल रूप में यह कहा जा सकता है कि सभ्यता जाति की इच्छाओं, महत्वाकांक्षाओं, उद्देशों, भावों और विचारों का समूह है। जाति की मृत्यु का अर्थ यह है कि उसकी सभ्यता का अंत हो गया है। सभ्यता एक प्रकार से शरीर होता है। आत्मा उसकी संस्कृति होती है। जिन जातियों की राष्ट्रीयता कमजोर हो जाती है, वे अपनी संस्कृति का संरक्षण नहीं कर पातीं। संसार की कई जातियों ने उन्नति की और अपनी सभ्यता के प्रकाश को उन्होंने अन्य देशों में फैलाया। समय

आया जब उनका अपकर्ष हुआ और वे ऐसी गिरीं कि उनमें से किसी की सभ्यता का नाम भी शेष न रहा। इस समय प्राचीन बेबिलोनिया के केवल खँडहर ही बाक़ी हैं। मिश्र की पुरानी सभ्यता के निशान उसके मीनार ही हैं। पुराने ईरान के बादशाहों और वीरों के नाम इसलाम ने अपने अंदर जज़्ब करके उन्हें अपनी सभ्यता का हिस्सा बना लिया। अब न प्राचीन रोम दुनिया में बाक़ी है, न पुराना मिश्र और न ही पुराना यूनान। उनकी सभ्यताओं ने योरप को प्रकाशित कर दिया, परन्तु अपने अपने देश में इनके दीप बुझ गये।

प्राचीन जातियों में से हिन्दू एक जाति है जो हज़ारों वर्ष की आँधी और तूफ़ान के बावजूद अपनी संस्कृति को अभी तक बचाये हुए है। हमारा सच्चा इतिहास वह है जो इस संस्कृति को आदर्श मानकर इसके दृष्टिकोण से लिखा गया है। वह इतिहास उस लहर की रफ़्तार को लेखबद्ध करता है जो हमारी जाति की सारी घटनाओं के अन्दर आत्मा के समान बहती हुई चली आती है। इस इतिहास का काम राष्ट्रीय आत्मा की रक्षा करना और जो कमजोरियाँ तथा बीमारियाँ इस जाति को गिरा रही हैं उनको दूर करना है। इस समय इतिहास की जो पुस्तकें मिलती हैं, उन सबमें प्रायः एक बड़ा दोष पाया जाता है, वे हमारे राष्ट्रीय दृष्टिकोण की उपेक्षा करती हैं। इनकी सामग्री अधिकतर उन अँगरेज़ लेखकों की पुस्तकों से ली गई होती है जिन्होंने बहुत-सी बातें तो अपने दृष्टिकोण से लिखी हैं और बाक़ी मुसलमान इतिहासकारों से ली हैं।

सच बात तो यह है कि न तो अँगरेज इतिहासकार और न मुसलमान ही भारत के इतिहास का सच्चा दृष्टिकोण समझ सकते हैं। अँगरेज लेखकों ने भारत के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है वह हिन्दुस्तान का इतिहास; नहीं प्रत्युत हिन्दुस्तान में इँग्लैंड

की शक्ति के प्रसार और मजबूती का वृत्तान्त है। इसको पढ़कर अँगरेज बच्चों के दिलों में गर्व उत्पन्न हो सकता है, परन्तु इस देश के राष्ट्रभक्तों के अंदर स्वभावतः विक्षोभ पैदा होता है।

इसी प्रकार मुसलमान इतिहासकारों ने महमूद गजनवी या मुहम्मद गोरी के आक्रमणों का सुविस्तृत विवरण किया है। परन्तु ये सब आक्रमण हमारी जाति के इतिहास में ऐसे ही हैं, जैसे हमारे शरीर पर शत्रुओं के लगाये घावों के निशान। इनका प्रभाव शरीर पर अवश्य होता है, परन्तु इनके विवरण मात्र से हमारे राष्ट्रीय जीवन को कोई लाभ नहीं पहुँच सकता। किसी जाति को अपने इतिहास से वंचित कर देना और उसको विदेशी दृष्टिकोण से लिखा हुआ इतिहास रटा देना मदारी की नजरबन्दी की तरह उसे भ्रमजाल में डाल देता है। इस प्रकार उसके लोग यह मानने लग जाते हैं कि उनकी न कोई जाति थी, न सभ्यता और वे सदा से फुटबाल की तरह दूसरों की ठोकरों का शिकार बनते चले आए हैं।

दृष्टिकोण ही हमारे लिए एक चीज को अच्छा या बुरा बना देता है। यदि भेड़िये से भेड़ के सम्बन्ध में पूछा जाय तो स्वभाविकतया उसकी राय यह होगी —“ भेड़ बहुत अच्छा जानवर है क्योंकि उसका मांस बहुत अच्छा होता है। उसे खाने में बड़ा मजा आता है। उसे खाकर और कुछ खाने की जरूरत नहीं रहती।” लेकिन जरा भेड़ से पूछिये वह क्या कहती है ? “भेड़िया बड़ा जालिम होता है। मैं अपने घर में बैठी रहती हूँ। किसी को दुःख नहीं देती, किसी का कुछ बिगाड़ती नहीं। घास-फूस खाकर गुजारा कर लेती हूँ। लेकिन दुनिया में ऐसे अत्याचारी भी हैं जो गरीबों और निर्दोषों को जिन्दा रहने नहीं देते।” भेड़िये के लिए जो बात अच्छी है, वही भेड़ के लिए मृत्यु है। दोनों के भिन्न दृष्टिकोण एक ही बात को अच्छा या

बुरा बना देते हैं। इतिहास लिखने में भी दृष्टिकोण का ख्याल रखना बहुत जरूरी है। एक दृष्टिकोण से लिखा हुआ इतिहास हमारे लिए राष्ट्रीय स्फूर्ति या जीवन उत्पन्न कर सकता है, दूसरे दृष्टिकोण से लिखा हुआ इतिहास हमारे राष्ट्र के लिए मृत्यु का कारण बन सकता है।

क्या प्राचीन हिन्दुओं को इतिहास का खयाल न था ?— आमतौर पर कहा जाता है कि भारत में प्राचीन काल के लिखे हुए इतिहास ग्रन्थ नहीं मिलते और इसका कारण यह है कि प्राचीन आर्यों को इतिहास का शौक़ न था। वास्तव में बात यह है कि वर्त्तमान ढंग पर लिखा हुआ प्राचीन काल का कोई पुराना इतिहास हो ही नहीं सकता। प्राचीन हिन्दू समाज बड़ा उदार था। प्राय: हर नगर और गाँव दूसरों से स्वतंत्र था। अपने प्रबन्ध में वे स्वच्छन्द थे। प्राचीन यूनान के शहर भी शासन-प्रबन्ध में पूर्णतया स्वतन्त्र थे। रोम भी इसी प्रकार स्वतन्त्र नगर था। प्राचीन यूनान का उस समय का लिखा हुआ कोई एक इतिहास नहीं मिलता। जो विवरण हमें मिलते हैं वे यूनान के विभिन्न नगरों के लड़ाई-झगड़ों ही के हैं। महाभारतकाल में हमें देश की राजनीतिक अवस्था का एक विशेष चित्र दिखाई देता है। कौरवों-जैसे बड़े और प्राचीन वंश का राज्य एक नगर हस्तिनापुर तक ही सीमित था। जिस समय पांडव द्रौपदी को स्वयंवर में जीतकर हस्तिनापुर वापस लौटे तो श्रीकृष्ण के द्वारा उनकी कौरवों के साथ सुलह हुई। पांडवों को थोड़ी दूरी पर एक जमीन दी गई जहाँ उन्होंने इंद्रप्रस्थ नगर बसाया और अपनी स्वतंत्र राजधानी स्थापित की। पांडवों ने जब राजसूय-यज्ञ किया तब भीम, अर्जुन आदि भाई विभिन्न दिशाओं में गये, राजाओं को जीता और उपहार लेकर वापस

आये। इसी अवसर पर भीम, अर्जुन और श्रीकृष्ण तीनों बिना सेना के मगध पहुँचे और कुश्ती में जरासंध को कत्ल करके लौट आये।

इससे क्या प्रकट होता है? यद्यपि उस समय हिंदू समाज सामाजिक विचारों और रीति-रिवाजों की दृष्टि से एक ही समझा जाता था; परन्तु राजनीतिक दृष्टि से उतने ही राज्य थे जितने शहर। इन सबको मिलाकर देश का एक राजनीतिक इतिहास नहीं बनाया जा सकता था। अपने प्राचीन ग्रन्थों में उन बड़े घरानों या राजाओं के उल्लेख मिलते हैं, जो अन्य वंशों से बढ़े हुए थे। देश की राजनीतिक एकता की एक निशानी यह थी कि राजाओं में महाराजाधिराज का पद सबसे ऊँचा समझा जाता था और यह उसे दिया जाता था, जो बाक़ी सबसे अधिक बलवान हो। राजाओं में जो बड़ा होता, उसकी यह इच्छा होती कि वह इस पद को प्राप्त करे।

चंद्रगुप्त मौर्य संभवतः पहला राजा था, जिसने समस्त देश में एक शासन स्थापित किया। परन्तु अशोक के मर जाने पर देश फिर पुरानी हालत में चला गया। मुसलमान-आक्रमणों के समय हिन्दू राजा खास-खास बड़े शहरों में राज करते थे और उनकी रक्षा करना ही वे अपना कर्त्तव्य समझते थे। एक दृष्टि से शेष देश के साथ उनका कोई राजनीतिक संबंध न था। इसी कारण आक्रमणकारी अपनी सेना लिये सीधे राजधानी पर आ पहुँचते। रास्ते में कोई उनका विरोध न करता। इन हमलों के समय अजमेर का राजा, कन्नौज का राजा, मथुरा का राजा ऐसे नाम सुने जाते थे।

उस समय देश में एक शक्ति-संपन्न राजा का न होना हिन्दुओं की सबसे बड़ी कमजोरी थी, जो उनके लिए घातक

सिद्ध हुई। जब शहाबुद्दीन देहली जीतकर कुतुबुद्दीन को वहाँ का शासक बनाकर छोड़ गया, तो उस समय मुसलमानों का राज्य देहली-नगर की सीमाओं तक ही सीमित था। जन साधारण यह मानने लगे थे कि दिल्लीश्वर जगदीश्वर होता है। तुगलक वंश के समय इब्नबतूता नाम का यात्री अफ्रीका से दिल्ली आया। उसने अपने यात्रा-विवरण में लिखा है—"शहर दिल्ली से कुछ दूर कोई मनुष्य बादशाह का नाम तक नहीं जानता। सभी गाँव और कसबे अपना प्रबंध आप कर लेते हैं।"

देश को एक राजनीतिक संगठन में लाकर एक राज्य स्थापित करनेवाला मुग़ल अकबर था। राजपूत राजा अपने आप को हिन्दुओं के रक्षक समझते थे। उन्होंने अकबर का विरोध किया। इन सबके शिरोमणि महाराणा प्रताप थे, जिन्हें अकबर के नीचे रहना सह्य न था। अपनी जान जोखिम में डालकर हजारों कष्ट सहते हुए वे अकबर के मुकाबले पर डटे रहे। हिन्दू दृष्टिकोण से उस समय के हिंदुस्थान के इतिहास के केन्द्र महाराणा प्रताप थे। परन्तु राजनीतिक दृष्टि से इतिहास एक पग आगे बढ़ गया। मुसलमान चिरकाल से इस देश में रहने लग गये थे। हमें यह देखकर अचरज होता है कि किस प्रकार एक अशिक्षित आदमी अकबर एक दृष्टि से मजहबी पक्षपात से ऊपर होकर हिन्दुओं के दिलों से मुसलमानों की विभिन्न सदियों की घृणा कम करके इतने बड़े कार्य की नींव डाल सका।

दूसरा प्रकरण

पंजाब

यहाँ पर संभवतः यह प्रश्न किया जायगा कि पंजाब का इतिहास लिखने की आवश्यकता क्या थी। इसके उत्तर में निम्न-लिखित बातों की ओर ध्यान दिलाना पर्याप्त होगा।

पंजाब हिंदुओं का असली घर है। हिंदू नाम का श्रीगणेश पंजाब से हुआ। पंजाब की पाँच नदियों के साथ सिंध और सरस्वती को मिलाकर वैदिक काल में इस भूमि का नाम सप्त-सिंधु था। यह शब्द न केवल आर्ष ग्रन्थों में आया है, प्रत्युत पारसियों की मजहबी पुस्तक जेंद अवेस्ता में भी। फारसी भाषा में 'स' 'ह' से बदल जाता है। सप्तसिंधु हप्तहिंद बन गया। इससे ही हमारा नाम हिन्दू और देश का नाम हिंदुस्थान निकला। इन्हीं नामों से हम और हमारा देश अभी तक प्रसिद्ध चला आता है। इंडिया हिंदू से ही निकला है, परन्तु जब हिन्दुस्थान मौजूद है तब इंडिया का प्रयोग क्यों किया जाय?

पंजाब आर्यों का आदिदेश है—आर्य-नस्ल के आरम्भ के सम्बन्ध में कई मत प्रस्तुत किये जाते हैं। स्वामी दयानंद की राय में मानव-सृष्टि तिब्बत में हुई। कई योरपीय इतिहासकारों का मत है कि आर्य नस्ल का आदि देश मध्य एशिया था। कुछ इसे उत्तरी योरप बताते हैं। श्रीबालगंगाधर तिलक ने अपने वैदिक अध्ययन के आधार पर यह मत स्थिर किया कि प्राचीन आर्य उत्तरी ध्रुव-प्रदेश में रहा करते थे। वहाँ से चलकर वे नीचे ईरान और हिंदुस्थान में आये और बाद में योरप के देशों में

फैले। बाबू अविनाशचंद्र दास ने 'ऋग्वेदिक इंडिया' में श्री तिलक के मत को ग़लत सिद्ध किया है और ऋग्वेद के मंत्रों से इस बात के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं कि आर्य नस्ल का आदि देश पंजाब था। दास महाशय ने लिखा है कि ऋग्वेद में ऐसे मंत्र पाये जाते हैं, जो भौगर्भिक क्रांति के काल से पहले के हैं और भू-गर्भ विद्या की सहायता से यह सिद्ध किया जा सकता है कि एक समय पंजाब और दक्षिण भारत के बीच एक समुद्र था। भौगर्भिक क्रान्ति होने से इस समुद्र के सूख जाने पर राजपूताने की मरु भूमि बन गई और पंजाब और दक्षिण प्रदेश मिलकर एक देश बन गये। इस क्रान्ति को हुए हज़ारों वर्ष हुए हैं। ऋग्वेद के मंत्रों में पंजाब और दक्षिण भारत के दर्मियान स्थित उस समुद्र का उल्लेख है। स्वाभाविकतया वे वेदमन्त्र इन हज़ारों वर्ष से बहुत पहले बने होंगे। स्वाभाविक निष्कर्ष यह है कि आर्य लोग आरम्भ में इस सप्तसिन्धु ही के रहनेवाले थे।

उत्तर में काश्मीर और पश्चिम में गान्धार का प्रदेश भी सप्तसिन्धु में सम्मिलित था। दक्षिण में राजपूताने का दक्षिणी समुद्र और पूर्व में पूर्वीसमुद्र था, जो गंगा के प्रदेश में फैला हुआ था। उत्तर की ओर गांधार और काबुलस्थान से होकर आर्य नस्ल की शाखाएँ पश्चिम को बासफ़रस के ऊपर से पांटियस के रास्ते होकर गईं। (पांटियस और संस्कृत के शब्द पथ में बहुत साम्य है और दोनों का अर्थ मार्ग है।)

भारत के इतिहास में पंजाब का भाग—भारत के इतिहास में दक्षिण और बंगाल का अपना-अपना हिस्सा है। यह बात तो स्पष्ट है कि सबसे पहले मद्रास और बंगाल अंगरेज़ों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के अधीन हुए और दुर्भाग्य से पश्चिमी प्रभावों में सबसे पहले आकर राष्ट्रीयता के पतन के पथ पर इन्होंने बाकी देश का पथप्रदर्शन किया।

राजपूताना और महाराष्ट्र ने अपने-अपने विशेष युग में हमारे आधुनिक इतिहास में बहुत बड़ा भाग लिया है। परन्तु पंजाब की विशेषता यह है कि देश के इतिहास में इसका भाग शुरू से लेकर वर्त्तमान समय तक एकसा चला आता है। इसलिए एक दृष्टि में पंजाब के इतिहास में समस्त देश के इतिहास का सार पाया जाता है। बाहर से जितने आक्रमणकारी आये, वे सबसे पहले पंजाब में आये और प्रायः यहाँ ही उनके भविष्य का निर्णय हुआ। सरस्वती के पास होने से कुरुक्षेत्र पंजाब का एक प्राचीन भाग है। यदि हम देहली को भी पंजाब के साथ मिलालें तो निस्संदेह पंजाब समस्त देश के इतिहास का केन्द्र बन जाता है।

पंजाबियों का चरित्र—पंजाबियों का चरित्र विशेष प्रकार का है। उनके अंदर काम करने की शक्ति दूसरों की अपेक्षा शायद अधिक है। पंजाब की हिन्दू आबादी में अधिकतर ब्राह्मण और खत्री हैं। इन दोनों में बहुत कम अंतर है। पंजाब के खत्रियों में यह विशेषता है कि ये समय के अनुसार ब्राह्मणों, क्षत्रियों या वैश्यों के काम पूरे कर लेते हैं। एक समय जब समाज को आवश्यकता हुई तो इनमें से धार्मिक सुधार करने-वाले गुरु उत्पन्न हुए जिनके जीवन में ब्राह्मणों के सभी गुण पाये जाते थे। समस्त संसार छानने पर भी हमें ऐसे दस महा पुरुष कहीं नजर नहीं आते जैसे दस गुरु पंजाब में एक के बाद दूसरे गद्दी पर बैठते रहे। पंजाब में ही उन सच्चे क्षत्रिय लछमन सिंह ने जन्म लिया जिन्हें वीर वैरागी कहा जाता है। क्षत्रियों में से ही दीवान मोहकमचंद जैसे राजनीतिज्ञ और हरिसिंह नलवा जैसे वीर उत्पन्न हुए जिन्होंने महाराज रणजीतसिंह के राज्य की नींव डालने में बड़ा भारी हिस्सा लिया।

वर्त्तमान काल पर नजर डालने से मालूम होता है कि यद्यपि स्वामी दयानंद काठियावाड़ में पैदा हुए और उन्होंने थोड़ा ही

समय पंजाब में व्यतीत किया तो, भी पंजाब के हिन्दुओं के चरित्र के कारण ही उनके आंदोलन आर्यसमाज को सबसे बढ़ कर साफल्य प्राप्त हुआ। इसी प्रकार हिन्दू संगठन के एक अन्य बड़े भारी देशव्यापी आंदोलन को महाराष्ट्र के बाद पंजाब में सफलता मिली है।

पंजाब के लोग खाली खयाल में नहीं रहते। वे विचार को तुरन्त ही क्रियात्मक रूप देने का यत्न करते हैं। उनके विचारों और कामों में बहुत थोड़ा अन्तर होता है। अंगरेजी गवर्नमेंट इस बात को अच्छी प्रकार समझती है। इसी कारण पंजाब को दबाने का अधिक यत्न किया जाता है। इन बातों को सामने रखकर एक इतिहासवेत्ता का कथन है कि देश के भावी इतिहास में पंजाब का बहुत बड़ा भाग होगा।

पृथ्वी की आयु—प्राचीन हिन्दू ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार इस पृथ्वी को बने १ अरब ९६ करोड़ वर्ष से ऊपर का समय हो चुका है। हाल ही में विभिन्न विद्याओं तथा विज्ञानों में जो उन्नति हुई है, उसकी सहायता से वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इस दुनिया को बने दस करोड़ से लेकर एक अरब साठ करोड़ वर्ष तक का समय हुआ है। पृथ्वी के जीवन में सबसे पहला युग वह था जब कि पृथ्वीतल पर कोई सजीव प्राणी विद्यमान न था। दूसरा युग वह था, जब बहुत ही सादी बनावटवाले प्राणी या शरीरी यहाँ प्रकट हुए। इससे अगले युग में समुद्र के अन्दर मछलियाँ दिखाई देने लगीं। अगला युग जमीन पर रेंगनेवाले जानवरों का था। सबसे अंत में वह युग आया जब कि घास तथा अन्य वनस्पतियाँ और दूध पिलानेवाले जानवर प्रकट हुए। मनुष्यों की उत्पत्ति भी इसी युग में हुई।

वैज्ञानिक मानव सभ्यता को तीन बड़े युगों में बाँटते हैं।

पहले को पाषाण युग कहा जाता है। इसे ईसा से छः लाख बरस पहले तक गिना गया है। इस युग में पृथ्वी पर बर्फ के कई बड़े-बड़े तूफ़ान आये। कहते हैं, पृथ्वी को वर्तमान स्वरूप ग्रहण किये पचास हज़ार वर्ष हो गये हैं। इस युग में जहाँ कहीं मनुष्य थे, वे अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए पत्थर के मोटे हथियार इस्तेमाल करते थे। दूसरा युग वह था, जिसमें पत्थर के मोटे हथियारों के स्थान में नफ़ीस औजारों का प्रयोग किया जाने लगा। इसे वे नव पाषाण युग कहते हैं। तीसरा युग वह था, जब कि मनुष्य को धातुओं का ज्ञान हुआ और उसने लोहे को अपने औजारों के लिए इस्तेमाल करना आरम्भ किया। इसे लोह-युग कहते हैं।

कुछ वैज्ञानिकों का विचार है कि दक्षिण भारत के मनुष्य प्रारंभिक काल से यहाँ पर पाये जाते हैं। कहते हैं, ये लोग अनार्य नस्ल से थे। ज़िला तनावली में ऐसी क़ब्रें मिली हैं, जिनसे पता चलता है कि वे लोग मृतक को मर्तबान में बन्द करके ज़मीन में दबा दिया करते थे। उत्तरी भारत के एक भाग में पहले पानी ही पानी था। जब जल के स्थान में स्थल हो गया, तब भी उत्तर और दक्षिण भारत में बहुत कम सम्बन्ध था।

जलवायु का प्रभाव—ज़मीन और जलवायु के प्रभाव का हाथ लोगों के चरित्र और सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन बनाने में बहुत भारी होता है। कठोर हृदय और बलिष्ठ शरीर वाले अफ़गान अपनी पहाड़ी ज़मीन के वैसे ही फल हैं, जैसे नरम-दिल हिन्दू अपनी मैदानी ज़मीन और गरम जलवायु के। अफ्रीका का जलवायु हब्शियों के मुख और रंग को उसी तरह बनाता है, जिस तरह जापान का जलवायु मंगोल चेहरा बनाता है। जलवायु के प्रभाव के लिए यह आवश्यक है कि लोग चिर काल तक उस जलवायु में रहें। इस समय अमरीकन, कनेडियन

और आस्ट्रेलियन यद्यपि अँगरेजों से बहुत मिलते-जुलते हैं, परन्तु जलवायु का प्रभाव उन पर भी प्रकट हो रहा है और एक समय आ सकता है जब ये लोग अपनी अँगरेजी नस्ल से बिलकुल भिन्न हो जायँ।

वर्त्तमान पंजाब—वर्त्तमान पंजाब के उत्तर में हिमालय इसे तिब्बत और चीन से अलग करता है। इसके पूर्व में यमुना है। दक्षिण में सिन्ध प्रांत तथा राजपूताना और पश्चिम में सुलेमान पर्वत जो इसे अफग़ानिस्तान तथा बलूचिस्तान से पृथक् करता है। हिमालय प्रदेश में काश्मीर, जींद, मण्डी, सुकेत, नाहन आदि रियासतें और शिमला, कुलू, डलहौज़ी आदि पहाड़ियाँ हैं। पश्चिम में हज़ारा की सुन्दर तराई है। दक्षिण में हिस्सार और दिल्ली का कुछ प्रदेश है, जो सन् सत्तावन के ग़दर के बाद इसमें सम्मिलित किया गया। पंजाब का उत्तरी भाग काश्मीर दुनिया का बगीचा है। दक्षिण में मरुभूमि है। उत्तर का जलवायु बहुत ठंढा है; परन्तु मैदानों में गर्मियों में सख्त गर्मी और सर्दियों में सख्त सर्दी पड़ती है।

पंजाब का क्षेत्रफल १३५६०५ वर्गमील है। आबादी दो करोड़ से ऊपर है। सन् १६०१ की जनगणना के अनुसार पंजाब, काश्मीर और राजपूताने की आबादी नस्ल की दृष्टि से आर्य है। इसके मुक़ाबले पर संयुक्तप्रान्त और बिहार में आर्य और द्रविड़ नस्लें मिली हुई हैं। बंगाल और उड़ीसा में थोड़ा सा भाग आर्य और बाक़ी मंगोल तथा द्रविड़ नस्लों का मिला हुआ हिस्सा है। बम्बई, गुजरात, महाराष्ट्र और कुर्ग में शक और द्रविड़ मिले हुए हैं। मद्रास, हैदराबाद, मध्यप्रान्त, छोटानागपुर और लंका में द्राविड़ नस्ल के लोग हैं।

पंजाब में पाँच नदियाँ हैं—सतलज, ब्यास, रावी, चनाब और झेलम। इनके कारण ही इस प्रांत का नाम पंजाब है। इनमें से हर दो नदियों के बीच के प्रदेश को अन्तर्वेद या दोआब कहा जाता है। इनके अतिरिक्त छठी नदी सिंध है जो प्राचीन काल से युद्ध और राजनीति-सम्बन्धी कारणों से पंजाब की सीमा समझी जाती है। सभी आक्रमणकारी और यात्री पंजाब को भारत का फाटक समझते रहे हैं।

पहले-पहले आर्य लोग पंजाब और सिंध प्रांत में रहते थे। ऋग्वेद में सिन्धु का नाम बहुत बार आता है, गंगा का एक ही बार (१०।७५।५)। सिंधु को धन देनेवाली और खेतों को हरा-भरा करनेवाली कहा गया है। संस्कृत का सिंधु यूनानी में सिंधन, रोमन में सिंडस, चीनी में सिएटो और फ़ारसी में सिन्ध बन गया है। यूनानी लेखक प्लिनी ने इसे इण्डस लिखा है।

काश्मीर और काशगर के बीच कैलाश है। वहाँ से निकलकर सिन्ध नदी स्वात और अटक के पास बहती है। बरनियर ने इस के मार्ग का यह विवरण दिया है—"हिमालय की पहाड़ी दीवारों के दरम्यान तिब्बत से निकलकर यह १४० मील उत्तर-पश्चिम को जाती है। वहाँ पर इसे नाकाबाब कहते हैं। इस जगह इसमें पश्चिम से गार नदी आ मिलती है। थोड़ी दूर चलकर यह खास काश्मीर में प्रवेश करती है। उत्तर-पश्चिम को जाते हुए यह लद्दाख की राजधानी लिग्रा के पास से गुजरती है। लद्दाख में बहुत से नदी-नाले इसमें आ मिलते हैं। अस्कर्दू के पास यह एक तंग रास्ते से गुजरती है और दक्षिण को जाते हुए गिलगित की एक बड़ी नदी को अपने साथ ले लेती है। १२० मील तक हिन्दू-कुश के पहाड़ों, तंग दर्रों और गहरी घाटियों में से होकर यह दरबंध पहुँचती है। इसके बाद जज की घाटी में प्रविष्ट होने पर

इसमें नाव चलाई जा सकती है। अब ४० मील के बाद इसमें पश्चिम से काबुल नदी आ मिलती है। काबुल नदी श्वेत पर्वत, हिन्दूकुश और चित्राल से होकर आती है।

"इसके पश्चात् यह सुलेमान पर्वत श्रेणी के अन्दर प्रवेश करती है। अब भी इसमें से गुजरना संकटमय होता है। अटक पर नावों का पुल है। यहाँ से ११ मील नीचे कालाबाग और वहाँ से २५० मील नीचे मिश्रकोट के पास से यह गुजरती है। दो-तीन मील के बाद इसमें चनाब आ मिलती है। तत्पश्चात् यह अरब-सागर में जा गिरती है। इसके एक किनारे पर सिन्ध से बन्नू तक सड़क जाती है और दूसरे पर मुलतान से रावलपिण्डी तक।

"चनाब पंजाब की पाँचों नदियों को इकट्ठा करके सिन्ध में आ मिलाती है। झेलम नदी काश्मीर में से बहती हुई शहर झेलम और पिंडदादनखान के पास से गुज़रकर मघियाना से दस मील नीचे त्रिमु के स्थान पर चनाब से जा मिलती है। दोनों २६ मील चलकर फाज़िलशाह के पास रावी को अपने अंदर ले लेती हैं। यहाँ इनका नाम चनाब हो जाता है। मुलतान से ५८ कोस दक्षिण उच्च के स्थान पर इसमें सतलज आ मिलती है जो व्यास के पानी को फीरोज़पुर के पास से अपने साथ ले आती है।"

द्राविड़ आदि—कुछ पश्चिमी लेखकों का विचार है कि जिन लोगों को वेद में असुर, राक्षस, दस्यु और दास कहा गया है, वे इस देश के आदिवासी थे। ये अधिकतर तातारी नस्ल से थे। ये पंजाब के कई हिस्सों में आबाद थे। जानवरों पर गुज़ारा करते थे, जानवरों की खालें पहना करते और विभिन्न देवताओं की पूजा किया करते थे। इनका चेहरा, बोली के शब्द और

धार्मिक रीतियाँ तातारियों से मिलती थीं। ये पाषाण और धातु युगों से गुज़र चुके थे। पहले पत्थर के औज़ार बनाया करते थे, बाद में पीतल और लोहे के बनाने लगे। द्राविड़ भाषा भी तूरानी भाषा से मिलती है। ये पहले पंजाब में रहते थे, बाद में दक्षिण में जाकर आबाद हो गये।

हिमालय के दामन में रहनेवाले तिब्बती, बरमी और बंगाल के कोल उत्तर-पूर्वी रास्ते से भारत में आये। ये मृतकों को ज़मीन में दबाते थे। उनके साथ हथियार भी गाड़ा करते थे। पोलैंड और तातार के अंदर क़ब्रों में भी ऐसे औज़ार पाये गये हैं। विधवा अपने पति के छोटे भाई से ब्याह कर लिया करती थी। हर रस्म पर ये नाचते और शराब पीते थे। इनमें वर्ण-व्यवस्था बिलकुल नहीं पाई जाती थी। इनका निवास-स्थान नगर से बाहर हुआ करता था। ये मकानों और कसबों में रहा करते थे। कुत्ते, गधे या लोहे के गहने इनकी संपत्ति हुआ करती। आर्यों ने इनको जीतकर इन्हें जंगलों में भगा दिया या अपना दास बना लिया। मनुस्मृति में इन्हें-चाण्डाल कहा गया है। वेद में कहा गया है कि इन्द्र ने असुरों के कसबों को नष्ट किया। ये धनवान थे। इनके सात बुर्ज और नौ दुर्ग थे।

इनको अभी तक अछूत समझा जाता है। पंजाब के चूहड़े, चमार, माहतम, बौरिये, अहीरी, थोरी, लबाने, खेल, साहंसी, नट, परना, बाज़ीगर, पक्खीवारा, हारनी, गंदेला, ओड और ह्रेसी इस नस्ल में से गिने जाते हैं।

आर्य—आर्यों का रंग सफ़ेद और रूप सुन्दर था। वे अपने आपको आर्य अर्थात् श्रेष्ठ कहते थे। कहते हैं, आर्य का प्रारम्भिक अर्थ 'हल चलानेवाला' है, बाद में इसका अर्थ मान्य और शासक हो गया। ईरान के सम्राट् दारा ने एक लेख

में अपने आपको आर्य और आर्य नस्ल से बताया है। पार-सियों, प्राचीन ईरानी आर्यों की राय में ईरान का पहला बादशाह महाबाहु था जिसने लोगों को चार वर्गों में बाँटा और लोग धर्म, युद्ध, व्यापार और सेवा के कार्य करने लगे। जेंद अर्थात् पुरानी ईरानी भाषा, वैदिक संस्कृत से बहुत मिलती है। उदाहरण के लिए इन वाक्यों को देखिये—

'ह्यत ता ऊर्वाता सराया या मजदाओ ददाता खीत चा अनीति चा अत ऐयि ताईश अंघहती ऊशाता।'

अर्थात् मज्द ने हमको जो ये दो स्व (आत्माएँ) दीं, इनमें से जो ऊँची है, वह धर्म की ओर संकेत करती है और नीची अनीत की ओर ले जाती है। हमारे सब काम इन्हीं दोनों के द्वारा होते हैं।

'कत वे दत्रेम मजदा यथा बाओ हखमी...परे वस्वेमा... यथा... ऊवैंघास...अपेनी पैति।'

अर्थात् हे मज्द, हमको सिखाओ कि वह कौन-सा उत्सर्ग, धैर्य, वैराग्य है, जो हमें तुमसे मिला दे और आत्मज्ञान करा दे। सैकड़ों ईरानी नाम संस्कृत से मिलते हैं। पर्सिपोलिस में जमशेद के सिंहासन पर जो शब्द खुदे हुए हैं, वे बम्बई के पास ऐलीफेंटा के लेखों से मिलते हैं और देवनागरी से इनकी बहुत समता है। इन्हीं बातों को देखकर सर विलियम जोन्स इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि एक समय ईरान में ब्राह्मण-सम्प्रदाय फैला हुआ था।

पहले-पहल आर्य सिंधु नदी के किनारे रहते थे। प्राचीन पुस्तकों में सिंधु का नाम बार-बार आता है। (लैटिन भाषा में 'साइंड' का अर्थ 'बहना' है।) जेंद-अवेस्ता के हप्तहिंदु का मतलब सप्तसिंधव या पंजाब है।

सप्तसिन्धव से चलकर आर्यों ने गंगा और यमुना के बीच का प्रदेश आबाद किया। इसमें उन्होंने बड़े-बड़े नगर बसाये। यहाँ उन्हें न केवल द्राविड़ों से युद्ध करने पड़े, प्रत्युत् अच्छी जमीन पर अधिकार करने के लिए उनमें परस्पर एक दूसरे के साथ भी लड़ाइयाँ छिड़ गईं। इन लड़ाइयों के कारण कई बड़े नेता आ गये। इनके साथ बड़े-बड़े जनसमूह और श्रेणियाँ खड़ी हो गईं। धीरे-धीरे छोटे राजा अर्थात् नेता, बड़े राजाओं के साथ मिल गये। इन राजाओं के मंत्री ब्राह्मण हुआ करते थे, जो यज्ञों के पुरोहित बनते थे। राजा के अतिरिक्त जनसाधारण पर ब्राह्मणों का बड़ा प्रभाव और दबदबा था। इसी कारण गंगा और यमुना के बीच के प्रदेश का नाम ब्रह्मर्षि देश पड़ गया।

वेद में पंजाब की नस्ल को भारत कहा गया है। बाद में इसी नस्ल के नाम से समस्त देश का नाम भारत हो गया 'इपिक इंडिया' के विद्वान लेखक श्री चिन्तामणि वैद्य ने लिखा है कि पंजाब से चलकर आर्यों ने रुहेलखंड, अवध और बिहार को आबाद किया। कुरु, पंचाल और विदेह इन्हीं की बड़ी शाखाएँ थीं। कुछ विद्वानों की सम्मति में श्रीरामचन्द्र के राज्य को ३५०० वर्ष हुए हैं। तब गंगा और यमुना के बीच का प्रदेश एक प्रकार से गैर-आबाद था। इस इलाके को श्रीराम के पूर्वजों ने अच्छी तरह देख लिया था और वे गोदावरी नदी तक जा चुके थे। मध्य-भारत के जंगलों में ब्राह्मणों ने स्थान-स्थान पर अपने आश्रम अर्थात् बस्तियाँ जा बनाई थीं। राक्षस लोग उनको घेरे रहते थे। ये राक्षस द्राविड़ों में से थे। ये मनुष्य को भी खा जाया करते थे। श्रीराम ने सारे प्रदेश में आर्य संस्कृति का प्रचार करने के लिए लंका तक के इलाके को जा जीता।

यद्यपि इसके हज़ारों बरस बाद भी दक्षिण एक प्रकार से अलग रहा; परन्तु इससे यह लाभ अवश्य हुआ कि आर्यों ने अपनी वीरता तथा संस्कृति का सिक्का द्राविड़ों पर जमा लिया। इसके पश्चात् द्राविड़ लोग आर्य सभ्यता के प्रभाव में आने लगे। यह बात कुछ विचित्र-सी है कि रामायण में भरत का पंजाब में अपने मामा के घर जाना विस्तार से दिया है। परन्तु श्रीराम का गोदावरी और विंध्याचल के बाद की यात्रा का कुछ हाल नहीं मिलता। क्या रामायण के लेखक को कावेरी, कृष्णा आदि का विशेष ज्ञान न था? इससे यह भी प्रकट होता है कि आर्यों और द्राविड़ों में बहुत कम सम्पर्क था।

आर्य नस्ल की अन्य शाखाएँ—वर्त्तमान भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से आर्य नस्ल की विभिन्न शाखाओं का पता लगाना वर्त्तमान युग की एक बड़ी बात है। प्राचीन भाषाओं के कुछ विद्वानों ने विभिन्न भाषाओं और उनके व्याकरणों के नियमों में ऐसी समानता देखी कि उनका मत हो गया कि पुराने ईरानी, बेक्ट्रिया, मीडिया और सोगिडयाना के वासी, ट्यूटान, स्लाव, कैल्टिक, ग्रीक, रोमन आदि सब जातियाँ एक ही स्रोत से निकली हैं। पिता, माता, दुहिता, भ्राता, विधवा, देव आदि के अतिरिक्त गिनती के शब्द अपने-अपने रूप में थोड़ा-थोड़ा अंतर रखते हुए संस्कृत, ईरानी, लैटिन, जर्मन, अँगरेजी, डच, डेनिश, स्वीडिश, स्लावानिक आदि भाषाओं में एक-जैसे हैं। ईश्वर या ईश वही शब्द है, जो मिश्र की प्राचीन भाषा में ओसिरिस या ईसिस है। संस्कृत का वृत्र (असुर) ईरानी में वरिघ्न (भूतों का सरदार) है। अब यह बात हरएक मानता है कि सप्तसिंधव से ईरान जाने के लिए अलग होनेवाली आर्य नस्ल की सभ्यता में विशेष उन्नति हो चुकी थी।

श्री संपूर्णानन्द का कहना है — यदि हम भारत से पश्चिम को चलें तो पहले पश्तो, फिर बलूची, फिर ईरानी (फ़ारसी) मिलेगी। ये तीनों भाषाएँ प्राचीन जेंद से निकली हैं। जेंद संस्कृत से बिलकुल ही मिलती है। फिर रूस और बलगारिया की स्लाव भाषाएँ, आधुनिक यूनानी, और इटालियन, जर्मन, फ्रेञ्च, अँगरेजी, डच, डेनिश, पुर्तगाली आदि और योरप की प्रायः सभी प्रचलित भाषाएँ हैं। 'प्रायः' इसलिए कि तुर्की, फिनी और हंगरी की माग्यार भाषाएँ इस सूची के बाहर हैं। इसका तात्पर्य यह निकला कि प्राचीन साहित्यिक भाषाओं में संस्कृत, जेंद, ग्रीक और लैटिन, और आजकल की प्रचलित भाषाओं में इन्हीं चारों से निकली बंगला, गुजराती, हिंदी, मराठी, पश्तो, ईरानी, रूसी, जर्मन, फ्रेंच, अँगरेजी, इटालियन, स्पेनिश, पुर्तगाली, डच, अफ्रीकन आदि एक दूसरे से मिलती हैं और मिलने का एक ही अर्थ हो सकता है कि इनका उद्गम एक ही जगत में हुआ है। हमारे देश में तो लोग यही समझते हैं कि संस्कृत ही सबका स्रोत है, परन्तु ऐसा मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं। संस्कृत अपने समय की तद्दश भाषाओं की माता नहीं, बहिन ही होगी। यह हो सकता है कि चूँकि उसका साहित्य सबसे पुराना है इसलिए वह व्याकरण के नियमों में जल्दी बाँध दी गई और इसी कारण उसका रूप आदि भाषा से औरों की निस्बत अधिक मिलता है।

तीसरा प्रकरण

वैदिक काल

योरप के इतिहास का स्रोत—पश्चिम के इतिहासज्ञों का मत है कि संसार का इतिहास दस-बारह हजार वर्ष पीछे नहीं जाता। वे बेबिलोनिया और मिश्र के इतिहास को सबसे प्राचीन मानते हैं। वह प्रायः पुराने खँडहरों या प्राचीन सभ्यता के अन्य चिह्नों के आधार पर लिखा गया है। परन्तु भारत के इतिहास के विषय में ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। हमारे पूर्वजों ने इस दृष्टि से न तो कोई स्मारक बनाये और न अपने कोई अन्य चिह्न छोड़े। जो प्रमाण मिलते हैं, वे हमें बौद्ध काल (ईसा पूर्व छठीं शताब्दी) तक ले जाते हैं।

इन सब बातों के होते हुए भी हिन्दू अपने आपको चौल्डिया, असीरिया और मिश्र से भी पहले की सबसे प्राचीन जाति बताते हैं। हिन्दुओं का यह विश्वास उनकी परंपरा पर आश्रित है। योरपीय इतिहासज्ञ इसको मानने पर तैयार नहीं। वे तो यह कहते हैं कि हिन्दुओं का जर्मन नस्ल से सम्बन्ध है और वे मध्य एशिया या उत्तरी योरप से भारत में आये हैं। उनकी सम्मति में मिश्र की सभ्यता सबसे प्राचीन और व्यापक है। योरप की सभ्यता का आरम्भ मिश्र की सभ्यता से होता है और योरप की सभ्यता में मिश्र का बहुत बड़ा भाग है। इस कारण वे लोग मिश्र की ओर न केवल आश्चर्य, प्रत्युत कृतज्ञता की दृष्टि से देखते हैं। जब योरप में अभी अँधेरा ही छाया हुआ था तब मिश्र और बेबिलोनिया उन्नति के शिखर पर पहुँच चुके थे।

योरपीय लेखकों का विचार है कि क्योंकि हिन्दू भी योरपीय नस्ल से हैं इसलिए उनकी सभ्यता भी मिश्र और बेबिलोनिया की सभ्यताओं से बाद की होनी चाहिए और इस कारण यह तीन चार हजार बरस से ज़्यादा पुरानी नहीं हो सकती। यह कितनी बड़ी भूल है जिसमें भोले-भाले हिन्दू भी फँस जाते हैं।

मिश्रियों का पुराना रिकार्ड चित्र-लिपि (हिरोग्लिफ़िक्स) में है। इसकी खोज रोज़ेट्टा (मिश्र) में पाये गए एक बड़े पत्थर से डाक्टर यङ्ग ने उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में की। इसी प्रकार दजला या टाइग्रीज नदी पर स्थित प्राचीन नगर निनेवा (असीरिया) में ईंटों पर चप्पड़ की शकलवाले (क्युनिफ़ार्म) अक्षरों में लिखे शब्द मिले, जिनसे बेबिलोनिया के प्राचीन इतिहास का बहुत कुछ पता चला।

भारत में ऐसा कोई प्राचीन रिकार्ड नहीं मिलता। हिन्दुओं का सबसे प्राचीन रिकार्ड ऋग्वेद है। इस वेद के मंत्रों की भाषा तथा विचार ऐसे सरल और सुन्दर हैं कि इतिहासज्ञों को ये मिश्र और असीरिया की सभ्यताओं से बहुत पीछे ले जाते हैं। ऋग्वेद की रचनाएँ किसी कागज़ या पत्थर पर नहीं लिखी गई थीं, प्रत्युत् स्मरणशक्ति को उन्नत करके एक से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाई जाती रहीं। हिंदुओं ने इस प्रणाली को सर्वोत्तम एवं चिरस्थायी समझा; क्योंकि पत्थर, लकड़ी और भोजपत्र, सभी नष्ट हो जानेवाली चीजें हैं, जब कि मानव हृदय तथा बुद्धि अमर होती है। हिन्दुओं ने इस कार्य के लिए भौतिक पदार्थों की अपेक्षा मस्तिष्क को अधिक पसंद किया।

चिरकाल तक इस बड़े प्रमाण—ऋग्वेद की अवहेलना इस कारण की गई कि यह मानव इन्द्रियों को इतना आकर्षित नहीं करता जितना पत्थर, ईंटें या अन्य स्मारक करते हैं। इसके साथ ही एक कारण यह भी था कि ऋग्वेद की वैदिक

संस्कृत भाषा चिरकाल हो जाने से अब कहीं बोली नहीं जाती, फिर इसके पढ़नेवालों में से कई एक ने आँखों पर पक्षपात की ऐसी पट्टी बाँध ली थी कि वे इसको समझ ही न सके।

इस बात को तो योरपीय विद्वान् भी स्वीकार करते हैं कि ऋग्वेद संसार में सबसे प्राचीन ग्रंथ है। इसके सहारे पर आर्य नस्ल का प्रारंभिक इतिहास लिखा जा रहा है। यदि हम वेद का अध्ययन भाषा-विज्ञान, स्थापत्य-कला, भूगर्भ-शास्त्र तथा ज्योतिष-शास्त्र के द्वारा मालूम हुए तथ्यों की सहायता से करें, तो हमें न केवल आर्य जाति और मानव जाति का सच्चा आरम्भिक इतिहास मालूम हो सकता है; वरन् इससे कई गहन समस्याएँ हल हो सकती हैं। इससे मालूम हो जाता है कि आर्य जाति का आदि देश पंजाब क्यों है और यहाँ से चलकर यह नस्ल और इसकी सभ्यता, किस प्रकार संसार के विभिन्न स्थानों में फैली और मानव-सृष्टि में से आर्य ही पहले लोग थे जिन्होंने मनुष्य को उन्नति के पथ पर नियमपूर्वक चलाया। इसके साथ ही यह भी कि इनकी विचार-धारा कैसी थी, इनकी आशाएँ तथा आकांक्षाएँ किस प्रकार की थीं, इन्होंने विचार की शक्ति से जीवन की गहन समस्याओं को किस प्रकार हल करना आरंभ किया और किस तरह सभ्यता के क्षेत्र में एक-एक पग आगे बढ़े।

वेद और हिन्दू—यों तो संसार के पुस्तकालय में वेद सबसे प्राचीन और पहली पुस्तक मानी गई है; परन्तु आर्य नस्ल की एक उपजाति—हिन्दुओं ने वेद की रक्षा करना अपना विशेष कर्त्तव्य समझा है। हिन्दू वेद का सबसे बढ़कर मान करते हैं। बहुत-से कहते हैं कि वेद ब्रह्म है, वेद स्वतः प्रमाण है, वेद ईश्वरीय ज्ञान है, वेद विभिन्न विद्याओं का आदि मूल है; जो

कोई वेद की निन्दा करता है वह नास्तिक है। ऐसे भी हिन्दू तत्त्ववेत्ता हुए हैं जो ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते; परन्तु वेद को वे सम्माननीय समझते हैं। हिन्दुओं ने वेद की रक्षा का कार्य अपनी सबसे ऊँची श्रेणी के सुपुर्द कर दिया। वे ब्राह्मण कहलाये। इसी कारण हिन्दुत्व को ब्राह्मणत्व (ब्राह्मिनिज्म) भी कहा जाता है। समस्त जाति में वेद का इतना मान होना यह प्रकट करता है कि किस प्रकार जाति ने अपनी सभ्यता के स्रोत को अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय समझ रक्खा है।

स्वामी दयानन्द ने वेदों को विशेष मान-पद देने के लिए देव-वाणी माना है। देव-वाणी कहने से जनसाधारण में वेद के लिए श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। श्रद्धा उत्पन्न करने का यह अच्छा ढंग है। परन्तु देव-वाणी कहने से वेद विश्वास का एक ग्रन्थ बनकर रह जाता है। इसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम सोच-विचार या वेदों को पढ़े बगैर इस बात पर विश्वास करलें और दूसरों को विश्वास करने पर बाध्य करें कि वेद देव-वाणी है। ईश्वरीय ज्ञान होने से वेद का गौरव उसके अध्ययन में है, न कि उस पर केवल विश्वास करने में।

ईश्वरीय ज्ञान होने के लिए यह कहना पर्याप्त है कि जिन ऋषियों या मंत्र-द्रष्टाओं को वेद का ज्ञान हुआ, उनकी बुद्धि तथा आत्मा इतनी ऊँची हो गई थी कि वे ईश्वर की शक्ति को असाधारण बल से देख सकते थे। यह बल उन्हें ईश्वर की कृपा से प्राप्त हुआ। ईश्वर ज्ञान होने के लिए यह आवश्यक नहीं कि समस्त ज्ञान एक ही समय में किसी एक व्यक्ति को प्राप्त हो। केवल इतना कहना पर्याप्त है कि जब कभी किसी ऋषि ने अपनी आत्मा को निर्मल करके ईश्वर की दया का भाजन बनाया, तभी उसने ज्ञान के इस सत्य को अपने ज्ञान-चक्षुओं से देख लिया।

आर्यों का आदि-देश—सप्तसिंधव—कुछ योरपीय विद्वान कहते हैं कि आर्य लोग सप्तसिंधव में आक्रमणकारी के रूप में प्रविष्ट हुए और यहाँ पर उन्हें चिरकाल तक आदिवासियों से लड़ना पड़ा। वेद यहाँ पर बने, इस कारण उनमें दक्षिण का कोई उल्लेख नहीं है।

जैसा कि पहले कहा गया है, श्री बालगंगाधर तिलक ने ज्योतिष की सहायता से वेद का अध्ययन करके अपना मत यह बताया कि आर्यों का आदि देश उत्तरी ध्रुव प्रदेश था। वहीं वेदों की रचना हुई और वहीं से चलकर आर्य लोग हिन्दुस्थान, ईरान तथा योरप के देशों को गये। बाबू अविनाशचन्द्रदास ने अपनी पुस्तक, 'ऋग्वेदिक इण्डिया' में श्री तिलक के मत का खंडन करके यह लिखा है कि जब ऋग्वेद की रचना हुई तब आर्य लोग सप्तसिंधव में रहा करते थे और वह युग पृथ्वी के रूप में भौगर्भिक परिवर्त्तनों से पूर्व का है। श्रीदास ने स्वयं वेद के प्रमाणों तथा भौगर्भिक साक्ष्य से यह सिद्ध किया है कि सप्तसिंधव ही हिन्दुस्थान के भूखंड में सबसे प्राचीन प्रदेश है, जहाँ पहले-पहल जीवन देखने में आया। इस स्थान में विकास के नियमों पर आचरण होता रहा। फलस्वरूप यहीं मानव उत्पन्न हुआ। इस काल को भूगर्भ की दृष्टि से कम से कम बीस हजार और एक लाख बरस के बीच में माना गया है।

स्वयं ऋग्वेद का एक मंत्र (६।२१।५) इस काल को तीन भागों में बाँटता है—

> इदा हि ते वेविषतः पुराजाः प्रत्नास आसुः पुरुकृत् सखायः।
> ये मध्यमास उत नूतनास उतावमस्य पुरुहूत बोधि ॥

["हे! इन्द्र तू, बड़ा आश्चर्यकारी है। जो ऋषि प्रारंभिककाल में रहते थे वे तुम्हारे लिए यज्ञ कर तुम्हारे मित्र बन गये। मध्यम

युगवालों ने भी ऐसा ही किया। फिर आजकल के ऋषियों ने भी इसी प्रकार तुम्हारी मैत्री प्राप्त की है। इसलिए इस मंत्र को सुनो, जो तुम्हारी पूजा करनेवाला प्रस्तुत करता है।"]

ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में कहा गया है—"कुछ कथाएँ पूर्वजों से लेकर नई भाषा में लिखी गई हैं।" इससे प्रकट होता है कि वेद की पहली भाषा एक समय अव्यवहार्य हो गई थी। तत्पश्चात् वैदिक संस्कृत बनी।

अब वेद के सम्बन्ध में थोड़ा विचार करना चाहिए। ऋग्वेद (४।२६।२) में कहा गया है—

अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।
अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन्॥

["इन्द्र ने आर्यों को सप्तसिन्धु में जमीन दी और उनकी रक्षा के लिए वर्षा तथा अन्न पैदा किये।" पहला शत्रु अहि (साँप) था जिसने वर्षा को रोका। इन्द्र को उसके विरुद्ध लड़ाई करनी पड़ी। इन्द्र ने उसे अपने वज्र से मार डाला।"]

आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम्।
(ऋग्वेद १।३२।३)

इन्द्र की यह विजय सप्तसिन्धु में ही हुई। मालूम होता है कि यह कथा बहुत पुराने ऋषियों से चली आई थी। तब पहले-पहल उन्होंने बिजली और बादलों को देखा और इस रहस्य को हल करने का प्रयत्न किया। उन्होंने बादल में बिजली की चमक देखी। वर्षा के न होने को उन्होंने बिजली की शरारत समझा। तब इन्द्र ने अपनी गर्जना के साथ बादलों पर आक्रमण किया। तत्पश्चात् वर्षा हुई। इसे उन्होंने इन्द्र की बड़ी विजय समझा। इसके बाद ही सूर्य और आकाश दिखाई देने लगते थे। इस कारण इन्द्र सबसे बड़ा देवता माना जाने लगा।

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन् निरुद्धा आपः पणिनेव गावः ।
अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद् ववार ॥
अश्व्यो वारो अभवस्तदिन्द्र सृके यत् त्वा प्रत्यहन् देव एकः ।
अजयो गा अजयः शूर सोममवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून् ॥

(ऋग्वेद १ । ३२ । ११, १२)

अर्थात् (वृत्र के मरने पर) उसके द्वारा रक्षित जो उसकी पत्नियाँ, जलधाराएँ थीं उनका द्वार जिसे उसने बंद कर रखा था, खुल गया और वे मुक्त हो गईं । इन्द्र ने गौओं को जीता, सोम को जीता और सप्तसिंधुओं के प्रवाह को मुक्त कर दिया ।

ऋग्वेद में सप्तसिंधव के इर्दगिर्द चार समुद्रों का होना लिखा है:—

रायः समुद्रांश्चतुरो ऽस्मभ्यं सोम विश्वतः ।
आ पवस्व सहस्रिणः ॥

(ऋग्वेद ९ । ३३ । ६)

'हे सोम धनपूर्ण चारों समुद्र तथा सहस्रों कामनाएँ हमको पूर्णतया दे ।'

यह बात भौगर्भिक क्रान्ति से पहले की थी । सप्तसिंधव की चार सीमाओं पर चार समुद्र थे । केवल उत्तर-पश्चिम में उसका सम्बन्ध ईरान से और ईरान के द्वारा पश्चिमी एशिया से था । उत्तर में हिमालय और एशियाई रोम सागर था, जो तुर्किस्तान या मंगोलिया की सीमाओं से लेकर कृष्ण सागर तक फैला हुआ था । जमीन के अंदर भूचाल आने से बासफ़रस पानी से बाहर निकल आया और इस सागर का बहुत-सा पानी योरपीय रोम सागर में चला गया । जहाँ पर पानी बहुत गहरा था, वहाँ पर कृष्ण सागर, कास्पियन सागर, झील अराल और झील बालकश रह गईं । पश्चिम में सुलेमान पर्वत और उसके नीचे समुद्र था, जो वर्त्तमान सिंध-प्रदेश के स्थान में अरब सागर तक फैला

हुआ था। पूरब में भी समुद्र था जो हिमालय के दामन में कुछ स्थानों पर तीन मील गहरा था। यह सप्तसिन्धु के पूर्वी किनारे से लेकर आसाम तक फैला हुआ था। गंगा तथा यमुना हिमालय के पूर्वी ढालवों से पानी लेकर थोड़ी ही दूर चलकर इस पूर्वी समुद्र में गिरती थीं। दक्षिण में राजपूताना का दक्षिणी समुद्र था, जो दक्षिण की ओर अर्बली या अरावली पहाड़ तक और पश्चिम की ओर खाड़ी के द्वारा अरब सागर से और उत्तर-पूर्व में पूर्वी समुद्र के साथ मिला हुआ था। उत्तर-पश्चिम में गांधार (अर्थात् वर्तमान अफ़ग़ानिस्तान) था, जहाँ आर्य लोग आबाद थे। राजपूताना और सिन्ध दोनों प्रान्त उस समय समुद्र-निमग्न थे।

ऋग्वेद में सिन्धु और सरस्वती के मध्यवर्ती प्रदेश को देवकृत योनि, अर्थात् जीवन और जन्म का स्रोत बताया गया है। सरस्वती और दृषद्वती (जिसे आजकल घरघर और राखी कहते हैं) के बीच का प्रदेश ब्रह्मावर्त कहलाता था अर्थात् आर्यों के विचार के अनुसार यहाँ ब्रह्मा उत्पन्न हुए।

तुलनात्मक भाषाविज्ञान का पंडित रेडलम कहता है कि मनुष्य की उत्पत्ति काश्मीर में हुई और यही इस पृथ्वी पर स्वर्ग है। वेद के संहिता-भाग में मनु की बाढ़ का कोई उल्लेख नहीं। इसका जिक्र शतपथ ब्राह्मण में आया है। कहा गया है कि मनु की किश्ती हिमालय के दामन में इला पर जा लगी। यह स्थान काश्मीर में है। इससे प्रकट होता है कि आर्यों की उत्पत्ति भी सप्तसिन्धव और काश्मीर में हुई।

यह बाढ़ भूचाल के कारण आई। इससे समुद्र में ऐसी गति हुई कि राजपूताना का दक्षिणी समुद्र सूख गया और वहाँ मरु भूमि निकल आई। दक्षिणी समुद्र के सूख जाने के बाद सप्तसिन्धव में स्वभावतः गरमी बढ़ गई। स्यात् इसी बात की ओर अवेस्ता में

संकेत है कि सप्तसिन्धव में अंग्रिमैन्यु (अधर्म) ने अपनी माया से गरमी उत्पन्न कर दी। ऋग्वेद की ऋचा है—"पवित्र नदी सरस्वती पहाड़ों से निकलकर समुद्र में जा गिरती है।" इस से प्रकट होता है कि एक समय सरस्वती हिमालय से निकल कर समुद्र में गिरती थी। (आजकल यह राजपूताना की रेत में धँस जाती है।) इस कथा की रचना के बाद ही पृथ्वी में वह परिवर्तन हुआ जिसके कारण जहाँ पर पहले दक्षिणी समुद्र था, वहाँ पर मरुभूमि होगई। भौगर्भिक अन्वेषण से भी यही पता चलता है कि जहाँ पर आजकल राजपूताना है, वहाँ पर *किसी समय एक बड़ा समुद्र था। यह परिवर्तन तृतीयक या तीसरे* भौगर्भिक काल (टर्शरी) में हुआ। इसे यदि कई लाख नहीं तो हज़ारों वर्ष तो अवश्य हुए हैं।

प्राणिशास्त्र (बायोलॉजी) के पंडितों का कहना है कि मनुष्य को पैदा हुए तीन लाख वर्ष से ज़्यादा नहीं हुए। आदिम मानव तो बंदरों-जैसे थे। इन किंपुरुषों की आकृति मानव की आकृति का पूर्व रूप थी। इनमें कुछ-कुछ बुद्धि अवश्य थी। पचास हज़ार बरस में इन्हें चट्टानों पर चित्र बनाना, पशु पालना तथा पत्थरों से हथियार बनाना आ गया होगा। इनके बने पत्थरों के हथियारों के कुछ नमूने आज उपलब्ध हुए हैं। वे लाख डेढ़ लाख बरस पहले के मालूम होते हैं।

प्रश्न होता है—क्या आर्य इन्हीं के वंशज थे? इस बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु ऋग्वेद (७।१०४।५)

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवस्पर्यग्नितप्तेभिर्युवमश्महन्मभिः।
तपुर्वधेभिरजरेभिरत्रिणो नि पर्शाने विध्यतं यन्तु निस्वरम्॥

में कहा गया है कि 'इन्द्र और सोम चारों तरफ़ से शस्त्र भेजें। अग्नि में तपाये हुए, ताप प्रहारवाले अजर और पत्थर के

बने अस्त्रों से राक्षसों के पार्श्वस्थान को फोड़ें ताकि वे चुपके से भाग जायँ।'

हम यह भी जानते हैं कि सप्तसिंधव में रहते हुए आर्यों ने अपने पूर्व तथा दक्षिण की ओर समुद्र देखे थे, वे सरस्वती को समुद्र में गिरते देखते थे और शायद गंगा को उन्होंने पूर्व की ओर मुड़ते और वहाँ समुद्र से जमीन निकलते भी देखा था।

इसका अर्थ यह है कि ऋग्वेद काल पचीस से पचास हजार वर्ष पुराना है। एच० जी० वेल्स ने 'आऊट लाइन्स आफ हिस्ट्री' में लिखा है कि आज से दस-बारह हजार बरस पहले ऐसे अर्द्धसभ्य लोग जो कृषि और पशु-पालन जानते थे, ईरान, भारत या एशिया के दक्षिण-पश्चिम के किसी दूसरे हिस्से से जाकर योरप में फैले। यही लोग योरप की गोरी जातियों के पूर्वज थे। ये लोग संभवतः आर्यों ही की एक शाखा थे।

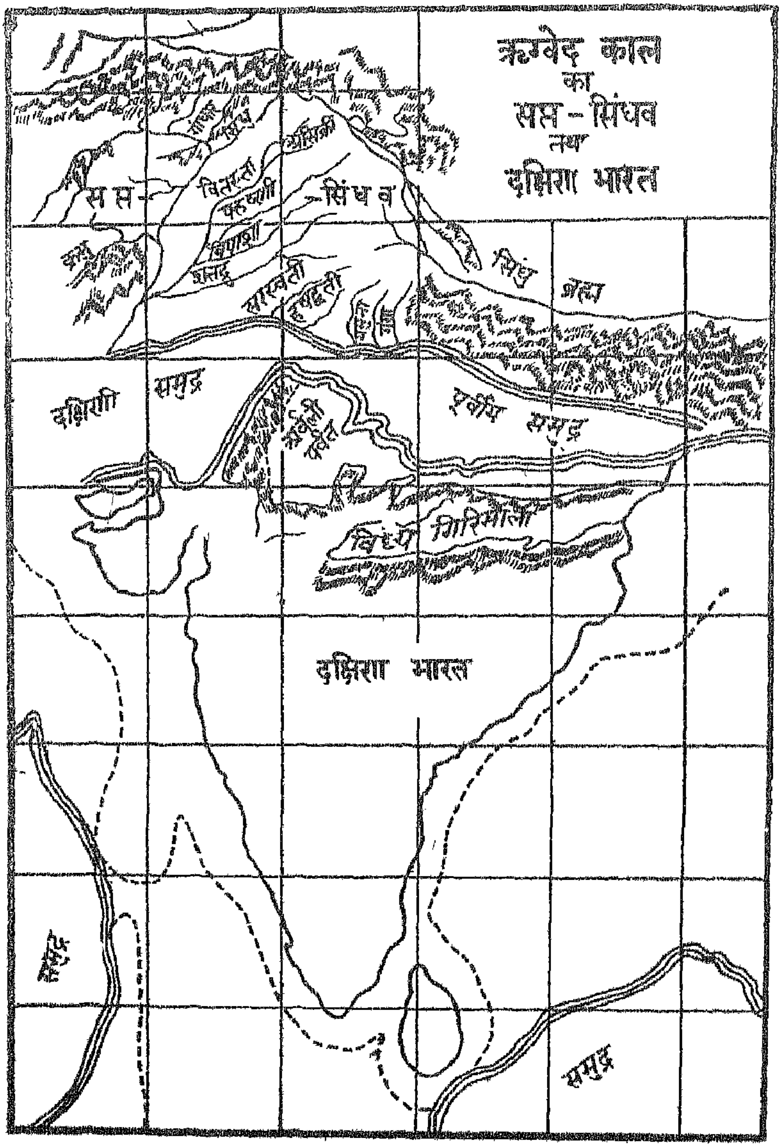
परन्तु सप्तसिन्धव के आर्य कितने सभ्य थे, यह एक दो बातों से ही मालूम हो जाता है। ऋग्वेद (१।११६।४,५) से पता लगता है कि अश्विनों ने उस भुज्यु को बचाया जिसका जहाज टूट गया था। अश्विन उसे अपने एक सौ डाँडोंवाले जहाज में बैठाकर लाये। समुद्र में उन्हें तीन दिन और तीन रातें व्यतीत करनी पड़ीं। इन जहाजों के साथ पाल भी होते थे (१०।१४३।५)। ऋग्वेद (१०।८५।१३) से पता चलता है कि उस समय सूर्य की दक्षिणायन यात्रा मघा-नक्षत्र में पूरी होती थी और फाल्गुनी से उत्तरायण यात्रा आरम्भ होती थी। ज्योतिषी कहते हैं कि यह बात आज से करीब सोलह हजार वर्ष पहले की है। जिन आर्यों को इतना ज्ञान था उनकी सभ्यता निश्चय कई हजार बरस की पुरानी होगी। कारण, एक नक्षत्र १३ अंश और २० कला का होता है। इतना ठीक-ठीक नाप अर्द्धसभ्यों को नहीं आ सकता।

कुछ विद्वानों की राय में कई मंत्रों की रचना इससे भी पहले हुई। 'वेदकाल-निर्णय' के लेखक श्री दीनानाथ शास्त्री चुलैट ने ज्योतिष के प्रमाण देकर कहा है कि वेद आज से तीन लाख वर्ष पुराना है।

इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए सोम का पिलाना आवश्यक समझा जाता था। सोम-बूटी सप्तसिन्धव ही में हुआ करती थी। इसलिए सोम-यज्ञ भी सप्तसिन्धव में हुआ करता था। ज्यों-ज्यों आर्य लोग सप्तसिन्धव से आगे बढ़ते गये त्यों-त्यों इस बूटी के न मिलने से यह यज्ञ छूटता गया। ईरानियों ने इन्द्र-पूजन के स्थान में सूर्य की पूजा शुरू कर दी और वे इन्द्र से इतनी नफ़रत करने लगे कि आर्यों के दो टुकड़े हो गये। पारस्परिक शत्रुता के कारण दोनों में बड़ा भारी युद्ध हुआ जिसका परिणाम यह निकला कि एक भाग सप्तसिन्धुव से निकलकर ईरान चला गया, यद्यपि वहाँ जाकर उन्होंने होम-पूजा (सोम-पूजा) फिर से जारी करदी। वेद के कई स्थानों में कहा गया है कि सोमयज्ञ सबसे पुराना और देवताओं को प्रिय है। सोम बूटी, खाँड़, शहद और दूध मिलाकर सोमरस बनाया जाता था। सबसे अच्छी सोम-बूटी या तो सिन्धु के किनारे पैदा होती थी या फिर हिमालय में मुजवत की चोटी पर।

सोमयज्ञ की प्राचीनता भी यही प्रकट करती है कि सप्त-सिन्धु ही आर्यों का आदि-देश है। इसके अतिरिक्त यह बात भी कम महत्त्व की नहीं कि संस्कृत की किसी पुस्तक में इस बात का उल्लेख नहीं मिलता कि आर्य किसी अन्य देश से भारत में आये।

सरस्वती—सरस्वती के किनारे पर आर्य लोग आत्मा तथा परमात्मा के विषय में विचार किया करते थे। इसी के तट पर वे


ऋग्वेद काल
का
सप्त - सिंधव
तथा
दक्षिण भारत
सप्त -
वितस्ता
परुष्णी
सिंधव
असिक्नी
विपाशा
शतद्रु
सरस्वती
दृषद्वती
सिंधु
दक्षिणी समुद्र
पूर्वीय समुद्र
अरावली पर्वत
विंध्य गिरिमाला
दक्षिण भारत
समुद्र
समुद्र

यज्ञ किया करते थे। यहीं उनको वे सत्य ज्ञात हुए जिन्होंने उनको बौद्धिक तथा आत्मिक दृष्टि से बहुत ऊँचा कर दिया।

इस युग में सरस्वती भी बड़ी बलवती एवं भयंकर नदी थी। इसके किनारे बड़ी अच्छी खेती होती थी। आर्य लोग इससे वैसे ही प्यार करते थे जैसे बच्चा माँ के स्तनों से करता है। इसकी सुन्दरता के संबंध में कई ऋचाएँ मिलती हैं। हिमालय के निचले हिस्से में बर्फ पड़ा करती थी। इसके पिघलने से सरस्वती में सारे वर्ष पानी आता रहता था।

सप्तसिंधव की भूमि—ऋग्वेद में सिंधु-नदी की प्रशंसा बहुत पाई जाती है। मंत्र के मंत्र इसकी प्रशंसा में मिलते हैं। यह नदी आज भी वैसी ही शानदार और सुविस्तृत है। इसकी लहरें तेज और भूमि उपजाऊ है।

सिन्धु कैलाश से निकलती है। इसके पश्चिमी सहायकों के नाम एक मंत्र (१०।७५।६) के अनुसार ये हैं—

तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या।
त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे॥

तृष्टामा (चित्राल के नीचे पंचकोरा प्रदेश में बहनेवाली), सुसर्त्तु, (सुवां), रसा (लेई), श्वेती (अर्जुनी), कुभा (काबुल), गोमती (गोमल), मेहत्नू तथा क्रमु (कुर्रम)। इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र (१०।७५।५) में इसके पूर्वी सहायकों के नाम दिये हैं—

इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तया ऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥

शतद्रु (सतलज), परुष्णी (इरावती या रावी), असिक्नी (चनाब), मरुद्वृधा (सरयू या हरो जो चनाब में गिरती है), वितस्ता (झेलम), आर्जीकीया (व्यास) और सुषोमा

(सुहावा)। सातवीं नदी सरस्वती थी जिसकी सहायता दृषद्वती करती थी। इन सातों नदियों के कारण इस प्रदेश का नाम सप्तसिन्धव पड़ा। वेद में गंगा और यमुना का उल्लेख एक बार (१०।७५।५) आया है। गंगा वेद-काल के बाद उस समय अधिक प्रसिद्ध हुई जब सरस्वती अपनी ख्याति खो चुकी थी। वेद-काल में गंगा और यमुना पूर्वी समुद्र के बिलकुल निकट बहती थीं इसलिए उनके तट निवास-योग्य न थे।

जब ऋग्वेद की रचना हो रही थी तब राजपूताना का दक्षिणी समुद्र और सरस्वती नदी के बीच में संघर्ष जारी था। समुद्र रेत लाकर सरस्वती के दहाने को भरता था और सरस्वती उसे रोकती थी। धीरे-धीरे रेत एकत्र हो गई और समुद्र हट गया। इस प्रकार जब समुद्र सप्तसिंधव से दूर हो गया तब यहाँ वर्षा कम हो गई। सरस्वती को हिमालय से पानी कम मिलने से यह एक साधारण-सा नाला बन गई।

जनपद—सप्तसिंधव के तीन बड़े भाग थे—(१) सरस्वती के ऊपर का प्रदेश, (२) सरस्वती से नीचे का प्रदेश जिसमें भारत-जन रहा करते थे जिनके नेता विश्वामित्र थे (विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्—ऋग्वेद) और (३) इला या काश्मीर। परुष्णी (रावी) के पूर्व में तृत्सु नाम का जनपद था। ये वसिष्ठ को अपना पूर्वज बताते थे। एक अन्य जनपद सिंधु-नदी के किनारे पर आबाद था। भारत, तृत्सु अणु, द्रुह्यु और यदु—ये जनपद पंचजन कहलाते थे। इनके अतिरिक्त दोआबों में पुरु और चेदि नाम के जनपद रहते थे।

उपज—नदियों के कारण सप्तसिंधु की भूमि बहुत उर्वर थी। इसमें चावल, बाजरा, जौ और गन्ना बहुत पैदा होते थे। यही आर्यों का भोजन था। पशुओं के लिए यहाँ चारा बहुत

होता था। ये मवेशी आर्यों की सम्पत्ति थे। रुई बहुतायत से पैदा होती थी। इससे मलमल बनाई जाती थी। सप्तसिंधव में बनने से मलमल को सिंधु कहा जाता था। बेबिलोनिया में भी मलमल को इसी कारण सिंधु कहा जाता था। (वर्त्तमान काल में क्योंकि रुई का कपड़ा पहले-पहल कालीकट (मद्रास) से इङ्गलेण्ड गया इसलिए अँगरेज़ इसे केलिको कहने लगे।) पंजाब का ऊनी कपड़ा भी इस समय बहुत प्रसिद्ध था। जब शेष संसार सोया पड़ा था तब सप्तसिन्धव ने लोगों को होशियार और परिश्रमी बना दिया।

गौ को आरम्भ से ही हितकारी पशु समझा गया। हवन में इसके घी का प्रयोग किया जाता था। प्रशंसा के अतिरिक्त गौ का मान वेद में पाया जाता है। प्राचीन मिश्री और प्युनिक (फीनीशियन) लोग भी गौ का वैसा ही मान करते थे। मिश्र में बैल की पूजा बहुत आवश्यक थी। बैल को शक्ति का चिह्न समझा जाता था। इसे प्रायः हल चलाने और गाड़ियाँ खींचने के काम में लाया जाता था। कहा जाता है कि यज्ञों में घोड़े आदि की भी बलि दी जाती थी। गाय-बैल के चमड़े से कई चीजें बनाई जाती थीं। घोड़ा सवारी और रथों में जोतने के काम आता था। वेद में घुड़दौड़ का उल्लेख भी है।

युद्ध में रथों के आगे घोड़े जोते जाते थे। गदहे का उल्लेख भी है; खच्चर का नहीं। ऐतरेय ब्राह्मण में भैंस का ज़िक्र है। भैंसों के समूह जंगलों में चराये जाते थे। आर्यों को यह भी मालूम था कि बकरी को क्षय रोग नहीं होता। इसका दूध तथा मांस क्षय के रोगियों के लिए लाभकारी बताया जाता था। गांधार की भेड़ें ऊन के लिए मशहूर थीं। ऊँट माल आदि ढोने के काम आता था। कुत्ता भी पालतू जानवर था। एक समय सप्तसिंधव

के कुत्ते ईरान और इराक़ में शिकार के लिए भेजे जाते थे। हाथी भी सिधाये जाते थे। शिकारी लोग हाथियों को फँसा कर पकड़ते थे। राजा इन पर चढ़ा करते थे। शेर, हिरन, काला बारहसिंगा, साँप, मछली और मेंढक का उल्लेख भी वैदिक साहित्य में पाया जाता है। पक्षियों में से मोर, गरुड़, राजहंस, कौवा, उल्लू, गिद्ध आदि के नाम भी मिलते हैं।

कमल फूल बहुत सर्वप्रिय था। कुशा-घास पवित्र समझी जाती थी। सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा और जवाहरात का उल्लेख भी पाया जाता है। सोने-चाँदी की मुद्राएँ और आभूषण बनाये जाते थे। लोहे से शस्त्र, कवच और खेती के औज़ार बनाये जाते थे। ये सब धातुएँ भारत से बेबिलोनिया जाया करती थीं। ऋग्वेद (१। ११६ ।१५) में रानी विश्पला की एक जाँघ कट जाने पर वैद्य अश्विनी कुमारों के द्वारा उसके स्थान में धातुनिर्मित जाँघ के लगाये जाने का मनोरंजक उल्लेख है। इससे सिद्ध होता है कि आर्य लोग न केवल ओषधि-विज्ञान, प्रत्युत शल्य-क्रिया (सर्जरी) से भी परिचित थे। ओषधियों की स्तुति में ऋग्वेद में एक सूक्त है। अथर्ववेद में जड़ी-बूटियों के रोग-निवारक गुणों का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मणों तथा उपनिषदों के युग में तो सम्भवतः आयुर्वेद या चिकित्सा-शास्त्र का यथाविधि अध्ययन होने लगा था।

वैदिक काल में परिवार का पुरखा ही उसका पुरोहित होता था। जनपद के सब लोग एकत्र होकर यज्ञ किया करते थे। हर एक जनपद अपने राजा को शासक समझता था। राजा ग्रामों तथा पुरों, या सुरक्षित नगरों पर राज करता था। भाट लोग उसकी वीरता के गीत गाया करते थे। इनको सोना, गाय, रथ और सुन्दर युवतियाँ पुरस्कार-स्वरूप मिला करती थीं।

पंजाब में रहते हुए आर्य बड़े वीर और युद्ध-प्रिय थे। हिमालय में वे स्वर्ग या देवताओं का निवास-स्थान समझते थे।

वे खेती करते थे। खेतों को पानी देने के लिए नहरें खोदते थे। धान, जौ आदि बोया करते। वे कातना और चमड़े को कमाना जानते थे। कपड़े सिये जाते थे। लोहार, तरखान, सुनार, रथ बनानेवाला और वैद्य अपना-अपना काम करते थे। नृत्य, गीत और वादन हुआ करता था।

पुरुष प्राय: एक ही स्त्री से विवाह किया करता था। लड़की अपना पति आप ही चुन लेती थी। विवाह बहुत पवित्र तथा गंभीर रिवाज समझा जाता था। वैदिक काल में स्त्री का पद बहुत ऊँचा था। वेदों के कई मन्त्र स्त्रियों तथा रानियों के नाम पर हैं। स्त्री पढ़ी-लिखी हुआ करती थी। ब्राह्मण और क्षत्रिय केवल पेशों के नाम थे, न कि जातियों के। विधवा को दोबारा विवाह करने की आज्ञा प्राय: न होती थी, क्योंकि उसने पति के साथ अपना कर्त्तव्य पूरा कर दिया होता था। कुछ विद्वानों की सम्मति में गोमेध आदि यज्ञों में मांस के प्रयोग की इजाजत थी और यज्ञ का मांस खाना अच्छा समझा जाता था। आर्य लोग सोम-रस निकालकर पिया करते थे। इससे वे देवताओं की पूजा भी किया करते थे।

रथों के अतिरिक्त पैदल फौज, तलवार, भाला, तीर-कमान, कुल्हाड़ा, बिगुल बजानेवाले और झंडेवाले का भी वेद में उल्लेख पाया जाता है। झंडे का रंग अरुण होता था। अथर्ववेद (११।१।७) में कहा गया है— जब शत्रु-सेना की आँखें धुएँ से लग आ जायँ और वह चीखती हुई दुम दबाकर भाग निकले, तब त्रिसंधि-नाम के महान् शस्त्र के कारण विजय होने पर अरुण रंग के झंडे फहराये जायँ। झंडे से जोश भी उत्पन्न किया जाता था। नगाड़ा या दुन्दुभी और बिगुल भी प्रयोग में

लाये जाते थे। वेद में दुन्दुभी से कहा गया है—"अपनी आवाज़ से तू पृथ्वी और आकाश को गुँजा दे; हमारे हृदयों में स्फूर्ति का संचार कर और शत्रुओं के दिलों को हिला दे!" युद्ध में जय-घोष भी सुनाई दिया करते थे। रामायण में यह 'जयराम!' और महाभारत में 'जयोऽस्तु पांडुपुत्राणाम!' बताया गया है।

दास या दस्यु—आर्यों के पंचजन के अतिरिक्त अन्य जनपद भी थे जिनके विचार और रीतियाँ भिन्न थीं। वे न यज्ञ किया करते थे, न इन्द्र की पूजा। आर्य लोग उन्हें दस्यु कहकर उनसे घृणा किया करते थे।

ऋग्वेद से मालूम होता है कि आर्यों को शत्रुओं से लड़ने में बड़ी दिक्क़त हुई। वे इन्द्र से प्रार्थना करते थे कि इन्द्र अपने वज्र तथा काले बादलों से उनको नष्ट करदे। (इन मन्त्रों में कवच-धारी सैनिकों का बादल की बिजली के साथ मुक़ाबला किया गया है।) इन्द्र के धनुष की प्रशंसा की गई है: "वह जहाँ जाता है वहीं विजय प्राप्त करता है।" रथों में जुते हुए तेज़ टापोंवाले घोड़े शत्रु पर जा पड़ते और उसे कुचल डालते। (पुराने यूनानी भी युद्ध में रथों का प्रयोग करते थे। ट्राप के युद्ध में ऐसा ही किया गया।)

कुछ पश्चिमी लेखक कह देते हैं कि ये दस्यु वास्तव में यहाँ के आदिवासी थे। परन्तु जैसा कि अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया गया है, सप्तसिन्धव के आदिवासी आर्य ही थे। प्रश्न होता है—तब ये दस्यु कहाँ से आये? इसका उत्तर पाने के लिए हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि आरंभ में मनुष्य खानाबदोश हालत में रहता था। वह सब्ज़ी और फल पर गुज़ारा करता और जहाँ अच्छा भोजन मिलता, वहीं ठहर जाता। फिर जब

सब्जियाँ और फल न मिलते, तब पत्थरों या हड्डियों के बनाये हथियारों से पशु-पक्षियों को मारकर उनका मांस खाता। धीरे-धीरे मनुष्य ने जानवरों को घर पर रखकर उन्हें पालतू बनाना शुरू किया। इस प्रकार भेड़, बकरी, गाय आदि पशु पालतू बन गये। ये संख्या में बढ़ने लगे। इनका दूध भी मनुष्य के लिए उत्तम भोजन सिद्ध हुआ। चूँकि इन पशुओं के लिए चरागाहों की आवश्यकता थी, इनकी खानाबदोशी ज्यों की त्यों ही रही। चिरकाल बाद इनको ऐसे जंगली अनाज मालूम हुए जिनको बो देने से उनकी मात्रा बढ़ाई जा सकती थी। कई लोगों ने उनकी खेती आरंभ कर दी और उनकी खानाबदोशी छूट गई। अनाज का बोना, उसकी खबरदारी करना, उसका काटना और छाँटना मनुष्य के लिए एक ही स्थान पर रहना आवश्यक बना देता है।

परन्तु कई जनपद थे जो शिकारी ही बने रहे। वे खेती करनेवालों के पशु चुरा लिया करते थे। इस कारण उन्हें दस्यु या लूटनेवाला कहा जाता था। चुराये हुए पशुओं को वे मार कर खा लिया करते थे। उनको राक्षस कहा गया, क्योंकि उनसे रक्षा की जरूरत हुआ करती थी। दिन को वे गाँव के पास डेरा डाले रहते ताकि सामान चुराने का अवसर मिले। गाँवोंवालों को उन्होंने इतना तंग किया कि राजाओं को उन्हें निकालने के लिए नियमपूर्वक मुहिम तैयार करनी पड़ी। आर्य लोग उनके अत्याचार से इतने तंग आगये कि उन्होंने लुटेरों का अंत कर देने का दृढ़ निश्चय कर लिया, क्योंकि इनका सुधार उनके लिए संभवनीय नहीं था। चिर समय तक दोनों का युद्ध जारी रहा। ऋषियों ने भी इसमें भाग लिया। एक स्थल में कहा गया है कि एक ऋषि जब रथ लेकर इनके मुकाबले पर गया, तब ऋषि-पत्नी

रथ चला रही थी। ऋषि ने तीरकमान से लड़ाई करके अपनी गौओं को उनसे वापस ले लिया। ऐसी लड़ाइयों का परिणाम यह निकला कि बहुत से दस्यु मारे गये, कई देश छोड़कर पश्चिमी एशिया के रास्ते योरप को चले गये।

देवासुर-संग्राम—जिस प्रकार आर्यों में आर्य खेती करने वाले और दस्यु लुटेरे, दो फिरके हो गये, उसी प्रकार कुछ समय के पश्चात् एक और सैद्धान्तिक मतभेद पर उनके दो बड़े दल हो गये। वेद में देव और असुर, दोनों शब्द शक्ति-सूचक हैं। ऋग्वेद के प्रारंभिक मंडलों में इन्द्र, वरुण आदि को असुर कहा गया है। बाद में असुर शब्द उन शक्तियों के लिए प्रयुक्त होने लगा, जो देव के विरुद्ध समझी जाती थीं। परन्तु आर्यों के एक दल ने अपने देवताओं के लिए यह शब्द पसंद न किया; वे देव-शब्द को बुरा समझने लगे। आर्यों का एक दल इन्द्र को देवताओं में सबसे बड़ा मानता था। दूसरे दल ने इसकी पूजा करने से इनकार कर दिया। इस पर पहले दल ने दूसरे दलवालों को असुर कहकर उनके विरुद्ध लड़ना आरम्भ कर दिया। इस सिल-सिले में बहुत सी लड़ाइयाँ लड़ी गईं जिनमें से कुछ में लड़ने-वालों की संख्या पचास हज़ार हो जाती थी। एक ऋषि कहता है—"मैं उन सबको जला दूँगा जो इन्द्र की पूजा नहीं करते। मैंने इन्द्र के शत्रुओं का वध कर दिया है और अब वे श्मशान में सोये पड़े हैं।" (ऋग्वेद १। ११३। १)।

ये असुर या अहुर लोग वेदमंत्रों से प्रेम न करते थे और वेद की भाषा भी अच्छी प्रकार न बोलते थे। इनका सप्तसिंधव के आर्यों से एक और भेद हो गया। ये आग को पवित्र समझते थे और उसमें पशुओं का मांस डालना बुरा खयाल करते थे। ये लड़ते तो रहे, परन्तु अन्त में हार गये। वहाँ से

निकलकर ये इधर-उधर फिरते रहे। बाद में 'ऐर्य्यन वेइजो' (आर्यों का बीज) अर्थात् बेक्ट्रियाना में जा आबाद हुए। बर्फ पड़ने या बाढ़ आने के कारण यह स्थान रहने के योग्य न रहा। इसलिए वहाँ से चलकर 'वर' (बाड़ा) को गये। यह घटना हिमानी युग से पहले की है। अन्त में उनका नेता जरथुस्त्र (जरत्वस्थ) उनको वर्तमान ईरान (आर्यों का देश) में ले आया। उसने ईरान के आर्यों के मजहब को विशेष रूप दे दिया। अवेस्ता में देव और सोमदत्त का विरोध किया गया है। वहाँ देवों को बुराई की शक्ति और सोम को विनाशकारी बताया गया है। परन्तु ईरानियों में भी एक दल ऐसा निकल आया जो पुरानी रीतियों को छोड़ना नहीं चाहता था। इन लोगों ने एक और पौधे से रस बनाना और उसे होम (सोम) कह कर पीना आरम्भ किया। वेद के अनुसार यह मजहब असुरों का था जो असुरमधव अर्थात् अहुरमजद की पूजा सिखलाता था।

दक्षिण और पणि लोग — ऋग्वेद में दक्षिण या उसकी नदियों का कहीं उल्लेख नहीं है। दक्षिण तो सप्तसिंधव से सर्वथा पृथक एक भूखण्ड था जो एक ओर पूर्वी तथा दक्षिण अफ्रीका, दक्षिण चीन, बरमा तथा आसाम से और दूसरी ओर आस्ट्रेलिया से मिला हुआ था। कुछ विद्वान इस भूखण्ड को मानव जाति का पालना या पिंगूरा समझते हैं। उनका मत है कि यह नस्ल आर्यों से भिन्न थी जो सप्तसिन्धव में पैदा हुए। इस नस्ल की शाखाएँ मंगोलीय और हब्शी थीं। ये विभिन्न क़बीलों में बट गईं। चिरकाल तक ये अपनी असभ्य अवस्था से आगे न बढ़े। अब भी कई स्थान ऐसे हैं, जहाँ वे अपनी असली

अवस्था में जैसा कि इनके पूर्वज हजारों वर्ष पहले रहा करते थे, पाये जाते हैं।

प्रत्यक्ष रूप में सप्तसिंधव के इतिहास से दक्षिण का कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु इस बात का जिक्र करना आवश्यक है कि आर्यों की एक साहसी शाखा समुद्र में फिरा करती थी। उसको पणि या वणिक कहा जाता था। ये लोग जहाजों द्वारा मलाबार आदि के किनारों पर जाया करते थे। लोभी होने के कारण इन्हें आर्य लोग अच्छा न समझते थे। ये भी दूर-दूर फिरते रहने से आर्य धर्म तथा रीतियों पर ठीक तरह से आचरण न करते थे।

ऐसा मालूम देता है कि जब दक्षिण समुद्र के स्थान में राजपूताना की मरुभूमि बन गई, तब पणि लोग सप्तसिन्धव से बिलकुल कट गये और मलाबार के किनारे पर आबाद हो गये। उन्होंने वहाँ के चोल तथा पाँड्य नाम के आदि वासियों पर अपना प्रभाव डाला और उन्हें धातुओं का प्रयोग तथा जहाजों का बनाना सिखलाया। चोलों तथा पाँड्यों ने इनके प्रभाव में एक नई सभ्यता की नींव डाली। बाद में ये दोनों नस्लें ईराक तथा मिश्र में जा आबाद हुईं। चोल से चाल्डीय और पांड्य से मिश्र की मिश्री सभ्यताएँ निकलीं जिन्होंने यहूदी, अरब आदि सेमेटिक और योरपीय जातियों की सभ्यता बनाने में बहुत बड़ा हिस्सा लिया।

पणियों का फैलाव — पणि लोग मलाबार से जहाजों में फिरते-फिराते ईराक के अतिरिक्त सीरिया (शाम) और रोम-सागर के टापुओं में जा पहुँचे। यही लोग फ़ीनिशियन जाति के वे पूर्वज थे जिन्होंने अफ्रीका के उत्तरी किनारे, दक्षिणी योरप, ग्रेट ब्रिटेन और नारवे के किनारों पर सभ्यता के बीज बोये।

हेरोडाटस लिखता है — "फीनिशया के लोग पहले अरब सागर के किनारे रहते थे। वहाँ से चलकर ये रोमसागर के किनारे आबाद हुए।" कारोमंडल किनारे से चलकर और फारस की खाड़ी में से गुज़रकर पणि लोग यूफ्रेटीज और टाइग्रीज नदियों के प्रदेश में जा बसे। वहाँ पर रहने से इनके मजहब तथा भाषा में बहुत से परिवर्तन आ गये। वहाँ से सीरिया होते हुए ये फीनिशिया जा पहुँचे। यह स्थान समुद्र तट पर होने से इनको बहुत पसंद आया। इस कारण यहीं रहने लगे। सप्तसिंधव से निकले इनको हजारों वर्ष हो चुके थे, इस लिए इनकी भाषा तथा जातीयता बिलकुल और हो गई। इनकी भाषा में थोड़े-से शब्द ही संस्कृत के रह गये।

असीरिया—बेबिलोनिया के लोगों में भी यह किंवदंती परम्परा के रूप में पाई जाती है: "अरब सागर से एक दिव्य मछलीवाला आदमी आया। उसने खाल्डिया के लोगों को जो पशुओं के समान रहते थे, विभिन्न विद्याएँ तथा कलाएँ सिखलाईं।" यह मत्स्य देवता 'ईआ' है जो असीरिया के प्रायः सभी स्मारकों पर खुदा हुआ पाया जाता है। फीनिशिया के मजहब में सृष्टि-क्रम वैदिक सृष्टि-क्रम से मिलता है। इनके देवता आकाशीय शक्तियों के नाम पर हैं। इनमें सबसे बड़ा बाल अर्थात् सूर्य है जिसका दूसरा नाम डारिनस है (इसे वेद में वरुण कहा गया है)। ईसा की तीसरी शताब्दी में ज्यूलियस एफ्रिकेनस ने लिखा कि फीनिशिया के लोगों का इतिहास तीस हजार वर्ष तक पीछे जाता है।

बेबिलोनिया—जब पणि लोग बेबिलोनिया गये तब अपने साथ कुछ चोल आदमियों को नाविकों के रूप में ले गये। बाद में अन्य बहुत-से चोल वहाँ जा पहुँचे। चूँकि वहाँ कृषि-योग्य

भूमि बहुत थी, इसलिए उन्होंने अपना एक उपनिवेश आ बसाया। इसका नाम उन्होंने चोलडेशिया (चोलदेशीय ?) रक्खा जो बाद में चाल्डिया हो गया। ये लोग भी अपने देवता तथा पुरोहित अपने साथ ले गये थे।

कुछ लेखकों की सम्मति है कि चाल्डिया के लोग सेमेटिक नहीं थे। बहुमत इस बात के पक्ष में है कि वे भारत-योरपीय (इन्डो-योरपियन) नस्ल से थे। इनकी राजधानी सुमेर थी। इसी कारण इनको सुमेरीय कहा जाता है। इनसे बेबिलोनिया का मजहब तथा सभ्यता निकली। इनके नगर उर से इजराईल क़बीला निकला, जिसने अपनी मजहबी परम्पराओं को पश्चिमी संसार के बड़े भाग में फैला दिया। ये सुमेरीय लोग भारत-योरपीय (इन्डो-योरपियन) तथा द्राविड़ नस्लों के मिश्रण का का परिणाम थे। आर्य पणि सप्तसिन्धव से आये थे। चोल (द्राविड़ों) से मिलकर उन्होंने एक नई नस्ल उत्पन्न की। सुमेरीय लोगों और द्राविड़ों की भाषाओं, जहाजी तरीकों, कृषि तथा व्यापार में इतनी समानता पाई जाती है कि हाल-नाम के लेखक ने 'एन्शेंट हिस्ट्री आव् दि नियर ईस्ट' में लिखा है कि सुमेर का मनुष्य दक्षिण के हिन्दू से मिलता है। इसलिए सुमेरीय लोग संभवतः वे हिन्दू थे, जो समुद्र या ईरान से होकर सुमेर में जा आबाद हुए।

सुमेर के नगर नैनवा के एक पुराने मकान में सागवान की एक ऐसी लकड़ी पाई गई है, जो मलाबार के सिवाय संसार में अन्य कहीं नहीं मिलती। रागोज़िन के मतानुसार सोने का सिक्का मना (ऋग्वेद ८।७८।२) बेबिलोनिया तथा वेद, दोनों, में पाया जाता है। इसी प्रकार जैसा कि पहले कहा गया है, बेबिलोनिया में मलमल का नाम सिन्धु था। बेबिलोनिया के देवताओं के नाम

वैदिक नामों से मिलते हैं। उनके मजहबी सिद्धान्तों, क्रियाओं, सृष्टि-उत्पत्ति आदि की कथा का स्रोत भी वेद मालूम देता है। मनु की बाढ़ की कथा में जिस मत्स्य का उल्लेख है, वह यहाँ पहुँचकर देवता बन जाता है और उसकी पूजा होने लगती है। बाढ़ की कथा शतपथ ब्राह्मण के पहले प्रपाठक के आठवें अध्याय के पहले ब्राह्मण में यों दी है : एक बार प्रातः ही मनु के हाथ में एक छोटी मछली आ पड़ी। उसने उनसे कहा—'मेरी रक्षा करें। आगे चलकर एक बहुत बड़ी बाढ़ आनेवाली है जिसमें सभी प्राणियों का विनाश हो जायगा। उस समय मैं आपकी रक्षा करूँगी।' मनु ने उसे बचा लिया। वह बढ़ती गई। जब जल प्लावन का समय आया, तब उन्होंने मछली के कहने के अनुसार एक नाव बनाई। जब बाढ़ आई तब उन्होंने उसके सींग से नाव की रस्सी बाँध दी। मछली नाव को खींच कर उत्तर गिरि को ले गई। वहाँ पहुँचकर मछली ने उनसे कहा कि पानी के रुकने तक नाव को पेड़ से बाँध दें। यह स्थान 'मनोरवसर्पणम्' (मनु के उतरने का स्थान) कहलाया। (महाभारत में इसे 'नौबन्धनम्,' नाव बाँधने का स्थान, कहा है।) जब पानी कम हुआ तब मनु अकेले बच गये। उन्होंने पाक यज्ञ किया। कुछ काल के पश्चात् वहाँ श्रद्धा नाम की स्त्री उत्पन्न हुई। उससे मानव सृष्टि हुई। (बाइबिल और अवेस्ता, दोनों में यह कथा अपने-अपने ढंग से पाई जाती है।)

बेबिलोनिया की बलि की रीति, पुरोहितों का मान (जिनका काम ज्ञान, ध्यान और ज्योतिष था और जो रहन-सहन से भी ब्राह्मणों की संतान मालूम होते थे), मन्दिरों में कुमारियों का रखा जाना और चाल्डिया के बड़े-बड़े मन्दिर—ये सब बोल

सभ्यता के प्रमाण हैं। द्राविड़ ज्योतिष में बहुत प्रसिद्ध थे। वे अपना ज्योतिष भी चाल्डिया में ले गये।

मिश्र आदि की सभ्यता—योरप की विद्याओं तथा कलाओं की वृद्धि में सबसे बड़ा हाथ मिश्र का है। मिश्र की आबादी के दो भाग हैं—एक अफ्रीका के हबशियों से मिलता है, दूसरा बाहर का है। दूसरे लोग राजा कापटास के समय में मिश्र में आये। वे बहुत उन्नत थे। अपने साथ वे चित्र-लिपि (हेरोग्लिफ्स) भी लाये। उन्होंने पुराने नगरों को विजित किया।

हीरेन नाम के लेखक का मत है कि मिश्री आदमी की खोपड़ी हिन्दू की खोपड़ी से मिलती है। होरस और हाथ् उनके देवता थे। होरस 'दिन का तारा' अर्थात् सूर्य था। (मालूम होता है कि सूर्य के 'स' के स्थान में 'ह' हो जाने से होरस बन गया।) मिश्र की मजहबी तथा सामाजिक रीतियाँ हिन्दुस्तान से मिलती थीं। उनके देवता आकाशीय थे और मजहब प्राकृतिक शक्तियों का पूजन। 'ओसाइरिस' एक अन्य देवता था और 'ईसिस' उसकी स्त्री का नाम था। (ये दोनों शब्द 'ईश्वर' और 'ईशी' से मिलते हैं। ऋग्वेद में उषा को सूर्य की पत्नी बताया गया है।) इन दोनों के संघर्ष की कथा वैसी ही है, जैसी वेद में इन्द्र और वृत्र की। एक और बड़ा देवता अमीन या इमु था, जिसे तीन गुणों के ऊपर बतलाया गया। इसीसे आमीन शब्द निकला (वेद में ओम् पाया जाता है)। मिश्रवालों में बलि देने का रिवाज पाया जाता था। उनका राजा ईश्वर का प्रतिनिधि समझा जाता था। वह मजहब और राज का अग्रणी होता था। बलि के समय वह पुरोहित का कार्य करता था। वही न्यायाधीश और क़ानून बनाता था। मिश्र वालों में जातियों का विभाजन भी ऐसा ही था। पुरोहित, सैनिक, व्यापारी आदि अलग-अलग जातियाँ

थीं। युद्ध के नियम मनु के नियमों से मिलते थे। मनुष्य की आयु का विभाजन भी वैसा ही था जैसा मनु ने किया है। मास में एक दिन व्रत रखना आवश्यक होता था। स्त्रियों का बड़ा मान होता था। वे दर्शन के विषयों के सम्बन्ध में विवाद भी किया करती थीं। राजसिंहासन पर भी वे बैठ सकती थीं। शस्त्र-सुसज्जित होकर वे देश-हित लड़ा करती थीं। वे लोग आत्मा को अमर मानते थे। सोग के समय को छोड़कर दैनिक जीवन में बाल कटवा कर रखते थे। पुरोहित दो बार नहाया करते थे। उनके यहाँ यज्ञ प्रचलित था। बलि के लिए पशु का चुनाव, उसके अंग काटना, अग्नि में डालना और मंत्र पढ़ना—ये सब बातें भारत की तरह होती थीं। गाय और बैल को वे सृष्टि-उत्पत्ति के नर और मादा के समान समझते थे। यह संभवतः शैव लोगों की लिंग तथा योनि की पूजा थी जो द्राविड़ नस्ल की एक विशेषता है। मिश्र के लोग गो-पूजन करते थे। वे समझते थे कि ईसिस की आत्मा गाय में चली गई है। सूअर को वे बहुत गंदा समझते थे। (यह विचार ईसाइयत और इसलाम, अर्थात् सेमेटिक मजहबों ने संभवतः मिश्र से लिया।) वे अपने आपको विदेशियों से अलग रखते थे। उनका कथन है कि उनके पहले राजा का नाम मेनु (मनु) था जिसने मिश्र में चार हज़ार वर्ष ईसा पूर्व राज्य स्थापित किया और लाल (सूर्यवंशी) और सफेद (चंद्रवंशी) मुकुट को मिला दिया। यूनान के सिकंदर के समय मिश्र के पुरोहित अपना युग २३ हज़ार बरस का बताते थे।

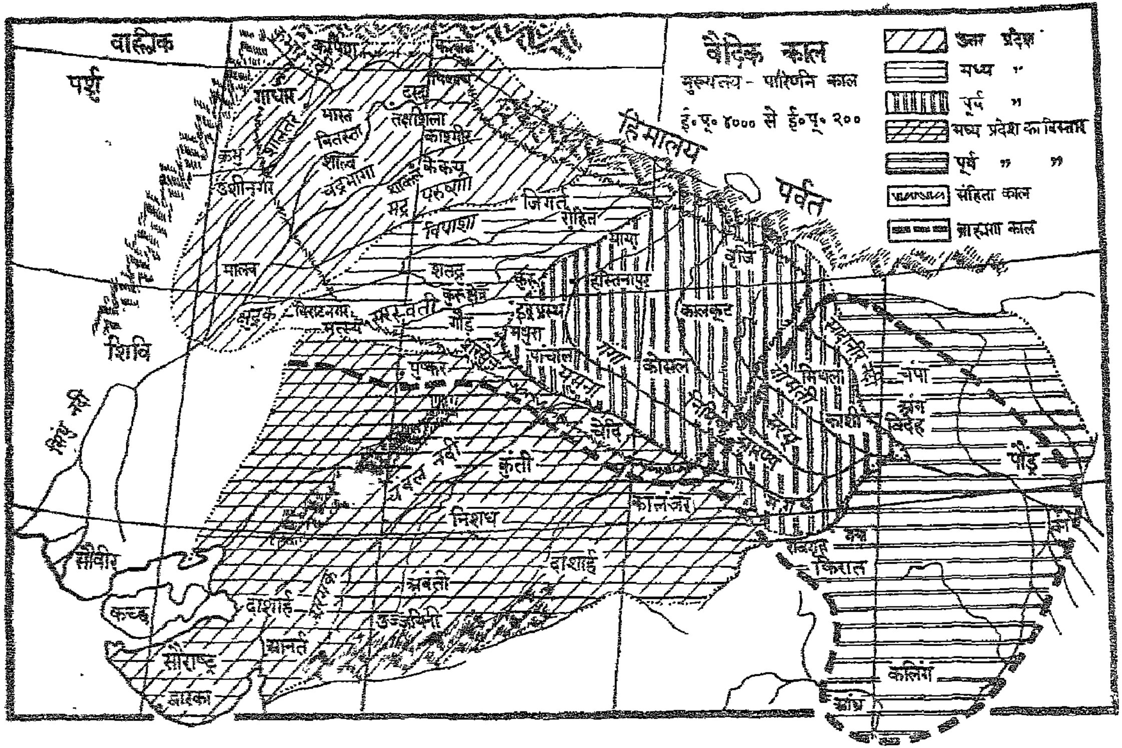
समानता की इन सब बातों को लेकर जेकालियो ने 'बाइबिल इन इंडिया' में यह सिद्ध किया है कि बाइबिल ने उच्च विचार, तत्त्व दर्शन, कानून और रीतियाँ मिश्र से लिये और मिश्र के

कानून और सभ्यता आर्य सभ्यता और मनु के धर्मशास्त्र की नक़ल है।

[आज से पचीस वर्ष पूर्व महेंजोदड़ो (जिला लाड़काना, सिंध) में कई ऊँचे-ऊँचे टीले खोदे गये। एक के नीचे एक सात बस्तियाँ निकलीं। खयाल किया जाता है कि अभी एक-दो और तहें मिलेंगी। सबसे नीचे एक नगर पाया गया जिसमें ईंटों के पक्के घर, अच्छी सड़कें और पानी निकलने के लिए नालियाँ बनी हुई हैं। मन्दिर तथा मूर्त्तियों के अतिरिक्त मुहरें भी प्राप्त हुई हैं। ऐसी ही वस्तुएँ जिला मिंटगुमरी (पंजाब) के कसबा हड़प्पा में भी प्राप्त हुई हैं। विशेषज्ञों के मतानुसार ये ४५०० से ५५०० वर्ष पुरानी हैं।]

अनुमान किया जाता है कि महेंजोदड़ो समुद्र-तट पर आबाद था। इतने वर्षों में समुद्र ६५ मील आगे चला गया है। यहाँ के लोगों का व्यापारिक संबंध अन्य प्रदेशों से रहा ही होगा। इस-लिए इस प्रकार की कला तथा वस्तु-विद्या वहाँ भी फैल चुकी होगी। इस प्रकार हमें मौर्यकाल और उसके बाद की कला की शृंखला मिल जाती है। वेदों में नगरों तथा दुर्गों का उल्लेख पाया जाता है। फिर भी वैदिक सभ्यता कृषि-प्रधान ही मालूम होती है। महेंजोदड़ो-जैसे बड़े शहरों का जिक्र नहीं मिलता। कहा जाता है कि वैदिक सभ्यता महेंजोदड़ो काल से चार-पाँच हजार बरस पुरानी है।

पौराणिक काल और उसके बाद तो हिंदू सभ्यता मध्य एशिया, चीन, जापान, कंबोज, स्याम और जावा तक जा पहुँची। यही नहीं, मध्य और दक्षिण अमरीका के भग्नावशेषों में कुछ लोगों को हिन्दू सभ्यता का प्रभाव दिखाई पड़ता है।



वैदिक काल
मुख्यतया - पाणिनि काल
ई॰ पू॰ ४००० से ई॰ पू॰ २००
उत्तर प्रदेश
मध्य "
पूर्व "
मध्य प्रदेश का विस्तार
पूर्व " "
संहिता काल
ब्राह्मण काल
हिमालय
पर्वत
वाह्लिक
पर्शु
गांधार
भारत
तक्षशिला
काश्मीर
वितस्ता
चंद्रभागा
केकय
परुष्णी
मद्र
उशीनगर
मालव
जिगर्त
रोहिल
विपाशा
शतद्रु
कुरुक्षेत्र
हस्तिनापुर
इंद्रप्रस्थ
मथुरा
पांचाल
कालकूट
कोसल
गंगा
यमुना
मिथिला
गोमती
काशी
विदेह
अंग
चंपा
पौंड्र
मत्स्य
विराटनगर
सरस्वती
पुष्कर
शिवि
सिंधु नदी
चम्बल नदी
कुंती
निषध
कालंजर
दाशार्ह
अवंती
उज्जयिनी
आनर्त
सौराष्ट्र
द्वारका
कच्छ
सौवीर
किरात
कलिंग
आंध्र

श्रीदास अपने अन्वेषण से इस परिणाम पर पहुँचे कि दक्षिण भारत के पांड्य लोग पणि व्यापारियों के साथ मिश्र गये और वहाँ उन्होंने वैदिक सभ्यता का वृक्ष लगाया। इस प्रकार सप्तसिंधव की सभ्यता संसार की सबसे प्राचीन तथा वर्तमान सभ्यताओं का आदि स्रोत है। जब समस्त संसार अंधेरे में डूबा हुआ था, तब उस काल के आर्य लोगों ने सरस्वती और सिंधु के तटों में वह अग्नि जलाई जिसे उन्होंने मनुष्य के कल्याण तथा पथप्रदर्शन के लिए हजारों वर्षों तक जलाये और चमकाये रखा। कई युगों के बीत जाने पर इस पवित्र अग्नि की कुछ प्रज्वलित समिधाएँ इधर-उधर ले जाई गईं। वहां पर वे कुछ समय तक जलने के पश्चात् बुझ गईं। बेबिलोनिया, असीरिया और मिश्र की सभ्यताएँ अब केवल नाम को ही रह गई हैं। भारत में आँधी और झंझावातों ने इसे बुझाने में कोई कसर नहीं उठा रखी, तो भी यह अग्नि अभी तक प्रज्वलित है। यदि इसमें आवश्यक समिधाएँ और सामग्री डाली जाय तो यह बराबर जलती रहेगी।

वैदिक समाज—ऋग्वेद का पुरुष सूक्त समाज को कई विभागों में बाँटता है। जब कोई भी समाज उन्नति करता है तो वह स्वभावतः कई हिस्सों में बट जाता है। उदाहरणार्थ, इंग्लैंड में पादरी, धनवान, मध्यवित्त और मजदूर पाये जाते हैं। वेद-काल में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में इसी प्रकार का विभाजन हो चुका था। प्राचीन ईरानियों तथा मिश्र-वासियों में भी यही चार विभाग पाये जाते थे।

वैदिक काल के आरंभ में ब्राह्मणत्व एक बहुत ऊँचा पेशा था। यह किसी विशेष समूह का पेशा न था। वेद कहता है—'पहले एक आर्य जाति ही थी।' (रामायण

में भी ऐसा ही उल्लेख आता है—'कृतयुग में सब लोग ब्राह्मण ही थे। फिर ब्राह्मण और क्षत्रिय दो हुए।) ब्राह्मणों के मान के अनेक कारण थे। उन्हें यज्ञ कराने होते थे और सब कुछ कंठस्थ करना होता था। अच्छी स्मरण-शक्ति तथा कुशाग्र बुद्धि के कारण इस कार्य के लिए ब्राह्मण का लड़का ही ठीक समझा जाता था। त्रेतायुग में क्षत्रिय अलग हो गये। परन्तु इन दोनों वर्णों में परस्पर विवाह होते थे। निर्वाह के लिए इन्हें खेती करनी होती थी। धीरे-धीरे जब क्षत्रिय लड़ाई में लग गये तब खेती करनेवालों की तीसरी श्रेणी बन गई। कुछ काल के पश्चात् समाज में सेवा-कार्य करनेवाली चौथी श्रेणी भी बन गई।

कौषीतकी में ब्राह्मण को देवता और देवताओं का देवता कहा गया है। उसके अनुसार ब्राह्मण ही का अधिकार था कि यज्ञ की चीजों को ले। इसके अतिरिक्त उनका मान हो, वे अत्याचार और कड़े दंड से मुक्त हों—ये भी ब्राह्मणों के अधिकार थे। इनके मुकाबिले पर उनके बड़े कर्त्तव्य ये थे—रक्त-शुद्धि, उचित आजीविका और लोगों को धार्मिक तथा वैदिक शिक्षा देना।

जन्म से ब्राह्मण होने का कोई महत्त्व न था। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—'याज्ञवल्क्य की शिक्षा से क्षत्रिय जनक ब्राह्मण बन गये।' तैत्तिरेय संहिता में लिखा है—'जिसके पास विद्या है वह ब्राह्मण है।' मैत्रायणि संहिता में कहा गया है—'तुम ब्राह्मण के पिता के सम्बन्ध में क्या पूछते हो? ब्राह्मण की माता के विषय में क्या पूछते हो? जो वेद जानता है वही पिता है, वही दादा है। ज्ञान ही ब्राह्मण की सबसे बड़ी शर्त है।' कौषीतकी में लिखा है—'गुरु को अधिकार है कि वह अपने

शिष्य को आर्य्य या ब्राह्मणत्व का दान करे, यदि शिष्य ब्राह्मण बनने का इच्छुक हो और इसकी योग्यता रखता हो।' ऐतरेय ब्राह्मण में बड़े सुन्दर ढंग से कहा गया है—'यज्ञ क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र से भाग गया। वह ब्राह्मण के पास चला गया। यज्ञ केवल ब्रह्म और ब्राह्मण के पास रह गया। तब क्षत्रिय ब्राह्मण के पीछे-पीछे गया और उससे कहा—मुझे भी इस यज्ञ में बुलाओ। ब्राह्मण ने उत्तर दिया—अच्छा, ऐसा ही हो। पर तुम अपने शस्त्र, धनुष-बाण परे रख दो और ब्राह्मण के रूप में ब्राह्मणत्व के शस्त्रों के साथ यज्ञ के पास आओ। इस पर क्षत्रिय ने अपने शस्त्र परे रख दिये और ब्राह्मणत्व के साथ उसके पास गया' यह कथा प्रकट करती है कि क्षत्रिय और ब्राह्मण में तब कोई अंतर न था; दोनों एक-दूसरे में बदल सकते थे। ऐतरेय और शतपथ में कई जगह कहा गया है कि क्षत्रिय और वैश्य भी यज्ञ करने से ब्राह्मण हो जाते हैं।

आपस्तंब सूत्र कहता है—'आचार्य ही शिष्य को शिक्षा देकर वास्तविक जन्म देता है। यही जन्म उत्तम होता है। माता-पिता तो उसे केवल शरीर प्रदान करते हैं। शिक्षा के जन्म से पूर्व बच्चा शूद्र होता है। संस्कार ही मनुष्य को ब्राह्मण बनाते हैं न कि जन्म।'

क्षत्रियों का वर्ण दूसरा था। ये पुराने सरदारों की सन्तान थे। एक समय ये ब्राह्मणों के साथ लड़ते रहे। वशिष्ठ और विश्वामित्र ने अपना-अपना आंदोलन इस आधार पर खड़ा किया कि क्षत्रिय का बेटा ब्राह्मण क्यों नहीं बन सकता। अंत में विश्वामित्र की विजय हुई और उनकी गणना ब्राह्मणों में की गई।

वैश्य वे जनसाधारण थे जिनमें से ब्राह्मण तथा क्षत्रिय एक प्रकार से भरती किए जाते थे। ब्राह्मण के लिए विवाह की कोई बड़ी बंदिश न थी। वह किसी वर्ण में विवाह कर सकता था। संख्या में वह तीन विवाह कर सकता था, क्षत्रिय दो और वैश्य एक। ब्राह्मण के लड़के का उपनयन बसन्त-ऋतु में होता था, क्षत्रिय का गर्मियों में और वैश्य का पतझड़ में। विद्यार्थी भिक्षा माँगा करते। वे जिससे भिक्षा देने को कहते, उसके लिए 'आप' शब्द का प्रयोग करते। ब्राह्मण विद्यार्थी 'आप' शब्द वाक्य के आरम्भ में बोलता, क्षत्रिय बीच में और वैश्य अंत में।

आपस्तंब में कहा गया है कि शूद्र भोजन बनाते थे और दूसरे वर्णों-वाले खा लेते थे। 'परन्तु यदि वह कोई गंदी चीज ले आये तो उसे न खाना चाहिए।' धीरे-धीरे विवाह में रुकावट आने लगी और शूद्र स्त्री से विवाह करना बुरा समझा जाने लगा। अत्रि के अनुसार जो द्विज शूद्रा से विवाह करता है, वह भाईचारे से निकल जाता है। भृगु के अनुसार जो ब्राह्मण शूद्र स्त्री से लड़का उत्पन्न करता है, वह ब्राह्मण नहीं रहता और जो उसे अपने पास रखता है, वह नरक में जाता है। विवाह की यह पद्धति थी, जिसने पहले तो तीन वर्णों को शूद्रों से अलग किया, बाद में ब्राह्मणों को वैश्यों तथा क्षत्रियों से भी और अंत में ब्राह्मणों को एक अलग श्रेणी बना दिया।

सभा आदि—ऋग्वेद का बड़ा प्रसिद्ध मंत्र (१०।१९१।१) है—'सब मिलकर बैठें, प्रेमपूर्वक बातचीत करें, हमारे मन एक-से हों, हमारे विचार एक-जैसे हों।' साथ ही यह भी कहा है—'तुम्हारा मंत्र एक हो, समिति एक हो, पुनर्विचार एक हो।' वेद में सभा का उल्लेख भी है—'ब्राह्मण को दुःख देनेवाले पर वरुण और मित्र की वर्षा नहीं होती, सभा उसके अनुकूल नहीं होती

और उसका कोई साथी नहीं होता।' एक निराश उम्मीदवार कहता है—'मैं शक्ति-संपन्न हूँ। मैं तुम सबका स्वामी बन जाऊँगा, तुम्हारी सभा और तुम्हारे प्रस्तावों का भी।' अथर्ववेद में राजा के लिए प्रार्थना है—'राजा और उसकी सभा एकमत हों।' अथर्ववेद में सभा और समिति का जिक्र कई बार आया है। अनुमान किया जाता है कि सभा गाँववालों की हुआ करती थी और राजा की सभा को समिति कहा जाता था। सभा के सदस्यों को अपने पक्ष में करने के लिए भाषण तथा युक्तियों से सहायता ली जाती थी।

वैदिककाल में ग्राम-सभा सामाजिक संगठन का श्रीगणेश था। ग्राम का नेता वेद में ग्रामीण कहा गया है। राजा के चुनाव में ग्रामीण को राय देने का अधिकार होता था। वही गाँव की सभा का प्रधान हुआ करता था। इस सभा में अमीर और ग़रीब, दोनों जाया करते थे। ऋग्वेद (८।४।६) में कहा गया है—'इन्द्र तुम्हारा ही मित्र घोड़े, रथ और गोवाला है। वह शीघ्र धन प्राप्त करता और बड़ी शान से सभा में जाता है।' सभा में गौओं आदि का भी जिक्र होता था। अधिकतर लोगों के हित के लिए बड़ी-बड़ी समस्याओं पर विचार होता था। उन्हें समझने वालों का आदर-सत्कार किया जाता था। वाद-विवाद में किसी बड़े आदमी के सम्बन्ध में मान हानि-सूचक शब्द बोलना या किसी का पक्षपात करना पाप समझा जाता था। सभा में न्याय का कार्य भी किया जाता था। एक तरह से यह न्यायालय का काम भी देती थी। परन्तु न्याय-कार्य के लिए प्रायः एक स्थायी उपसभा बना दी जाती जिसके विशेष सदस्य चुने जाते थे।

जब सभा का गंभीर कार्य समाप्त हो जाता तब मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत की जाती। लोग नाचते, गाते और नाटक

किया करते। इसमें मदारी के खेल भी दिखाये जाते। सामाजिक उत्सवों को गोष्ठी कहा जाता। (इनका उल्लेख वात्स्यायन ने कामसूत्र में विस्तारपूर्वक किया है। लोग एक भवन में एकत्र होते। वहाँ राग-रङ्ग, नृत्य और खाना-पीना होता। साहित्य तथा अन्य विषयों पर भाषण भी होते। वात्स्यायन लिखता है—'नगरों के समान ग्रामों में भी ऐसी गोष्ठियाँ प्रचलित करनी चाहिए। ये उत्सव प्रायः मनोरंजन तथा शरीर-वर्द्धक खेलों के लिए होते थे।)

वेद में राजनीति—वेद में राजा के निर्वाचन का उल्लेख कई स्थानों में पाया जाता है। दोनों ओर के उम्मीदवारों और निर्वाचन करनेवालों का भी जिक्र है। जो गाँव के अग्रणी होते या जिनके पास अपने रथ होते, वे इस निर्वाचन में भाग लिया करते। वेद का एक मंत्र है—'जैसे राजा लोग समिति में एकत्र होते थे, वैसे ही जड़ी-बूटियाँ उस दिमाग में एकत्र होती हैं जो रोगों को नष्ट करता है।' इससे एक योरपीय लेखक यह निष्कर्ष निकालता है कि वैदिक काल में सरदारों का राज्य (आलिगार्की) था। वह कहता है कि अथर्ववेद में चुनाव के समय कई राजकुमार और राजा एक-दूसरे के विरुद्ध खड़े होते थे। आवेस्ता में भी कई शासकों के सम्मिलित शासन का उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है—'उत्तरकुरु और उत्तरमद्र जनपदों का शासन वैराज्य (बिना राजा के) था।'

यजुर्वेद में कहा गया है—"हे प्रजाजनो, तुम उसको जो अमुक माता-पिता का पुत्र है और जिसका कोई विरोधी नहीं, अपनी रक्षा, बड़ाई और कीर्ति के लिए राजा बनाओ।" पुरोहित के इन वचनों को सुनकर प्रजा के मुखिया राजा को सिंहासन पर बिठलाकर कहें—"जन्मभूमि को नमस्कार है,

मातृभूमि को नमस्कार है। अब आप इस मातृभूमि के नेता और वर्ता हैं। हम आपको खेती के लिए, देश के कल्याण के लिए सबकी रक्षा के लिए और अपनी पुष्टि के लिए राजा बनाते हैं।" इस मंत्र में यह स्पष्टतया बताया गया है कि कृषि की उन्नति करना, देश का हित करना, प्रजा की रक्षा करना और उनकी शक्ति बढ़ाना—ये राजा के सबसे बड़े कर्त्तव्य हैं।

अथर्ववेद में कहा गया है—"जन्मभूमि मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ।" "हे मातृभूमि हम तुमसे ही पैदा हुए हैं, तुझ पर ही चलते-फिरते हैं, तू ही सभी मनुष्यों तथा चौपायों का पालन पोषण करती है, ये सब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अंत्यज तेरे ही पुत्र हैं, जिनके लिए उदीयमान सूर्य अपनी अमृत-किरणों को फैलाता है।" "हम सबको शारीरिक रूप से बलवान, बौद्धिक रूप से उन्नत होकर स्वदेश के लिए अपनी बलि देनी चाहिए।" "हे मातृभूमि तुझसे उत्पन्न हुए सब प्राणी नीरोग और बलशाली होकर हमारे साथ रहें ताकि हमारी आयु बड़ी हो और हम सब ज्ञानी बनकर तेरे लिए बलि देनेवाले हों।" ऋग्वेद में अपने आपको फैलाने तथा ओज प्राप्त करने की आज्ञा दी गई है—"तुम आगे बढ़ो और ऐसी विजय प्राप्त करो जिसे कोई दबा न सके।" "देवता उसकी सहायता कभी नहीं करते, जो अपनी सहायता आप नहीं करता।"

राजा और प्रजा के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में यजुर्वेद में कहा गया है—"हे राजा, तुम प्रजा पर अधिकार जमाओ और प्रजा तुम पर अधिकार जमाये।" इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि राजा और प्रजा दोनों की शक्ति एक दूसरे पर अवलंबित थी। जब कभी प्रजा पर संकट होता तभी वह अपने बचाव के लिए राजा की तरफ़ देखती। ऋग्वेद में कहा भी गया है—"हे राजन्, हम

ने आपको चुना है। आप हमारे अधिपति हैं। आप ऐसे दृढ़ होकर खड़े हों कि न कभी हिलें न डुलें। सब लोग आपको चाहते हैं। राष्ट्र आपसे कभी विमुख न हो, आप राष्ट्र से कभी विमुख न हों।" अथर्ववेद में बताया गया है कि प्रजा राजा को क्यों बुलाती है—"हे राजन्, हमारी रक्षा के लिए ही आपमें बल है। मनुष्यों को आप अपने वश में रखना जानते हैं। हमारे सभी दुःखों को दूर करना आपका काम है। हम आपको बुलाते हैं।" प्रजा अपने अधिकारों को भी जानती थी। ऋग्वेद में कहा गया है—"आप हमारे शत्रुओं को दबाकर, जो हमारे अधिकारों को दबाये, उसे दबाकर लड़ें, जो हम से लड़ाई या ईर्षा करना चाहे, उसे दबाकर खड़े हो जायँ।" यजुर्वेद में राजपुत्र कहता है—"मैंने उनकी भुजाओं को ऊँचा कर दिया है। मैंने उनके तेज और बल को बढ़ा दिया है। मैं शत्रुओं को निर्बल और अपने को ऊँचा करता हूँ।"

वैदिक साहित्य—वैदिक-भाषा संस्कृत से भिन्न है। आरंभ में केवल तीन वेद ऋक्, यजु और साम माने जाते थे। प्राचीन ग्रंथों में इन्हीं को त्रयीविद्या कहा गया है। बाद में एक और वेद अथर्व की भी गिनती होने लगी। इस सारे वाङ्मय को तीन बड़े हिस्सों में बाँटा गया है—संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक तथा उपनिषद्। संहिताएँ वेद का मंत्र-भाग हैं जिनमें विभिन्न ऋचाओं (पद्यों), यजुरों (गद्य में प्रयुक्त सूक्ष्म वाक्यों) अथवा सामों (गाने-योग्य पदों) को संकलित किया गया है। यही वेदों का मुख्य और प्राचीन भाग है।

[संहिताएँ पाँच हैं—ऋग्वेद संहिता, तैत्तिरीय या कृष्ण यजुर्वेद संहिता, वाजसनेयी या शुक्ल यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता और अथर्ववेद संहिता। इनमें ऋग्वेद संहिता सबसे

प्राचीन है। ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दृष्टि से यह सबकी शिरोमणि है। इसके कई सूक्त या ऋचाएँ अन्य तीनों वेदों में मिलती हैं। यह सारी पद्य में हैं। इसमें कुल १०१७ सूक्त हैं। ऋग्वेद के दस मंडल या हिस्से हैं। हर एक सूक्त या स्वतंत्र ऋचा का कोई-न-कोई ऋषि है जो उसका द्रष्टा या रचयिता कहा जा सकता है।

वेदों के व्याख्या-भाग को 'ब्राह्मण' कहा गया है। इन ब्राह्मणों में वेद-मंत्रों के प्रयोग के मौके बताये गये हैं और यज्ञ करने के तरीक़ों पर प्रकाश डाला गया है। जहाँ संपूर्ण ऋग्वेद संहिता पद्य में है और यजुर्वेद लगभग सारा गद्य में, वहाँ ब्राह्मण संपूर्णतया गद्य में है। इनसे हमें उस युग के जीवन की झलक अच्छी तरह मिलती है।

ऋग्वेद के चार ब्राह्मण हैं—ऐतरेय, कौषीतकि, पैंगिरहस्य और शाट्यायन। कृष्ण यजुर्वेद के भी चार ब्राह्मण हैं—तैत्तिरीय, वल्लभी सत्यायनी और मैत्रायणी। शुक्ल यजुर्वेद का केवल एक ब्राह्मण है—शतपथ। सामविधान, मंत्र, आर्षेय, वंश दैवताध्याय, तलवकार, तांड्य और संहितोपनिषद्—ये आठ ब्राह्मण सामवेद के माने जाते हैं। अथर्ववेद का केवल एक ही ब्राह्मण माना जाता है—गोपथ। इन सब ब्राह्मणों में ऐतरेय, शतपथ, तांड्य और गोपथ ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं।

ब्राह्मणों का सबसे अधिक महत्त्व इस बात में है कि विभिन्न उपनिषद् इन्हीं के अंतिम भाग हैं। उपनिषद् ही वेदों के तत्त्व-ज्ञान का सार हैं। प्रायः सारे उपनिषद् ब्राह्मणों के आरण्यक-नाम के भागों के अंश हैं। यों तो इस समय एक सौ आठ उपनिषदों के नाम मिलते हैं; परन्तु उनके सबसे महान टीकाकार श्री

शंकराचार्य ने इन सोलह को ही प्रामाणिक माना है—ऋग्वेद के ऐतरेय और कौषीतकि, कृष्ण यजुर्वेद के कठ, तैत्तिरीय, कैवल्य, श्वेताश्वतर और नारायण; शुक्ल यजुर्वेद के ईश, बृहदारण्यक और जाबाल; सामवेद के केन और छांदोग्य और अथर्ववेद के प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य और नृसिंहतापनी। श्री शंकर ने इनमें से ग्यारह पर ही भाष्य किया है।

उपनिषदों की सारी आध्यात्मिक चर्चा का सार इस प्रश्न में है—"वह कौन-सी चीज़ है जिसे जान लेने पर सब कुछ समझ में आ जाता है?" (मुण्डक) "उपनिषद् ही इसका उत्तर देते हैं—"वह तू ही है" (छांदोग्य)। "मैं ही वह ब्रह्म हूँ" (बृहदारण्यक)। "यह आत्मा ही वह ब्रह्म है" (माँडूक्य)।

इस एक विचार को उपनिषदों में बड़े दिलचस्प तरीक़ों से कई एक मनोरंजक कथाओं तथा उदाहरणों के द्वारा समझाया गया है। मनुष्य को यह कितना ऊँचा ले जाते हैं, इसका एक छोटा-सा प्रमाण ही यहाँ पर्याप्त होगा। आज से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व मुग़ल राजकुमार दाराशिकोह ने इनका भावार्थ सुना तो मुग्ध होकर फ़ारसी में अनुवाद करवाया। प्रसिद्ध जर्मन तत्त्ववेत्ता शापनहावर ने दो सौ बरस बाद इनका भ्रष्ट-सा अनुवाद पढ़ा तो मस्त होकर यह कहने लगा—"उपनिषद् तू ही मेरे जीवन की सांत्वना है। मृत्यु के समय भी तू ही मुझे सांत्वना देगा।... उपनिषद् मानव ज्ञान और बुद्धि के सर्वोत्तम फल हैं। उनमें अतिमानवीय विचार भरे पड़े हैं। उनके रचयिताओं को मनुष्य नहीं कहा जा सकता।

इस युग के साहित्य में स्मृतियों का कहीं उल्लेख नहीं

पाया जाता। स्मृतियाँ बाद की बनाई हुई मालूम होती हैं। मनु का धर्मशास्त्र सबसे प्राचीन स्मृति है।

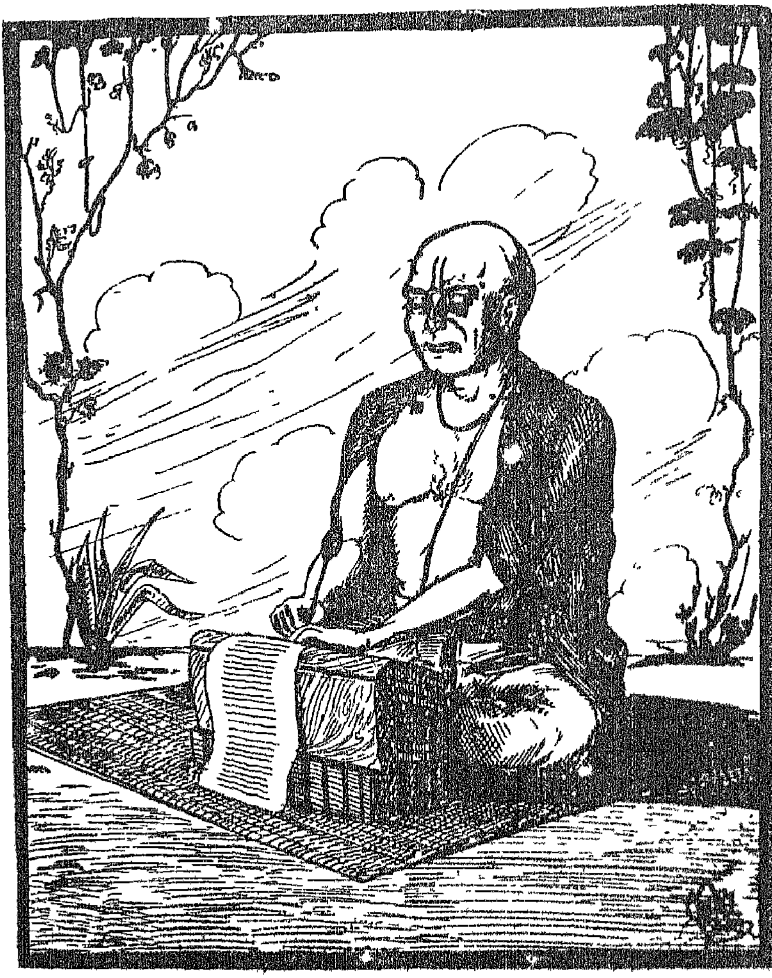
उपवेद ये हैं:—धनुर्वेद (युद्ध-शास्त्र) गंधर्ववेद (नृत्य, गीत तथा वादन की कला), अर्थवेद (अर्थशास्त्र) और आयुर्वेद (चिकित्सा-शास्त्र तथा शल्य-विज्ञान)। वेदांग ये हैं (इनसे वेद को समझने में सहायता मिलती है) शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छंद। शिक्षा में वेदों के वर्ण, स्वर, मात्रा आदि का निरूपण है; मंत्रों के उच्चारण की विधि है। कल्प में यज्ञ आदि के करने का विधान है। निरुक्त में यास्क मुनि की दी हुई वैदिक शब्दों के निघंटु या संग्रह की व्याख्या है। छंद में वेदों के वाक्यों का वह भेद बताया गया है, जो अक्षरों की गणना के अनुसार किया गया है। गायत्री, उष्णिक् आदि वर्णवृत्त हैं। व्याकरण में शब्दों के रूप-रूपांतर और प्रयोग-संबंधी नियम बताये गये हैं। इन विद्याओं का विकास संहिताओं के ठीक बाद में हुआ था। इनका सबसे अधिक महत्त्व इसमें है कि यही आगे चलकर हमारे गणित, ज्योतिष, व्याकरण धर्मशास्त्र आदि की नींव बनीं।

ऋषियों की तरह वेदांगों के महामनीषी आचार्यों के भी व्यक्तिगत जीवन के विषय में हम कुछ नहीं जानते। इनमें से निघंटु और निरुक्त नाम के अद्वितीय ग्रन्थों के रचयिता आचार्य यास्क अष्टाध्यायी नाम के व्याकरण के निर्माता महामति पाणिनि और कल्प के अंतर्गत विविध श्रौत, गृह्य और धर्मसूत्र नाम के विधानों के प्रणेता आपस्तंब आश्वलायन, शांखायन, बौधायन तथा लाट्यायन के नाम उल्लेखनीय हैं।

यहाँ आचार्य यास्क के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करना आवश्यक है। वे भारत के ही नहीं, समस्त संसार के सर्वप्रथम

एवं सबसे महान शब्द-शास्त्री हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी के समान यास्क का निरुक्त भी हिन्दू वाङ्मय के चमत्कारों में समझा जाता है। पाणिनि वैदिक युग के अंतिम आचार्य हैं। हिंदू संस्कृति के निर्माताओं में इनका नाम स्वर्ण अक्षरों में लिखा जायगा। कहा गया है कि ३५० से २४०० ईसा पूर्व के बीच गांधार के शालातुर गाँव में उत्पन्न हुए। चीनी यात्री ह्वएनसंग ने लिखा है कि ईसा की पहली सदी में सोलोतुलो (शालातुर) में स्मारक के रूप में पाणिनि की एक प्रतिमा विद्यमान थी और व्याकरण के अध्ययन-संबंधी उनकी परम्परा भी वहाँ तब तक जीवित बनी हुई थी। अष्टाध्यायी पर पतंजलि के महाभाष्य से मालूम होता है कि पाणिनि की माता का नाम दाक्षी था। पाणिनि हमारी प्राचीन भाषा के प्रमुख रूपनिर्माता और संसार भर के वैयाकरणों के सम्राट् ही नहीं, बल्कि व्यास, वाल्मीकि, कौटल्य और शङ्कर की भाँति हिन्दू संस्कृति तथा ज्ञान की अमर ज्योति के चिरन्तन रखवालों में हैं।

व्यक्तिगत जीवन—वैदिक काल में आर्यों का जीवन नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत शुद्ध और ऊँचा था। जिसे साधारणतया आध्यात्मिक गौरव कहा जाता है, वह नैतिक गुणों पर ही आश्रित होता है और नैतिक गुणों का आधार प्रायः जीवन की सरलता होती है। हमारे अंदर अनैतिकता और पतन जीवन की आवश्यकताओं तथा जटिलताओं के बढ़ने से क्रमशः बढ़ते हैं। जब हम प्राचीन काल की सरलता तथा तपस्या का विचार करते और वर्तमान अवस्था से उनका मुक़ाबिला करते हैं, तो हमें दोनों प्रकार के जीवन में विचित्र-सा अंतर, बल्कि विरोध दिखाई देता है। ब्रह्मचर्य आदि के सम्बन्ध में निर्देश हमें इतने ऊँचे आदर्श मालूम देते हैं कि इनका हमारे जीवन पर कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता। गिनती का आरंभ, राग



हिन्दू संस्कृति के एक निर्माता-महामुनि पाणिनि ।

के स्वरों का आरंभ—इस प्रकार की बातें आजकल हमको वैदिक दृष्टि से बहुत साधारण मालूम देती हों ; परन्तु उस समय को ध्यान में रखने से ये आजकल के बड़े-बड़े आविष्कारों से कहीं बढ़कर दर्जा रखती हैं।

इस प्रारंभिक काल को सत्‌युग कहा जाता है। कहते हैं, तब न तो कोई आदमी झूठ बोलता था, न चोरी करता था और न ही संतान-उत्पत्ति के खयाल को छोड़कर विषय-भोग करता था। उनके लिए न किसी राज-शासन की आवश्यकता थी, न दंड की। जब मनुष्यों के फैलने से जन-संख्या बढ़ने लगी, तब उनकी आवश्यकताएँ भी बढ़नी शुरू हुईं और वे दूसरों के अधिकारों में भी हस्तक्षेप करने लगे। उपनिषदों के युग तक हम देखते हैं कि समाज का आधार वही ऋषि थे, जो अपने परिवार-सहित वनों में रहते थे और अपना समय जीवन की बड़ी-बड़ी समस्याओं पर एक-दूसरे के साथ विचार करने और उन्हीं विषयों की शिक्षा अपने शिष्यों को देने में व्यतीत करते थे। इन विचारों में गार्गी-जैसी नारियाँ भी भाग लेती थीं। जनक-जैसे क्षत्रिय राजा भी अपने आपको त्याग तथा आत्मज्ञान में इन ब्राह्मण ऋषियों के हमपल्ला समझते थे। उन राजाओं का कहना था कि वे सभी सांसारिक कर्त्तव्यों को पूर्ण करते हुए भी इस दुनिया की सांसारिकता में नहीं फँसते। इस कारण उनका त्याग तथा व्रत अधिक बहुमूल्य था। ये राजा प्रायः सभाएँ लगाया करते। ऋषि लोग भी आकर ज्ञान-चर्चा में भाग लेते थे। ये सभाएँ उस युग के बड़े अधिवेशन थे और इनका वृत्तांत उस समय के सामाजिक जीवन का एक चित्र है। इन सभाओं में इस प्रकार के बड़े-बड़े विचारणीय प्रश्नों पर विचार हुआ करता था—आत्मा का रूप क्या है ? शरीर छोड़कर जीवात्मा कहाँ जाता

है ? मुक्ति की अवस्था कैसी होती है ? ज्ञान-प्राप्ति का सबसे आसान साधन कौन-सा है ?

'महाभारत' के शांतिपर्व में युधिष्ठिर के सवाल के जवाब में भीष्म ने उस युग की अवस्था का ठीक-ठीक नक्शा खींचा है। युधिष्ठिर ने पूछा— "राजा कहाँ से आया ? उसमें इतनी शक्ति कैसे और कहाँ से आ गई जब कि शेष मनुष्यों की तरह उसके भी दो हाथ-पाँव ही हैं ?" भीष्म ने उत्तर दिया— "सतयुग में कोई राजा न था। सब लोग स्वतंत्र थे। सभी धर्म का पालन करते थे। चिरकाल बीत गया। लोग काम, क्रोध और लोभ में फँसकर पाप करने लगे। इससे देवताओं को दु:ख हुआ। वे ब्रह्मा के पास गये कि आप बुराई का इलाज करें। ब्रह्मा ने दंड-नीति तैयार की ताकि सजा के डर से लोगों को पाप से बचाया जाय। ब्रह्मा ने शुक्र को नीति सिखलाई। शुक्र ने इन्द्र को। इन्द्र ने बृहस्पति को। बृहस्पति ने उसे तीन हजार श्लोकों में एकत्र किया। इसे बृहस्पति-नीति कहते हैं। शुक्र ने इसके एक हजार श्लोक बना दिये। ब्रह्मा ने यह शास्त्र अनंग को दिया। यह पहला मनुष्य था जिसने उसके अनुसार राज्य किया। उसका बेटा अतिबल हुआ, जिसके पुत्र वेणु ने उस शास्त्र की परवा न की। वह न केवल अत्याचार, प्रत्युत अपनी इच्छा के अनुसार शत्रुता और रिआयत करने लगा। ऋषियों ने मिलकर इसका वध कर डाला। तब दाईं जाँघ से उसका बेटा पृथु उत्पन्न हुआ। ब्राह्मणों और देवताओं ने उससे कहा—'इस पृथ्वी पर आप क़ानून के अनुसार राज करें; बिना पक्षपात के सबके साथ एक-जैसा व्यवहार करें। यह भी वचन दें कि आप ब्राह्मणों को दंड न देंगे।' पृथु ने वचन दिया और शासन करने लगा। उसने जमीन को पत्थर आदि हटाकर साफ़



गार्गी-याज्ञवल्क्य संवाद ।

किया और सत्रह प्रकार के घास तथा वृक्ष उगाये। उसे राजा कहा गया, क्योंकि सब लोग उससे प्रसन्न थे। स्वयं विष्णु राजा के शरीर में घुस जाता है। इसलिए सब लोग राजा के सामने झुकते हैं। विष्णु की भावना और दंड-नीति का ज्ञान लेकर ही राजा उत्पन्न होता है।"

इस विषय में एक अन्य वृत्त है—आबादी बढ़ जाने से लोगों को दुःख होने लगे। उन्होंने नियम बनाया कि जो कोई आदमी दूसरे को गाली दे, मारे, दूसरे की स्त्री भगा ले जाय या सम्पत्ति-हरण कर ले, उसे अपने में से निकाल दिया जाय। परन्तु कोई इस नियम पर आचरण करने के लिए तैयार न था। इस कारण सब लोग प्रजापति ब्रह्मा के पास गये और उनसे कहा—'हमें एक ऐसा राजा दें जिसकी आज्ञा सभी मानें और जो क़ानून के अनुसार सबसे आचरण करवाये।' ब्रह्मा ने मनु से कहा—'तुम इस शासन को सँभालो।' परन्तु मनु ने यह कह कर इसे स्वीकार न किया—'पापियों पर राज्य करना बड़ा कठिन है। इससे स्वयं अपने आपको भी पापी बनना पड़ता है।' तब लोगों ने मनु से कहा—'आप डरें नहीं। पाप का बोझ उन पर पड़ेगा जो पाप करेंगे। हम आपको अपने सोने तथा पशुओं का पाँचवाँ भाग, अन्न का दसवाँ भाग, और एक सुन्दर ललना विवाह के लिए देंगे। हमारे बड़े बड़े आदमी शस्त्र लेकर आपके साथ रहेंगे। आप दृढ़ होकर हम पर शासन करें। हम यह भी प्रतिज्ञा करते हैं कि अपने पुण्य-कर्मों का चौथा भाग हम आपके अर्पण करेंगे।' मनु ने इसे मानकर शासन करना आरम्भ कर दिया। सभी बुरे आदमियों का विनाश कर दिया गया। जनसाधारण को धर्म करने पर बाध्य किया गया।

मनु और प्रजा के बीच यह समझौता बहुत अच्छा विचार था जिसके अनुसार लोगों ने अपनी रक्षा के लिए राजा को चुना।

चौथा प्रकरण

महाभारत-काल

इतिहास का विभाजन—हमने इतिहास को विभिन्न युगों में विभक्त करके उनको भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं। हमें यह समझ लेना चाहिए कि इतिहास में कोई ऐसा समय नहीं आता, जब एक युग समाप्त और दूसरा उसी समय शुरू हो जाता हो। कुछ विद्वान कहते हैं कि सप्तसिंधव-प्रदेश में आर्यों के प्रादुर्भाव तथा सामाजिक उन्नति का प्रारम्भ आज से पच्चीस-तीस हजार बरस पहले हुआ। कोई-कोई विद्वान तीस की जगह पचास हजार मानते हैं। उस युग की सभ्यता का आधार वेद होने से उसे वैदिक काल कहा गया है। परन्तु आगे आते हुए हम यह नहीं कह सकते कि अमुक समय वैदिक काल का अंत होने पर महाभारत-काल आरम्भ हो गया।

महाभारत-काल का आरम्भ कौरवों तथा पांडवों के युद्ध से नहीं होता। आर्यों के समाज का जो चित्र हम महाभारत-ग्रंथ में पाते हैं, वह महाभारत के युद्ध से कई शताब्दियों पूर्व उसी प्रकार चला आता था और इस युद्ध के बाद भी कई शताब्दियों तक वैसा ही बना रहा। हम इस युग को महाभारत-काल इस कारण कह देते हैं कि इस युग में महाभारत के युद्ध के रूप में एक बड़ी घटना हुई।

यह कहना बड़ा कठिन है कि मनुष्य की आयु में कौन-से दिन या कौन-से वर्ष में बचपन समाप्त और यौवन आरम्भ हो

जाता है या यौवन समाप्त होने पर बुढ़ापा शुरू हो जाता है। फिर भी हमारे सामने बचपन, यौवन तथा बुढ़ापे के चित्र अपनी अपनी विशेषता के साथ आ जाते हैं। बचपन धीरे-धीरे यौवन में बदल जाता है और यौवन बुढ़ापे में। हम आरम्भ तथा अन्त का समय निश्चित नहीं कर सकते। इतिहास का भी यही हाल है। एक काल धीरे-धीरे दूसरे में बदल जाता है।

नवीन युग—वैदिक काल के पश्चात् हम एक नये युग में आ जाते हैं। यह रूप-रङ्ग में पहले से भिन्न है। महाभारत का युद्ध एक ऐसी घटना है, जो इसे वैदिक काल से अलग कर देती है। वैदिक काल में आर्य सभ्यता का श्रीगणेश और आर्य नस्ल का प्रसार हुआ, जिससे आर्य सभ्यता का बीज विभिन्न देशों में भी बोया गया। परन्तु जब संसार की विभिन्न जातियाँ अपने-अपने रास्ते पर उन्नति करने लगीं, तब आर्य लोगों का फैलाव भारत तक ही सीमित हो गया। वैदिक काल के उत्तर भाग में हम देखते हैं कि आर्य लोग अपने देश को आबाद करने और आंतरिक मामलों को हल करने में ही लग गये।

राजपूताना की खुश्क जमीन निकल आने पर सप्तसिंधव दक्षिण के साथ मिल गया। स्वाभाविकतया आर्यों ने देश के अन्य भागों में भी अपनी बस्तियाँ बनाना आरम्भ किया और वे गुजरात, सौराष्ट्र तथा किष्किंधा (मैसूर) में जा आबाद हुए। ऋषि अगस्त्य की संतान विंध्या को पार करके दक्षिण में चली गई। ऐसा मालूम होता है कि सप्तसिंधव से निकलकर आर्य लोग गंगा के प्रदेश में चले गये। यहाँ आर्य सभ्यता ने एक प्रकार से नये वस्त्र पहन लिये।

यहाँ से वे आगे दक्षिण की तरफ बढ़ने लगे। रामायण में आर्यों की इन बस्तियों के फैलाव का उल्लेख पाया जाता है।

एक दृष्टि से श्रीरामचन्द्र के जीवन का उद्देश्य ही यह मालूम देता है : दक्षिण के विभिन्न हिस्सों और जंगलों में आर्यों ने अपनी जो बस्तियाँ और आश्रम जा बनाये थे, उनकी रक्षा के लिए आर्यों की राजनीतिक शक्ति का प्रमाण प्रस्तुत किया जाय।

हमने देखा है कि दक्षिण के भूखंड में मनुष्यों की एक नई नस्ल पैदा हुई थी। आर्यों का अपने प्रसार में इस नस्ल के लोगों से वास्ता पड़ा। जहाँ पर आर्य लोगों ने इस नस्ल को अपनी सभ्यता के अंदर सम्मिलित करके अपने साथ एक बनाने का यत्न किया, वहाँ पर इसमें भी कोई संदेह नहीं कि इस नस्ल की शाखाओं का प्रभाव आर्य सभ्यता, भाषा तथा रीतियों पर पड़ा। भारत के इतिहास के इस भाग से हमारा संबंध नहीं है। जब हम महाभारत-काल में प्रवेश करते हैं, तो हमारे सामने अपने देश तथा समाज का एक सुन्दर चित्र आता है, जिसका वर्णन महाभारत में पाया जाता है।

महाभारत—यमुना के किनारे हस्तिनापुर में भारतवर्ष की एक बड़ी राजधानी स्थापित थी। उसका राजा शंतनु था। उसने एक मल्लाह की लड़की सत्यवती से विवाह करना चाहा। मल्लाह ने ये शर्तें लगाईं : राजकुमार भीष्म राजसिंहासन पर कभी न बैठें और न ही वह मरण-पर्यन्त विवाह करें। भीष्म ने ये शर्तें मान लीं और राजा का सत्यवती से ब्याह हो गया। इस विवाह से उसका लड़का विचित्रवीर्य उत्पन्न हुआ।

विचित्रवीर्य के दो बेटे थे—पांडु और धृतराष्ट्र। पांडु गद्दी पर बैठा, परन्तु जल्द ही मर गया। उसकी दो रानियाँ, कुन्ती और माद्री थीं। इनसे उसके पाँच लड़के उत्पन्न हुए—युधिष्ठिर अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव। ये पाँचों नाबालिग थे। इस



शर-शय्या से हिन्दू संस्कृति के संबंध में भीष्म पितामह क अंतिम
अमर संदेश।

कारण धृतराष्ट्र राजा बना। वह अंधा था। उसके एक सौ बेटे थे जिनमें सबसे बड़ा दुर्योधन था।

दुर्योधन की इच्छा हुई कि चचेरे भाइयों को राज्य से वंचित करके स्वयं सिंहासन का मालिक बन जाऊँ। धृतराष्ट्र भी दिल से यही चाहता था। षड्यंत्र रचकर दुर्योधन ने पहले तो पाँचों पांडव भाइयों के प्राण लेने का यत्न किया; परन्तु इसमें उसे साफल्य प्राप्त न हुआ। पांडव डर के मारे भेष बदलकर इधर-उधर फिर रहे थे कि उन्होंने पांचाल के राजा की लड़की द्रौपदी के स्वयंवर का समाचार सुना। उसमें बहुत-से राजा एकत्र हुए। परन्तु अर्जुन धनुर्विद्या में इतना प्रवीण था कि वही स्वयंवर की कठिन शर्त को पूरा कर सका। द्रौपदी का विवाह उसके साथ हो गया।

इस अवसर पर पांडवों के सम्बन्धी श्रीकृष्ण उन्हें आ मिले। उन्हें हस्तिनापुर में लाकर श्रीकृष्ण ने दुर्योधन से उनकी सुलह करवाई और कुछ ही दूरी पर एक जंगल दिलवाया जिसे काट कर पांडवों ने एक नई बस्ती आबाद की और इन्द्रप्रस्थ को अपनी राजधानी बनाया।

पांडवों की सफलता देखकर दुर्योधन फिर ईर्षा की अग्नि में जलने लगा। उनको अपने यहाँ बुलाकर उसने युधिष्ठर को जुआ खेलने का निमंत्रण दिया। क्षत्रिय होने के कारण युधिष्ठिर इसे अस्वीकार न कर सकता था। चौसर की बाजी में वह अपना धन, दौलत और भाई, सब कुछ हार गया। अब पाँचों भाइयों को तेरह वर्ष के लिए जंगल में रहना पड़ा। इस शर्त के पूरे हो जाने पर उन्होंने दुर्योधन से राज्य का एक भाग माँगा। दुर्योधन उन्हें एक अंगुल जमीन भी देने पर राजी न

हुआ। परिणामस्वरूप कुरुक्षेत्र में वह महायुद्ध हुआ जिसका वर्णन महाभारत में किया गया है।

इस युद्ध में देश के विभिन्न राजा और जनपद एक न एक तरफ होकर लड़े। लाखों आदमियों के खून के बाद पांडवों की विजय हुई और युधिष्ठिर राज करने लगा। उसके बाद अर्जुन का पोता परीक्षित हस्तिनापुर का राजा बना और श्रीकृष्ण का पोता वज्रेंद्र इन्द्रप्रस्थ का।

परीक्षित का बेटा जन्मेजय बहुत बड़ा राजा था। उसने नाग-शत्रुओं के विरुद्ध बड़ा युद्ध किया और इस विजय की स्मृति में तक्षशिला में नाग-यज्ञ किया। तब पहली बार महाभारत गाया गया। विद्वानों के मत के अनुसार यह ईसा से तीन हजार वर्ष पहले की घटना है। महाभारत को पहले 'जय' कहा जाता था। बाद में इसे भारत और महाभारत कहा गया। इसके लेखक श्री वेदव्यास ने इसमें २४ हजार श्लोक लिखे थे। परन्तु बाद में अन्य आदमियों ने नये-नये श्लोक जोड़ दिये। ईसा से तीन सौ बरस पूर्व इसका स्वरूप वह हो गया जो हमें आज मिलता है। २४ हजार से इसमें एक लाख श्लोक हो गये। इस पुस्तक से उस युग का ठीक-ठीक हाल मालूम होता है।

भारत का भूगोल—भीष्म पर्व में लिखा है-आर्यावर्त्त (उत्तर भारत) में १९७ जनपद आबाद थे, नर्मदा के दक्षिण में ५० और आर्यवर्त से परे १४ म्लेच्छ। इनमें से जिनका पता लग सका है, वे ये हैं—उत्तर पांचाल और दक्षिण पांचाल गंगा के दोनों ओर रहते थे। पहले की राजधानी अहिच्छत्र में थी। कोशल भी दो जनपद थे। ये उत्तरी और दक्षिणी कुरुक्षेत्र में आबाद थे। काशी और वैशाली मिथिला के पूर्व में आबाद थी। सोन नदी के परे मगध था। इसकी राजधानी राजगृह थी। इनसे आगे अंग, बंग,



ऋषि वेदव्यास ।

कलिंग, पुलिंद, मणिमान और पुण्ड्र आबाद थे। समुद्र के किनारे म्लेच्छ शर्मकार और दर्मकार थे। कुरुक्षेत्र के दक्षिण में मथुरा के पास शूरसेन आबाद थे। चंबल के किनारे कुंतिभोज और अवन्ती थे। पश्चिम की ओर सौराष्ट्र (काठियावाड़) था। उत्तरी कोकन के नीचे तलीकोट और पश्चिमी घाट के ऊपर दंडक। दक्षिण भारत के पूर्व में समुद्री म्लेच्छ, केरल, पांड्य, द्रविड़, चोल और आंध्र थे। कुरुक्षेत्र के पश्चिम में रोहितका पहाड़ियों के पास मत्स्यमेवर (मेवाड़) था। पंचनद, सिंध, सौवीर, गांधार और काश्मीर बहुत प्रसिद्ध थे। पंजाब में ये जनपद आबाद थे—कैकेय, अश्वपति (यूनानी लेखकों ने जिन्हें सोफिएटीस लिखा), मद्र (रावी और झेलम के बीच) जिसकी राजधानी शकल (वर्तमान सियालकोट) थी और गांधार।

पहाड़ों में ये प्रसिद्ध थे—महेंद्र (उड़ीसा में), मलय (पूर्वी तथा पश्चिमी घाट), साही (पूर्वी तथा पश्चिमी घाटों को मिलानेवाला सिलसिला), शक्तिमान (काठियावाड़ की पर्वत-श्रेणी), रक्षावन (अरावलि) और विंध्या परिमात्र। महाभारत में दो सौ के लगभग नदियों के नाम आये हैं। रामायण में कुरुक्षेत्र से नदियों की गिनती की गई है। पूर्व में भागीरथी (गंगा), कौशिकी (गंडक), कालिन्दी (यमुना), सरस्वती और सोन हैं। दक्षिण में महानदी, गोदावरी, कृष्णा तथा कावेरी। कर्णपर्व में पंजाब की नदियाँ यों दी गई हैं—शतद्रु (सतलज), इरावती (रावी), चन्द्रभागा (चनाब), वितस्ता (झेलम), विपाशा (ब्यास) तथा सिंधु (सिंध)।

'महाभारत' में सरस्वती का विशेष उल्लेख है। शल्यपर्व में इसका रास्ता विस्तारपूर्वक बताया गया है। बलराम द्वारका से इस नदी की यात्रा के लिए निकला। विनाशन तीर्थ में उसने

देखा कि यहाँ सरस्वती का लोप हो जाता है (तीर्थ का नाम इसी कारण विनाशन पड़ा)। वहाँ से चलकर वह फिर असली नदी के तट पर पहुँचा। तत्पश्चात् कई तीर्थों से होता हुआ वह कुरुक्षेत्र पहुँचा। वहाँ से हिमालय में जाकर उसने सरस्वती के उद्गम को एक पहाड़ी पर श्वेत-यमुना के पश्चिम में देखा।

सरस्वती उस समय आर्यों के लिए बहुत पवित्र नदी थी। बलराम के मतानुसार भीम और दुर्योधन का युद्ध सरस्वती के दक्षिणी तट पर हुआ था। अब भी हिन्दू यह मानते हैं कि यह नदी प्रयाग के निकट गंगा तथा यमुना में मिलकर त्रिवेणी बनाती है। संयुक्त प्रान्त के नहरों के विभाग के चीफ इंजीनियर ने पिछले दिनों रुड़की में यह कहा था कि सरस्वती सूख नहीं गई, प्रत्युत वह जमीन के अन्दर बहती है और इसका पानी भी समुद्र में जाता है।

जब महाभारत का महायुद्ध हुआ तब पंजाब के राज्यों ने दुर्योधन का पक्ष लिया। शल्य और भूरिश्रव पंजाब के राजा थे। जयद्रथ कैकेय का राजा था (कैकेय संभवतः पंजाब में था)। दो राजा इरावती के प्रदेश से पहुँचे थे। ये सभी आर्य थे। अपनी भूमि को ये आर्यवर्त कहते थे, दूसरों को म्लेच्छ। एक श्लोक में कहा गया है—'आर्य लोग अपनी भाषा पर म्लेच्छ भाषा का प्रभाव नहीं होने देते। जब अर्जुन अपना घोड़ा फिराता हुआ विजय पर गया, तो उसने आर्य तथा म्लेच्छों दोनों प्रकार के राजाओं को जीता। महाभारत के महायुद्ध में पांडवों के पक्ष में आर्य तथा द्राविड़ दोनों नस्लों के राजा थे। युयुधान काठियावाड़ से था, धृष्टकेतु कानपुर से, द्रुपद आगरा से, विराट धौलपुर और पांड्य मद्रास से।

इस विषय में श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने लिखा है—"दो

हज़ार वर्ष में यूनानी, बेक्ट्रियन, पार्थियन, हूण, शक, अरब, तुर्क, मुग़ल और अफ़ग़ान लोगों ने पंजाब पर आक्रमण किये। इस पर भी आश्चर्य यह है कि पंजाब के लोग अभी तक सबसे उत्तम एवं शुद्ध आर्य हैं। इसका एक कारण यह है : जब विदेशी लोग किसी सभ्य देश में आते हैं तो वे सभ्यों में जज़्ब हो जाते हैं या उनका अस्तित्व यों ही मिट जाता है। गङ्गा का पानी हिमालय में निर्मल होता है। ज्यों-ज्यों वह नीचे आता है, त्यों-त्यों उसमें अन्य नदी-नाले मिलने से वह मिलावटवाला हो जाता है।"

राजनीतिक अवस्था—महाभारत के एक श्लोक में युधिष्ठिर ने कहा है—"यहाँ हर घर में राजा है। परन्तु महाराज का पद प्राप्त करना कठिन है।" इसका अर्थ यह है कि महाभारत-काल में नगर-नगर में राजा हुआ करते थे। परन्तु वास्तव में राजा वह होता था, जिसे सबसे ऊपर समझा जाता। उसे महाराजाधिराज कहा जाता। वह विभिन्न राजाओं से अधीनता स्वीकार करवाता, उन्हें नष्ट न करता। युधिष्ठिर ने दिग्विजय की ; परन्तु किसी राजा के अस्तित्व को नष्ट न किया। (यह बात हम आगे चलकर महाराज रणजीतसिंह में नहीं देखते और इसका कुपरिणाम पंजाब को भुगतना पड़ा।) यही कारण है कि जो जनपद या क़बीले ब्राह्मण ग्रंथों तथा उपनिषदों के काल में पाये जाते थे, वही बौद्धकाल में देखे जाते हैं। उनमें से कुछ ये हैं—काशी, विदेह, चेदि, शूरसेन, कुरु, पंचाल, मत्स्य, वृष्णि, भोज, मालव, क्षुद्रक, मद्र, कैकेय, गांधार, सिंधु, सौवीर, कंबोज, कुशीनार, किरात और अनर्त।

इनमें हर एक का शासन राजा के हाथ में था। परन्तु ब्राह्मण लोग एक प्रकार से राज्य-शासन से स्वतंत्र थे। समाज

से सम्बन्ध रखनेवाले हर अवसर पर प्रजा की सम्मति ली जाती थी। रामायण में स्पष्ट बताया गया है कि एक अवसर पर महाराज दशरथ ने सभी बड़े सरदारों तथा ग्रामों के बड़े-बड़े आदमियों को बुलाया। यह सभा ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की प्रतिनिधि था। यह महाराज की इस बात पर विचार करती रही कि श्रीरामचन्द्र को युवराज बनाया जाय। सभा ने एकस्वर से इसके पक्ष में मत देकर इसे स्वीकार कर लिया। दशरथ ने समझा कि शायद सभा के सदस्य लिहाज से ऐसा कर रहे हैं। तब सभा ने श्रीरामचन्द्र के गुणों का वर्णन किया। इस पर महाराज दशरथ ने हाथ बाँधकर उनकी सम्मति स्वीकार कर ली। दशरथ की मृत्यु के बाद राजा चुनने के लिए फिर सभा बुलाई गई। कुछ सदस्य कहते थे कि इक्ष्वाकु-वंश में से किसी को राजा बनाना चाहिए। परन्तु वशिष्ठ ने यह प्रस्ताव किया कि भरत को राजा बनाया जाय और तदर्थ उसे तुरन्त बुलाया जाय।

महाभारत में एक राजा की कथा है कि उसने अपने बेटे को राज्य-अभिषेक देना चाहा। परन्तु प्रजा ने उसे ऐसा करने से रोक दिया। राजा के आँसू निकल आये। इस पर प्रजा ने कहा—'यद्यपि राजकुमार में प्रायः अच्छे सभी गुण हैं, परन्तु उसे तो चर्म रोग है।' लोगों की सम्मति के सामने राजा ने सिर झुका दिया। तब उसका भाई राजा चुना गया। इसी प्रकार जब ययाति अपने छोटे भाई पुरु को राजा बनाना चाहता था तब लोगों ने आपत्ति की। इस पर राजा ने उत्तर में अपना तर्क प्रस्तुत किया। इससे प्रजा राजी हो गई और राजा की इच्छा के अनुसार कार्य किया गया।

कुछ स्थानों में शासन मुखियों या सरदारों के हाथ में था।

कुछ प्रजातंत्र थे जिनमें बड़ों की सभा राजा के काम करती थी। इन प्रजातंत्रों को गण कहा जाता था। इस काल के प्रारम्भ में ऐसे जनपद या क़बीले भी थे, जो यूनान के क़बीलों के समान पूर्ण स्वतंत्रता से प्रेम करते थे। ये जनपद एक प्रकार से छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य थे। ये एक ही नस्ल से थे, एक-जैसे देवताओं को मानते थे और एक ही भाषा बोलते थे। इनमें परस्पर विवाह हुआ करते थे। राजनीतिक दृष्टि से ये एक-दूसरे से स्वतंत्र थे। एक जनपद दूसरे को परास्त कर देता था, परन्तु उसे नष्ट न करता था।

आश्चर्य की बात है कि ज्यों-ज्यों समय गुज़रता गया त्यों-त्यों यूनान में तो प्रजासत्ता के भाव ज़ोर पकड़ते गये।' परन्तु हिन्दुस्तान में राजा की शासन-प्रणाली दृढ़ होती गई। भारत में इस प्रकार की स्वतंत्रता के रुक जाने का एक कारण यह भी था। वर्णों के विभाजन से राज्य-कार्य केवल क्षत्रियों के सुपुर्द कर दिया गया। जनसाधारण शासन-कार्य (गवर्नमेंट) से बिलकुल उदासीन हो गये। विदेशी जातियों को हिन्दू समाज में प्रायः शूद्रों के रूप में सम्मिलित कर लेने से उनकी संख्या बढ़ गई। उन पर पाबंदियाँ लगाकर राजा के अधिकार बढ़ाने पर ज़ोर दिया गया। परिणाम-स्वरूप पहाड़ों में जो छोटे-छोटे जनपद थे, उनमें तो जनसाधारण का ज़ोर रहा; परन्तु मैदानी राज्यों में राजा स्वेच्छाचारी बन गये। तब राजा का राज्य बड़ा सुखदायी समझा जाने लगा।

राजा के न होने की बुराई उस समय बड़े ज़ोर से प्रकट की गई, जब लोग दशरथ की मृत्यु के पश्चात् एकत्र हुए। तब कहा गया—"जहाँ राजा नहीं होता, वहाँ न वर्षा होती है, न अन्न पैदा होता है। वहाँ न बेटे बाप की आज्ञा मानते हैं, न स्त्री पति की। वहाँ न ब्राह्मण का मान होता है, न सत्य का। वहाँ न तो युवतियाँ

शाम को बाग़ में जाकर खेल सकती हैं, न कोई और खुशी या तमाशा हो सकता है। आदमी न वहाँ दरवाज़े खोलकर सो सकता है, न तेज़रफ़्तार घोड़े पर जंगल में जा सकता है। व्यापारी इधर-उधर फिर नहीं सकते। कोई तत्त्ववेत्ता दार्शनिक दिखाई नहीं देता। चदंन की खड़ाऊँ पहने राजकुमार चमकते दिखाई नहीं देते। जैसे पानी के बग़ैर नदी और घास के बग़ैर जंगल होता है, वैसे ही राजा के बग़ैर राज्य होता है। जिस प्रकार शरीर के लिए आँख आवश्यक है, उसी प्रकार सत्य की रक्षा के लिए राजा आवश्यक है। राजा न होगा तो सर्वत्र अँधेरा हो जायगा और भले-बुरे में कोई भेद न हो सकेगा।"

ऐसा मालूम देता है कि लोग बहुत ज़्यादा शांति-प्रिय हो गये थे। अशांति से उन्हें इतना भय प्रतीत होने लगा कि महाभारत के शांति पर्व में यहाँ तक कह दिया गया—"यदि कोई शक्तिशाली मनुष्य विजय करने के लिए आ जाय, तो जिस राज्य का कोई राजा न हो या जो निर्बल हो, उसे आक्रमणकारी का स्वागत करना चाहिए क्योंकि कुप्रबंध या अशांति से बढ़कर कोई बुराई नहीं। यदि वह प्रसन्न हो गया तो अच्छा, नहीं तो सब कुछ नष्ट कर देगा। जो गाय मुश्किल से दूध देती है, उसे बार-बार तंग किया जाता है; जो आसानी से दे देती है, उसे कोई तंग नहीं करता।"

यह प्रकट करता है कि उस समय लोगों को गाय-भैंस समझने का खयाल पैदा हो गया था। लोग राज्य-कार्य से उदासीन होने लगे थे। वे समझने लगे कि शासन करना केवल क्षत्रियों का कार्य है, जनसाधारण को केवल शांति की इच्छा रखनी चाहिए। उन्हें इस बात से क्या कि कौन राजा होता है? फलस्वरूप धीरे-धीरे राज्य राजा की व्यक्तिगत मिल्कियत समझी जाने लगी। इस युग के अंत में राजनीतिक पतन यहाँ तक पहुँच गया कि महाभारत

में ही राजा मनुष्य के रूप में ईश्वर समझा जाने लगा।

राजा की शक्ति—महाभारत काल के अंत में मजहब और शासन (गवर्नमेंट) में दो बड़ी क्रांतियाँ हुईं। ईरान में साइरस पहला राजा था जिसने साम्राज्य की नींव डाली। उसके पश्चात् दारा ने विभिन्न प्रदेशों को जीतकर वहाँ अपनी ओर से प्रांतीय शासक या सूबेदार नियुक्त करने की प्रणाली प्रचलित की। कुछ लेखकों की सम्मति में ईरानियों का अनुकरण करके कोशल जनपद ने काशी को जीतकर उसे नष्ट कर दिया। फिर मगध-जनपद ने कोशल को नष्ट करके मगध साम्राज्य की नींव रखी और अपनी राजधानी राजगृह से पाटलिपुत्र में बदल दी। भारत में एक दृष्टि से यह पहला हिन्दू साम्राज्य और चन्द्रगुप्त मौर्य प्रथम सम्राट् थे। तत्पश्चात् कई स्थानों पर राजा अधिकारों के विचार से स्वेच्छाचारी बन गये और उनकी इच्छा ही सब कुछ समझी जाने लगी।

राजा के कर्त्तव्य क्या थे? इनका पता उन प्रश्नों से लग जाता है, जो नारद ने युधिष्ठिर से किये—"क्या तुम्हारा राज्य-तुम्हारे द्वारा, तुम्हारी रानियों या राजकुमारों के द्वारा, चोरों या लोभियों द्वारा पीड़ित तो नहीं है? क्या तुम्हारे जलाशय भरे हुए और उचित स्थानों में हैं ताकि तुम्हारी प्रजा को केवल वर्षा पर निर्भर न रहना पड़े? क्या खेती करनेवालों का बीज नष्ट तो नहीं होता? क्या तुम कर्ज एक प्रतिशत सूद पर देते हो? क्या तुम्हारे राज्य के खेती, पशु-पालन तथा कर्ज के लेन-देन के विभाग अच्छे आदमियों के हाथ में हैं; क्योंकि इनसे भी प्रजा का रंजन होता है? क्या गाँव के पाँचों कर्मचारी तुम्हारे हित के लिए प्रयत्नशील हैं? क्या नगरों की रक्षा के लिए अपने गाँवों को तुमने नगरों-जैसा सुरक्षित बना रक्खा है और सीमाओं को

गाँवों-जैसा ? तुम्हारे देश में जो डाकू फिरते हैं, उनका पीछा क्या तुम्हारी सेना करती है ?"

गाव के पाँच कर्मचारी ये थे—प्रशस्त अर्थात् बड़ा आदमी या मुखिया, समाहर्त्ता या कर रखनेवाला, समविधाता या प्रजा और समाहर्ता के दरमियान पंच, लेखक या हिसाब-किताब रखनेवाला और साक्षी या गवाह।

नारद का यह भी विचार था कि राजा का पहला कर्त्तव्य देश को अशांति से बचाना है। इसके अतिरिक्त खेती के लिए नहरों द्वारा पानी, खेती करनेवालों के लिए सूदी रुपया, पशु पालन का निरीक्षण, अंधे, गूँगे, लूले तथा निर्बलों का पालन, दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता, साँप, चीते और महामारियों से प्रजा की रक्षा—इन सबका प्रबंध करना। आय के सम्बन्ध में राजा के लिए विशेष निर्देष था कि दैनिक आय व्यय से अधिक हो। राज्य की शक्ति कोष को भरे रखने में है। राजा को आय की छोटी-से-छोटी मद की भी उपेक्षा न करनी चाहिए; क्योंकि इनसे ही कोप बनता है। राजा को अपने निजी कामों पर आय से अधिक खर्च न करना चाहिए।

राज-धर्म में इन बातों का निर्देश किया गया है—राजा अपने समय के तीन भाग करे—प्रातःकाल धर्म-कार्य, दोपहर राज-कार्य और सायं अपनी इच्छाओं की पूर्त्ति के लिए। सबेरे उठते ही राजा अपनी प्रजा के हित का विचार करे। हर एक मामले में केवल एक आदमी से परामर्श ले और फिर उस पर तुरन्त आचरण करे। हजार मूर्खों को छोड़कर एक बुद्धिमान को अपने पास रखे। ऐसे विद्वानों को उपहारों आदि से प्रसन्न रखे। किसी राजकर्मचारी को बिना दोष के कभी अलग न करे। उसे मिष्टभाषी और हँस-मुख होना चाहिए। परन्त अपने

नौकरों से वह कभी दिल्लगी न करे। वीरों का वह कभी अपमान न करे। किसी भी अवस्था में धीरज को हाथ से जाने न दे। अपनी प्रजा को मिलने का अवसर दे और उसकी शिकायतों को सुने। परावलंबियों तथा दुखियों की सहायता करे। गर्भवती अपने बच्चे के लिए सभी सुखों का त्याग कर देती है। राजा को भी अपनी प्रजा के सुख की खातिर अपने सुख का खयाल न करना चाहिए।

इन चौदह दोषों से राजा अपने आपको दूर रक्खे—कर्त्तव्य के प्रति उदासीनता, झूठ, क्रोध, असावधानता, विलास-प्रियता, लोभ, आलस्य, मूर्खों से परामर्श, वैरी का विचार न करना, निर्णीत बात पर आचरण न करना, रहस्य बताना, बहुत से पक्षों में लगे रहना, परामर्श के लिए सभा न करना और विद्वानों से मेल न रखना।

राज-मंत्री आदि—राजा को आठ मंत्री रखने के लिए कहा गया है। इन आठों के नाम कहीं एक स्थान में नहीं मिलते। कहीं कहीं सचिव (प्रधान मंत्री), सेनापति, पुरोहित, ज्योतिषी, वैद्य आदि आवश्यक बताये गये हैं। एक श्लोक में अठारह पदाधिकारियों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं—मंत्री, पुरोहित, युवराज, चमूपति (सेनापति), द्वारपाल अंतर्विशेष, कारागार-अधिकारी, कोष-अधिकारी, अर्थ सचिव, नगर-अधिकारी, सैन्य-सामग्री-अधिकारी, दंड अधिकारी, धर्माध्यक्ष, सभा-अध्यक्ष, दुर्ग-रक्षक, सीमा-रक्षक, वन अधिकारी तथा प्रवेश करानेवाला। कहा गया है कि इन सबके ऊपर तीन-तीन ऐसे गुप्तचर नियुक्त होने चाहिए जो एक-दूसरे को न जानते हों। वे राजा को सभी मामलों के समाचार पहुँचाते रहें। राजा को व्यक्तिगत रूप से

गुप्तचर-विभाग, कोष और न्यायालय का ध्यान रखना चाहिए। गुप्तचरों से वह स्वयं समाचार सुने, आय-व्यय का हिसाब देखे और दरबार लगाकर लोगों की शिकायतें सुने। अपने ही राज्य में जन्म लेनेवाले तथा अच्छे घरानों के आदमियों को मुसाहब रखे। उसका शरीर-रक्षक विद्वान, जागरूक और सच्चा हो।

न्याय-प्रबन्ध—न्याय-प्रबंध राज्य का अपना कार्य था। मुक़दमे सुनने के लिए एक सभा होती थी। इसका उल्लेख महाभारत के शांतिपर्व में पाया जाता है—"सभा में चार विद्वान, विवाहित और सच्चरित्र ब्राह्मण प्रतिनिधि होते थे, आठ वीर क्षत्रिय, इक्कीस धनवान वैश्य, तीन साफ शूद्र और आठ गुणोंवालों एक सूत। इनमें से आठ सदस्यों के साथ राजा हर एक-मुक़दमे को सुने। चोरी-चोरी रुपया लेकर किसी की रिआयत न करे। ऐसा करना बड़ा भारी पाप और राज्य का विनाश करनेवाला होता है। बलवान के मुक़ाबिले पर राजा निर्बल की रक्षा करे। यदि अपराधी अपराध से इनकार करे तो राजा साक्षियों की सहायता से मुक़दमे का निर्णय करे। साक्षी न होने पर फ़ैसले में बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिए। अपराध के अनुरूप ही सजा देनी चाहिए। वह धनवान को जुर्माना, ग़रीब को क़ैद और बदमाश को बेंत का दंड दे। राजा के बधिक, मकान आदि को आग लगानेवाले चोर और वर्ण खराब करनेवाले को पीड़ा देकर मारना चाहिए। न्याय के साथ दंड देने में कोई दोष नहीं। परन्तु जो राजा अपनी मरज़ी से ही दंड देता है, वह नरक का भागी होता है। एक के बदले दूसरे को वह कभी दंड न दे।"

सभा में वैश्यों की संख्या इस कारण अधिक थी कि मुक़दमे अधिकतर दीवानी होते थे। न्यायालय में वादी और प्रतिवादी

अपना-अपना पक्ष बताते थे। गवाहों को वे अपने साथ लाते थे। गवाह नहीं हैं, परन्तु सच्चाई पर पहुँचना है, इसलिए कभी-कभी चोरों को पीटा जाता था। चोर का दायाँ हाथ भी काट दिया जाता था। राजा का न्यायालय सबसे ऊँचा होता था। राजा के डर के कारण साक्षी प्रायः झूठ न बोलते थे। अपराध बहुत कम होते थे। राजा की सभा में जाने के बजाय लोग अपने झगड़े प्रायः आपस में ही निबटा लेते थे।

सारे युग में यही अवस्था रही। इसका प्रभाव यूनानियों पर बहुत अच्छा हुआ। इसी कारण उन्होंने लिखा—"भारत में कोई न्यायालय नहीं हैं। लोगों में परस्पर झगड़े नहीं होते। यदि कोई मनुष्य किसी को रुपया देता और वह उसे वापस न देता तो देनेवाला अपने आपको दोष देता कि मैंने मुफ्त में उस पर विश्वास किया।'

जब चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य-काल में साम्राज्य बहुत बढ़ गया तब स्वयं सम्राट् मुक़दमों के फ़ैसले न कर सकता था। उसने इस काम के लिए अमात्य नियुक्त किया। राजा के इस स्थान पर प्रायः ब्राह्मण ही न्यायाधीश होता। तब क़ानून की स्मृतियाँ जटिल और पूर्ण बनने लगीं। पहले वादी और प्रतिवादी गवाहों को साथ लेकर आया करते और जबानी वृत्त दिया करते। अब अपराधी और साक्षी न्यायालय में बुलाये जाते। जूरी का तरीक़ा धीरे-धीरे हटता गया और गवाहों को झूठ बोलने की आदत होने लगी।

महकमा माल—रियासतें या राज्य छोटे होने के कारण माल का महकमा भी सीधा-सादा होता। हर गाँव का मुखिया या बड़ा आदमी ग्राम-अधिपति कहलाता। बीस, सौ और हज़ार गाँवों पर अलग-अलग कर्मचारी नियुक्त होते। छोटा कर्मचारी

अपने से बड़े के पास अपना वृत्त भेजता। एक अफ़सर माल रुपये का निरीक्षण करता। छोटे कर्मचारियों के अत्याचार को रोकना उसका काम था। राज्य की आय प्रायः भूमि तथा व्यापार से होती थी। जमीन की उपज पर बीसवाँ और सोने तथा पशुओं पर पचासवाँ भाग महसूल था। व्यापारी पर खरीदने और बेचने का लिहाज़ रखकर ही कर लगाया जाता था। परिश्रम करनेवाले लोग या तो कर देते या राज्य का काम करते।

कर प्राप्ति के विषय में महाभारत में कहा गया है—"धीमान राजा लोगों से कर ऐसे प्राप्त करे जैसे बछड़े को भूखा रखे बग़ैर गाय से दूध लिया जाता है। लोगों को यह भी बता देना चाहिए कि उनसे लिया गया कर राज्य-प्रबन्ध तथा शत्रुओं से मुक़ाबिले करने के काम में लाया जायगा।' युद्ध के लिए खास कर्ज़ की इजाज़त थी। कर बढ़ाने के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है—"कर को धीरे-धीरे उस प्रकार बढ़ाना चाहिए जिस प्रकार बैल धीरे-धीरे बोझ उठाने के लिए योग्य बनाया जाता है। एकदम काबू में लाने का यत्न करने पर वह बेकाबू हो जाता है।"

राजा की आय के अन्य साधन ये थे—नमक आदि की खानें, शुल्क (संभवतः महसूल मंडी), पुल और हाथी। इन पर राजा को विश्वसनीय आदमी नियुक्त करने का निर्देश है। जंगल अभी तक राजा का मिल्कियत न थे। उन पर कोई कर न था। जंगल में मवेशी चराने, लकड़ी काटने और शिकार खेलने की खुली छुट्टी थी। गाँव के रहनेवाले लोग गाँव की जमीन को आपस में बाँट लिया करते थे। बाद में जमीन का बेचना और खरीदना भी होता रहता था। इस कारण वह मापी भी जाती होगी। महाभारत में सोने के सिक्के निष्क का उल्लेख है। यह बहुमूल्य होता था, क्योंकि जब एक अवसर पर ब्राह्मणों को निष्क दिया गया तो वे बहुत प्रसन्न हुए—"हमको निष्क मिला है!"

राजनीति तथा युद्ध—इस युग के आरम्भ में राजा के कर्त्तव्य बिलकुल सादा और साधारण थे। परन्तु इस युग के अंत में राज्य बढ़ते-बढ़ते इतना बड़ा हो गया और कार्य ऐसे जटिल हो गये कि राजा कुछ से कुछ बन गया। राजा के कर्त्तव्यों का जो चित्र राजनीति की पुस्तकों में दिखाई देता है, उससे मालूम देता है कि राजा कि स्थिति में एक आश्चर्यजनक क्रान्ति आगई थी। बृहस्पति और शुक्रनीति का सार महाभारत के शांति पर्व में दिया गया है। इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को जीवन का उद्देश बतलाकर राजनीति आरम्भ की गई है। उसके अनुसार गवर्नमेंट के छः विभाग हैं—राजा, मंत्री, दूत, राजकुमार, गुप्तचर और गुप्तचरों के वेश।

शत्रु के साथ व्यवहार करने के पाँच तरीके थे:—साम (सुलह), दान, दंड (डराना), भेद (फूट) और उपेक्षा। इनके अतिरिक्त संधियों तथा गुप्त परामर्शों के कई प्रकार थे। चार मौसमों में सेना के कूच के तरीक़ों और विजय आदि का उल्लेख भी मिलता है।

राज्य को पाँच हिस्सों में बाँटा गया है—देश, दुर्ग, सेना, कोष और मंत्री। आठ प्रकार की सेना, उसके साथ विभिन्न प्रकार के बारूद और ज़हर, मित्र, अमित्र और निष्पक्ष कर, सैनिक शिक्षा, युद्ध-सामग्री, लड़ने के तरीके—इन सबका उल्लेख भी है। सेना के लिए शस्त्र रखना, सैनिकों में उत्तेजना पैदा करना, उत्तेजित सैनिकों को ठंडा करना, निर्देश तथा आदेश को एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाना, लड़ाई में पीछे हटना इनका विशद वर्णन मिलता है। शत्रु को नष्ट करने के ये तरीके बताये गये हैं—डाके डलवाना आग लगवाना, जहर फैलाना, जनपद के मुखियों को बहकाना,

खेती और वृक्ष उजाड़ना, हाथियों को डराकर खराब करना और राजभक्त कर्मचारियों में विद्रोह भड़काना।

राज्य के उत्कर्ष-अपकर्ष को सात हिस्सों में बाँटकर संधियों, शिष्ट-मंडलों, निर्बलों की रक्षा, शत्रु-विनाश, राजा की निर्बलताओं और राजा के कर्त्तव्यों का उल्लेख किया गया है।

राज्य सुदृढ़ बनाये रखने के लिए युद्ध आवश्यक समझा जाता था। ऐसा मालूम देता है कि ये जनपद एक-दूसरे के साथ युद्ध की अवस्था में रहने लग गये थे। राष्ट्रपुरुष मनु ने संघर्ष को प्रकृति-सिद्ध बताया है। अपनी स्मृति (५।२८,२९,३०) में उन्होंने स्पष्ट कहा है :—

प्राणस्य अन्नम् इदं सर्वं प्रजापति अकल्पयंत्
स्थावरं जंगमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम्।
चराणां अन्न अचरा: दंष्ट्रिणामपि अदंष्ट्रिण:।
अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरव:।
न अत्ता दुष्यति अदन् आद्यान प्राणिनो अहनि अहनि
धात्रा एव सृष्टा: हि आद्याश्च प्राणिनो अत्तार: एव च।

भीरु मनुष्य शूरों का खाद्य हुआ करते हैं और इसमें शूरों का दोष नहीं होता, क्योंकि दोनों की सृष्टि ईश्वर ने की है। राष्ट्र-निर्माता कौटिल्य का भी यही मत था। अँगरेज तत्त्ववेत्ता हरबर्ट स्पेंसर और जर्मन दार्शनिक नीट्शे का भी यही मत है। (नीट्शे ने तो भगवान मनु को अतिमानव (सुपरमैन) माना है।) हरबर्ट स्पेंसर ने सभी राजनीतिक संस्थाओं की उन्नति का कारण युद्ध-विषयक सहयोग बताया है। नीट्शे आदि का भी यह मत है कि पतनोन्मुख या मरनेवाले राष्ट्र का बचाव केवल युद्ध

ही हो सकता है। ऐसे लोग हर युग में पाये जाते रहे हैं, जो युद्ध के चित्र या विचार से घृणा करते हों। परन्तु इन लोगों की बौद्धिक अवस्था विचित्र होती है। इन्होंने संसार का जो चित्र अपने मन में बनाया होता है, वह इन तक ही सीमित होता है। पारस्परिक संघर्ष तथा आन्दोलन की भावना जब किसी जाति या राष्ट्र से निकल जाती है, तब उसके अंदर स्वाभाविक पतन के कारण आ विद्यमान होते हैं।

महाभारत के समय युद्ध-कला में विशेष उन्नति हो चुकी थी। युद्ध के नियमों और आचार-नीति भी विकसित हो चुका था। हर एक राजा के पास सेना थी। उसमें प्रायः पदाति, सवार, हाथी और रथ होते। हर एक सैनिक को कुछ नक़दी और कुछ अनाज बतौर वेतन मिलता। अधिष्ठि ने एक स्थान में कहा है—"सैनिक को वेतन न देने से बुरा परिणाम निकलता है।" सेना में दस सैनिकों पर एक नायक, सौ पर दूसरा अफ़सर और हज़ार पर तीसरा अफ़सर होता था। बड़े अफ़सरों का वेतन तथा मान ज्यादा हुआ करता था। समस्त सेना का एक सेनापति होता था जिसके संबंध में कहा गया है कि उसमें गरमी, सरदी और वर्षा सहन करने की योग्यता होनी चाहिए।

ज़मीनी सेना के अतिरिक्त समुद्री सेना और चर-सेना होती थी। समुद्री सेना के पास किश्तियाँ और जहाज भी होते थे। पैदल सैनिकों के पास तलवार, कुल्हाड़ा, बिगुल आदि शस्त्र तथा सामान होता था। हाकिमों की सेना में बड़े-बड़े पहलवानों के पास खड्ग और गदाएँ होती थीं। सवार के पास तलवार और भाला रहता था। प्रत्येक सैनिक कवच पहनता था।

विविध प्रदेशों के लोग भिन्न-भिन्न प्रकार के युद्ध के लिए प्रसिद्ध थे। पंजाब और सिंध के लोग तेज कुल्हाड़ों से लड़ा

करते। रथ का योधा बड़ा समझा जाता। उसका खास हथियार तीर-कमान होता। शक्ति और चक्र भी प्रयोग में लाये जाते थे। तीर दूर तक फेंके जा सकते थे। हिंदू धनुष-बाण का अभ्यास बहुत ज्यादा किया करते थे। उनकी कमान आदमी के कद के बराबर होती थी। उनका तीर कोरे लोहे की चादर में छेद कर सकता था। ऐसे तीर चलाना बलवान का काम ही हो सकता था।

रथ इसलिए दिया जाता था कि लड़नेवाला अपनी स्थिति को जब चाहे बदल सके और तीरों का ढेर अपने पास रख सके। अश्वत्थामा के पास तीरों से भरे सात छकड़े थे। हर छकड़े को आठ बैल खींचते थे। तीन घण्टे में उसने इन छकड़ों को खाली कर दिया।

अस्त्र वे हथियार थे जो आग, वर्षा या हवा पैदा करके शत्रु को नष्ट करते थे। रथ का सिरा गोल होता था। हर एक योधा उस झंडे से पहचाना जाता था, जो उसके रथ के ऊपर फहरा रहा होता। लड़ाई में इस झंडे को भी गिराने का यत्न किया जाता। हर रथ में एक नक्कारा या नौबत रहता था। आमतौर पर योधा अपना तथा अपने घराने का नाम बताकर शत्रु को चुनौती देता था। जय-ध्वनि की जाती थी। शंख बजाना साधारण बात थी। शत्रु के निकट होने पर छोटे-छोटे तेज शस्त्रों का प्रयोग किया जाता था। सेनापति की कुशलता इस बात से समझी जाती थी कि वह सेना को विभिन्न व्यूहों में बाँधे। व्यूह वह रचना या तरतीब थी, जिसके अनुसार लड़ने से पूर्व सैनिक खड़े किये जाते थे।

युद्ध में आचार-नीति के सम्बन्ध में भीष्म ने कहा है—"युद्ध में जिसने हथियार डाल दिया हो, जिसका शस्त्र टूट जाय, जो गिर पड़े, जो मैदान से भाग रहा हो, जो अधीनता स्वीकार कर ले,

जिसका बेटा मारा गया हो, जो प्यासा, सोया हुआ या पानी पीता हो या जो खेती कर रहा हो, उस पर हमला न किया जाय।" यूनानी भी यह देखकर चकित हो गये कि जब लड़ाई हो रही थी तब खेती करनेवाले किसान अपना काम बराबर करते रहे।

युद्ध में ऐसे अवसर भी आ जाते थे जब अपने या पराये देश को बरबाद करना आवश्यक होता था। शांतिपर्व में बताया गया है—"पराजित राजा को अपने पशु जंगल से हटा लेने चाहिए, अपना देश बरबाद कर देना चाहिए। सभी गाँवों के लोगों को नगर में ले जाना चाहिए, पुल नष्ट कर देने चाहिए, कूएँ आदि गिरा देने चाहिए; जो गिराये न जा सकें उनमें ज़हर मिला देना चाहिए।" किले के संबंध में लिखा है—"क़िले के साथ थोड़ा-सा जंगल काट देना चाहिए। क़िले से निकल जाने के लिए गुप्त मार्ग काम में लाने चाहिए फाटकों पर तोपें रखनी चाहिए क़िले में कुएँ खोद देने चाहिएँ।" लड़ाई के समय शहर में क्या करना चाहिए?—"खाना वहाँ पर रात को ही पकाना चाहिए। यज्ञ के सिवाय बाक़ी आग बुझा देनी चाहिए। दिन में आग जलानेवाले को सज़ा दी जाय। इस विषय में पहले ही डौंडी पिटवा दी जाय। हर एक मार्ग तथा मंदिर में गुप्तचर नियुक्त कर देने चाहिए। सभी भिखारी, छकड़ेवाले, हीजड़े, पागल और नाचनेवाले शहर से निकाल देने चाहिए, क्योंकि ये बहुत खतरनाक होते हैं। तेल, चरबी, घी, दवाई, घास, लकड़ी, पलाश और विषाक्त तीर जमा रखने चाहिएँ।"

सामाजिक अवस्था—चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में रहनेवाले यूनानी दूत मेगस्थनीज़ ने भारत का जो विवरण लिखा है, उसका एक वाक्य एक प्रकार से जात-पाँत का श्रीगणेश बता देता है—

"कोई आदमी अपनीजात से बाहर ब्याह नहीं कर सकता और न कोई दूसरा पेशा अख्तियार कर सकता है।" इसका अर्थ यह है कि ब्याह और पेशे की हदबंदी जात-पाँत की जड़ें हैं। हमने देखा है कि वैदिककाल के अंत में विभिन्न वर्गों में परस्पर विवाह पर पाबंदी लगनी शुरू हो गई थी। इस देश में विवाह पर पाबंदी लगने का एक विशेष कारण यह था : आर्यों को यहाँ एक ऐसी नस्ल से वास्ता पड़ा, जो रंग-रूप में उनसे सर्वथा भिन्न थी। विवाह-सम्बन्धीप्रतिबन्ध सबसे पहले शूद्र स्त्रियोंपर लगाया गया। महाभारत के अनुशासनपर्व में लिखा है—"ब्राह्मण का लड़का चाहे किसी वर्ण की माता से हो, ब्राह्मण होता है।" वर्ण केवल चार हैं, पाँचवाँ नहीं है। परन्तु जब किसी आर्यवर्ण का विवाह अनार्य स्त्री से हो जाता था तब संतान का रङ्ग आर्यों-जैसा न रहता था। इस कारण मनु-स्मृति में बीज और क्षेत्र (या स्त्री) पर विवाद शुरू हो गया। यद्यपि मनु ने बीज के पक्ष में ही फ़ैसला दिया है, तो भी शूद्र स्त्री से ब्राह्मण का लड़का मुर्दे से भी खराब बताया गया। कई वैश्य शूद्र स्त्रियों से विवाह कर लिया करते थे, इसलिए उनके विरुद्ध भी घृणा-सी उत्पन्न होने लगी। वैश्य स्त्री से ब्राह्मण का लड़का ऐसा अच्छा न माना जाता था जैसा ब्राह्मण या क्षत्रिय स्त्री से। ऐसी संतान को निचला पद दिया गया।

महाभारत में ऐसी संतान के अधिकारों पर विचार किया गया है। वहाँ यह फ़ैसला दिया गया है कि ब्राह्मण की संपत्ति के दस भाग किये जायँ। इनमें से चार ब्राह्मण स्त्री की संतान को, तीन क्षत्रिय स्त्री की संतान को, दो वैश्य स्त्री की संतान को और एक शूद्र स्त्री की संतान को दिया जाय। युधिष्ठिर के समय वर्णों की खिचड़ी-सी हो गई थी। जब युधिष्ठिर से जन्म तथा कर्म

के विषय में प्रश्न किया गया तो उनका अंतिम उत्तर यह था—"यदि गुण न हों तो जात व्यर्थ, है क्योंकि रक्त में मिश्रण बहुत ज्यादा हो गया है।"

जात-पाँत का विचार जोर पकड़ रहा था—यह बात एक अन्य कथा से भी मालूम होती है जिसमें इंद्र कहता है—"चांडाल एक हजार जन्म के बाद शूद्र बनता है, शूद्र उससे तीस गुना समय में वैश्य, और वैश्य साठ गुना समय में क्षत्रिय।" गौतम ने एक स्थान में कहा है—"वह सवर्ण स्त्री जो क्षत्रिय माता और ब्राह्मण पिता से हो, यदि किसी ब्राह्मण से विवाह करले और उसकी लड़कियाँ सात नस्लों तक ब्राह्मणों से विवाह करती रहें, तो उनकी संतान ब्राह्मण बन जाती है। कुछ आचार्यों का मत है कि यह परिवर्तन पाँचवीं नस्ल में होजाता है।" इससे प्रकट होता है कि वर्ण-शुद्धि के संबंध में कितना खयाल रखा जाता है।

धीरे-धीरे यह विचार प्रबल होता गया कि ब्राह्मण माता और ब्राह्मण पिता से ही ब्राह्मण बच्चा पैदा होता है। परिणाम-स्वरूप ब्राह्मण एक अलग जात बन गई। इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य आदि भी जातें हो गईं। बाद में गौतम बुद्ध के सामने जब यह प्रश्न आया तो उन्होंने उत्तर दिया—"माता की बाबत विचार करने की जरूरत नहीं; पिता ही सब कुछ है। जैसा पिता होता है, वैसी ही संतति होती है।" परन्तु बौद्धों के समय ब्राह्मणों से क्षत्रिय स्त्री के साथ विवाह करने का अधिकार ले लिया गया। बौद्धमत ने जात-पाँत और यज्ञों के विरुद्ध बड़ा आंदोलन किया। परन्तु जब उसका पतन हुआ तो हिन्दुओं का पुराना झुकाव फिर तेजी से काम करने लगा। कुछ ही समय के पश्चात् जात-पाँत की पाबन्दियाँ बहुत सख्त हो गईं और क़बीलों,

पेशों, संप्रदायों, रीतियों तथा स्थानों के कारण जातों के अगणित टुकड़े हो गये।

स्त्री की स्थिति—प्रारंभ में विवाह पर कोई प्रतिबंध न था। जब राजा पांडु ने कुन्ती से नियोग करने को कहा, तो उसे बताया—"पहले स्त्रियाँ सर्वथा स्वतंत्र थीं। परन्तु बुड्ढे पुरुषों तथा स्त्रियों की कोई परवा न करता था, इसलिए विवाह का रिवाज डाला गया।" महाभारत-काल में एक पुरुष एक से अधिक स्त्रियों के साथ भी विवाह कर लेता था। इस बात को यूनानियों ने पसंद नहीं किया। उन्होंने लिखा है—"हिंदू अनेक स्त्रियों से विवाह कर लेते हैं। उनमें से कुछ को वे दासियाँ बना लेते हैं, कुछ मनोरंजन और कुछ संतान के लिए रख छोड़ते हैं। इसका स्वाभाविक फल यह निकलता है कि यदि उन स्त्रियों को शुद्ध वातावरण में न रखा जाय तो वे दुश्चरित्र हो जाती हैं।"

यूनानियों का ज्ञान पंजाब तक सीमित था (क्योंकि सिकंदर को व्यास से आगे नहीं जाने दिया गया था)। पंजाब में स्त्रियों को बहुत ज्यादा स्वतंत्रता प्राप्त थी। साधारण नियम के अनुसार विदेशियों ने इस स्वतंत्रता का अर्थ ग़लत समझा। जब सिकंदर पंजाब आया तब कैकेय जनपद का स्थान केथोई और सोफ़ाइट कबीलों ने ले लिया था। केथोई कबीले की स्त्रियाँ पतियों को चुनती थीं और सोफ़ाइट लोगों में लड़की को सुन्दरता के लिए पसंद किया जाता था। माद्री मद्रों में से थी और कैकेयी का संबंध कैकेय जनपद से था। बहुत से उपहार देकर इनको विवाह में लिया गया था।

इस काल में नियोग का रिवाज था। विधवा का विवाह बुरा समझा जाता था। जब अर्जुन जयद्रथ के वध की क़सम खाता

है तब कहता है—"यदि मैं सायं तक इसे क़त्ल न करूँ तो मैं वहाँ जाऊँ जहाँ विधवाओं से विवाह करनेवाले जाते हैं।" रामायण तथा महाभारत काल में छुटपन का विवाह नहीं होता था। सुभद्रा और उत्तरा विवाह के समय यौवन-संपन्न थीं। उत्तरा का पति अभिमन्यु विवाह के कुछ ही साल बाद मारा गया। तब उत्तरा गर्भवती थी। लड़कियों को धर्म और क़ानून के निर्देश के अनुसार शुद्ध आचार रखा जाता था। बन में रहते हुए द्रौपदी ने जो आदर्श सत्यभामा के सामने रखा, वही अब तक हिंदू नारी के सामने चला आता है।

इस युग में प्रचलित विवाह की विभिन्न रीतियों से प्रकट होता है कि लड़की का विवाह क्रय से लेकर दान तक जा पहुँचा था। तब भी पंजाब के कुछ जनपदों में लड़की बेचने का रिवाज था। स्मृतियों के अनुसार ऐसा विवाह नैतिक दृष्टि से बहुत गिरा हुआ था। यूनानी लेखक एरियन लिखता है—"तक्षशिला में बड़ी-बड़ी लड़कियाँ बेची जाती थीं। जो सबसे अधिक धन देता, लड़की ले जाता।"

ब्राह्मणों में तब कन्या-दान की प्रथा थी। क्षत्रिय स्वयंवर रचाते थे। स्वयंवर दो प्रकार का हुआ करता था। लड़की या तो स्वयं ही वर का चुनाव करती या विवाह के लिए कोई शर्त रख देती। दुश्यन्त और शकुन्तला का विवाह पहले प्रकार का था। दूसरे का रिवाज आम था। तीरंदाजी में प्रतियोगिता एक बड़ी शर्त थी। द्रौपदी और सीता के विवाह इसी प्रकार हुए। गंधर्व-विवाह में लड़का लड़की को भगा ले जाता था। यदि रिश्तेदार उसे छुड़ा न लेते, तो लड़की भगानेवाले की समझी जाती। सुभद्रा की शादी इसी प्रकार हुई थी।

सती की प्रथा इस काल के प्रारंभ में थी। माद्री अपने पति

पांडु के साथ चिता पर चढ़ी। यूनानियों ने भी लिखा है कि "केथोई क़बीले की स्त्री पति की मृत्यु पर अपने आपको पति के साथ जला देती थी।" एक यूनानी लेखक लिखता है—"गेबियन की लड़ाई में, जो एंटिगोनस और योमेनीज़ के बीच में हुई, एक हिंदू सेनापति केटियस मारा गया। उसकी दोनों स्त्रियाँ चाहती थीं कि उन्हें पति के साथ जलाकर उनका मान किया जाय। चूँकि बड़ी गर्भवती थी और क़ानून उसे इजाज़त न देता था, इसलिए छोटी ही चिता पर चढ़ी।"

धर्म और साहित्य—इस काल में आम बातचीत संस्कृत में हुआ करती थी। परंतु इसके अंतिम भाग में विभिन्न प्रदेशों में प्राकृत भाषाएँ बोली जाने लगी थीं। द्राविड़ आदि तथा शूद्र संस्कृत को ठीक-ठीक न बोल सकते थे। इसके अतिरिक्त जब नस्लों का सम्मिश्रण अधिक होने लगा तब संस्कृत भाषा अशुद्ध बोली जाने लगी। आर्य लोग इस विकृत भाषा से घृणा करते थे। धीरे-धीरे भिन्न-भिन्न प्रदेशों में प्राकृत-भाषाएँ बन गईं। दूत ने पांडवों को म्लेच्छ भाषा में ही यह बताया था कि उन्हें लाख के मकान में ठहरना न चाहिए।

उस समय सारा साहित्य संस्कृत में था। गौतम बुद्ध ने अपना प्रचार प्राकृत में आरंभ किया। शिक्षा का रिवाज आम था। जगह-जगह आश्रम, परिषद् और विद्यापीठ बने हुए थे। हरएक द्विज बालक के लिए ब्रह्मचारी रहना तथा गुरु के घर में रहकर विद्याध्ययन करना आवश्यक था। आश्रम और परिषद् उस युग के स्कूल तथा कालेज थे जिनमें व्याकरण से लेकर धनुर्विद्या तक सभी विद्याएँ सिखाई जाती थीं।

धार्मिक क्रियाएँ वैदिक काल जैसी ही थीं। यज्ञ किये जाते

थे। वेद का पढ़ना हरएक आर्य का कर्त्तव्य था। ब्राह्मण और क्षत्रिय संध्या तथा अग्निहोत्र किया करते थे। श्रीराम, लक्ष्मण और सीता वन में भी बराबर हवन करते रहे। युधिष्ठिर के कर्त्तव्यों में अग्निहोत्र का उल्लेख भी है। श्रीरामचन्द्र और युधिष्ठिर धनुर्विद्या के साथ-साथ वेद भी पढ़ा करते थे।

मूर्त्ति का पूजन प्रचलित नहीं हुआ था, न ही इसका कहीं उल्लेख पाया जाता है। हाँ, देवताओं की पूजा या प्रकृति की पूजा का विचार अवश्य विद्यमान था। यों तो तेंतीस देवता माने जाते थे, परन्तु इनमें से विष्णु तथा शिव की पूजा बहुत जोर पकड़ गई। जिस प्रकार इस काल के प्रारम्भ में इन्द्र और सूर्य की उपासना के मामले में आर्यों के दो दल हो गये थे, उसी प्रकार अब शिव और विष्णु का मुक़ाबला करते हुए आर्यों में दो बड़े संप्रदाय, शैव और वैष्णव जोर पकड़ने लगे। पहले विष्णु को ऊँचा बताया गया। उसके हजारों नाम प्रचलित हुए। शंख, चक्र, गदा और पद्म उसके चिह्न थे।

तत्पश्चात् धीरे-धीरे शिव को बड़ा बताया गया। आर्यों का शिव गोरे रङ्ग का तपस्वी था। उसका शरीर नंगा और सिर के बाल खुले रहते थे। शिवलिंग की पूजा अनार्यों की रीति की नक़ल थी। विष्णु तथा शिव के पुजारियों के बीच बहुत समय तक मुक़ाबला जारी रहा।

शिव की पूजा के बाद धीरे-धीरे उसकी शक्ति, दुर्गा की पूजा का प्रचार भी होने लगा। पंजाब तथा बंगाल में दुर्गा के पूजन का रिवाज बहुत बढ़ गया। विष्णु तथा शिव के पुजारियों में हिंसा-अहिंसा के विषय पर परस्पर मतभेद पैदा हो गया और इस मामले पर लम्बी बहस की गई कि यज्ञ के समय पशु-वध होना चाहिए या नहीं। क्षत्रिय लोग अश्वमेध आदि यज्ञों में

पशु का मारना आवश्यक समझते थे। दूसरे लोग चाहते थे कि यज्ञ पशु-वध के बगैर ही कर दिये जायँ। अगस्त्य बारह वर्ष तक वैसे ही यज्ञ करता रहा जिसके कारण ऋषि लोग नाराज़ हो गये और उन्होंने उससे कहा—"यज्ञ के लिए पशु मारना पाप नहीं है।" तब वह इस पर राज़ी हो गया।

पहले पशु मारने के विरुद्ध विचार उत्पन्न हुआ। बाद उसके विपरीत खयाल पैदा होगया। अंत में निर्णय यह हुआ कि यज्ञ के लिए की गई हिंसा हिंसा नहीं होती। परन्तु महाभारत काल के अंतिम भाग में संभवतः बौद्ध तथा जैन मतों के प्रभाव से अहिंसा का बहुत प्रचार हो गया और अहिंसा को ही परम धर्म बताया गया।

इस युग में तत्त्व-दर्शन की उन्नति विशेष प्रकार से हुई। महाभारत के हर भाग में दार्शनिक विचार पाये जाते हैं। तब दर्शन के बहुत से मत उत्पन्न हुए। इनमें से कुछ आस्तिक थे, कुछ नास्तिक। छः दर्शन—सांख्य, न्याय, योग, वेदान्त, वैशिषक और मीमांसा—बहुत प्रसिद्ध हैं। पाँच तत्त्व और पाँच इन्द्रियाँ इस देश के दार्शनिक आरम्भ से ही मानते चले आये हैं। यूनानी दार्शनिक पाँच के स्थान में चार तत्त्व मानते थे। हिन्दुओं ने आकाश को पाँचवाँ माना है। इसके पश्चात् सारे ब्रह्माण्ड को वे महातत्त्व में ले जाते। इसके आगे परब्रह्म आ जाता।

नास्तिकों तथा आस्तिकों के बीच मतभेद इस बात से शुरू होता है—क्या इन पाँच तत्त्वों और पाँच गुणों की समस्या जीव, चित्त, बुद्धि और अहंकार से हल हो जाती है या किसी पाँचवीं शक्ति, आत्मा की आवश्यकता है? नास्तिक कहते—जैसे गाय के अन्दर घास से घी उत्पन्न हो जाता है या कुछ तत्त्वों के मिलने से पुष्प में सुगंधि पैदा हो जाती है, ऐसे ही

विभिन्न तत्त्वों के मिलने से ये सब गुण उत्पन्न हो जाते हैं। आस्तिक कहते,जड़ से चेतन नहीं उत्पन्न हो सकता। गौतम और कणाद परमाणुओं का सिद्धान्त चलानेवाले थे। वे मानते थे कि संसार में अनेक जीवात्मा हैं जिनका रूप अणु है और जो एक शरीर से दूसरे में जाते हैं। यूनान के कई दार्शनिकों का भी यही मत था।

बौद्ध लोग आत्मा को विद्या, बुद्धि,कर्म आदि का संग्रह मानते थे। उनके मत के अनुसार यही संग्रह सोचता, अनुभव करता और स्थान बदलता है। इसी प्रकार उनके सामने ईश्वर का प्रश्न भी एक बड़ी समस्या थी। यदि प्रकृति और आत्मा को अनादि माना जाय, तो ईश्वर की स्थिति एक राजगीर-सी बन जाती है। कपिल पहला आदमी था जिसने विकास (एवोल्यूशन) के सिद्धांत की शिक्षा दी। वेदांत इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि ईश्वर अपने आप जगत बनाता है; जगत उसमें रहता है और उसी में लीन हो जाता है। परन्तु प्रश्न होता है—एक से अनेक क्यों कर हुए ? वेदांत इसका उत्तर इतना ही देता है—यह केवल लीला है, खेल-तमाशा है। सांख्य कहता है—प्रकृति के अंदर तीन गुण—सत, रज और तम हैं। जब तक इनमें बराबरी रहती है, कुछ नहीं होता। जब हलचल होने पर कोई गुण ज्यादा हो जाता है तब सृष्टि शुरू हो जाती है।

अंत में प्रश्न होता है—यह हलचल क्यों हुई ? एक अन्य प्रश्न यह है—इन्द्रियों के द्वारा किस पर किस प्रकार प्रभाव होता है ? यदि आत्मा निर्लिप्त है तो वह इंद्रियों के जाल में क्यों आ फँसती है ? इसका उत्तर योग ने दिया है—जैसे लहरों के कारण पानी में प्रतिबिंब गँदला हो जाता है, वैसे ही इन्द्रियों की

वृत्तियाँ आत्मा को छिपा लेती हैं। इच्छा की रस्सी काट देने से मन ऊँचा उठने लगता है।

भगवद्गीता—इन सभी दर्शनों में भगवद्गीता की शिक्षा चोटी के समान है। श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता का उपदेश देते हुए सभी मार्गों को मिलाकर एक मार्ग बना दिया है। इस विचार को भगवद्गीता के एक श्लोक में यों प्रकट किया गया है—"जो जिस रास्ते से मेरी ओर आना चाहता है, उसको मैं उसी रास्ते से स्वीकार करता हूँ। ये सब रास्ते अंत में मेरे पास ही आ पहुँचते हैं।"

विचारों के मतभेद के लिए पूर्ण सहिष्णुता भगवद्गीता में ही पाई जाती है। साधारणतया मजहबी किताबों का नियम यह है: उनमें से हरएक पहले सत्य को सबसे ऊँचा स्थान देती है। परन्तु इसके साथ ही वह यह बताती है कि जो कुछ इस पुस्तक में लिखा है, वही सत्य है और जो इसके विरुद्ध है, वह सब झूठ है। इन मजहबी किताबों की शिक्षा प्राप्त करके इन पर चलनेवालों में स्वाभाविकतया संकीर्णता तथा मतांधता उत्पन्न हो जाती है। कारण स्पष्ट है। वे दूसरों को ग़लती पर समझते हैं। उनकी समझ में यह बात नहीं आती कि सत्य का स्वरूप विभिन्न युगों में और एक ही समय में विभिन्न मनुष्यों के अंदर उनकी बौद्धिक अवस्था के अनुसार बदलता रहता है। हरएक मजहब सब लोगों को एक ही लाठी से हाँकना चाहता है। भगवद्गीता मनुष्य के बुद्धि-भेद को जानकर भिन्न-भिन्न लोगों के भिन्न-भिन्न मार्ग ठीक समझती है। दूसरों को ग़लत बताने से विचार-स्वातंत्र्य या उसके लिए सहिष्णुता कभी स्थिर नहीं की जा सकती। सच्ची स्वतंत्रता तथा सहिष्णुता के लिए लोग भगवद्गीता की शरण में जाते हैं।

भगवद्गीता में एक और विशेषता है। उसमें दर्शन, ज्ञान तथा धर्म का तत्त्व निकालकर एक जगह रख दिया गया है। मानव-जीवन का उद्देश उसमें यह बताया गया है—परिणाम का विचार छोड़कर कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। कर्त्तव्य की पहचान के लिए सच्चे ज्ञान की शिक्षा दी गई है और सच्चा ज्ञान तत्त्व-दर्शन पर निर्भर है।

पश्चिमी दार्शनिक मनुष्य के सामूहिक सुख की उन्नति को संसार में सबसे बड़ी नेकी समझते हैं। भारत के हिंदू दर्शनकार अपने-अपने दर्शन को इस बात से शुरू करते हैं—"इस संसार में सर्वत्र दुःख है। सवाल यह है कि इसे दूर कैसे किया जाय।" सभी ने इस दुःख को दूर करने के विभिन्न साधन तथा उपाय बताये हैं। भगवद्गीता इन सबमें एक पग आगे बढ़कर यह शिक्षा देती है—वास्तव में सुख और दुःख, जीवन और मरण, गरमी और सरदी एक ही वस्तु की विभिन्न अवस्थाओं के नाम हैं। सच्चा ज्ञानी वह है जो सुख और दुःख को एक जैसा समझते हुए अपने कर्त्तव्य को पूरा करता चला जाता है।

उद्योग-धन्धे—खेती इस काल में आजकल के दर्जे तक पहुँच चुकी थी। आबपाशी या सिंचाई का प्रबन्ध भी था। हर प्रकार का अन्न पैदा होता था। रुई, गन्ना, नील आदि की फ़सल अच्छी होती थी। विभिन्न फूल खास ढंग से पैदा किये जाते थे। पशु-पालन की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। महाभारत में सहदेव के एक भाषण से मालूम होता है कि पशुओं को कोई बीमारी नहीं होती। जानवरों के रोग निवारण का प्रबन्ध था। हाथी और घोड़े सिधाये जाते थे। (इन विषयों पर संस्कृत में अनेक पुस्तकें पाई जाती हैं।)

उपनिषदों में रुई का जिक्र है। कर्पास (कपास) शब्द पहली बार मनु स्मृति में आया है। महाभारत में इसका उल्लेख कई बार आया है। चर्खा और खड्डी इस देश में हज़ारों बरसों से चलते हैं। यूनानी इनको देखकर चकित हो गये। औद्योगिक संसार में क्रान्ति करनेवाले हारग्रीव और कार्टराईट ने भारतीय चर्खे और खड्डी की नक़ल की थी। पट्ट और तन्तु भारत में प्राचीन काल से चले आ रहे थे। यहाँ से बहुत ही नफ़ीस कपड़ा ईरान तथा योरप के देशों को जाता था। यहाँ के धनवान और राजकुमार रुई के कपड़े पहनते थे। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उत्तर भारत के राजाओं की ओर से रेशमी तथा ऊनी कपड़े भेंट किये गये। काश्मीर तब भी शालों के लिए विख्यात था। राजा कंबोज जरी का खास कपड़ा लाया जो भेड़ और बिल्ली के ऊन से बनाया गया था। इससे प्रकट होता है कि सोने से जरी करने की कला भी उस समय लोग जानते थे।

रँगने की कला प्रचलित थी। रंग प्रायः वनस्पतियों से बनाये जाते थे। नक्काशी की कला भी पाई जाती थी। धातुओं का ज्ञान आर्यों को प्राचीन काल से था। छांदोग्य उपनिषद् में उदाहरण दिया गया है—"जैसे सोना नमक से मिलाया जाता है, चाँदी सोने से, जस्ता चाँदी से, सीसा जस्ते से, लोहा सीसे से, लकड़ी लोहे से और चमड़ा लकड़ी से........।" उत्तरी और पूर्वी राजा युधिष्ठिर के लिए सुन्दर तलवारें, पीठ, हाथी-दाँत की बनी हुई वस्तुएँ, अच्छे रथ और विभिन्न प्रकार के तीर लाये थे। तब सोना, जवाहर और मोती भारत से बाहर जाते थे।

मकान प्रायः पत्थर के होते थे। महाभारत में उत्सववाले मकान का उल्लेख है, जिसकी दीवारें मिट्टी की थीं। वैश्य खेती तथा व्यापार करते थे। धीरे-धीरे केवल व्यापार ही उनका काम

हो गया। क्रय-विक्रय और बारबरदारी के लिए चारण और पणि लोग थे, जो माल को बैलों पर ले जाया करते थे। सूद पर रुपया लेने का रिवाज बहुत पुराना है। मनुस्मृति में कहा गया है—जब रुपया व्यापार के लिए समुद्र पार ले जाया जाये, तब सूद अधिक होना चाहिए। इससे भी सिद्ध होता है कि विदेशों से व्यापार हुआ करता था।

रूप-रंग तथा वेश—यूनानी सिकंदर के इतिहास-लेखकों ने यह स्वीकार किया है कि एशिया की सभी जातियों में से हिंदू क़द में अच्छे और बल की दृष्टि से मज़बूत थे। मेगस्थनीज़ लिखता है—"लोगों के पास अन्न बहुत है। इसी कारण उनका क़द असाधारण है। ये वीरों जैसे चेहरे के लिए मशहूर हैं। ये शरीर को तैयार करते और वीर बनना चाहते हैं। इसके लिए हर प्रकार से प्रयत्न करते हैं। ये अपनी नस्ल की उन्नति चाहते हैं। इनमें विचित्र प्रकार के व्यापार प्रचलित हैं।"

श्रीकृष्ण और बलराम व्यायाम करनेवाले थे। मथुरा का राजा कंस दो बड़े पहलवान रखता था। इनको मारना श्रीकृष्ण के लिए आवश्यक था, क्योंकि वे कंस पर हमला करना चाहते थे। जरासन्ध के पास भी दो पहलवान थे। विराट के दरबार में कई एक पहलवान थे, जिनमें कीचक सबसे बड़ा था। इसे भीम ने मार डाला। स्वयं दुर्योधन बड़ा पहलवान था। वह गदा से लड़ा करता था। हाथी के साथ लड़ना बड़ी भारी कला समझी जाती थी। गेंद के साथ खेलना उस समय बच्चों में बहुत प्रचलित था। कौरव राजकुमार परस्पर खेल रहे थे जब उनका गेंद कुएँ में जा गिरा और द्रोणाचार्य ने उसे निकालने का तरीक़ा बताया।

झेलम के राजा पुरु को देखकर सिकंदर हैरान रह गया। वह बहुत बलवान और क़द में लंबा था। उसके साहसपूर्ण

उत्तरों से सिकंदर इतना प्रसन्न हुआ कि उसके साथ बहुत अच्छा व्यवहार किया। यूनानियों ने यह भी देखा कि पंजाब का एक क़बीला सोफ़ाइट (संभवत: रामायण का अश्वपति) सौंदर्य का उपासक है। स्पार्टा के लोगों के समान ये रूप-रहित तथा बलहीन बच्चों को मार देते थे। लोगों का रङ्ग प्राय: सफ़ेद था। परन्तु काले या नीले रङ्ग की इज्जत होने लगी थी। श्रीकृष्ण, अर्जुन, व्यास और द्रौपदी का रङ्ग श्याम बताया गया है। युधिष्ठिर तथा भीम का चेहरा सोने की तरह चमकता था। नकुल और सहदेव सौंदर्य में अद्वितीय थे।

यूनानियों ने यह भी लिखा है कि हिन्दू बड़ी आयु तक जीवित रहते हैं। एक जनपद सरणी के विषय में कहा गया है कि इसके लोग प्राय: १४० वर्ष तक जिन्दा रहते थे। सौ वर्ष से अधिक जीवित रहना साधारण बात थी। श्रीष्कृण एक सौ बीस वर्ष तक जीवित रहे।

पुरुषों का वेश बहुत सादा था। वे प्राय: दो लम्बे कपड़ों का प्रयोग करते थे। एक कमर के गिर्द लपेट लिया जाता, दूसरे से धड़ को ढाँपा जाता। दायाँ हाथ उसमें से निकाल लिया जाता ताकि वह खुला रहकर गति कर सके। कुछ विदेशी लेखकों का कहना है (जो ठीक नहीं) कि महाभारत-युग में लोग सिले हुए कपड़े नहीं पहनते थे और दर्जी का काम यूनानियों के समय पंजाब में प्रचलित हुआ। स्त्रियों में निचला कपड़ा ऐसे बाँधा जाता था कि बाहें नंगी रहें (जैसा कि आजकल गुजरात तथा महाराष्ट्र में रिवाज है)। जब नंगी करने के लिए द्रौपदी सभा में लाई गई तब वह बार-बार कहती रही—'मैंने एक ही वस्त्र पहन रखा है।' वह कपड़ा आसानी से खींचा जा सकता था।

स्त्रियाँ अपना सिर प्रायः नंगा रखतीं। बालों के बीच मांग रहती। विधवाएँ मांग न रखतीं। पुरुष पगड़ी बाँधा करते। भीष्म तथा द्रोण जब रण-भूमि में आये तब दोनों ने पगड़ियाँ बाँध रक्खी थीं। एरियन लिखता है—"हिन्दू रुई का एक कपड़ा पहनते हैं, जो उनके घुटनों या पैरों तक चला जाता है। इससे ऊपर का कपड़ा वे कुछ कन्धों पर और कुछ सिर के गिर्द लपेट लेते हैं।"

हिन्दुओं के कपड़े रुई से बनते थे। रुई भारत से बाहर न होती थी। इसी कारण यूनानियों ने लिखा है—'हिन्दुओं का वेश उस ऊन से बनता है, जो दरख़्तों पर होती है।' धनवान, विशेषकर स्त्रियाँ, रेशमी कपड़े पहनती थीं। पंजाब, काश्मीर तथा गांधार में ऊनी कपड़ा भी इस्तेमाल होता था। हेरॉडोटस लिखता है—'भारत के लोग नदी के ऊपर पैदा हुए एक घास से भी कपड़ा बनाते थे।' एरियन ने लिखा है—'हिन्दू सफ़ेद चमड़े के जूते पहनते हैं जिनके तले बहुत मोटे होते हैं।' निर्धन और धनवान के वेश में अन्तर कपड़े की बनावट के कारण होता था। निर्धन मोटा कपड़ा पहनते, धनवान बारीक। स्त्री-पुरुषों को सोने-चाँदी के कुण्डल आदि पहनने का शौक़ था। स्त्रियों में नाक में सूराख़ करने का रिवाज बिलकुल नहीं था। (यह गंदा रिवाज उन्होंने बाद में मुसलमान आक्रमणकारियों से ले लिया जो अपनी ही स्त्रियों को ऊँटों की तरह नकेल डालकर अपने वश में रखना चाहते थे।) यूनानियों ने इस बात का उल्लेख किया है कि हिन्दुस्तान के लोग यद्यपि अन्य सभी बातों में सादा हैं, परन्तु उन्हें आभूषणों का बहुत शौक़ है। बैठने के लिए पीठ या पीढ़े का प्रयोग किया जाता था। राजा को ऐसे उच्च आसन पर बिठलाया जाता था जिस पर गद्दियाँ आदि लगी होती थीं।

भोजन आदि—मैक्समिलर ने एक स्थान पर लिखा है—"नैतिक दृष्टि से मांस आदि छोड़कर निरामिष भोजी बन जाना कितना उत्तम है। परन्तु कौन नहीं जानता कि हिन्दुओं ने ऐसा करके अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता का बलिदान कर दिया।" योरपीय विद्वानों का मत है कि मांस आर्यों के भोजन का बड़ा अंग था। इसे वे बल-वर्द्धक समझते थे। युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ में इतने पशु-पक्षियों की बलि दी गई कि उनकी कोई गिनती नहीं। जो पशु यज्ञ के लिए मारे जाते थे, उनका मांस खाया जाता था।

इस युग के अंत में आमिष-भोजन के विरुद्ध विचार बढ़ने लगा। मनु-स्मृति में कहा गया है—"मांस खाना और मद्यपान साधारण बातें हैं, क्योंकि ऐसा करना मनुष्य के स्वभाव में पाया जाता है; परन्तु इनसे परहेज करना बहुत अच्छी बात है।" महाभारत में भी दोनों विचार पाये जाते हैं। एक स्थान में बताया गया है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय को कौन-कौन-से पशु-पक्षियों का मांस खाना चाहिए। अन्यत्र भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा—"जो मनुष्य बुद्धि, जीवन तथा सौन्दर्य चाहता है, वह मांस न खाये।" यज्ञ-अवशिष्ट के अतिरिक्त शिकार का मांस खाना पाप न समझा जाता था।

मद्यपान का रिवाज भी इस युग में पाया जाता था। यादव और वृष्णि बड़े शराब पीनेवाले लोग थे। पंजाब के आर्यों ने खाने-पीने की आदत न छोड़ी, इस कारण उनका मान कम होने लगा। महाभारत के शल्य पर्व में लिखा है—"एक समय बारह वर्ष तक दुर्भिक्ष रहा। ब्राह्मण लोग इधर-उधर चले गये। कुछ ब्राह्मण सरस्वती के तट पर रह गये। वे मछलियाँ खाते और वेद याद रखते। दुर्भिक्ष के पश्चात् जब अन्य ब्राह्मण लौट

आये, तब उन्होंने इन सारस्वत ब्राह्मणों से वेद पढ़े।" चावल साधारणतया खाये ही जाते थे। राजसूय यज्ञ से लौटने पर दुर्योधन से धृतराष्ट्र ने प्रश्न किया—"तुम मांस के साथ चावल तो खाते हो, फिर कमजोर क्यों हो रहे हो?" यज्ञ के अवसर पर सार्वजनिक भोज हुआ करते थे। एक यूनानी ने लिखा है—'हिंदुओं के भोजन का कोई समय निश्चित नहीं।'

महाभारत के द्रोण पर्व में युधिष्ठिर का जो दैनिक कार्यक्रम दिया गया है, उससे तात्कालिक जीवन मालूम हो जाता है—"युधिष्ठिर प्रातः उठते थे। प्रातर्विधि से निवृत होकर स्नान करते। स्नानागार में एक सौ आठ नौकर उन्हें सुगंधित तेलों तथा पानी से नहलाते। तब एक नौकर सिर पर पगड़ी पहनाता। फिर ताजा धुले कपड़े पहन और माला डाल कुछ देर तक ध्यान में मग्न रहते। वहाँ से उठकर वे यज्ञकुण्ड में समिधा जलाते। दूसरे कमरे में जाकर वे फल, स्वर्ण-मुद्राएँ आदि दान करते। वहाँ से आँगन में आकर सुनहले सिंहासन पर बैठते। दास मोतियों से जड़े आभूषण ले आते। इनसे वे अपने आपको सजाते। उनके सिर पर सुनहला चँवर होता। यहाँ बैठकर वे रागियों से संगीत सुन रहे थे, जब कुण्डल पहने और तलवार लगाये एक नवयुवक उपस्थित हुआ। उसने दंडवत करके श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के आने का संदेश दिया।"

साधारणतया लोगों का चरित्र बहुत ऊँचा था। सत्य-प्रियता इतनी अधिक थी कि यूनानी इसे देखकर दंग रह गये। महाभारत में जो भाषण मिलते हैं, उनमें स्पष्ट-कथन की चरम सीमा दिखाई देती है। झूठ या खुशामद का कहीं नाम तक नहीं दिखाई देता। सभा पर्व में शिशुपाल की कथा और योग पर्व में श्रीकृष्ण का भाषण इसके उदाहरण हैं। परन्तु इसके साथ ही

यह बात भी प्रचलित थी : यदि कोई क्षत्रिय मद्य-पान या जुआ खेलने का निमंत्रण देता, तो वह उससे इनकार न कर सकता था। क्रोध के समय हाथों की तालियों को दबाना तथा दाँत पीसना और खुशी के समय चेहरे को हिलाना एक हाथ को दूसरे हाथ की हथेली पर मारना साधारण बातें थीं।

महाभारत में भाग्य और पुरुषार्थ सम्बन्धी विवाद के अवसर पर भीष्म ने कहा—'लक्ष्मी उसके पास रहती है जो पुरुषार्थी होता है और जिसमें काम करने की शक्ति बहुत होती है, न कि उसके पास जो सुस्त होता है।'' इसके साथ ही सच्चरित्रता पर बहुत जोर दिया गया है—'चरित्र ही ब्राह्मण को ब्राह्मण बनाता है।' जीवन की तरह आर्यों का मरण भी मर्दों-जैसा होता। क्षत्रिय के लिए चारपाई पर मरना बड़ी मुसीबत होती। दुर्योधन ने एक जगह कहा है—'क्षत्रिय को वन में या युद्ध-क्षेत्र में प्राण देने चाहिएँ।' ब्राह्मण भी रोग से मरना पाप समझते थे। इस कारण वे जल-समाधि लेकर या चिता पर जलकर प्राण देते थे। जब कोई आदमी संसार से विरक्त हो जाता, तो वह जीवन-मरण की परवा न करके जंगल को चल देता। रणभूमि में मरे हुए आदमी को जलाया न जाता; वह पशु-पक्षियों का भोजन समझा जाता। यहाँ तक लिखा है कि उसके लिए न कभी रोना, न शोक करना और न उसकी कोई रस्म ही करनी चाहिए। यूनानी लिखते हैं—'मुर्दों का हिन्दू कोई स्मारक नहीं बनाते। वे उनके गुणों में तथा उन गीतों में जो उनकी याद से गाये जाते हैं, उनकी स्मृति समझते हैं।''

एरियन लिखता है—''जन साधारण सवारी के लिए ऊँट, गदहे और घोड़े रखते हैं। धनवान हाथी रखते हैं। राजा हाथी की सवारी करते हैं। हाथी के बाद दूसरा दर्जा रथ और चार

घोड़ोंवाली सवारी का है। ऊँट तीसरे दर्जे पर है। घोड़े की सवारी साधारण बात समझी जाती है।" पशुओं के गल्ले रखे जाते थे। जब नकुल गौओं का रखवाला बनकर विराट के पास गया तब उसने कहा—"मैं महाराज युधिष्ठिर के लाखों गल्लों का रक्षक था। उनके हर एक गल्ले में एक-एक हजार पशु थे। मैं पशुओं की संख्या बढ़ाना और इनमें रोग का रोकना जानता हूँ।"

तब स्त्रियों को गाना-बजाना सिखलाया जाता था। अर्जुन ने विराट से जाकर कहा—'मैं महिलाओं को गाना-बजाना सिखलाऊँगा।' रामायण तथा महाभारत में स्त्री पति का नाम लेकर एक वचन में बुलाती थी। परिवार में उसे अपने रिश्तेदारों तथा अन्य परिचित आदमियों से कोई लाज न होती थी। स्वतंत्रता-पूर्वक बातचीत की जाती थी। बाग-बगीचे बड़े शौक़ से लगाये जाते थे। स्त्रियाँ इनमें बड़े शौक़ से हवाखोरी और खेल के लिए जाया करती थीं। रामायण तथा महाभारत में पंजाब के लोग हाथ से पानी पीने के लिए प्रसिद्ध थे।

इस काल के अंत में लोगों का नैतिक पतन ज़ोरों से होने लगा। इसका एक चित्र महाभारत के शांति पर्व में दिया है—"जब बुद्धिमान लोग प्राचीनकाल के सच्चरित्र आदमियों की कथा सुनाने लगे, तब निकम्मे आदमी उन पर हँसने और उनसे ईर्षा करने लगे। नवयुवकों ने बड़ों का काम करना छोड़ दिया। स्वतंत्र मनुष्य दासों का काम करने लगे। वे ऐसे बेशरम होगये कि अपने दासत्व की प्रशंसा करते थे। जो आदमी पाप से रुपया कमाकर धनवान बन गये, वे लोगों के आदर्श बन गये। बेटे बाप के आज्ञाकारी न रहे। लोगों ने माता-पिता, आचार्य, वृद्ध और अतिथि का मान करना छोड़ दिया। लोगों ने दान दिये

और देवताओं का अंश निकाले बगैर भोजन करना शुरू कर दिया। उन्होंने ऐसे पशुओं का मांस खाना आरंभ कर दिया, जो यज्ञ के लिए नहीं मारे जाते थे। भोजन बनाने में सफ़ाई का विचार जाता रहा। लोगों ने सूर्य रहते सोना और सूर्य निकलने के बाद जागना आरम्भ कर दिया। पढ़ेलिखे और मूर्ख ब्राह्मणों में अंतर उड़ गया। वेदवेत्ता खेती करने लगे और मूर्ख श्राद्ध खाने लगे। लोगों ने मित्रों की सहायता करना छोड़ दिया। वे अपने-अपने स्वार्थ के पीछे पड़ गये। व्यापार में लोगों ने एक दूसरे को धोखा देना और लूटना शुरू कर दिया। सास-ससुर के रहते बहू नौकरों तथा पति पर शासन करने लगी। मनुष्य कृतघ्न, नास्तिक और पापी बन गये।"

पाँचवाँ प्रकरण

बौद्धकाल

महाभारत-काल के बाद के युग को हमने बौद्धकाल कहा है। इसका अर्थ यह न समझना चाहिए कि इसका आरंभ गौतम-बुद्ध से हुआ और इसका संबंध बौद्ध मत से है। इसके विपरीत इसका जो चित्र हमारे सामने अब आयगा, वह गौतमबुद्ध के जन्म से पूर्व इसी रूप में विद्यमान था और बौद्ध मत के अपकर्ष के पश्चात् भी वैसा ही रहा। यद्यपि गौतमबुद्ध ने अपने तप एवं त्याग-बल से एक क्रांति पैदा कर दी, तो भी हम जानते हैं कि जिस प्रकार गौतमबुद्ध ने अपने भिक्षुकों की मंडलियाँ बनाकर स्थान-स्थान पर अपनी विशेष शिक्षा देना आरंभ किया, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के अन्य आचार्य अपने-अपने शिष्यों की मंडलियाँ साथ लिये गाँव-गाँव और नगर-नगर में घूमा करते और अपने-अपने मत की शिक्षा देकर नये शिष्य बनाते।

इस युग की बड़ी घटना बौद्ध मत का जन्म तथा प्रसार है। परन्तु इसके साथ ही इस युग में बौद्ध मत के मुक़ाबले पर हिन्दू जीवन का पुनरुत्थान भी हुआ। बौद्ध राजाओं के साथ ही अन्य हिन्दू राजा भी हुए, जिन्होंने हिन्दू राष्ट्रीयता तथा सभ्यता में जीवन का संचार कर दिया। दोनों शक्तियों में कई सदियों तक संघर्ष होता रहा। इस युग के आरंभ में विदेशियों के आक्रमण हुए जिनमें सिकन्दर का आक्रमण बहुत प्रसिद्ध है। इसके दरमियान में हूणों या तातारियों के आक्रमण हुए। और, इसके अंत में उत्तर पश्चिम से इसलाम के हमलों की लहर शुरू हुई। ये आक्रमण भी इसी युग का हिस्सा हैं।

पंजाब पर बाह्य आक्रमण—बौद्धकाल के आरंभ में पहली बार हम यह देखते हैं कि कई विदेशी क़बीलों ने इस देश पर आक्रमण करके संसार में इसके पृथकत्व को दूर कर दिया। वैदिक-काल में हमने देखा है कि सप्तसिन्धव के आर्यों की एक शाखा, जिसको पणि कहा जाता था और जिसका विशेष कार्य समुद्र के रास्ते व्यापार करना था, आर्य सभ्यता को दक्षिण में और वहाँ से लेकर बेबिलोनिया और मिश्र में फैलाती रही। महाभारत में पता लगता है कि जब युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ करना चाहा, तब चारों भाई देश के सभी कोनों में युधिष्ठिर का घोड़ा घुमाते हुए विभिन्न राजाओं से उपहार प्राप्त करते रहे। अर्जुन आदि उस समय स्यात् भारत के आसपास के देशों में भी गये हों। कम से कम लंका से परे जावा, बाली आदि टापुओं में हिन्दू सभ्यता का प्रसार होने लगा था। जब चौथी शताब्दी में फ़ाहियान जावा गया, तो उसने देखा कि वहाँ हिन्दू धर्म तथा सभ्यता का प्राबल्य है।

तत्पश्चात् इस देश ने एक प्रकार का पृथकत्व ग्रहण कर लिया और चिर समय तक शेष संसार से इसका कोई संबंध न रहा। इस युग के आरंभ में विदेशी क़बीलों ने भारत को झंझोड़ा। ईसाई इतिहास-लेखक यूसियस लिखता है—"ईसा से १८०० वर्ष पूर्व मिश्र में एक राजा सिसोस्ट्रस हुआ जिसने सारा एशिया जीता। इसने पंजाब पर आक्रमण किया और गंगा तक होकर लौट आया। इसके पश्चात् पंजाब पर असीरिया की महारानी सेमीरामस के आक्रमण का उल्लेख पाया जाता है।" यह ईसा से ६०० वर्ष पूर्व नेनवा के सिंहासन पर बैठी। इसका पति नाइनस था, जिसने बेबिलोनिया को असीरिया में सम्मिलित करके नेनवा नगर बसाया।

इस आक्रमण के सम्बन्ध में हिंदू पक्ष यह है कि सिंधु के पास वीरसेन नामक राजा राज्य करता था। उसने मक्कोहस्थान (मक्का ?) की यात्रा की। तब कामेश्वर ने प्रसन्न होकर उसे स्थावर-पति (यूनानी सेटरबेटस) बना दिया। उसने जब सुना कि रानी रामस पंजाब पर आक्रमण करना चाहती है, तो उसने असीरिया पर आक्रमण करके रामस को परास्त किया। रानी ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली।

योरपीय लेखक इस विषय में यह कहते हैं—रानी ने पंजाब पर आक्रमण किया। सिंधु नदी तथा जगी हाथियों के रूप में उसने दो बड़ी कठिनाइयाँ अनुभव कीं। सिंधु को पार करने के लिए उसने फिनिशिया से जहाज बनानेवाले मँगवाकर नौकाएँ बनवाईं। बलख का सारा जंगल काटकर इनके लिए लकड़ी प्राप्त की गई। स्थावरपति ने सिंधु पार नावों तथा हाथियों से उसका प्रतिरोध किया। फिनिशिया के लोगों का नावों का प्रबंध बहुत उत्तम था। हिंदू राजा नदी में उनका विरोध सफलता-पूर्वक न कर सका। रानी पुल बनाकर पार हुई। उसने ऊँटों पर चमड़े डालकर बनावटी हाथी बनाये। जब हिंदुओं को यह मालूम हुआ तो उनका साहस बढ़ गया। उन्होंने बड़े वेग से हमला किया। उधर रानी वीरता से लड़ी। हिंदू राजा ने उसे भाले से दो चोटें लगाईं। हजारों सैनिक मारे गये। कई हजार डूब गये। स्वयं रानी भी वहाँ मारी गई।

कहा जाता है कि ईसा से ७५० वर्ष पूर्व बादशाह फरीदों के समय में ईरानियों ने कन्नौज पर हमला किया और ५२१ ई० पू० प्रथम दारा ने अपने एक सेना-नायक को जहाज देकर सिंधु नदी का दहाना मालूम करने के लिए भेजा। इसे मालूम करके वह ढाई वर्ष बाद सूसा पहुँचा।

तातार का पहला राजा ओगाज़ हुआ। कहा जाता है कि उसने खुरासान, इराक़, आजरबायजान, आर्मिनिया आदि जीतकर पंजाब की ओर मुँह किया। काबुल और ग़ज़नी जीतकर इसने काश्मीर पर आक्रमण किया। जगसा काश्मीर का हिंदू राजा था। उसने बड़ी वीरता से विदेशियों का विरोध किया, किन्तु वीरगति को प्राप्त हुआ।

तातारियों का निश्चित आक्रमण ६५० ई० पू० में हुआ। तातारी बर्बरों के समूहों ने सिंधु नदी के किनारे-किनारे पंजाब की भूमि पर अधिकार कर लिया। ईरान के बादशाह साईरसा-दीस ने इन तातारियों को अपने देश में पराजित किया और ये परास्त लोग भी पंजाब को आ गये।

संस्कृत में तातारियों को हूण कहा गया है। पुराने शिला-लेखों आदि में इन हूणों के साथ हिन्दुओं के मुक़ाबले का उल्लेख पाया जाता है। टालमी और प्लिनि इनको 'जेटी' कहते हैं। इस कारण ख़याल किया जाता है कि पंजाब के जाट इसी नस्ल से हैं। स्ट्रेबो के मतानुसार वर्त्तमान रावल पिण्डी के तका या तकशिया इसी नस्ल से थे। वे ६०० ई० पू० में वहाँ आबाद हुए।

गौतमबुद्ध का जन्म—हमने देखा है कि महाभारत-काल के अंत में हिन्दुओं में पतन आरंभ हो गया था। ब्राह्मणों ने अपने आपको एक ऊँची तथा अलग जाति बनाने के लिए संघर्ष शुरू कर दिया था। जो आदमी विद्या ग्रहण करके ब्राह्मण बनना चाहते, उन्हें जन्म के ब्राह्मण अपनी जाति में प्रविष्ट न होने देते थे। उन्होंने धर्म को ऐसी जटिल रीतियों में जकड़ दिया कि कभी-कभी यह संदेह होता था कि कर्मकांड का वास्तविक धर्म से कोई सम्बन्ध भी है या नहीं। यज्ञों में पशुओं की बलि यहाँ तक होने लगी थी कि लोग यज्ञों से घृणा करने लगे। तंत्र-ग्रन्थों का प्रचार

होने से जंतर-मंतर बहुत बढ़ गया और शुद्धता एवं सात्विकता जाती रही।

हिन्दू समाज की यह अवस्था थी जब कि नैपाल की तराई में स्थित कपिलवस्तु की राजधानी में राजा शुद्धोधन की रानी माया-देवी से ६२२ ई० पू० में गौतम सिद्धार्थ नाम का लड़का उत्पन्न हुआ। सोलह वर्ष की आयु में उसका विवाह राजपुत्री यशोधरा के साथ हुआ। बचपन ही से वह चिन्तामग्न रहता। एक कथा है कि वह अपने चाचा के साथ एक बार शिकार को गया। एक पंछी को तड़पता देखकर उसके हृदय पर आघात हुआ। उसे यही विचार रहने लगा कि संसार दुःख तथा पाप का घर है। जीवन के विषय में सोचते हुए कहता—यह जीवन एक चिनगारी के समान है, जो लकड़ी की रगड़ से पैदा होती है और पैदा होते ही बुझ जाती है।

छब्बीस वर्ष की आयु में उसने एक बार पहले बुड्ढे को देखा, फिर रोगी और अंत में मृतक को। इससे उसके मन में संसार से घृणा उत्पन्न होगई। उसने कहा—"धिक्कार है इस दुनिया को जो दुःखों का घर है! धिक्कार है इस जीवन को जो स्वप्नों का घर है।" तत्काल ही उसने त्याग का निश्चय कर लिया और जिस रात उसकी पत्नी ने लड़के राहुल को जन्म दिया, उसने बाहर से स्त्री तथा बच्चे को सोया देखकर और ज्यादा फँस जाने के भय से घर छोड़ दिया। इसे उसके जीवन में महात्याग कहा जाता है।

अब वह काशी जाकर सबसे पहले ब्राह्मणों से मिला। तत्पश्चात् छः बरस तक घोर तप किया और भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी हर प्रकार के कष्ट सहन किये। एक दिन बेहोश होकर ज़मीन पर गिर पड़ा। गाँव की कुछ बालाएँ पास से इस आशय का गीत

गाती हुई गुज़रीं—"वीणा का तार ढीला न करो, वरना वह बजेगी नहीं, और न इसे इतना कसो कि वह टूट जाय।" गौतम बुद्ध ने इसे अपने लिए समझकर और तप करना छोड़ दिया जिससे उसके पाँच साथी बेपरवाह होकर बनारस चले गये।

गौतम संसार में दुःख का कारण और उसे दूर करने का उपाय ढूँढ़ना चाहता था। उसे इस बात की चिन्ता लगी हुई थी कि संसार में मनुष्य को दुखों से मुक्ति कैसे मिल सकती है। छत्तीस वर्ष की आयु में उसे यह ज्ञान हुआ कि जीवन की शुद्धता तथा मानव-प्रेम ही दुःख-मोचन के साधन हैं। उसे अंदर से आवाज़ आई कि "तुम इस सत्य का संसार में प्रचार करो।"

उसने पीले कपड़े पहन लिये और सिर मुड़वाकर हाथ में एक कटोरा ले लिया। अपने आपको बुद्ध कहकर वे ४४ वर्ष तक स्थान स्थान में घूमकर प्रचार करते रहे। राजाओं तथा प्रजाओं को उन्होंने अपने रास्ते पर लाने का प्रयत्न किया। अयोध्या, गया तथा राजगृह उनके कार्य के केन्द्र थे। पहले पाँच मास के अंदर उनके साठ शिष्य होगये। उन्होंने एक को आज्ञा दी—"जाओ, सत्य का प्रचार करो।" उनकी शिक्षा यह थी—"जात-पाँत की परवा मत करो। कर्मकांड तथा यज्ञों के आश्रय को छोड़ दो। इनके स्थान में मन, वचन तथा कर्म की शुद्धता का प्रचार करो। लोग केवल विश्वास के कारण ही धर्मात्मा न बनें, प्रत्युत उनका जीवन धर्म का हो। जीवन का आदर्श निर्वाण (अर्थात् बार-बार जन्म लेने को रोकना तथा उसके लिए इच्छा को मार देना) है। जीवन का पूरा फल संसार का त्याग कर भिक्षु बन जाने से ही प्राप्त हो सकता है। संन्यासी को दो प्रकार की अति से बचना चाहिए। अतिशय विलास और विषय-भोग का मार्ग पतन की ओर ले जानेवाला, अनार्य तथा अनर्थकारी है। अतिशय तप और शरीर को व्यर्थ में कष्ट देने का मार्ग भी उतना ही अनर्थकर है।"

भिक्षुओं के समुदाय को संघ कहा जाता। जो ऐसा न कर सकता, उसके लिए बीच का रास्ता (मध्यमा प्रतिपदा) था जिसकी आठ बड़ी मंजिलें ये थीं—सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् आजीव, (सच्ची आजीविका) सम्यक् व्यायाम (पुरुषार्थ), सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि (ध्यान)। आत्मा तथा परमात्मा के विषय में बुद्ध ने कोई शिक्षा नहीं दी। उनकी राय में इनकी चर्चा व्यर्थ है, क्योंकि इनका प्रभाव जीवन पर नहीं पड़ता। गौतमबुद्ध सद्कार्यों पर जोर देते थे। जीवन की अंतिम रात को भी वे अपने शिष्यों को उपदेश देते रहे। ध्यान में मग्न होकर उन्होंने प्राण दिये। उनके अंतिम शब्द ये थे—"संसार में सभी संस्कार नाशवान हैं।"

देश की अवस्था—गौतमबुद्ध के जन्म के समय देश में कई स्वायत्त राज्य थे। इनमें कई राजाओं के अधीन और कुछ प्रजा-तंत्र थे। प्रजातंत्रों में वृद्धों का शासन था। इनमें मगध, कोशल, वत्स और अवंती प्रसिद्ध थे। इनके अतिरिक्त अंग (भागलपुर), काशी, वृजि, (जिसमें लिच्छवि आदि आठ जनपद सम्मिलित थे), कुशीनगर, कुरु, पंचाल, शूरसेन, गांधार (राजधानी तक्षशिला) तथा कंबोज भी जनपद थे। कुछ बग़ैर राजाओं के थे। वे प्रजातंत्र के सिद्धांत पर राज चलाते थे। इनमें सबसे बड़ा शाक्य था। इसका राज-प्रबंध तथा न्याय-संबंधी कार्य करने के लिए प्रतिनिधि कपिलवस्तु के निकट एकत्र होते थे। वे अपना प्रधान आप ही चुनते थे। इनमें से एक वृजि जनपद को मगध का राजा अजातशत्रु नष्ट करना चाहता था। वृजि क़बीले ने अपना मंत्री गौतमबुद्ध के पास भेजा। उन्होंने अपने शिष्य से कहा—"आनंद, जब तक वृजि लोग अपनी सभा नियमपूर्वक करते हैं तब तक वे बढ़ते रहेंगे ; उन्हें कोई नष्ट नहीं कर सकता।"

वृजि जनपद के फ़ौजदारी नियमों के छः दर्जे थे। इनमें से हर एक दर्जे को अधिकार छोड़ देने का अधिकार प्राप्त था; परन्तु कोई एक उसे दंड न दे सकता था। यदि बारी-बारी छहों का मत उस अपराधी के विषय में एक ही होता, तो उसे सज़ा मिलती थी। इस विषय की पुष्टि यूनानी लेखक भी करते हैं। मेगस्थनीज़ लिखता है—"बहुत-से शहरों में प्रजासत्तात्मक शासन है। कुछ स्वतंत्र हैं; उनका कोई राजा नहीं। जो समुद्र के निकट हैं, उनका भी कोई राजा नहीं।" एरियन लिखता है—"राजा को ही निरीक्षक सारा विवरण देते। प्रजातंत्र-राज्य में ये विवरण मजिस्ट्रेट के पास पहुँचते।" कर्टियस लिखता है—"सौर के एक क़बीले का शासन प्रजातंत्रात्मक था। इन लोगों का कोई राजा नहीं था। जब सिकन्दर इनके प्रदेश में गया, तो इनके पास ६० हज़ार प्यादे, छः हज़ार सवार और पाँच सौ रथों की सेना थी। न्यासा में सरदारों का शासन(ऑलिगार्की) था। प्रधान एक और सदस्य तीन सौ थे। यही राज्य की शासक श्रेणी थी। सिकंदर के आने पर इनका प्रधान तथा तीस प्रतिनिधि उससे भेंट करने आये।"

एरियन और स्ट्राबो, दोनों के लेखों के अनुसार "हाइफ़ेसिस (ब्यास) नदी के पार का प्रदेश बहुत उपजाऊ था। लोग खेती करते थे। वे युद्ध में बड़े वीर सिद्ध होते। इनका शासन धनी पुरुषों के हाथ में था। इनकी राज-सभा में पाँच सौ सदस्य थे।" ऐसा मालूम देता है कि ई० पू० चौथी सदी में पंजाब में सर्वत्र बिना राजा के शासन था।

अध्यापक रिजडेविड्ज़ लिखता है—"सभी क़सबे और गाँव एक ही नमूने पर बनाये जाते थे। क़सबे को गलियों में बाँटा जाता था। गाँव के समीप वृक्षों का एक झुण्ड रहता। इसकी छाया में पंचायत बैठती। गोचर-भूमि के साथ लकड़ी काटने के लिए

जंगल रहता। काश्त करनेवाली ज़मीन घरों की संख्या के अनुसार भिन्न-भिन्न हिस्सों में बाँट दी जाती। हर घर अपने लिए काश्त करता और उसकी उपज अपने पास रख लेता। सिंचाई के लिए नालियाँ बनाई जाती थीं। सारी ज़मीन गाँव की मिल्कियत समझी जाती थी। किसीको ज़मीन बेचने का अधिकार न था। गाँव में आजकल की तरह कोई आदमी दूसरों की अपेक्षा बहुत ज़्यादा धनवान न होता था। हर एक के पास अपनी आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त सामग्री रहती। तब न बड़े ज़मींदार थे, न ग़रीब किसान। गाँव में अपराध का निशान भी न पाया जाता था। गाँव के बाहर कोई डाका न पड़े, इसका प्रबन्ध केन्द्रीय शासन को करना पड़ता। क़सबे के गिर्द दीवारें ऊँची-ऊँची बनाई जातीं। मकान ईंट, चूने तथा पत्थर के होते। लकड़ी भी बहुत इस्तेमाल की जाती। मकानों को सजाया जाता था। इनमें से कई सात मंज़िले भी होते। घरों में हमाम भी रहते। तरखान, लोहार, जुलाहा, मोची, मूर्तिकार, कुम्हार, रंगरेज़, सुनार, मछुआ, कसाई, शिकारी, हलवाई, नाई, मालिश करनेवाला, फुलहारा, मल्लाह, चित्रकार आदि व्यवसायी पाये जाते थे।

गौतमबुद्ध के जन्म के समय मगध का राज्य अति समुन्नत था। महाभारत के समय यहाँ जरासंध राज करता था। उसके पश्चात् १८ राजाओं ने राज किया। ६०० ई० पू० में शिशुनाग ने एक नये घराने की नींव डाली, जिसकी चौथी पीढ़ी में बिंबिसार राज करता था। इसके लड़के अजातशत्रु ने बहुत-सा प्रदेश जीता। इस वंश के अंतिम दो राजा नंदीवर्धन तथा महानन्द थे। इन्होंने ८३ वर्ष राज किया। राजा महापद्म ने नन्द-वंश की नींव रखी। इसके आठ लड़कों ने एक सौ वर्ष तक राज्य

किया। अंतिम नन्द राजा बड़ा पराक्रमी था। इसके पास दो लाख प्यादे, बीस हज़ार सवार और दो हज़ार रथ थे। इसीके समय सिकंदर ने पंजाब पर आक्रमण किया।

पंजाब में सिकंदर—ईरान का राज्य बहुत प्रभावशाली था। यह सिंध से लेकर रोम-सागर तक फैला हुआ था। मिश्र भी इसी में सम्मिलित था। ईरान के १२० प्रांत या सूबे थे। दारा के समय सीरिया, काफ पर्वत का प्रदेश और एशिया माइनर के यूनानी शहर इसके अधीन थे। ४६० ई० पू० में इसका यूनानियों के साथ युद्ध हुआ। उसने यूनान पर आक्रमण कर दिया। मैराथान, थरमापली आदि की लड़ाइयों में यूनानियों ने ऐसी वीरता दिखलाई कि वे अभी तक इनके कारण प्रसिद्ध हैं।

उस समय एथिन्स और स्पार्टा दो बलशाली राज्य थे। बाद में फूट पड़ जाने से इनमें लड़ाइयाँ हुईं, जिनके कारण वे नष्ट हो गये और उनका स्थान मेसिडोनिया या मक़दूनिया के राज्य ने ले लिया। उसका बड़ा राजा फिलिप था जिसका बेटा सिकंदर ३५६ ई० पू० में उत्पन्न हुआ। कहते हैं, सिकन्दर का गुरु अरस्तू (आरिस्टाटल) था, जिसने उसे छुटपन से ही घर से अलग रख, युद्ध-कला तथा शासन-विद्या का शिक्षण देकर दक्ष बना दिया। छोटी ही उम्र में उसने एथिन्स पर आक्रमण करके उसे जीत लिया। फिलिप ने प्रसन्न होकर उसे छाती से लगाया और कहा—"बेटा, अपने लिए तुम कहीं अन्य राज्य ढूँढ़ो। यह देश तुम्हारे लिए बहुत छोटा है।"

३३६ ई० पू० में फिलिप का बध हो जाने पर सिकन्दर उत्तराधिकारी बना। उसने थ्रेस को जीता और थीब्स पर आक्रमण करके तीस हज़ार आदमी गुलाम बनाये। हेलास पुआयंट को पार करके उसने एक लाख से ज्यादा ईरानी सेना को परास्त

किया और ईरान-अधिपति दारा के जँवाई को स्वयं क़त्ल किया। एशिया माइनर को जीतने के पश्चात् उसी के मैदान में दारा को दोबारा परास्त किया। उसका परिवार तथा बहुत-सा सामान सिकन्दर के हाथ आया। दारा उसे फ़रात (यूफ्रेटीज़ नदी) का प्रदेश देकर संधि करना चाहता था। परन्तु सिकन्दर समस्त एशिया का दावादार बना। सिकन्दर के सेनानायक परमिन्यू ने यह कह कर सुलह की सम्मति दी—"यदि मैं सिकन्दर होता तो इस तजवीज़ को स्वीकार कर लेता।" सिकन्दर ने उत्तर दिया—"मैं भी ऐसा ही करता यदि परमिन्यू होता!"

तत्पश्चात् सिकन्दर ने सीरिया और फ़िनीशिया की ओर मुँह किया और दमश्क नगर पर क़ब्ज़ा कर लिया। सात मास तक घेरा डालने के बाद उसने टायर नगर को जीता, जो उस समय पश्चिमी संसार में व्यापार का केन्द्र समझा जाता था। योरोशलम लेने के बाद उसने मिश्र से ईरानियों का शासन हटाया, उसे अपने राज्य में मिलाया और सिकन्दरिया शहर आबाद किया। फिर वह उत्तर की ओर इराक़ की ओर बढ़ा। नेनवा से साठ मील की दूरी पर तरबेला के मैदान में उसने दारा को बुरी तरह पराजित किया। वह पागल होकर मर गया। अब बख़्तरिया का शासक बेसिआईस ईरान का अधिपति बनना चाहता था। परन्तु बुख़ारा के शासक ने उसे गिरफ़्तार करके सिकन्दर के हवाले कर दिया। सिकन्दर ने उसके नाक-कान काटकर तीसरे दिन वध कर डाला। इसके अतिरिक्त शराब के नशे में उसने राजधानी परसिपोलिस को आग लगाकर उजाड़ दिया। तत्पश्चात् सेथीनीज़ को हार देकर दारा के भाई आक्सीआर्टीज़ की लड़की पिरन से ब्याह किया। सूसा को भी उसने जीता। वह जहाँ जाता वहीं अपने शहर और क़िले बनाता

जाता। सीसतान के प्रदेश में से गुज़रकर उसने ग़ज़नी और गांधार का इलाक़ा अपने अधिकार में किया।

भारत के सम्बन्ध में उसने बहुत-सी बातें एकत्र कर ली थीं। मई ३२७ ई० पू० में दस दिन के अंदर वह हिंदूकुश पहाड़ को पार कर गया। काबुल और पंजाब के दरमियान बसे हुए जनपद या क़बीले बड़े युद्ध-प्रिय एवं वीर थे। इनसे अपनी अधीनता स्वीकार करवाकर वह काबुल नदी के पास पहुँचा। यहाँ से उसने अपने दो सेनानायक हिन्दुस्तान को भेजे ताकि वे देश की जाँच करें और सिंधु-नदी पर किश्तियों का पुल तैयार कराएँ। स्वयं सिकन्दर हिंदूकुश के वीर क़बीले अश्वक की ओर बढ़ा। यूनानी सेनानी टालमी ने बड़े शौर्य का प्रदर्शन किया। इस क़बीले ने भी बड़ी वीरता से मुक़ाबला किया, परन्तु चालीस हज़ार आदमी खोकर हार गया। इस लड़ाई में सिकन्दर ने दो लाख तीस हज़ार बैल लूटे। इनमें से सर्वोत्तम एवं सुन्दर जानवर छाँटकर सिकन्दर ने उन्हें मक़दूनिया भेज दिया।

तत्पश्चात् सिकन्दर गवारी क़बीले के इलाक़े ग़ज़नी में से गुज़रा। इसने डरकर ही अधीनता मान ली। वहाँ से चलकर उसने सिंधु नदी के समीप एसेशिनी क़बीले को परास्त किया। इन लोगों की राजधानी मेगासा थी। यहाँ की रानी अपने बच्चों तथा अपनी भूमि की रक्षा के लिए खूब लड़ी। सिकन्दर की टाँग पर एक तीर ने ऐसा घाव किया कि वह चिल्ला उठा—"यद्यपि लोग मुझे सूर्य का पुत्र समझकर ईश्वर के स्थान में मेरी पूजा करते हैं, परन्तु इस घाव की पीड़ा मुझे साफ़ बताती है कि मैं भी नश्वर हूँ।" तीन दिन तक घेरा डालने के बाद यूनानियों की ओर से रानी को मानपूर्वक सुलह की शर्तें पेश की गईं। अपनी दरबारी महिलाओं के साथ बच्चे को गोद में लिये रानी

सिकन्दर के पास आई और स्वर्ण-पात्र में शराब भेंट की। इस प्रकार दोनों में सुलह हो गई।

कहा जाता है कि इस लड़ाई में सिकन्दर ने बड़ी दग़ाबाजी से काम लिया। मेगासा की सेना में बीस हज़ार सवार और तीस हज़ार प्यादे थे। इनमें से लगभग सात हज़ार युद्ध-क्षेत्र से लौटे। हार जाने पर इन्होंने सिकन्दर की सेना में सम्मिलित हो जाने का वचन दिया। सिकन्दर ने इनको अपने शिविर से एक मील की दूरी पर डेरा डालने की इजाज़त दी। अब उन सैनिकों को खयाल हुआ, कि विदेशी आक्रमणकारी के साथ मिलकर स्वदेश के विरुद्ध लड़ना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं हो सकता। सिकन्दर ने यह सुनकर उन पर उस समय आक्रमण कर दिया, जब वे सोये पड़े थे। अपनी स्त्रियों तथा बच्चों को बीच में लेकर उन्होंने घेरा बना लिया। तत्पश्चात् लड़ते-लड़ते सभी वीर-गति को प्राप्त हुए। स्त्रियों ने भी अपने वीरोचित कर्त्तव्य का पालन किया।

इसके पश्चात् सिकन्दर औरा तथा पजेरा (बाजौर) की ओर बढ़ा। औरा में एबीसारस नाम का हिंदू राजा राज करता था। उसने, अपने क़िले से बड़ी वीरतापूर्वक सिकन्दर का प्रतिरोध किया। यूनानी सैनिक क़िले की दीवार पर चढ़ गये और उन्होंने क़िला ले लिया। पजेरा (बाजौर) ने वैसे ही अधीनता मान ली। आगे बढ़कर सिकन्दर ने सिंधु की बाईं तरफ़ ओरिनस का क़िला लिया। (हिन्दुओं का यह स्थान महाबाहु था जो युसुफ़जई प्रदेश में क़सबा अम्ब के निकट स्थित है।)

पखली के इलाके में जकला शहर पर सिकंदर की सेनाओं ने आक्रमण किया। एक मास तक उसके सेनानायक वहाँ संलग्न

रहे। परन्तु स्वयं सिकंदर के आने तक शहर के लोगों ने अधीनता न स्वीकार की। यूनानी विजेता ने उन्हें उनका प्रदेश वापस दे दिया। यहाँ से सिकंदर ने न्यारकस और टॉलेमीआकस को सेना देकर आगे भेजा। उन्हें जो आदमी मिला, उसे गिरफ्तार कर लिया ताकि उससे आगे का रास्ता मालूम किया जाय।

स्वयं सिकंदर शहर न्यासा (निशादर) के लिए चल पड़ा। शहर के लोगों ने अपने अग्रणी एकाफस के साथ तीस बड़े आदमियों को सिकंदर के पास भेजा। उन्होंने कहा—"हमारा नगर बैकस-देवता की स्मृति में बसाया गया था। आपको इसे अपने आश्रय में लेकर यहाँ वृद्ध एवं निर्बल सैनिकों के आराम के लिए उपवन बना लेना चाहिए।" सिकंदर ने उनके भाषण से प्रसन्न होकर यह प्रार्थना मान ली; परन्तु यह शर्त लगा दी कि वे तीन सवार और शहर के एक सौ अच्छे, बड़े और बलवान आदमी उसके सुपुर्द कर दें। इस पर अग्रणी हँस पड़ा। सिकंदर ने इसका कारण पूछा तो उसने कहा—"हम अपने नगर के एक सौ ही नहीं, दो सौ बड़े आदमी आपके सुपुर्द कर सकते हैं। परन्तु जिस नगर के एक सौ अच्छे आदमी निकाल लिये जायँ, वहाँ का शासन कैसे चल सकता है ?" सिकंदर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने यह शर्त भी हटा दी।

सिंध और झेलम नदियों के बीच का प्रदेश तक्षशिला के राजा आम्भी के अधीन था। काबुल नदी पर पहुँचकर सिकंदर ने आम्भी और अन्य राजाओं के पास अपने दूत भेजे ताकि वे उसे आगे आकर मिलें। अटक से कुछ दूरी पर पुल तैयार कर दिया गया था। तक्षशिला के राजा की झेलम के नरेश पुरु और अभिसार (या दक्षिण काश्मीर) के राजा से शत्रुता थी। इन दोनों को नीचा दिखाने के लिए वह विदेशी आक्रमणकारी के

साथ मिल गया। उसने सिंध पार होकर चाँदी की दो सौ मुद्राएँ, तीन हज़ार बैल, दस हज़ार भेड़ें, तीस हाथी और सात सौ सवार सिकंदर को भेंट किये। साथ ही वह सिकंदर की हर प्रकार से सहायता करने पर तैयार हो गया। उसने सिकंदर से कहा—"यदि आप हमसे भोजन तथा अन्य आवश्यक चीजें छीनने नहीं आये, तो आपको मेरे साथ युद्ध करने की क्या ज़रूरत है? बुद्धिमान लोग केवल इन्हीं के लिए लड़ना पसन्द न करेंगे। बाक़ी रहा सोना-चाँदी। इसके सम्बन्ध में यह कहना ठीक होगा कि यदि यह मेरे पास अधिक होगा, तो मैं उसे आपके हवाले करने पर तैयार हूँ और यदि यह आपके पास अधिक होगा, तो मुझे आपसे लेने में आपत्ति न होगी।" सिकंदर ने उत्तर दिया—"ऐसी नरमी दिखाकर आप लड़ाई से बच नहीं सकते। भ्रम में मत रहिये। आपके साथ हमारा युद्ध अवश्य होगा। परन्तु अब कृपालुता का मुक़ाबला है। इसलिए मैं आपको उदारता में आगे न बढ़ने दूँगा।" यह कहकर सिकंदर ने बहुत-से उपहार भेंट किये।

फ़रवरी ३२६ ई० पू० में सिकंदर ने एक लाख पैंतीस हज़ार प्यादों और पंद्रह हज़ार सवारों के साथ सिंध-नदी पार की और पंजाब की भूमि पर पाँव रखा। उसे मालूम होगया था कि पंजाब तथा परे के हिन्दू अपनी मातृभूमि पर किसी विदेशी का शत्रु के रूप में खड़ा होना सहन नहीं करते। इसलिये उसने युद्ध तथा विजय के यूनानी देवताओं को कई बलियाँ दीं।

अभिसार-नरेश भी सिकन्दर के अधीन हो गया। तक्ष-शिला में उसका स्वागत किया गया। स्वयं यूनानी लिखते हैं—"यह देश मिश्र से भी अधिक उपजाऊ है।" यहाँ पर गक्खड़ आदि कई क़बीलों के दूत सिकन्दर से मिले। उनसे उपहार लेकर सिकंदर ने अपनी ओर से उपहार भेंट किये।

पुरु ने स्वधर्म तथा स्वराष्ट्र की स्वाधीनता के लिए विदेशी से लड़ना आवश्यक समझा। उन्होंने सिकंदर से कहला भेजा—"मैं अपनी सीमा पर आपसे मिलूँगा। हमारी मुलाक़ात हथियारों से होगी।" इसके साथ ही उन्होंने लड़ाई के लिए तैयारी शुरू कर दी। उनकी सेना में तीस हजार प्यादे, सात हज़ार सवार, तीन सौ रथ और दो सौ जंगी हाथी थे। यूनानी सेना मई में जलालपुर के पास जा पहुँची। सिकंदर किश्तियों के टुकड़े करके सिंध से अपने साथ ले आया था। झेलम नदी में बाढ़ आई हुई थी। उसे पार करने के लिए सिकंदर ने कुछ स्थान सुरक्षित बना लिये। फिर पुरु को धोखा देने के लिए वह इधर उधर फिरता रहा और यह अफ़वाह फैला दी कि बरसात का मौसम गुज़र जाने पर ही हमला किया जायगा। इस पर पुरु ने सावधानता कम कर दी। सिकंदर ने एक अँधेरी रात में झेलम नगर से तीस मील की दूरी पर नदी को पार किया। यह समाचार पाते ही पुरु ने अपने बेटे को सेना देकर उधर भेजा। परन्तु सिकंदर उसके पहुँचने से पहले ही उतर चुका था। इस कारण लड़ाई आरम्भ हो गई जिसमें झेलम का राजकुमार मारा गया। इतने में स्वयं झेलम-नरेश आ पहुँचे।

रुफ़स लिखता है—"जब आसमान साफ़ हो गया तो पुरु ने शत्रु को देखा। उसने एक सौ रथ और पाँच हज़ार सवार भेजे। हर एक रथ को चार घोड़े खींच रहे थे। रथ में छः सैनिक थे: दो तीर चलानेवाले, दो ढालवाले और दो रथवाह। जब लड़ाई रथों से होती तब रथवाह भी घोड़ों की बाग छोड़कर लड़ाई में लग जाते।" उस दिन रथवाह बिलकुल बेकार सिद्ध हुए। असाधारण वर्षा के कारण सब जगह फिसलन हो गई। घोड़े चल न सकते थे। रथ कीचड़ में धँस जाते थे। इनके मुक़ाबले पर सिकंदर के सैनिक बड़ी तेजी से हमला करते थे; क्योंकि

उनके हथियार बहुत हलके थे। पहले सीथियन सवारों ने सामने से आक्रमण किया। तत्पश्चात् परडिकास ने दाईं ओर हमला किया। उधर रथों ने जोश में आकर धावा बोल दिया और यूनानी प्यादा फौज को कुचल डाला। परन्तु जमीन फिसलनेवाली होने के कारण बहुत से रथवाह नीचे गिर गये। कई घोड़े घबरा गये और उन्होंने सवारों को झेलम में जा डुबोया। कुछ बचकर वापस हट गये।

महाभारत में स्पष्ट कहा गया है कि कौन-से मौसम में कौन सी सेना का प्रयोग कहाँ करना चाहिए—"हाथी किलों के लिए, सवार दुर्गम स्थानों के लिए और रथ खुश्क जमीन पर खुश्क मौसम में काम आते हैं।" पुरु ने इसका विचार न किया। झेलम की लड़ाई वर्षा-ऋतु में हो रही थी। रथों के लिए जगह समतल न थी। उन्हें गड्ढोंवाली जमीन पर चलना पड़ा। लड़ाई बहुत सख्त हुई। बीस हजार से ज्यादा आदमी मारे गये। पुरु घायल हो गये। उनको पकड़कर सिकंदर के सामने लाया गया। सिकंदर ने मानपूर्वक उनका स्वागत किया। उनका क़द सात फुट छः इंच और शरीर ऐसा सुडौल था कि उसे देखकर सिकंदर बहुत प्रभावित हुआ। उसका साहस भी अद्वितीय था। सिकंदर ने पूछा—"आपके साथ कैसा व्यवहार किया जाय ?" पुरु ने उत्तर दिया—"वैसा ही जैसा एक स्वातंत्र्य प्रिय राजा एक आतंकवादी से चाहता है।" सिकंदर बोला—"यह तो मेरा काम है। आप अपनी इच्छा बताएँ।" पुरु ने जवाब दिया—"मेरे पहले उत्तर में सब बातें आ जाती हैं।" सिकंदर बहुत प्रसन्न हुआ। उसने झेलम के अतिरिक्त और बहुत-सा प्रदेश पुरु को दे दिया। विजय के उपलक्ष में सिकंदर ने दो गाँव आबाद किये —बासीरफलस और नाईस (वर्तमान मोंग जो ज़िला गुजरात में है)।

इस विषय में दूसरा मत यह है कि झेलम के युद्ध में पुरु की विजय हुई। एरियन के वृत्तांत से मालूम होता है कि सिकंदर ने संधि के लिए पुरु के पास दूत भेजे और बड़ी मुश्किल से पुरु ने संधि की। जसटिन ने लिखा है—"लड़ाई छिड़ने पर पुरु ने सिकंदर की फौज पर आक्रमण किया और सिकंदर को कैदी के रूप में मांगा। सिकंदर ने पुरु पर आक्रमण किया, परन्तु सिर के बल जमीन पर गिर पड़ा। इस पर उसके साथियों ने उसे बचाया।"*

यूनानियों की राय में "झेलम और चनाब के बीच की भूमि बड़ी सुन्दर और उर्वरा थी। इसमें सैंतीस नगर थे जिनमें से एक की आबादी पाँच हजार थी। इनके अतिरिक्त अगणित गाँव थे।" जुलाई में सिकंदर ने चनाब को पार किया। चनाब और रावी के बीच का प्रदेश एक राजा के अधीन था। इसका नाम भी पुरु था। वह सिकंदर के डर से भाग गया। लाहौर के पास ही सिकंदर ने रावी नदी को पार किया। यहाँ एक क़बीला केथोई आबाद था जिसकी राजधानी सिंहाला (सांगला) थी। दूसरा क़बीला मलोई (या मालव जो मालवस्थान या मुलतान के निकट आबाद था) और तीसरा आक्सद्रकाई (उस नाम के स्थान के समीप रहनेवाला क्षुद्रक) था। तीनों ने मिलकर सिकंदर का घोर विरोध किया।

सिकंदर ने सिंहाला का घेरा डाला। लोग बड़ी वीरता से लड़े। परन्तु उनके पास तीरकमान ही थे जिनका असर यूनानियों के कवचों पर कुछ न हुआ। यहाँ सत्रह हजार पंजाबी सैनिक मारे गये और सत्तर हजार गिरफ्तार कर लिये गये। इसके अतिरिक्त नृशंस सिकंदर ने सिंहाला को गिरा दिया और आसपास के नगरों में सर्वबध किया।

---

*परिशिष्ट 'का' देखिये।

इस लड़ाई में रावी और व्यास के बीच का सारा प्रदेश सिकन्दर के हाथ में चला गया। व्यास के तट पर एक सुन्दर क़बीला आबाद था। यूनानी लेखकों के अनुसार "उसके नैतिक आचार तथा क़ानून बहुत उत्तम थे। उसके अधिपति का नाम सुफ़ाइ-रस था। सिकन्दर के आने पर उसने अपनी राजधानी के द्वार खोल दिये। अपने दो सुन्दर बेटों को साथ लेकर उसने अपना मुकुट सिकन्दर के चरणों पर रख दिया। मुकुट हीरों के कारण चमकता था। राजा ने लंबा चोग़ा पहन रखा था। उस पर ज़री का काम हो रहा था। यह उसके पैरों तक जाता था। उसकी खड़ाऊँ में मोती और जवाहरात जड़े थे। उसके कानों में दो बहुमूल्य हीरे थे। सिकन्दर ने उसकी बड़ी प्रशंसा की और उसका मुकुट उसके हवाले कर दिया।"

सिकन्दर ने मगध की दौलत की बड़ी ख्याति सुनी थी। इस धन के लिए वह आगे जाना चाहता था। परन्तु उसके सैनिकों ने मगध की सैन्य-शक्ति की खबरें सुन ली थीं। इसके डर के मारे वे आगे न जाना चाहते थे। इसके अतिरिक्त मालवों, क्षुद्रकों आदि ने उनके दाँत ऐसे खट्टे किये थे कि वे बुरी तरह से घबराये हुए थे। मगध का रास्ता अभी काफ़ी लंबा था। रास्ते में न जाने कहाँ-कहाँ और क्या बीते। फिर मगध-अधि-पति की सेना से मुक़ाबला! यूनानी सेना ने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। सिकंदर को बड़ा क्रोध आया। परन्तु उसने चालाकी से काम लिया। एक ओजस्वी भाषण में अपने सैनिकों को उसने पहले विजय-कार्य स्मरण कराये और इस प्रकार भय के मारे लौटने का अपमान याद दिलाया। परन्तु किसी बात का कोई फल न निकला: सैनिक अपनी बात पर डटे रहे और उन्होंने आगे बढ़ने का नाम न लिया। निराश होकर सिकन्दर

ने अपने आपको शरम के मारे तीन दिन और तीन रात तम्बू में बंद रखा और बड़े से बड़े यूनानी का मुँह देखने से इनकार कर दिया। इसका भी कोई परिणाम न निकला। सिकन्दर ने देखा कि उसके सैनिक अपनी ज़िद पर अड़े हुए हैं। तब उसने भी वापस हो जाने का निश्चय किया और स्वयं नदी के किनारे-किनारे चल पड़ा।

वापसी पर उसने देखा कि मालव बड़ा ज़बरदस्त क़बीला है। ये क़ट्टर हिंदू थे। उन्होंने इस विदेशी को तंग करके कई लड़ाइयाँ लड़ने पर बाध्य किया। सिकन्दर ने कई एक नगरों को नष्ट कर दिया। एक शहर के ब्राह्मणों ने उसका बहुत सख्त विरोध किया। स्वयं सिकन्दर उनके नगर की दीवार पर चढ़ गया। तब उसके सिपाही भी वहाँ पहुँच गये। ब्राह्मणों ने जब देखा कि विदेशी सिर पर आ गया है, तो अपने स्त्री-बच्चे को एक जगह एकत्र करके ख़ुद ही अपने घरों में आग लगा दी और आप हज़ारों की संख्या में जंगल को भाग गये। तत्पश्चात् वे राजधानी में जमा हुए और क़िले में घुस गये। सिकन्दर ने क़िले पर धावा बोल दिया।

थोड़ी देर बाद सिकन्दर खुद आगे बढ़ा। तीन सैनिकों को ले कर वह ब्राह्मणों का मुक़ाबला करने लगा। क्षात्र तेज में विश्वास करनेवाले इन ब्राह्मणों ने विदेशी आक्रमणकारी को तीरों से घायल कर दिया। लोथ की तरह वह ज़मीन पर गिर पड़ा। उसके साथियों ने चालाकी की। उसके ऊपर लेटकर उन्होंने सिकन्दर को छिपा लिया। इतने में उसकी बाकी सेना क़िले की दीवार को तोड़कर अंदर घुस गई। तब यूनानी सैनिक सिकन्दर को ढाल पर उठाकर तम्बू में ले गये। राजवैद्य ने एक तीर उसके जिस्म से निकाला जिससे उसके प्राण बच गये। पहले

तो यूनानी बहुत हतोत्साह हो चुके थे। अब वे बहुत प्रसन्न हुए।

पंचनद-स्थान में सिकन्दर ने सिकन्दरिया-नाम का शहर बसाया ; परन्तु अब उसका कोई अवशेष नहीं मिलता। आगे बढ़कर उसने भक्खर के राजा और कई क़बीलों से अधीनता स्वीकार करवाई। आक्सीरनी नाम के कबीले ने मुकाबला किया, परन्तु उसका राजा मारा गया। एक कबीले सिंधुमान का राजा भाग गया। लोगों ने शहर के द्वार खोलकर झुकना मंजूर कर लिया। इस प्रदेश के सभी ब्राह्मणों ने परस्पर मिलकर सिकन्दर का सशस्त्र विरोध किया। इनमें भक्खर का राजा भी सम्मिलित था। इस कारण सिकन्दर को एक बड़ी लड़ाई लड़नी पड़ी।

सेना लेकर सिकन्दर ईरान की ओर चल पड़ा और सूसाजा पहुँचा। उसने उन्नीस हजार मील का सफ़र तय किया, कई शानदार क़िलों को तोड़ा, कुछ शहर नष्ट किये और कुछ नये बसाये। बहुत ज्यादा शराब पीकर नदी में नहाने से उसे ज्वर हो गया। १३ जून, ३२३ ई० पू० को वह बत्तीस वर्ष की आयु में बेबिलोनिया के प्रासाद में मर गया। अब उत्तराधिकारी कौन हो,—इस प्रश्न के उत्तर में उसने कहा—"जो सबसे अधिक योग्य है।"

कुछ ही वर्ष बाद सिकन्दर की माता, स्त्री और बच्चा क़त्ल कर दिये गये और एक दृष्टि से उसका कोई चिह्न शेष न रहा। उसका राज्य उसके सेनानायकों ने बाँट लिया। सेल्युकस ने फ़रात नदी तक समस्त प्रदेश जीतकर ३०५ ई० पू० में सिन्धु-नदी पार की ताकि सम्राट-चंद्रगुप्त से ताक़त आजमाई करे, जिन्होंने पंजाब से सारे यूनानियों को निकालकर उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया था। सिकन्दर के होते हुए पंजाबियों ने

विदेशियों को बहुत तंग किया था। उसके चले जाने पर उन्होंने सभी यूनानी सूबेदारों का वध कर डाला ताकि इस पवित्र भूमि पर यह कलंक लगा न रहे। यूनानी सैनिक तितर-बितर हो गये। कई यहीं बस गये। धर्म की दीक्षा देकर उन्हें हिंदू बना लिया गया।

सेल्युकस चंद्रगुप्त से कुछ देर लड़ा तो सही, परन्तु उसने देख लिया कि यूनानी सिपाही हिंदुओं के मुक़ाबले में ठहर नहीं सकते। इसलिए मगध-सम्राट से उसने संधि के लिए प्रार्थना की। संधि की शर्तें बहुत सख़्त थीं। अपनी जवान लड़की उसे चंद्रगुप्त को ब्याह में भेंट करनी पड़ी। इसके अतिरिक्त पेशावर तक का प्रदेश खाली करना पड़ा। यही नहीं, मेगस्थनीज़ नाम का उसका राजदूत तब से पाटलिपुत्र के मौर्य दरबार में बरसों तक हाज़िरी देता रहा। चंद्रगुप्त ने भी पाँच सौ हाथी और एक सौ रथ उसे उपहार स्वरूप दिये।

कहा जाता है कि चंद्रगुप्त के पोते अशोक के समय सेल्युकस के पोते एंटिआकस ने पंजाब पर आक्रमण करने का यत्न किया। अशोक के शिला-लेख तथा स्तंभ उड़ीसा से लेकर काबुल से परे तक पाये जाते हैं। शाहबाज़ गढ़ी (जिला पेशावर) से एक ऐसा शिला-लेख प्राप्त हुआ है, जिस पर पाँच यूनानी राजकुमारों के नाम हैं। इनमें से एक एंटिआकस है। बैक्ट्रिया के शासक एनरेडायटस ने १६५ ई० पू० में सिंध-प्रदेश पर हमला किया और हैदराबाद तक जा पहुँचा। कच्छ और गुजरात को भी उसने एक मुहिम भेजी। इसके उत्तराधिकारी मिनांडर और अपामोडवियस ने, विदेशी लेखकों के अनुसार, १२६ से ११० ई० पू० तक पंजाब पर राज किया।

तक्षशिला—वर्तमान रावलपिंडी से बीस मील की दूरी पर हरोनदी तथा उसके साथी नालों द्वारा सिंचित उर्वर भूमि में

श्रीराम के भाई भरत ने एक सुन्दर नगर बसाया और अपने बेटे तक्ष के नाम पर उसका नाम तक्षशिला रखा। दूसरे बेटे पुष्कल के नाम पर पुष्कलावती नगरी आबाद की। ये दोनों शहर गांधार प्रदेश में थे। महाभारत में बताया गया है कि अर्जुन के पोते परीक्षित के बेटे जन्मेजय ने अपने पिता के दुश्मनों से प्रतिकार लेने के लिए नाग-यज्ञ इसी पवित्र भूमि में किया था। महाभारत-काल तथा उसके बाद भी यह शहर गांधार की राजधानी था। मगध के शिशुनाग तथा नंद राजाओं के समय गांधार स्वतंत्र प्रदेश था। छठी सदी ई० पू० में तक्षशिला कुछ समय ईरानी साम्राज्य के अधीन रहा। यहाँ से चौथी या पाँचवीं सदी ई० पू० में एक आरमेइक लेख मिला है जो ईरानी प्रभाव का एकमात्र चिह्न है।

सिकन्दर के आक्रमण के समय यहाँ आम्भि राज करता था। ३३८ ई० पू० में इसे सम्राट् चन्द्रगुप्त ने मौर्य साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। यह हालत २०० ई० पू० तक रही। तत्पश्चात् यूनानियों, शकों, पह्लवों और कुषाणों ने बारी-बारी से इसे अपने अधीन कर लिया।

तक्षशिला अपने शानदार विद्यापीठ या विश्वविद्यालय के लिए उस समय बहुत प्रसिद्ध था। बौद्ध जातकों के अनुसार सातवीं सदी ई० पू० से ही यह सारे प्रदेश में ज्ञान, विज्ञान तथा ललित कलाओं के शिक्षण का सबसे बड़ा केन्द्र बन चुका था। यहाँ वेद, वेदांग, दर्शन, व्याकरण, आयुर्वेद, युद्धशास्त्र, भूगर्भविज्ञान, शल्यशास्त्र तथा चित्रकला, मूर्तिकला, मुद्राकला, संगीत, गारुड़विद्या, सर्पविद्या आदि विभिन्न ललित, एवं उपयोगी कलाओं की शिक्षा भी दी जाती थी। महासुतसोम जातक में लिखा है कि छठी सदी ई० पू० में यहाँ धनुर्विद्या की कक्षा में एक सौ तीन राजकुमार क्रियात्मक शिक्षण प्राप्त कर रहे थे।

धनुर्विद्या के कई अंग थे जिन्हें सीखने के लिए मथुरा, काशी, राजगृह, उज्जैन आदि के राजकुमार आते थे। यहाँ के शिक्षक सारे संसार में प्रसिद्ध थे। यूनानी, शक, कुषाण आदि विदेशी जातियां के लोग, विशेषकर शासक, भी इनसे शिक्षा ग्रहण करके हिंदू धर्म में प्रविष्ट होगए। यह बात उस समय के लेखों तथा मुद्राओं से सिद्ध होती है। यह हिंदुत्व की सांस्कृतिक विजय का प्रमाण है कि जो लोग इस देश पर आक्रमण करने आये उनको हिन्दुत्व ने अपने अंदर लेकर उनका समीकरण कर दिया।

इस विश्वविद्यालय में पाणिनि और कात्यायन-जैसे वैयाकरण, कौटिल्य-जैसे राष्ट्रनायक, चरक-जैसे विज्ञान-आचार्य और नागार्जुन-जैसे पंडित पढ़े थे। यहाँ से शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् कई विद्वान काशी, पटना, उज्जैन आदि के विश्वविद्यालयों में जाकर पढ़ाते थे। यहाँ के स्नातक वैरोचन ने पहली सदी ई० पू० में खोतन जाकर वहाँ शिक्षा देने का कार्य किया। इसी प्रकार पहली सदी में यहाँ से निकले हुए स्नातक काश्यप मातंग ने चीन जाकर और तत्पश्चात् धर्मरक्ष, धर्मप्रिय, गुणवर्मन आदि विद्वान स्नातकों ने विभिन्न विदेशों में जाकर हिंदू संस्कृति का प्रसार किया।

यूनानी लेखकों के अनुसार तक्षशिला में बहुविवाह तथा सती का रिवाज प्रचलित था। मृतक गिद्धों के खाने के लिए फेंक दिए जाते थे। यहाँ पर एक मंडी थी जहाँ निर्धन लड़कियाँ बेची जाती थीं।

ऐसा मालूम देता है कि पंजाब के विभिन्न जनपद या क़बीले स्वतंत्र रहने के आदी थे। संभवतः इसी कारण वे सम्राट् चंद्रगुप्त की अधीनता सहन न कर सके। दिव्यावदान से मालूम होता है कि मौर्य सम्राट् बिंदुसार के समय तक्षशिला में एक विद्रोह

हुआ। इस पर बिंदुसार ने अपना पुत्र अशोक शासक के रूप में भेजा। वहाँ के लोगों ने अशोक को बताया कि वे मौर्य सम्राट् के विरोध नहीं करना चाहते; प्रत्युत स्थानीय मंत्रियों ने इन लोगों)का अपमान किया है और यह उनके लिए असह्य है। अशोक ने बेचैनी का कारण दूर करके सबको शांत किया। अशोक के सम्राट् बनने पर तक्षशिला में दोबारा विद्रोह हुआ जिसपर अशोक ने राजपुत्र कुणाल को स्थिति पर क़ाबू पाने के लिए भेजा। उसने भी विभिन्न तरीके अख़्तियार करके वहां शांति स्थापित की। कहा जाता है कि अशोक की एक रानी तिष्यरक्षिता कुणाल से ईर्षा एवं बैर करती थी। राजपुत्र के तक्षशिला जाने पर रानी ने एक कपट-लेख, जाली चिट्ठी के द्वारा उसकी आँखें निकलवा डालीं। अशोक को जब यह हाल मालूम हुआ तो उसने रानी को प्राणदंड दिया। संभवतः इसी प्रिय पुत्र की स्मृति में अशोक ने तक्षशिला में कुणाल-स्तूप का निर्माण किया था। (इसके अवशेष आज भी टैकसला में मिलते हैं।) हुएनसांग ने एक स्थान पर लिखा है—"खोतन का शहर तक्षशिला के निर्वासित लोगों के द्वारा आबाद किया गया था। इनको अशोक ने कुणाल को अंधा करने के बदले निर्वासित कर दिया था।

२३१ ई० पू० में अशोक की मृत्यु के पश्चात् मगध-साम्राज्य कुछ ढीला पड़ गया। तब तक्षशिला का प्रदेश फिर स्वतंत्र हो गया। केन्द्रीय राज-सत्ता से सबन्ध न रहने के कारण बेक्ट्रिया से चलकर यूनानी आक्रमणकारियों ने इस पर अधिकार कर लिया। ये यूनानी उन सैनिकों की संतान थे जिनको सिकंदर बेक्ट्रिया में छोड़ गया था, या जो पंजाब के हिन्दुओं के द्वारा खदेड़े जाने पर बेक्ट्रिया जा पहुँचे थे। एंटिआकस का जँवाई

डिमिट्रियस बेक्ट्रिया से चलकर काबुल-प्रदेश में से होता हुआ १६० ई० पू० में तक्षशिला पहुँचा और उस पर कब्जा कर लिया। बीस वर्ष बाद यूक्रेटीडीज ने पहले बेक्ट्रिया पर आक्रमण किया और भारत के कुछ प्रदेशों पर हाथ मारा। इन दो यूनानी सरदारों के दो घराने चले जो एक दूसरे के साथ लड़ाई-झगड़े करते रहे। तक्षशिला के यूनानी शासकों में से अपालोडाटस और मिएंडर का सम्बन्ध डिमिट्रियस के घराने से था और एंटिएलकीडास का यूक्रेटीडीज से।

तक्षशिला में यूनानियों का शासन एक सौ वर्ष से अधिक रहा जब कि पश्चिम में असभ्य समूहों ने उसका अंत कर दिया। ये वहशी शक (सीथियन) थे, जो सीसतान के पार्थियन प्रदेश में आबाद होगये और वहाँ पार्थियन लोगों के साथ ब्याह-शादियाँ करके उनमें मिलजुल गये थे। सीसतान से चलकर उन्होंने एराकोसिया आदि को जीता। इनके एक समूह ने दीवांस के नेतृत्व में एराकोसिया में राज्य स्थापित कर लिया। एक अन्य समूह ने शक सरदार मैलिस के अधीन पूर्व की ओर बढ़कर तक्षशिला पर अधिकार कर लिया। ६५ ई० पू० में एराकोसिया का शासक मीनेस बना। दस-पन्द्रह वर्ष बाद वह तक्षशिला आ पहुँचा। ५८ ई० पू० में उसका बेटा एजरिस प्रथम गद्दी पर बैठा। इसकी नाड़ियों में शक तथा पर्थियन दोनों नस्लों का खून था। कहा जाता है कि इसने अपना राज्य यमुना तक फैला लिया। अपने सूबेदारों के द्वारा इसने ईरानी ढंग का शासन प्रचलित किया। यही ढंग उसके उत्तराधिकारी एजरलेसिस के समय में जारी रहा।

एजरलेसिस की मृत्यु पर एराकोसिया और तक्षशिला गोंडाफरनेस नाम के पर्थियन सरदार के अधिकार में चले गये।

इसकी ख्याति पश्चिमी संसार तक जा फैली। कहा जाता है कि इसके दरबार में पहला ईसाई प्रचारक संत थामस संभवतः सन् ४० में आया। गोंडा ने काबुल पर हमला करके वहाँ यूनानी शासन का अंत कर दिया। परन्तु गोंडा के मरने पर उसके राज्य के टुकड़े हो गये। विभिन्न सूबों के शासकों ने अपने आपको स्वायत्त बना लिया। इसका भतीजा एबडिगैस पश्चिमी पंजाब का मालिक बन बैठा और अरथकनेज़ ने एराकोसिया और सिन्ध ले लिये। अन्य प्रदेश भी दूसरे सरदारों के हाथ चले गए।

जब ४४ में एपालिनियस तक्षशिला आया तब यहाँ का शासक फरेआस बेबिलोनिया के पार्थियन राजा से खुदमुख्तार था। उसका शासन गांधार प्रदेश पर भी था, यद्यपि सीमांत के असभ्य जनपदों या कबीलों को वह रुपया देकर शांत रखता था। एपालिनियस लिखता है—"तक्षशिला का शहर क्षेत्रफल में नेनवा के बराबर है। यह यूनान के नगरों की तरह सुरक्षित है। एथिंस की तरह इसकी गलियाँ तंग और टेढ़ी हैं। मकान इकमंजिला मालूम होते हैं। जमीन के नीचे तहखाने हैं। नगर के अन्दर राजा का महल और सूर्य का मन्दिर है। राजप्रासाद बहुत सादा है; उसमें झूठी शान की कोई बात नहीं है।"

जब पार्थिया के लोगों ने यूनानी शासक हेरेमेंज़ को काबुल से निकाल दिया, तो हेरेमेंज़ कुषाण कबीले के अमणी केडफाइसिस के साथ जा मिला और उसकी सहायता से काबुल वापस आया। गांधार और तक्षशिला को जीतने में उसने कुषाणों की मदद की। ये कुषाण चीन के उत्तर-पश्चिम से निकले। बेक्ट्रिया तथा काबुल होते हुए ६० ई० में इन्होंने उत्तर भारत पर अधिकार कर लिया।

कुछ वर्ष बाद कजला केडफ़ाइसिस के स्थान में वेमा केडफ़ाइसिस राजा बना। इस वंश से दूसरी शताब्दी में राजा कनिष्क बहुत प्रसिद्ध हुआ। इसने नियम-पूर्वक हिन्दुत्व की दीक्षा ली। सरदियों के लिए इसने पुरुषपुर (पेशावर) को अपनी राजधानी बनाया। अपने राज्य का विस्तार इसने मध्य एशिया से बंगाल तक किया। इसके उत्तराधिकारियों ने भी यह साम्राज्य बनाये रखा। तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वासुदेव की मृत्यु पर इस वंश का पतन आरम्भ हुआ। यों यह पाँचवीं शताब्दी तक चलता रहा। इनके सिक्के रावलपिंडी के पास मान-कियाला में महाराज रणजीतसिंह के सेनानायक वेंदुरा तथा कोर्ट को प्राप्त हुए थे। पाँचवीं शताब्दी में सफ़ेद हूणों ने इस वंश को नष्ट कर दिया।

सन् ४०० में चीनी यात्री फ़ाहियान ने तक्षशिला की यात्रा की। यद्यपि उसने अपना कोई यात्रा-विवरण नहीं छोड़ा, तो भी दूसरे स्थानों में दिये गये संकेतों से मालूम होता है कि उस समय उत्तर-पश्चिमी भारत में बौद्धों के कई एक प्रसिद्ध मठ थे। पर इसी सदी में तक्षशिला से सम्बन्ध रखनेवाले कई स्मारकों को बड़ी निर्दयता से नष्ट किया गया। एक बड़ी संख्या में आकर सफ़ेद हूणों ने ४०५ ई० में भारत पर आक्रमण किये और न केवल कुषाण-राजपर अधिकार कर लिया, प्रत्युत् गुप्तों के साम्राज्य को भी बहुत बड़ी चोट पहुँचाई। तक्षशिला इसके आघात से सँभल न सका। जब सातवीं शताब्दी में हुएनसांग यहाँ आया, तो उसने देखा कि यह स्वतंत्र प्रदेश नहीं है और इसके सरदार एक-दूसरे से लड़ते रहते हैं। साथ ही बहुत-से मठ विनष्ट होकर उजड़े पड़े हैं।

मौर्य वंश का शासन—मौर्य वंश के प्रवर्तक चन्द्रगुप्त थे। योग्यता, राज-प्रबन्ध, साहस तथा युद्ध-कौशल में ये अद्वितीय थे। इनके पिता



दृढ़ पुरुष चाणक्य (कौटल्य) जिनका महामंत्र यह था—'न त्वेवार्यस्य दासभावः'।

नंदवंश से थे और माता मुरा, निचली जात की बताई जाती है। अंतिम नंद राजा ने चन्द्रगुप्त का वध करने का यत्न किया। चन्द्रगुप्त ने भागकर तक्षशिला में आश्रय लिया। संभवतः यहीं उनकी भेंट राष्ट्रपुरुष चाणक्य या कौटल्य से हुई। उन्होंने देखा कि हमारी पुण्यभूमि को विदेशी पदाक्रांत कर रहे हैं। यह उनके लिए असह्य था। यही बात कौटल्य इन शब्दों में कहते थे—'न त्वेवार्यस्य दासभावः (आर्य को दास या गुलाम नहीं बनाया जा सकता)। श्रीकृष्णवल्लभ ने ठीक ही कहा है—'भारत के इतिहास में जब-जब भी इस प्रकार के गौरवशाली युग आये, तभी जाति की ब्राह्म और क्षात्रनाम की दो मूलभूत शक्तियों के प्रतिनिधि के रूप में एक ही युग में प्रायः साथ-साथ वाल्मीकि और रामचन्द्र, व्यास और कृष्ण, याज्ञवल्क्य और जनक, कालिदास और विक्रमादित्य, रामदास और शिवाजी-जैसे दो-दो महापुरुषों का आविर्भाव हुआ है। कौटल्य और चन्द्रगुप्त की भी ऐसी ही एक अद्भुत जोड़ी थी। इन युगल महापुरुषों की प्रतिभा से आज से चौबीस सौ वर्ष पूर्व इसके देश को जो राष्ट्रीय रूप मिला था, वह तो आज अतीत की एक कहानी भर रह गई है; किन्तु उसमें जो आदर्श निहित था, उसकी रूपरेखा कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में सदा के लिए अंकित कर दी है। यह उनकी एक बड़ी देन है। भारत के सिंहद्वार पर स्वर्ण अक्षरों में अंकित करने-योग्य स्वातंत्र्य सूत्र 'न त्वेवार्यस्य दासभावः' 'अर्थशास्त्र' में उल्लिखित राष्ट्र-निर्माता कौटल्य का ही एक मंत्र है। कौटल्य हमारे राजनीतिक आदर्शों के सबसे महान् विधायक हैं। व्यास आदि ने जहाँ प्रधानतः धर्म और मोक्ष की रूपरेखा अंकित की, वहाँ हमारे जीवन के तीसरे महत्वपूर्ण अंग 'अर्थ' का विधान महात्मा कौटल्य ही के हाथों हुआ। इस दृष्टि से मनु, वाल्मीकि,

व्यास आदि की भांति विष्णु गुप्त कौटल्य भी हमारी हिन्दू संस्कृति के एक प्रधान प्राण-प्रतिष्ठायक थे।'

तक्षशिला से लौटकर चन्द्रगुप्त ने कौटल्य की सहायता से नन्द को राजसिंहासन से उतारा और स्वयं बंगाल की खाड़ी से अरब सागर और हिमालय से नर्मदा तक समस्त आर्यावर्त को जीतकर सम्राट् बने। यह पहले लिखा जा चुका है कि सेल्युकस को बाध्य होकर अपनी पुत्री के अतिरिक्त काबुल, गांधार आदि चार बड़े प्रांत भी चन्द्रगुप्त को भेंट करने पड़े।

इस युग की एक दृष्टि से सबसे बड़ी पुस्तक 'अर्थशास्त्र' है। इससे प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त का राजप्रबन्ध इतना पूर्ण था कि प्राचीन संसार के इतिहास में ऐसा उदाहरण कहीं नहीं मिलता। प्राचीन यूनानियों तथा अकबर के राजप्रबन्ध में यह बहुत ही ऊँचा था। 'अर्थशास्त्र' में 'न केवल राज्य-संस्था का रूप, राजा का कर्त्तव्य, शासन-तंत्र की रचना तथा सेना, कोष, न्याय, रक्षा, कर, दंड, नीति आदि सम्बन्धी विधान ही है; प्रत्युत् जीवन में धर्म के साथ-साथ अर्थ की ऊँचाई का प्रतिपादन भी है। मनु की तरह कौटल्य भी कठोर अनुशासन के समर्थक हैं—वे भी दंड की परम सत्ता में विश्वास करते हैं और राजा की एकराट् शक्ति के पक्षपाती हैं। किन्तु राजा को वे प्रजा के साथ एकरस हो जाते देखना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में तो राजा का अस्तित्व वस्तुतः प्रजा के सुख और हित के लिए ही है।'

कौटल्य का मुक़ाबला इटली के राजनीतिज्ञ मेक्याविली से किया जाता है। यद्यपि योरप के कई लेखक तथा राजनीतिज्ञ मेक्याविली की शिक्षा पर दिल्लगी उड़ाते हैं, तो भी क्रियात्मक रूप से दैनिक जीवन में योरप का राजनीतिक दर्शन मेक्याविली की शिक्षा से ऊपर नहीं जाता। यद्यपि अँगरेजी के हरएक कोष

में मेक्याविली का बुरा अर्थ दिया गया है, तो भी यह बात उसकी विजय की सूचक है कि संसार का प्रायः हर एक राजनीतिज्ञ उसी ढंग से काम करता है जिसका प्रतिपादन मेक्याविली ने अपनी पुस्तक 'शासक' (प्रिंस) में किया है।

कौटल्य के समय समस्त उत्तर भारत में एक प्रकार की छोटी-छोटी प्रजासत्तात्मक रियासतें थीं। पूर्व में वज्जिका, लिच्छविका तथा मल्लिका, बीच में कुरु तथा पंचाल, उत्तर-पश्चिम में मद्र और दक्षिण पश्चिम में कुकुर बहुत शक्तिशाली थीं। कौटल्य एक राजा के शासन के पक्ष में होने के कारण इन छोटे राज्यों को मगध के साम्राज्य में सम्मिलित देखना चाहते थे। यही उन्हें राष्ट्र का गौरव बढ़ाने और उसे विदेशियों से सुरक्षित रखने का बड़ा साधन मालूम होता था। देश का विभिन्न राज्यों में बँटना उन्हें राष्ट्र की निर्बलता का बड़ा कारण प्रतीत होता था।

मौर्य वंश के राज्य-काल में ऐसे छोटे राज्यों का कोई पता नहीं चलता। परन्तु ज्योंही मौर्य वंश का पतन हुआ, त्योंही यौधेय, माल्लव, वृष्णि, औदुंबर आदि जनपद खड़े हो गये। महाभारत के शांतिपर्व में भीष्म ने भी गणों को फूट से बचाने के लिए बार-बार इस बात पर जोर दिया है कि 'उनके अंदर सहिष्णुता एवं शांतिप्रियता हो। क्योंकि रहस्य का रखना कठिन होता है, इसलिए गुप्त मामलों के लिए छोटा मंत्रि मंडल बनाया जाय। क़ानून तथा न्याय के प्रबन्ध में किसी की रिआयत या पक्षपात न किया जाय। जिस गण में इन बातों का ध्यान रखा जायगा और आंतरिक कमजोरियाँ न होंगी, वह बाह्य शत्रुओं तथा संकटों का प्रतिरोध कर सकेगा।'

मेक्याविली के समान कौटल्य भी इस बात पर बहुत जोर देते हैं कि 'राजा का नैतिक आचार प्रजा के नैतिक आचार से

भिन्न होना चाहिए। जो बातें प्रजा के विभिन्न व्यक्तियों के लिए अनुचित होती हैं वे राज्य के लिए कई बार उचित एवं प्रशंसनीय हो जाती हैं। जनसाधारण के लिए चोरी निंद्य है, परन्तु साम्राज्य के लिए यह उचित है। आम आदमियों के लिए प्रतिज्ञा-भंग बहुत बुरा है; परन्तु साम्राज्य के लिए यह उचित एवं आवश्यक है। साम्राज्य के लिए हर प्रकार का धोखा, घूँस, शत्रु के साथियों का वरगलाना, पर-राष्ट्र में विद्रोह करवाना, उसके कर्मचारियों को विद्रोही बनाना—सब कुछ उचित है।' कौटिल्य ने गुप्तचरों पर बहुत जोर दिया है। हर विभाग में गुप्तचर रखने का विधान है। शिक्षकों तथा शिक्षितों से जासूसी का काम लिया जाता था। (भारत के वर्तमान विदेशी शासन में भी यही देखा जाता है।)

मेगस्थनीज़ ने तात्कालिक भारत के संबंध में एक पुस्तक लिखी थी। वह अप्राप्य है। परन्तु उसके उद्धरण अन्य पुस्तकों में मिलते हैं। मेगस्थनीज़ ने लिखा है—"यह देश बड़ा वैभवशाली था। उपज बहुत होती थी। अधिकतर भूमि की सिंचाई होती थी। अन्न और फल बहुत पैदा होते थे। आम खयाल था कि आर्यावर्त्त में कभी दुर्भिक्ष नहीं पड़ा और न अन्न प्राप्त करने में कभी कोई मनुष्य तंग हुआ। इसका एक कारण यह था : हिन्दुओं में यह आम दस्तूर था कि वे खेती-बाड़ी करनेवालों की रक्षा करना अपना विशेष कर्त्तव्य समझते थे। लड़ाई के समय खेती और काश्तकारों को कोई कुछ न कहता था। विभिन्न शिल्पों तथा कलाओं में भी हिन्दू बहुत दक्ष थे।"

उस समय के हिन्दुओं को उसने सात श्रेणियों में विभक्त किया है—"दार्शनिक, मंत्री, सैनिक, निरीक्षक, काश्तकार, शिल्पकार और गड़रिये। धार्मिक कर्त्तव्यों की पूर्ति करनेवाले

ब्राह्मण दार्शनिक थे। वे राजा की नौकरी न करते थे। मंत्री वे ब्राह्मण थे जो राजा की नौकरी करते थे। कुछ दार्शनिक सैंतीस वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् गृहस्थ बनते थे, कुछ वनों में रहा करते। हिन्दू प्रायः सत्य-प्रिय तथा सच्चरित्र थे। वे झूठ कभी न बोलते थे। एक दूसरे की बात पर उन्हें यहाँ तक भरोसा था कि सभी काम मौखिक होते थे। लिखने की आवश्यकता न समझी जाती थी। वे मुक़दमेबाज़ न थे; व्यवहार के सच्चे और हर मामले में स्पष्टवादी होते थे। चोरी बहुत कम होती थी। स्त्रियाँ पतिव्रता थीं। दासत्व का कहीं कोई निशान भी न था। साहस तथा शौर्य में हिन्दू एशिया की सभी जातियों से बढ़-चढ़कर थे। वे स्वतंत्रता-प्रिय थे। इस समय सिवाय ईरान और मेसिडोनिया के हलके हमलों के कोई आक्रमण न हुआ और न हिन्दू ही किसी के विरुद्ध मुहिम ले गये।"

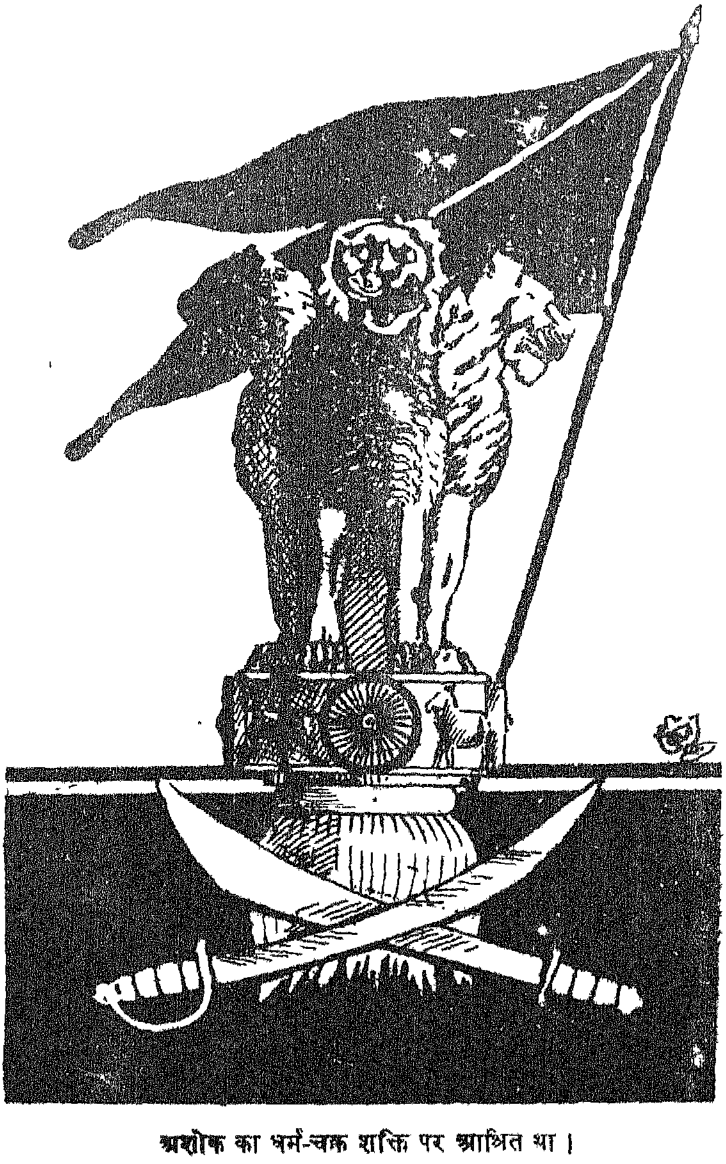
पाटलिपुत्र के विषय में मेगस्थनीज़ ने लिखा है—"यह नगर नौ मील लम्बा और डेढ़ मील चौड़ा था। इसके गिर्द लकड़ी की मज़बूत दीवार थी जिसके चौंसठ दरवाज़े थे। इस पर ५७० बुर्ज बने हुए थे। राज-प्रासाद बड़ा शानदार था। वह लकड़ी का बना हुआ था। सम्राट् की सवारी सोने की पालकी में निकला करती। सम्राट् पशु-युद्ध देखा करते थे। इनमें गाड़ियों की दौड़ भी एक खेल हुआ करता था। इन गाड़ियों को नवयुवतियाँ हाँका करतीं।"

चन्द्रगुप्त के पश्चात् उनका बेटा बिंदुसार अमित्रघात उत्तराधिकारी बना। उसके राज्य-काल में दक्षिण भारत को मौर्य साम्राज्य में सम्मिलित किया गया। उसकी ख्याति यहाँ तक फैली कि मिस्र के राजा ने भी अपना दूत पाटलिपुत्र में भेजा। इस समय तक्षशिला के प्रांतीय शासक बिंदुसार के पुत्र अशोक

थे। तक्षशिला-प्रांत में काश्मीर, पंजाब और अफ़ग़ानिस्तान सम्मिलित थे। तक्षशिला का विश्वविद्यालय आयुर्वेद की शिक्षा के लिए बहुत विख्यात था और उज्जैन का गणित तथा ज्योतिष के लिए।

२७३ ई० पू० में बिंदुसार की मृत्यु के पश्चात् अशोक राज सिंहासन पर बैठे। उन्होंने कलिंग पर चढ़ाई की जिसमें लगभग एक लाख आदमी मारे गये और डेढ़ लाख पकड़े गये। इनसे कहीं अधिक संख्या में लोग महायुद्ध के परिणाम-स्वरूप दुर्भिक्ष तथा महामारी का शिकार हुए। इन दृश्यों का प्रभाव अशोक पर यह हुआ कि उन्होंने युद्ध न करने की प्रतिज्ञा कर ली। बौद्ध मत ग्रहण कर अशोक ने अपनी सारी शक्ति उसके प्रचार में लगा दी। इस दृष्टि से संसार भर के शासकों में उनका स्थान अद्वितीय है।

बौद्ध मत की दीक्षा के ढाई बरस बाद वे श्रावक बन गये। उन्होंने विभिन्न बौद्ध तीर्थों की यात्रा की। वे जहाँ जाते, निर्धनों तथा ब्राह्मणों में बहुत-सा धन बाँटते। पहले वे शैव मत मानते थे। तब उनके रसोईघर में हज़ारों पशुओं का वध होता था। स्वयं उनके लिए प्रतिदिन दो मोर और एक हिरन मारा जाता। बौद्ध बनने के पश्चात् पहले तो उन्होंने शिकार का विभाग बन्द कर दिया, तत्पश्चात् आज्ञा दी कि पाकशाला में कोई जानवर मारा न जाय। इनके धर्म-प्रचार के अंतस्तल में किसी देश को अपने अधीन करने की इच्छा न पाई जाती थी। उनके प्रचारक मिस्र सीरिया, यूनान, अफ्रीका आदि देशों में प्रचार करते थे। उनकी लड़की चारुमति भिक्षुणी बनकर नैपाल गई और लड़का भिक्षु के रूप में लंका जाकर प्रचार करता रहा। प्रचारार्थ उन्होंने स्थान-स्थान पर बौद्ध मठ तथा विहार बनवाये। राजगृह ही में ढाई सौ जटिल रहा करते थे।



अशोक का धर्म-चक्र शक्ति पर आश्रित था।

अशोक को तलवार एक तरफ़ रखकर प्रेम तथा धर्म के द्वारा हृदय पर विजय पाना ही अभिष्ट था। उन्होंने प्रधान शिलालेख संख्या १३ में कहा है—"जो विजय धर्म द्वारा की जाती है उसे ही देवताओं का प्रिय विजय मानता है।" बंगाल की खाड़ी से लेकर अफ़ग़ानिस्तान तक समस्त साम्राज्य में जंगलों, गाँवों, शहरों, राजमार्गों, तीर्थस्थानों तथा राजधानियों में स्तंभ और स्तूप, शिलालेख और प्रशस्तियाँ निर्मित कर उन्होंने हमेशा के लिए अपने हृदय के स्वर अंकित कर दिये।

उनका साम्राज्य अफ़ग़ानिस्तान, बलूचिस्तान, सिंध, स्वात, जाजौर, काश्मीर और नेपाल तक फैला हुआ था। श्रीनगर को उन्होंने काश्मीर की नई राजधानी बनाया और ललितपुर को नेपाल की। दक्षिण में कलिंग आंध्र तक फैला हुआ था। चोल, केरल तथा पांड्य स्वतंत्र राज्य थे। समस्त साम्राज्य को उन्होंने चार भागों में बाँटा हुआ था। चारों के चार अलग-अलग शासक थे। उनके इकतालीस बरस के शासन में कहीं एक बार भी विद्रोह न हुआ। इसका एक विशेष कारण यह था। साम्राज्य के विभिन्न भागों में फैले हुए अपने महामात्यों को उन्होंने आदेश दे रखा था कि 'आप लोग हज़ारों स्त्री-पुरुषों पर इसलिए रखे गये हैं कि देवताओं का प्रिय सत्पुरुषों का स्नेहभाजन बन सके।' अपने प्रतिवेदकों को उन्होंने यह आज्ञा दे रखी थी—'चाहे मैं भोजन करता होऊँ, चाहे अंतःपुर या शयनागार में होऊँ, प्रतिवेदक मुझे प्रजा का कार्य सूचित करे। मैं हर जगह प्रजा-रंजन का कार्य करूँ॥।'

अभिषेक के अठारहवें वर्ष में अशोक ने बौद्ध संघ की तीसरी संगीति या सभा बुलाई। पाटलिपुत्र के पास अशोकाराम में सम्राट् के धर्मगुरु उपगुप्त के नेतृत्व में नौ महीने तक उसका

अधिवेशन हुआ। इसी के फलस्वरूप भारत से बाहर कितने ही देशों में प्रचारक भेजे गये।

अशोक के चार उत्तराधिकारियों ने १३७ वर्ष तक राज्य किया। तत्पश्चात् १८५ ई० पूर्व में इस वंश का अन्त हो गया। इसके बाद की चार शताब्दियाँ क्रांति-युग हैं। इसमें एक के बाद दूसरा राज-घराना आया। इन राजाओं में कनिष्क सबसे ज़्यादा प्रसिद्ध हुए।

कनिष्क—सन् ७८ में तक्षशिला के सिंहासन पर बैठकर कनिष्क ने अपना साम्राज्य मथुरा तक फैलाया। उनके नाम के लेख अफ़ग़ानिस्तान, पंजाब और सीमाप्रान्त में मिलते हैं। उनका नाम तिब्बत, चीन और मंगोलिया तक के लोगों में प्रख्यात हो गया। उन्होंने ताशकंद, यारकंद और खोतन को जीता। पेशावर में उन्होंने गौतम बुद्ध की स्मृति में एक बड़ा स्तंभ बनवाया।

बौद्ध मत की पहली संगीति गौतम बुद्ध की मृत्यु पर हुई थी। चौथी कनिष्क के समय में हुई। इस समय तक बौद्धों में मतभेद आरम्भ हो चुके थे। प्रारम्भ में गौतम बुद्ध की कोई मूर्त्ति न थी। परन्तु जनसाधारण तो पूजा के लिए कोई न कोई वस्तु चाहते ही हैं। उन्होंने बुद्ध की मूर्त्तियाँ बनाकर पूजा शुरू कर दी। इनमें बुद्ध को ध्यान की अवस्था में दिखलाया गया है। धीरे-धीरे गौतम बुद्ध को परमात्मा या ब्रह्मा का स्थान मिल गया, बौद्ध-संघ को विष्णु और धर्म को शिव का। कहा जाता है कि मूर्तियाँ जारी करनेवाला संप्रदाय महायान है। आदि या प्राचीन शाखा का नाम हीनयान हो गया।

महायान के प्रवर्तक कनिष्क समझे जाते हैं यद्यपि उनका बड़ा प्रचारक नागार्जुन था जिसने बौद्ध मत में भक्ति को

सम्मिलित करके उसे सर्वप्रिय बना दिया। बौद्धों की एक संगीति काश्मीर में हुई जिसमें पाँच सौ भिक्षु आदि सम्मिलित हुए। इसमें बुद्ध के उपदेशों के संग्रह त्रिपिटक का एक महाभाष्य तैयार कराया गया। (त्रिपिटक के तीन भाग हैं—सूत्रपिटक, विनयपिटक और अभिधर्मपिटक)। इसकी एक प्रति ताम्रपत्रों पर खुदवाकर श्रीनगर के निकट एक बड़े स्तूप के नीचे गाड़ दी गई।

कनिष्क के राज्य-काल में तक्षशिला बहुत समृद्धिशाली हो गया। चीन, तातार, एशिया कोचक आदि समस्त संसार के विद्यार्थी इसके विश्वविद्यालय में आकर शिक्षा ग्रहण करते थे। कनिष्क के पश्चात् तीन उत्तराधिकारी सिंहासन पर बैठे—वाशिष्क, हौविष्क तथा वासुदेव। हौविष्क ने दर्रा बारहमूला में हौविष्कपुर- नाम से एक नई राजधानी बसाई। यह चीनी यात्री ह्युन साँग के समय तक क़ायम थी।

गुप्तवंश—सन् २२० के बाद एक सौ वर्ष तक देश में कोई बड़ा राज्य दिखाई नहीं देता। ३२० में चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी राजसत्ता बनाई। पाटलिपुत्र के निकट लिच्छवि-राजवंश बहुत मान्य समझा जाता था। चन्द्रगुप्त ने उसकी एक राजकुमारी से ब्याह करके पाटलिपुत्र पर अधिकार कर लिया। उसने अपना संवत् चलाया।

पन्द्रह वर्ष बाद उनके पुत्र समुद्रगुप्त सिंहासन पर बैठे। वे बहुत विख्यात राजा हुए। वे बड़े राजनीतिज्ञ, वीर, कवि तथा विद्वानों के पोषक थे। पचास बरस तक शासन करने के पश्चात् उनकी मृत्यु पर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने राज्य-भार सँभाला। हिन्दू परम्पराएँ उनका समय ५७ ई० पू० बताती हैं। परन्तु विदेशी लेखक उनके अभिषेक को ३७५ में मानते हैं।

उन्होंने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र से अयोध्या में बदल ली। मालवा, गुजरात और काठियावाड़ आदि प्रदेश सन् १२६ से शकों के अधीन चले आते थे। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शकों के अंतिम शासक रुद्रसिंह का वध करके मालवा आदि पर अधिकार कर लिया। उसकी राजसभा के नवरत्न बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें से एक कालिदास थे जिनके नाटकों आदि ने भारत के मस्तक को ऊँचा कर रखा है। कालिदास के शकुन्तला-नाटक में सत्य-शिव सुन्दर की त्रिज्योति को प्रतिबिंबित देखकर जर्मन कवि गेटे जैसे साहित्य-मर्मज्ञ ने लिखा है—"क्या तू नव वर्ष के आगमन की सूचना देनेवाले वसन्त पुष्पों और उसके अंतिम दिनों के परिपक्व फलों को, अथवा उस सबको जिससे मानव-आत्मा उल्लसित, मुग्ध तथा चिरतृप्त होती है, एक ही शब्द द्वारा अभिहित करना चाहता है? क्या तुझे पृथ्वी और स्वर्ग, दोनों, के लिए एक ही संयुक्त नाम चाहिए? तो लो, मैं कहता हूँ शकुन्तला। बस सभी कुछ इसी एक शब्द में कह दिया गया है।"

पंजाब, मालवा और पूर्वी राजपूताना प्रजासत्तात्मक गणों या क़बीलों के अधीन थे। कुमाऊँ, गढ़वाल तथा कांगड़ा मिल कर कीर्तिपुर का राज्य था। १०० ई० पू० के गिरनार के शिलालेख से मालूम होता है कि यौद्धेय सबसे बहादुर गण समझा जाता था। इसका राज्य उत्तर में भरतपुर, सहारनपुर दीपालपुर, सतगृह, करोड़ तथा मुलतान तक और पूर्व में भटनेर, अबोहर, सिरसा, हांसी, पानीपत, सोनीपत तथा सतलज और यमुना के बीच के प्रदेश में फैला हुआ था। कांगड़ा तथा जगाधरी में भी इसके सिक्के मिले हैं।

चौथी शताब्दी में भी ये गण पाये जाते थे। इनकी शक्ति का क्षय होने पर कुमारगुप्त ने ४५० तक मगध में राज्य किया।

उसका उत्तराधिकारी स्कंदगुप्त (४५० से ४६७ तक) बना। इसके राज्य-काल में खैबर के दर्रे से सफ़ेद हूण प्रकट हुए। ये लूटमार मचाने लगे। स्कंदगुप्त ने इनको एक बार बुरी तरह से परास्त किया। परन्तु ४७० में वे फिर आ गये। अब स्कंदगुप्त से कुछ न हो सका।

स्कंदगुप्त के बाद चार अन्य राजा हुए जिनमें से अंतिम बालादित्य था। ये गुप्त राजा ब्राह्मणों के कथनानुसार धार्मिक कृत्य करते थे। तो भी ये बौद्धों के विरुद्ध न थे। संभवतः ब्राह्मणों ने ही गौतम बुद्ध को विष्णु का अवतार बना कर अपने धर्म का एक अंग बना लिया था।

ज्यों-ज्यों बौद्ध मत निर्बल होता गया त्यों-त्यों प्राकृत तथा पाली भाषाओं के स्थान में संस्कृत उन्नति करने लगी। गुप्तों के राज्य-काल में एक बार फिर से संस्कृत ही धर्म तथा राज-प्रबंध की भाषा बन गई। इसके साथ अन्य विद्याओं ने भी उन्नति की। आर्य-भट्ट, वराह मिहिर तथा ब्रह्मगुप्त बड़े गणितज्ञ थे। इस युग की मूर्त्तियाँ तथा कला के अन्य नमूने सारनाथ में पाये जाते हैं। देहली का कुतब मीनार समुद्रगुप्त के समय में बनाया गया था। इस काल में अजन्ता की गुफाओं में दीवारों पर जो अमर चित्र बनाये गये उनको देखने के लिए देश-विदेश से कलाकार आते हैं।

फाह्यान—विक्रमादित्य के राज्य-काल में पहला चीनी यात्री फाह्यान भारत आया। यह ४११ से ४५५ तक देश में घूमता रहा। यात्रा में इसे पंद्रह वर्ष लगे। पाटलिपुत्र में बड़ी रौनक़ थी। उसके समीप महायान तथा हीनयान दोनों संप्रदायों के मठ थे जिनमें भिक्षु रहा करते थे। वहाँ सभी ओर से

विद्यार्थी आकर पढ़ा करते। फाह्यान ने भी वहाँ तीन वर्ष रह-कर संस्कृत का अध्ययन किया।

फाह्यान पश्चिमी चीन से होता हुआ गोबी के जंगल के दक्षिण से गुजर कर खोतन के रास्ते हिन्दुस्थान आया। खोतन के लोग महायान-पंथी थे। पामीर-प्रदेश को मुश्किल से पारकर वह स्वात से होता हुआ पेशावर और वहाँ से तक्षशिला पहुँचा।

फाह्यान पुस्तकों की खोज में निकला था। सिंध-नदी से मथुरा तक उसने स्थान-स्थान में बौद्ध मठ देखे। "इन मठों में हज़ारों भिक्षु रहते थे। अकेले मथुरा में तीन हज़ार भिक्षु थे। समस्त देश में कोई आदमी किसी जीव या प्राणी को न मारता था। न कोई शराब पीता, न प्याज या लहसुन खाता। सुअर या मुर्गा कोई न रखता। लोग जानवर नहीं बेचते थे। मंडी के पास न क़साइयों की दूकानें थीं, न शराबखाने। चांडाल शहर से बाहर रहते। शहर में प्रवेश करते समय उन्हें पूर्व सूचना देनी पड़ती ताकि लोग उनको छूकर भ्रष्ट न हो जायँ। शासन की ओर से लोगों के मामलों में बहुत कम दख़ल दिया जाता। जिसका जो चाहे रहे या चला जाय। किसी पर कोई पाबंदी नहीं थी। अधिकतर अपराधियों को जुर्माना ही देना पड़ता। मृत्यु-दंड किसी को नहीं दिया जाता था और न शहादत देने के लिए किसी को कष्ट दिया जाता।"

गुप्त वंश के राजा अन्य हिन्दुओं के समान ही बौद्धों तथा जैनों की रक्षा करते थे। भिक्षुओं को हर स्थान में चारपाइयाँ, बिस्तरे तथा भोजन मिल जाता। दूसरे मास के आठवें दिन मूर्त्तियों के बड़े-बड़े जलूस निकाले जाते थे।

तोरमाण तथा मिहिरकुल—चौथी शताब्दी ई० में हूणों का एक और खूँख़ार क़बीला मध्य एशिया से उठकर एशिया

और योरप में फैल गया। इसकी पश्चिमी शाखा ने वोलगा नदी पार करके योरप को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। इन लोगों का सबसे बड़ा सरदार एटिला था जिसकी भयंकरता एवं निर्दयता की कहानियाँ योरपीय सहित्य में बहुत पाई जाती हैं। इसकी पूर्वी शाखा ने गांधार, पेशावर, पंजाब और गुजरात को लूटा।

हूणों का पहला आक्रमण स्कंदगुप्त के समय हुआ। उसके दस वर्ष बाद उन्होंने गांधार पर क़ब्ज़ा कर लिया। उनकी लहर गंगा तक जा पहुँची। उनका सरदार तोरमाण था। ५०० में वह मालवा का स्वामी बन बैठा और उसने महाराजाधिराज की उपाधि ग्रहण कर ली। ५१० में उसकी मृत्यु पर उसका बेटा मिहिरकुल उत्तराधिकारी बना। उसने पंजाब में शाकल (सियालकोट) को अपनी राजधानी बनाया। उसके सिक्के गुजरांवाला तथा झंग के जिलों में मिले हैं। एटिला के समान मिहिरकुल भी बड़ा क्रूर तथा निर्दय था। उसकी तरह इसकी शकल भी बहुत भद्दी और कुरूप थी। यह लोगों को क़त्ल करता, गाँव जला देता और खेतों को उजाड़ देता था।

५२८ में मगध के राजा बालादित्य ने मिहिरकुल को परास्त करके उसके राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया, परन्तु साथ ही मूर्खतावश उसको प्राणदान दे दिया। परिणामस्वरूप मिहिरकुल फिरता-फिराता काश्मीर जा पहुँचा। यहाँ के राजा ने भी मूर्खता का प्रदर्शन करते हुए उसे एक छोटी-सी जागीर दे दी। ऐसा मालूम होता है कि ये राजा न तो दूर की बात सोचते थे और न शत्रु का उन्मूलन करना इनको अच्छा लगता था। इनकी इस उदारता के अन्तस्तल में निर्बुद्धिता एवं आत्मघात की प्रवृत्ति पाई जाती थी।

काश्मीर में ही मिहिरकुल ने अपनी शक्ति बढ़ानी आरम्भ की। काश्मीर-नरेश ने इस ओर कोई ध्यान न दिया। फलस्वरूप मिहिरकुल ने पहले अपने कृपालु तथा आश्रयदाता को ही पराजित कर उसके सिंहासन पर क़ब्ज़ा किया। तत्पश्चात् गांधार पर चढ़ाई कर उसपर अधिकार कर लिया। फिर लोगों को क़त्ल करता हुआ सिंधु नदी तक आ पहुँचा। रास्ते में उसने कितने ही मठों तथा मन्दिरों को नष्ट किया। ५४० में वह मर गया।

बहुत-से हूण पंजाब में ही रहकर आबाद हो गये। उन्होंने हिन्दू रीति-रिवाज ग्रहण कर लिये। मिहिरकुल भी शिव का उपासक बन गया था। हिन्दू धर्म ने ऐसे भयंकर तथा खूँख़ार लोगों को भी अपने अन्दर जज़्ब कर लिया। यह उसकी क्षमता का एक प्रमाण है।

हर्षवर्द्धन—सातवीं शताब्दी के आरम्भ में पंजाब में एक और महापुरुष पैदा हुए जिनका नाम निस्संदेह भारत के बड़े राजाओं की सूची में आना चाहिए। कुरु-क्षेत्र के मैदान में थानेश्वर एक बड़ा तीर्थ है। इसके पास ही सरस्वती नदी बहा करती थी। इस प्रदेश का नाम ब्रह्मर्षिदेश प्राचीन काल से चला आ रहा था।

हूण लोग जब पंजाब पर आक्रमण कर रहे थे तब यहाँ राजा प्रभाकरवर्द्धन ने बड़े साहस से उनका मुक़ाबला किया और अपने बड़े पुत्र राजवर्द्धन को उन्हें रोकने के लिए उत्तर-पश्चिमी सीमा पर भेजा। उसके साथ उसका छोटा भाई हर्ष-वर्द्धन भी था। वहाँ उन्हें सूचना मिली कि उनका पिता बहुत बीमार है।

राजवर्द्धन वापस लौटकर ६०५ में राजसिंहासन पर बैठा। उसकी एक बहिन राजेश्वरी मालवा में ब्याही गई थी। मालवा-

नरेश ने राजवर्द्धन के बहनोई का वध कर डाला और राजेश्वरी के पैरों में बेड़ियाँ डालकर उसे कारागार में डाल दिया। राजवर्द्धन यह सुनते ही दस हज़ार सवार लेकर ब[हि]न को छुड़ाने के लिए मालवा की ओर बढ़ा। वहाँ नरेश को उसने बड़ी भारी पराजय दी। परन्तु मालवा की सहायता करने बंगाल का राजा शशांक भी आया हुआ था। उसने धोखे से राजवर्द्धन को क़त्ल कर डाला।

हुएनसांग बताता है कि जब राजवर्द्धन मारा गया तब सभी मंत्री एकत्र हुए। उनके सामने एक ने कहा—"मैं हर्षवर्द्धन का नाम प्रस्तुत करता हूँ। वे सारे राज-परिवार के प्रिय हैं। वे सबके विश्वास-भाजन हैं।" मंत्रियों ने अपनी-अपनी राय दी। वह तजवीज मान ली गई और हर्षवर्द्धन राजा बनाये गये।

राजेश्वरी भागकर विंध्याचल के जंगलों में चली गई थी। हर्षवर्द्धन की आयु उस समय पंद्रह-सोलह वर्ष की थी। जब उन्हें अपने भाई-बहिन का यह दुःखपूर्ण वृत्त प्राप्त हुआ तो वे शशांक से बदला लेने के लिए चल पड़े। जब वे विंध्याचल के उस जंगल में पहुँचे, तो उनकी बहिन अन्य कई एक ललनाओं के साथ सती होने को तैयार थी। उसे बचाकर हर्षवर्द्धन ने शशांक को परास्त किया और उसका प्रदेश जीतने के लिए तैयार हो गया।

इस समय हर्ष के पास पचास हज़ार प्यादे और बीस हज़ार सवार थे। साढ़े पाँच वर्ष तक लड़ाइयाँ करके उन्हों ने समस्त उत्तरी भारत जीत लिया। वे पैंतीस वर्ष तक राज्य करते रहे।

तब सज़ा बहुत सख़्त दी जाती। कई अपराधियों के नाक, कान, हाथ तथा पाँव काट दिये जाते। क़ैदियों के साथ अच्छा

व्यवहार न किया जाता। समस्त राज्य में शिक्षा बहुत फैली हुई थी। राज्य के विभिन्न विभाग तथा कार्यालय सुचारु रूप से चलाये जाते थे। हर्ष ने कनौज को अपनी राजधानी बनाया।

प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनसांग इन्हीं दिनों भारत में आया। हर्ष ने यह खबर पाकर उसे अपने पास बुला भेजा। संयोग से हर्ष प्रवास को जा रहा था, जब हुएनसांग उसे रास्ते में मिला। चीनी यात्री ने पहली भेंट का बहुत मनोरंजक वृत्त दिया है। उनके दैनिक जीवन तथा चरित्र की वह बहुत प्रशंसा करता है। उसने लिखा है—"हर्ष ने दस हज़ार स्तूप तथा मठ स्थापित करवाये। वे सभी संप्रदायों के साधुओं को उदारता-पूर्वक दान देते थे। जहाँ-जहाँ ठहरते, वहीं एक हज़ार भिक्षुओं और पाँच सौ ब्राह्मणों को भोजन कराते।"

राजा हर्ष हीनयान में विश्वास रखते थे। वे प्रतिवर्ष बौद्ध संघ का अधिवेशन करते। ह्यूनसांग ने उन्हें महायान के उत्कृष्ट होने के विषय में कई बातें कहीं। राजा ने दोनों का मुक़ाबला करने के लिए ६४३ में एक बड़ी सभा बुलाई। एक बहुत बड़ा शिविर लगाया गया। इसमें बीस राजा सम्मिलित हुए। कामरूप (आसाम) और वलभी (काठियावाड़) के राजा भी आये। चार हज़ार भिक्षु, तीन हज़ार ब्राह्मण और कई जैन पंडित भी पहुँचे। हाथियों और पालकियों में सवार होकर बडे-बड़े मठाधीश सभा में आये। मंडप की बड़ी शोभा थी। बीच में एक स्तंभ पर गौतम बुद्ध की मूर्त्ति रखी गई। इस मूर्त्ति के जलूस में स्वयं राजा ने छत्र पकड़ा और राजकुमार चँवर डुला रहा था। रास्ते में मोती बिखेरते हुए राजा ने उसे अपने स्थान पर जा रखा।

हुएनसाँग को इस सभा का प्रधान बनाया गया। उसने सब को चुनौती दी कि जो आदमी मेरे तर्क को काट देगा, उसे मेरा

सिर काटने का अधिकार होगा।' किसी को उसके साथ विवाद करने का साहस न हुआ। अठारह दिन तक सभा होती रही। परन्तु इसका परिणाम अच्छा न हुआ। किसी ने षड्यंत्र करके मंडप में आग लगा दी। राजा पर भी वार किया गया। फलस्वरूप पाँच सौ ब्राह्मणों को निर्वासित कर दिया गया।

उसी वर्ष प्रयाग में एक मेला हुआ जिसमें लगभग पाँच लाख साधु, संन्यासी और दूसरे लोग एकत्र हुए। वहाँ पहले दिन गौतम बुद्ध की, दूसरे दिन सूर्य की और तीसरे दिन शिव की पूजा की गई। राजा ने सर्वमेध यज्ञ करके अपनी हर एक चीज दान कर दी। हर एक भिक्षु को सोने की एक एक सौ मुद्राएँ दान दी गईं। जैन पुजारियों को भी दान दिया गया। एक मास तक अनाथों तथा निर्धनों को दान दिया जाता रहा। अन्य राजाओं ने राजा हर्ष का सारा सामान भिक्षुओं आदि से मोल लेकर उन्हें लौटा दिया।

इस मेले के दस दिन बाद हुएनसांग अपने देश चीन के लिए चल दिया। राजा ने बहुत सा सोना-चाँदी और बहुमूल्य वस्तुएँ उसे भेंट कीं। उसने केवल समूर का चोगा-सा रखकर बाक़ी सब कुछ लौटा दिया। छः मास के सफ़र के बाद वह जालंधर (पंजाब) पहुँचा। अपने साथ वह अगणित मूर्तियाँ तथा पुस्तकें लिये हुए था। नमक की खानों (खयूड़ा ?) से पास से होता हुआ वह पामीर और खोतन के रास्ते ६४५ में चीन पहुँचा।

महाराजा हर्ष का देहांत ६४७ में हुआ। वे बड़े विद्वान थे। उनके लिखे हुए नाटक मिलते हैं। व्याकरण पर भी उन्होंने एक पुस्तक लिखी। चीन के सम्राटों से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था।

बौद्ध संघ—वैदिक समाज की नीव वर्णों और आश्रमों पर रखी गई थी। वर्णों के कर्त्तव्यों पर विचार करने से यह

स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक धर्म का आदर्श समस्त समाज को एक समझना था। समाज का हर एक घटक सर्वप्रथम अपने समाज के हित के लिए जीवन व्यतीत करता था। उसका अपना व्यक्तिगत हित इसी में समझा जाता था कि समस्त समाज सामूहिक रूप से उन्नति करे। कारण : वह उसी का एक अंग होने से स्वयमेव उन्नति करता जायगा। वर्णों के दृष्टिकोण से समाज ही सब कुछ था; व्यक्ति का कोई महत्त्व न था। ब्राह्मण अपनी सारी बुद्धि तथा विद्या समाज को अर्पण कर देते थे जिसके बदले में उनको साधारण आवश्यकताओं के लिए सामग्री प्रस्तुत की जाती थी। समाज को संकट से बचाने के लिए क्षत्रिय हर समय अपने प्राण देने को तैयार रहते थे। इसी प्रकार वैश्य अपना धन और शूद्र अपना शरीर समाज को अर्पण कर देते थे।

समाज की वैदिक कल्पना में व्यक्ति की उपेक्षा नहीं की गई थी। चार आश्रमों की प्रणाली तथा कर्त्तव्यों पर विचार करने से मालूम होता है कि जहाँ पर व्यक्ति को समाज के लिए जीवित रहना होता था वहाँ पर हर एक व्यक्ति के जीवन को उत्तम तथा अधिक उपयोगी बनाने के लिए पूर्ण अवसर तथा प्रबन्ध था। किसी वर्ण में प्रविष्ट होने से पूर्व हर एक व्यक्ति को पचीस वर्ष की आयु तक शिक्षा प्राप्त करनी होती थी। यह निश्शुल्क शिक्षा राज्य की ओर से ग़रीब-अमीर को एक-जैसी दी जाती थी। दूसरे शब्दों में राष्ट्र के सभी बच्चे समाज की संपत्ति समझे जाते थे। ब्रह्मचर्य-आश्रम के पश्चात् गृहस्थ-आश्रम में वर्णों के विभिन्न कर्त्तव्यों को पूरा किया जाता था। गृहस्थ छोड़ते ही वानप्रस्थ और उसके बाद संन्यास हर व्यक्ति की उन्नति के लिए विशिष्ट थे। परन्तु संन्यास में मनुष्य को वह शक्ति समाज

के पथ-प्रदर्शन में व्यय करनी पड़ती थी जिसका संचय उसने वानप्रस्थ में किया था।

त्याग तथा तप का जीवन व्यतीत करना साधारण बात थी। इसके लिए विशेष नियम बनाये गये थे। यद्यपि हर एक मनुष्य वानप्रस्थ नहीं बनता था, तो भी इसमें संदेह नहीं कि खास उम्र तक गृहस्थ के कर्त्तव्य पूर्ण करने के पश्चात् बहुत से लोग उसका त्याग कर वानप्रस्थ बन जाते थे। इनमें से कई आश्रमों में रहते थे। कहीं दो सौ, कहीं चार-चार, पाँच-पाँच सौ इकट्ठे रहा करते। उनको जटिल, जीवक या निर्ग्रन्थ भी कहा जाता था।

गौतम बुद्ध ने वर्णों के अनुसार कर्त्तव्यों के विभाजन को ठीक न समझा। एक दृष्टि से उनकी शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को ऊँचा उठाना था। परन्तु राष्ट्रीय जीवन तथा राष्ट्रीय कर्त्तव्यों की उपेक्षा की गई। उनकी दृष्टि में मनुष्य का कर्त्तव्य एकमात्र यह था कि वह अपने कर्मों को अच्छा बनाये। कारण: मनुष्य को उसके सद्कार्य हो उन्नति की ओर ले जा सकते हैं और मानव के लिए उसकी उन्नति का आदर्श निर्वाण है। व्यक्ति को इस आदर्श तक पहुँचाने के लिए गौतम बुद्ध ने संघ की स्थापना की। वानप्रस्थ आश्रम के कई नियमों को संघ में प्रचलित किया गया। एक सभा में बैठने तथा वर्षा-ऋतु में आराम करने का रिवाज साधुओं में पहले से चला आता था।

बौद्ध संघ का अध्ययन करने से हमें उस समय के समाज की स्थिति अच्छी तरह से मालूम हो जाती है। पुराने वैदिक आश्रम और नवीन बौद्ध आश्रम में बड़ा अन्तर यह था कि एक समाज को उन्नत करने के लिए बनाया गया था और दूसरे के

सामने व्यक्ति की उन्नति ही उद्देश था। वानप्रस्थ आश्रम में जाने के लिए खास उम्र की हद प्रायः पचास वर्ष निश्चित थी। बौद्ध संघ में कोई भी स्त्री-पुरुष किसी भी आयु में प्रविष्ट हो सकता था। इस अपूर्ण संसार के मनुष्यों के लिए ऐसा समाज बनाना जिसमें सभी सदस्य त्याग के द्वारा निर्वाण-प्राप्ति में लग जायँ, एक महान् एवं अद्वितीय प्रयोग था जो गौतमबुद्ध ने इस देश में किया। यही देश था जो प्राचीन आध्यात्मिक तथा नैतिक शिक्षाएँ एवं परम्पराओं के कारण ऐसे हजारों-लाखों स्त्री-पुरुष पैदा कर सका जिन्होंने विषय-वासनाओं को दबाकर अपने जीवन इस महान् प्रयोग में अर्पण कर दिये।

परन्तु बाद का इतिहास बतलाता है कि यह प्रयोग सफल न हुआ। इसका कारण स्पष्ट था। मानव-प्रकृति की सभी निर्बलताएँ इसके रास्ते में आकर खड़ी हो गईं। इससे भी बड़ी बात यह थी कि इस शानदार तजरबे के लिए न तो दुनिया उस समय तैयार थी और न अब तैयार मालूम देती है। गौतम बुद्ध ने भारत के हिन्दुओं को एक प्रकार से तलवार अलग रखकर माला हाथ में ले लेने का उपदेश दिया। भारत ने तो अपनी तलवार म्यान में डाल दी, परन्तु दुनिया की असभ्य जातियाँ तलवारें चमकातीं भारत पर चढ़ आईं और उनको अपने भयंकर अत्याचार दिखाकर सावधान किया कि अभी तक इस संसार में बाहुबल ही का राज्य है और तुम लोग उस समय तक बाहुबल से घृणा नहीं कर सकते जब तक कि संसार तुम्हारे जैसा नहीं बन जाता। बात साफ़ है। किसी देश के लोग अपने आपको देवता नहीं बना सकते जब तक कि शेष संसार के लोग भी देवता नहीं बन जाते। राष्ट्रीय मार्ग पर चलने से ही राष्ट्र उन्नति कर सकता है। संघ भी मनुष्य की सामाजिक अवस्था

में ही उन्नति कर सकता है, वैयक्तिक अवस्था में नहीं। यद्यपि बौद्ध संघ का प्रचलन मगध से हुआ, तो भी इसका प्रभाव पंजाब पर किसी तरह कम न था।

हर एक मनुष्य, यहाँ तक कि शूद्र भी, संघ में प्रविष्ट हो सकता था। प्रारम्भ में जो कोई चाहता, गौतमबुद्ध के पास चला जाता। उसे इतना कहकर प्रवेश दे दिया जाता—"आओ, भिक्षु बनकर अच्छी प्रकार शिक्षा ग्रहण करो और दुःख का सर्वनाश करने के लिए पवित्र जीवन व्यतीत करो।" जब संघ बढ़ता गया तब कई भिक्षुओं को भी अधिकार दिया गया कि वे अन्य लोगों को अपने अन्दर दाखिल कर लें। प्रवेश प्राप्त करनेवाले के बाल और दाढ़ी काट दी जाती थी। वह पीले वस्त्र पहन लेता। ऊपर के वस्त्र से वह एक कंधा ढाँप लेता। सब भिक्षुओं के वह पाँव छूता और जमीन पर बैठकर तीन बार यह मन्त्र पढ़ता—"मैं बुद्ध की शरण में आया हूँ, मैं धर्म की शरण में आया हूँ, मैं संघ की शरण में आया हूँ।"

ये लोग संघ में प्रविष्ट न हो सकते थे—कोढ़, फोड़े, क्षय या मिरगी का रोगी, सरकारी नौकर, कैद से भागा हुआ, ऋणी, दास, पंद्रह वर्ष से कम उम्र का, नपुंसक, जिसका कोई अंग विकृत या कटा हो। ज्यों-ज्यों समय गुजरता गया त्यों-त्यों प्रवेश के नियमों में परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव होने लगी। इसलिए उम्मीदवार पहले दस भिक्षुओं के पास जाता। उनकी सिफ़ारिश पर उसे संघ में ले लिया जाता। वह सबके चरण छू कर बैठ जाता और हाथ जोड़कर यह प्रार्थना करता—"मैं प्रार्थना करता हूँ कि कृपया मुझे दुःख के जीवन से निकाला जाय।" अब उससे रोग आदि तथा अन्य शर्तों के विषय में प्रश्न किये जाते। तत्पश्चात् एक भिक्षु खड़ा होकर यह कहता—

"यह नवागत विभिन्न दोषों से रहित तथा हमारी शर्तें पूरी करता है। यदि किसी को इसके प्रवेश पर आपत्ति हो तो वह कहे।" ये शब्द दो-तीन बार दोहराये जाते। किसी के आपत्ति न करने पर उसे चार मास तक प्रतीक्षा करनी पड़ती। इस बीच में उसके चरित्र की जाँच की जाती। उसे कड़े तप का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। किसी को मारना, चोरी, अपवित्रता, झूठ, नशा, असमय भोजन करना, गाना, नाचना, ऊँचा बिस्तर, फूल तथा सुगंधि, सोना-चाँदी लेना—इनसे उसे परहेज़ करना पड़ता था। यदि वह धर्म के विरुद्ध बोलता, किसी भिक्षुणी से कुसंग करता या उलटे सिद्धांत रखता तो उसे संघ से निकाल दिया जाता।

भिक्षु को चार आश्रम बताये जाते थे—धर्म के जीवन में खाने के लिए भीख के टुकड़े मिलते, पहनने के लिए चीथड़े, रहने के लिए वृक्ष का तना और दवा के लिए मूत्र मिलता। यदि इनसे कोई अच्छी वस्तु मिल जाय तो उसे वह अपना सौभाग्य समझे। उसके लिए चार बड़े निर्देश थे—उसे किसी प्रकार का भोग न करना चाहिए। किसी चीज, घास के पत्ते को भी हाथ न लगाना चाहिए। किसी प्राणी, यहाँ तक कि चींटी को भी मारना न चाहिए। अपने आपको असाधारण दर्जा न देना चाहिए। इन बातों को अच्छी तरह से सीखने के लिए नया भिक्षु दस वर्ष तक अपने आचार्य के पास रहता। दोनों का परस्पर सम्बन्ध पिता-पुत्र जैसा होता।

शिष्य के कर्त्तव्य ये थे—सवेरे उठकर आचार्य को दातुन और पानी देना। भिक्षा के समय उसके साथ जाना। पानी पिलाना। नहाने के लिए पानी रखना। उसके कपड़े सुखाना। उसका स्थान साफ करना। कोई और जरूरत हो तो उसे पूरा

करना। यदि आचार्य क्रोध में आकर कोई बुरा काम करने लगे तो शिष्य उसे रोक दे। यदि संघ से आचार्य को कोई सजा मिले तो शिष्य उसे अपने ऊपर ले ले या इस बात का प्रयत्न करे कि संघ उसे वापस ले ले।

आचार्य का कर्त्तव्य था कि वह प्रश्न पूछकर, शिक्षा तथा उपदेश देकर शिष्य की शारीरिक तथा आत्मिक उन्नति का खयाल रखे। यदि शिष्य को कटोरे, कुरते या किसी अन्य चीज़ की ज़रूरत हो तो आचार्य उसे लेकर दे। यदि शिष्य बीमार हो जाय तो आचार्य उसे सबेरे उठकर दातुन आदि दे। आचार्य शिष्य को निकाल भी सकता था। यदि आचार्य संघ को छोड़ दे तो शिष्य किसी अन्य आचार्य के पास जा सकता था।

दस बर्ष बीत जाने पर वह संघ का सदस्य बन जाता था। छोटी से छोटी बात के संबंध में उसका चरित्र नियमों से बँधा रहता। इनको तोड़ने पर उसे सजा मिलती थी। यहाँ तक निर्देश था कि भिक्षु कैसा कुरता पहने, कौन-सा कंबल इस्तेमाल करे, कैसी चारपाई पर बैठे, कैसा पात्र ले और किस प्रकार स्नान करे। इन बातों पर बहुत जोर दिया जाने लगा। जिन बातों के कारण पहली बार संघ के दो टुकड़े हो गये वे ये थीं—भिक्षु को सींग में नमक रखना चाहिए या नहीं? क्या दोपहर का भोजन उस समय करना चाहिए जब सूर्य की छाया दो अंगुल ही रह जाय? भोजन के पश्चात् भिक्षु दही खा सकता है या नहीं? कंबल के माप में झालर को सम्मिलित करना चाहिए या नहीं? इस प्रकार भिक्षु के जीवन का कोई भी कार्य बिना नियम के न होता था। आश्चर्य की बात यह है कि जिस मनुष्य ने वैदिक कर्मकाण्ड को उड़ा दिया, उसके शिष्यों में ऐसी छोटी-छोटी बातों के लिए झगड़े शुरू हो गये।

गौतम बुद्ध जब जीवित थे तब सारा क़ानून उन्हीं से निकलता था। उनके सिवाय अन्य कोई केन्द्रीय शक्ति न थी। राजगृह की संगीति में बुद्ध ने आनन्द से कहा—"मैं चला जाऊँ तो संघ छोटे-छोटे क़ानून बना सकता है।" परन्तु बाद में 'छोटे-छोटे' के अर्थ पर विवाद होने लगा। अंत में महाकश्यप के कहने पर यह निर्णय हुआ कि क़ानून वही रहे, जो गौतम बुद्ध के जीते जी प्रचलित था, उसको घटाया-बढ़ाया न जाय। बुद्ध के जीवन में ही आश्रम के एक संघ ने एक भिक्षु को निकाल दिया। कुछ भिक्षु उस निष्कासित के सहायक बन गये। जब बुद्ध को यह समाचार मिला तब वे चिल्ला उठे—"संघ के टुकड़े हो गये हैं!" उन्होंने इस झगड़े को मिटाने का यत्न किया, परन्तु उन्हें निराश होकर लौटना पड़ा।

प्राय: केन्द्रीय शक्ति ही सारे प्रबंध को अनुशासनपूर्वक चला सकती है। एक केन्द्रीय शक्ति का न होना संघ की निर्बलता का बीज था। बुद्ध के जीवन-काल में संघ में जो भी शक्ति थी, वह उनकी मृत्यु के पश्चात् जाती रही। बाद में यदि संघ टुकड़े होने से बचा रहा, तो इसका कारण यह था कि जो राजा बौद्ध मत में प्रविष्ट हुए उनको भिक्षु आदि अपना नेता मानने लगे।

ये संघ स्थान-स्थान में स्थापित हो गये। सभी प्रजासत्तात्मक सिद्धान्त पर चलते थे। हर एक भिक्षु को राय देने का अधिकार था। यदि एक भी अनुपस्थित होता तो सभा नियम-विरुद्ध ठहराई जाती। विभिन्न कार्यों के लिए भिक्षुओं की कम से कम निश्चित संख्या का उपस्थित होना आवश्यक होता। किसी के लिए चार, किसी के लिए बीस निश्चित संख्या थी। पहले एक भिक्षु अपनी तजवीज़ पेश करता। मत विधिपूर्वक लिये जाते। बहुमत से ही प्रस्ताव स्वीकृत होता। यदि कोई मामला बहुत गंभीर होता तो

उसे बड़े संघ के पास भेज दिया जाता। जटिल मामले के लिए छोटी समिति निश्चित करदी जाती जिसके सदस्य प्रसिद्ध भिक्षु चुने जाते। यदि कोई मत धर्म-विरुद्ध होता तो राय लेनेवाला उसे नियम-विरुद्ध ठहराता।

हर एक मठ में विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्नकर्मचारी होते। भोजन बाँटनेवाला, कार्य-विभाजन करनेवाला, सामान रखनेवाला, कपड़े रखनेवाला, कपड़े बाँटनेवाला—ये सब भिक्षुओं में से चुने जाते। संघ को हर एक घटक पर अधिकार होता था। चेतावनी देना, प्रायश्चित्त कराना, निकाल देना—ये सज़ाएँ दी जाती थीं। भिक्षु कोई ऐसी वस्तु न रख सकता था, जो उसे दी न गई हो। वह एक ही कटोरा रख सकता था। उसके पाँच जगह से टूट जाने पर वह दूसरा ले सकता था। अकारण आग जलाना भिक्षु के लिए पाप था। इसी प्रकार रेशमी कपड़े पहनना और दो-तीन कटोरी से ज्यादा मिठाई खाना भी। मृत्यु पर भिक्षु की सभी चीजें संघ को जाती थीं। बुद्ध ने आज्ञा दी कि ये चीजें सदा संघ की रहेंगी; कोई एक व्यक्ति इनका मालिक न होगा—विहार की जमीन, बिस्तर, पीठ, तकिया, चाँदी का बरतन, कुल्हाड़ा, लकड़ी या मिट्टी की चीज।

हर मास के आठवें, चौदहवें या पन्द्रहवें दिन स्थानीय सभा बुलाई जाती। अंतिम दिन भिक्षुओं से पूछा जाता कि इन दिनों में उनमें से किसी ने कोई पाप तो नहीं किया? भिक्षुओं के लिए नदी आदि सीमाओंवाला प्रदेश निश्चित किया जाता। सभा के लिए स्थान भी निश्चित किया जाता। वहाँ सभी लोग एकत्र होते। कोई भी भिक्षु अनुपस्थित न रह सकता था। भीख माँगकर जो पहले आजाता, वह शेष साथियों के लिए बैठने का स्थान, पानी आदि तैयार करता। जो अंत में आता, वह रहा-

सहा भोजन खा लेता या उसे बाहर फेंक आता और फिर पाँव धोने के लिए पानी और कपड़ा रखता। भिक्षुणियों के लिए संघ और मठ अलग थे। उनके लिए भी ऐसे ही नियम तैयार किये गये थे।

चीन में भारतीय पंडित—भारत के इतिहास की जो पुस्तकें स्कूलों तथा कालेजों में पढ़ाई जाती हैं, उनमें कई अन्य दोषों के अतिरिक्त एक बड़ा दोष यह है कि उनमें हिन्दुस्तान के उन सपूतों का कोई जिक्र नहीं मिलता, जिन्होंने ज्ञान तथा हिन्दू संस्कृति का प्रकाश फैलाने के लिए हजारों मील का सफ़र तय किया और चीनी-जैसी कठिन भाषा सीखकर चीन आदि देशों में संस्कृति का प्रसार किया।

इनके जो वृत्त भारत में उपलब्ध थे, वे सब इसलामी आक्रमणों के तूफ़ान में बह गये। हमारे सौभाग्य से इन महान् आत्माओं के जीवन-चरित्र चीन के शाही रिकार्डों में पाये जाते हैं। इनके कार्य तथा जीवन को इतिहास में स्थान देना एक बड़े आभाव की पूर्त्ति करना है।

चीन में एक किंवदंती है कि ईसा से कुछ वर्ष पूर्व चीन के हान वंश के राजा मिंग-ति को एक स्वप्न आया। उसने एक ऐसा दिव्य पुरुष देखा जिसका शरीर स्वर्ण का था और क़द पौने बारह फुट। उसके सिर के गिर्द ज्योति का गोलाकार था। यह दिव्य मूर्त्ति दौड़कर उसके प्रासाद में प्रविष्ट हुई। राजा ने राज-ज्योतिषी से इस स्वप्न का अर्थ पूछा। उसने बताया कि भारत में एक मानव पैदा हुआ है जिसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त है और जिसे फू (अर्थात् बुद्ध) कहते हैं। राजा ने अपने युद्ध-मन्त्री तथा गृह-सचिव को पन्द्रह अन्य आदमी देकर भेजा ताकि वे

मध्य एशिया के रास्ते हिन्दुस्तान जायँ और परिश्रमपूर्वक बौद्ध मत की शिक्षा लेकर वापस आयँ।

ये चीनी ग्यारह वर्ष के पश्चात् चीन वापस आये। बुद्ध का चित्र तथा उसके सम्बन्ध में कई पुस्तकें वे अपने साथ लाये। उनके साथ भारत के दो पंडित, मातंग और फ़ालां भी थे। चीन के राजा ने मातंग से प्रश्न किया—"बुद्ध ने हमारे देश में शरीर क्यों न धारण किया?" उसे उत्तर मिला—"बुद्ध का देश, हिन्दुस्तान, सबसे उत्तम संस्कृति का केन्द्र है। तीन युगों के सभी बुद्ध तथा देवता वहीं उत्पन्न हुए हैं और वे वहीं जन्म ग्रहण करना चाहते हैं ताकि धर्म पर चलकर उन्हें पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो और मुक्ति मिले। उनके ज्ञान की ज्योति सब ओर फैलती है।" इससे चीनी राजा को संतोष हो गया। उसने राजधानी के पश्चिमी द्वार के बाहर एक मन्दिर बनवाया और उसका नाम 'सफ़ेद घोड़े का मन्दिर' रखा। इसमें बुद्ध की मूर्त्ति स्थापित की गई। एक अन्य मूर्त्ति नगर के बड़े फाटक पर रखी गई ताकि लोग उसके दर्शन और पूजा करें।

काश्यप मातंग वास्तव में मगध का श्रमण था। जब मिंगति के चीनी दूत भारत आये तब वह गांधार में रहता था। चीनियों ने उसे अपने साथ चलने को कहा। वह मार्ग की कठिनाइयों की रत्ती भर परवा न करके चलने को तैयार हो गया। रास्ता बहुत मुश्किल था। चीनी तुर्किस्तान और गोबी के मरुस्थल में से होकर ऊँची चोटियों पर तथा जंगलों में से गुज़रना होता था। कई स्थानों में उन्हें इन कठिनाइयों के कारण एक-एक दो-दो मास ठहरना पड़ा।

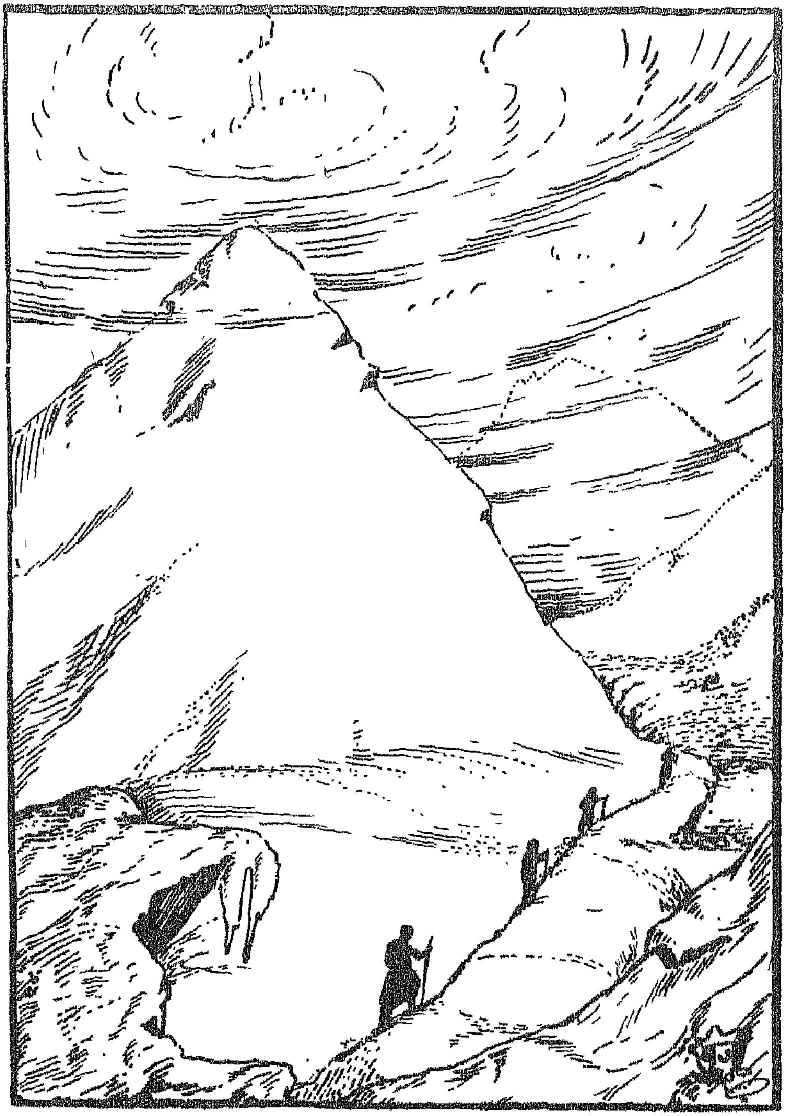
दूसरे पंडित फ़ालां का वास्तविक नाम धर्मरत्न था। चीनी राजा ने इसे नवनिर्मित मठ में रखा। राज-पुरोहित जो कन-

फ्यूसियस के अनुयायी थे, उसका विरोध करने लगे। चिर समय तक यह आंदोलन जारी रहा। अंत में राजा ने दोनों में विवाद करवाया। फलस्वरूप राजा बौद्ध बन गया।

मातंग ने चीनी भाषा अच्छी तरह से सीख ली। चीनी उसके गिर्द धर्म की शिक्षा के लिए जमा रहते। परन्तु वह अधिक समय मौन धारण किये रहता। भारत से खोतन तक चीनी तुर्किस्तान का जो भाग है, उसमें संस्कृत तब समझी और बोली जाती थी। खोतन से आगे संस्कृत को कोई न समझता था। इस कारण भारतीय आचार्यों को रास्ते में ही चीन की एक प्रांतीय बोली सीखनी पड़ी थी।

चीन में लोगों ने धर्म के विषय में प्रश्न आदि पूछकर इतना तंग किया कि मातंग ने अपने साथी की सहायता से बौद्ध मत की शिक्षा पर चीनी में एक पुस्तक लिखी। यह ४२ अध्यायों में है। अपने विषय का यह बहुत अच्छा ग्रन्थ समझा जाता है। यह तिब्बत और मंगोलिया की भाषाओं में भी पाया जाता है। इस प्रकार मातंग पहला हिंदू था, जिसने दो प्राचीन जातियों में पारस्परिक सम्बन्ध पैदा किया।

धर्मरक्ष भी एक श्रमण था। वह विनय-पिटक तथा बौद्ध-सूत्रों को भली भाँति जानता और इस विषय का आचार्य समझा जाता था। उसका अपना राजा उसे चीन जाने की इजाजत न देता था। परन्तु वह छिपकर चोरी से निकल गया और मातंग के साथ चीन जा पहुँचा। मातंग ने उसकी योग्यता से पूरा-पूरा लाभ उठाया। उससे संस्कृत की पुस्तकों को चीनी भाषा में अनुवाद करने का काम लिया। इनमें से एक बुद्ध-चरित-सूत्र थी जिसका चीनयों पर बहुत प्रभाव हुआ। मातंग के मर जाने पर भी उसने पुस्तकें लिखने का काम जारी रखा। फलस्वरूप



कुमारजीव और उनके साथी हिन्दुस्थान से प्रचारार्थ चीन जा रहे हैं।

चीनी भाषा में बौद्ध मत का साहित्य, दर्शन तथा कहानियाँ फैल गईं।

जब बौद्ध मत का वृक्ष चीन में लग गया तब कई हिन्दू भिक्षु धर्म-प्रचारार्थ चीन जाने लगे। चीनी राजाओं को भी इनकी सहायता की बहुत आवश्यकता थी। पहले समूह में आर्य-काल, स्थविर, कल, सुविनय आदि और दूसरे में धर्मकाल तथा उसके साथी महाबल, धर्मफल आदि थे। दूसरी शताब्दी के अंत में एक हिन्दू भिक्षु चोखासू (?) चीन पहुँचा। लोयांग के विहार में रहकर उसने संस्कृत से दो सौ सूत्रों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। महाबल भी एक मठ में रहा था। धर्मकाल तथा धर्मफल का उल्लेख एक चीनी पुस्तक में पाया जाता है।

इनके बाद कई तिब्बती भिक्षु जो हिन्दुस्तान में आ बसे थे, चीन में प्रचार के लिए गये। इनमें से एक तिब्बत के प्रधान मन्त्री का बेटा था। यह बहुत देर तक भारत में रहने के पश्चात् नानकिंग पहुँचा। चीन का राजा सनखुन इस पर बड़ा अनुग्रह करता था। इसे उसने एक अलग मठ बनवा दिया। इसने संस्कृत की चौदह पुस्तकों का चीनी में अनुवाद किया।

कुमारजीव—इस युग में कुमारजीव और उसके साथियों के परिश्रम से चीन के बौद्ध साहित्य की बड़ी उन्नति हुई। कुमार-जीव का व्यक्तित्व तथा योग्यता सर्वोत्तम थे। स्वयं उसने लगभग एक सौ मौलिक पुस्तकें चीनी भाषा में लिखीं और चीनी भिक्षुओं का एक दल तैयार किया, जिसने चीन के विभिन्न भागों में बौद्ध मत का प्रचार किया। धर्मरक्ष, गौतम-संघ, बुद्धभद्र, संघ-भद्र, धर्मप्रिय और पुण्यत्राता उसके बड़े साथी थे।

धर्मरक्ष सन् ३८१ में चीन गया। कुछ ही समय में उसने चीनी भाषा पर ऐसा प्रभुत्व प्राप्त किया कि उसने १११ पुस्तकें

लिखीं। बुद्धभद्र ३६८ में चीन पहुँचा। यह प्रसिद्ध चीनी यात्री फाह्यान का समकालीन और कुमारजीव का शिष्य था। जब फाह्यान ४१६ में भारत से लौटा तब कुमारजीव मर चुका था। बुद्धभद्र ने फाह्यान की सहायता से चीनी भाषा में संस्कृत की कई पुस्तकों का अनुवाद किया। उसने ३१ वर्ष तक चीन में हिन्दू संस्कृति का प्रसार किया और ७१ वर्ष की आयु में मरा।

बुद्धभद्र से कुछ समय पहले संघभट काबुल से चीन पहुँचा। चार वर्ष के अन्दर उसने संस्कृति की तीन पुस्तकों का अनुवाद किया। परन्तु कुमारजीव ने इन सबसे बढ़कर कार्य किया। कुमारजीव उस बृहत्तर भारत का फल था, जो चौथी शताब्दी में मध्य एशिया तक फैल चुका था। उसका पिता हिन्दू था। वह खोतन के निकट कोटशाह में रहता था। पैतृक संपत्ति को छोड़कर वह भिक्षु बन चुका था। कोटशाह के राजा ने उसे अपना राजगुरु बना लिया। वहाँ राजा की बहिन उस पर मुग्ध हो गई। दोनों का विवाह हो गया। ३३७ में इनके यहाँ कुमारजीव उत्पन्न हुआ। सात वर्ष की आयु में बालक ने एक मठ में जाना प्रारम्भ किया और कई सूत्र कंठस्थ कर लिये। नौ वर्ष का होने पर वह काश्मीर आया और प्रसिद्ध आचार्य बन्धुदत्त से उसने शिक्षा प्राप्त की। तीन वर्ष के पश्चात् उसकी माता उसे अपने साथ वापस ले जा रही थी कि रास्ते में एक अर्हत ने उसे बताया कि उसका पुत्र बड़ा आदमी होगा।

काशगर में जाकर कुमारजीव ने बौद्ध मत का और ज्यादा अध्ययन किया। वहाँ का राजा उसे अपनी राजसभा में रखना चाहता था। उधर से कोटशाह का नरेश उसे बुलाने के लिए एक के बाद दूसरा दूत भेजने लगा। अंत में बीस वर्ष का होने पर वह भिक्षु बन गया। काश्मीर से गये हुए एक पंडित

विमलाक्ष से उसने विनय-पिटक का अध्ययन किया। तत्पश्चात् वह चीन चला गया।

बारह वर्ष वहाँ रहकर उसने संस्कृत की एक सौ से ज्यादा पुस्तकों का चीनी में अनुवाद किया। संस्कृत पर उसे पहले ही प्रभुत्व था। चीनी भाषा का वह इतना पंडित हो गया कि उसके अनुवाद हुएनसांग के अनुवादों से भी उत्तम समझे जाने लगे। सौंदर्य इसमें है कि उसकी मातृभाषा न संस्कृत थी, न चीनी। चीनी साहित्य में उसने एक क्रांति उत्पन्न कर दी। उसने चीनी लिखने की शैली को इतना सुन्दर एवं रोचक बनाया कि चीन में उसकी पुस्तकें अभी तक चाव से पढ़ी जाती हैं। चीन के स्कूलों में साहित्य के विद्यार्थियों से प्रायः यह प्रश्न पूछा जाता है—कुमारजीव और हुएनसांग में से किसकी शैली अच्छी है? और विद्यार्थी भी प्रायः यही उत्तर देते हैं—कुमारजीव की।

कहा जाता है कि त्रिपिटक के वर्तमान चीनी संग्रह में ४६ पुस्तकें कुमारजीव के नाम पर हैं। इनका सम्बन्ध अधिकतर ध्यान तथा समाधि से है। कुमारजीव के एक हजार शिष्य थे जिनमें से कई प्रसिद्ध लेखक हुए। फाह्यान इनमें से एक था। जब कुमारजीव चीन में बैठकर अनुवाद कर रहा था, तब फाह्यान मध्य एशिया की पहाड़ियों और घाटियों में से गुजर रहा था ताकि हिंदुस्थान जाकर सामग्री एकत्र करे। विभिन्न स्थानों की यात्रा करके वह समुद्र के रास्ते चीन वापस आया। तब उसने बौद्ध राज्यों का वृत्त लिखा। कुमारजीव का गुरु विमलाक्ष भी चीन जा पहुँचा। उसने दो पुस्तकों का अनुवाद किया और ४१८ में ७७ वर्ष की आयु में वहीं मरा। कुमारजीव का एक और साथी पुण्यत्राता था। वह उससे प्रभावित होकर काश्मीर से चीन पहुँचा। उसके अतिरिक्त कई अन्य पंडित काश्मीर से चीन

में प्रचारार्थ गये। इनमें से बुद्धयासास, धर्मयासास, धर्मकसेन, बुद्धजीव और धर्ममित्र बहुत प्रसिद्ध हैं। इन सबने चीनी में कई संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद किया। धर्मकसेन को ४१४ में चीन के राजा ने अनुवादों के लिए बुलाया। वहाँ उसे सात वर्ष हो चुके थे, जब उत्तरी दीर के राजा ने उसे अपने यहाँ बुला लिया। चीनी राजा को उसके चले जाने से इतना कष्ट हुआ कि क़ातिल भेजकर रास्ते ही में उसका वध करवा डाला।

गुणवर्मन—काश्मीर से चीन जानेवाले पंडितों में सब से बड़ा गुणवर्मन था। इसका जन्म काश्मीर के राजवंश में हुआ था। इसका दादा सख्ती के कारण जंगल में निर्वासित किया गया था। इसका पिता संघनंद जंगल में ही रहता था। एक दिन गुणवर्मन की माता ने उसे मुरगी मारने को कहा। बेटे ने इसे धर्म-विरुद्ध बताकर ऐसा करने से इनकार कर दिया। माता ने क्रोध के वश में कहा—"बड़ी धर्म-निष्ठा है तुम्हारे अन्दर! यदि तुम इसे पाप समझते हो तो इसका दंड तुम्हारे स्थान में मैं भुगत लूँगी।" एक दिन गुणवर्मन की उँगली जल गई। वह दौड़ा-दौड़ा मा के पास गया और कहने लगा—"मा, इस पीड़ा को तुम उठा लो!" मा ने पूछा—"पीड़ा तुम्हारे शरीर को हो रही है, इसे मैं कैसे उठाऊँ?" तब गुणवर्मन ने स्मरण कराया कि—"अच्छा, तो मेरे पापों की सजा तुम कैसे भुगत लोगी?"

बीस वर्ष की आयु में वह श्रमण बन गया। बौद्ध मत की सभी मुख्य पुस्तकें उसने कण्ठस्थ करलीं। उसके साथी उसे त्रिपिटक-आचार्य कहा करते थे। जब उसकी आयु तीस वर्ष की हुई तब काश्मीर का राजा निस्संतान मर गया। राज-मंत्री उसके पास आये कि वह राजसिंहासन पर बैठे। उसने

इसे स्वीकार करने से इनकार कर दिया और काश्मीर छोड़कर लंका चला गया। वहाँ धर्म-प्रचार करने के पश्चात् वह जावा टापू में गया। उसके पहुँचने से पूर्व वहाँ के राजा की माता को स्वप्न आया था कि एक साधु आ रहा है। राजा ने उसका स्वागत किया, उसकी शिक्षा स्वीकार कर ली और यह आदेश दिया कि समस्त राज्य में लोग हिन्दू आचार्य का मान करें, सभी उसकी आज्ञा का पालन करें, कोई अहिंसा न करे और ग़रीबों को दान दिया जाय। इस प्रकार इस भिक्षु ने समस्त जावा को बौद्ध बना दिया।

इसकी ख्याति सर्वत्र फैल गई। चीनी श्रमणों ने अपने राजा से प्रार्थना की कि गुणवर्मन को धर्म-शिक्षा के लिए यहाँ बुलाया जाय। इस पर कुछ श्रमण उसे लाने के लिए भेजे गये। परन्तु उनके पहुँचने से पूर्व ही वह नन्दी नाम के हिंदू जहाज़ से एक अन्य टापू के लिए निकल चुका था। हवा अनुकूल होने पर वह कान्टन में उतरा। जब चीन के राजा को सूचना मिली तो उसने कांटन के स्थानीय शासक को आज्ञा दी कि वह हिन्दू पंडित को राजधानी में भेज दे। चिश्रांग में वह एक वर्ष तक रहा। वहाँ के बड़े पुरोहित ने उसका बड़ा आदर-सत्कार किया।

सन् ४३१ में गुणवर्मन नानकिन गया। स्वयं राजा उसे आगे से लेने के लिए आया। मिलने पर राजा ने कहा—"मैं गौतमबुद्ध की शिक्षा पर चलना चाहता हूँ। मैं किसी को दुःख नहीं देता। परन्तु कभी-कभी उसपर आचरण नहीं कर सकता। मुझे इन मामलों में निर्देश करें।" गुणवर्मन के रहने का विशेष प्रबंध किया गया। जिस स्थान पर उसने धर्म-शिक्षा देनी आरम्भ की, वहाँ सब बड़े आदमी उससे मिलने आते। एक अन्य

भिक्षु ईशू ने एक संस्कृत-ग्रंथ का अनुवाद करना आरम्भ किया था, परन्तु कठिन होने के कारण उसे यह कार्य बन्द करना पड़ा। गुणवर्मन ने उस अनुवाद को पूरा किया।

गुणवर्मन का सबसे बड़ा कार्य चीन में भिक्षुणियों के लिए संघ स्थापित करना था। उस देश में पाँच सौ वर्ष तक बुद्ध मत ने स्त्रियों पर कुछ प्रभाव न किया था। यंगफू के मन्दिर की भिक्षुणियों ने गुणवर्मन के पास आकर कहा—"छः वर्ष हुए लंका से आठ भिक्षुणियाँ यहाँ आई थीं। उनसे पूर्व यहाँ कोई भिक्षुणी न आई। आप ही हमारे लिए नियम बनाइये।"

गुणवर्मन ने उनके लिए नियम बनाये। परन्तु भिक्षुणियों की संख्या पर्याप्त न थी और आयु भी कम थी। उसने उनसे कहा—"आप अन्य देशों की भिक्षुणियों को भी अपने साथ सम्मिलित करें।" तत्पश्चात् उनको नियमपूर्वक दीक्षा दी। गुणवर्मन को लोगों की आध्यात्मिक आवश्यकताओं के लिए इतना अधिक काम करना पड़ता था कि वह केवल दस पुस्तकों का चीनी में भाषान्तर कर सका और ६७ वर्ष की उम्र में मर गया।

पाँचवीं शताब्दी के अंत में चार और पंडित—गुणभद्र, चाउकाकियो, धर्मजात और क्योनाफ़ीनी—चीन गये। इन्होंने भी कई पुस्तकों के अनुवाद किये। छठी शताब्दी में भी भिक्षु-भारत से जाते रहे। पहले भाग में सात पंडित आये। इनमें से बोधि उत्तर भारत का था। उसने २७ वर्ष में ३० पुस्तकों का अनुवाद किया। एक भिक्षु गौतमप्रज्ञ बनारस से पहुँचा। उसने तीन वर्ष के अंदर अठारह पुस्तकों का अनुवाद किया। एक अन्य भिक्षु सुविनय उद्यान के राजा का बेटा था।

जिनगुप्त—छठी शताब्दी में नरेन्द्र जिनगुप्त और उसके दो आचार्य जिनयासास और ज्ञानभद्र हुए, जिनके व्यक्तित्व और योग्यता का चीन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। चीन के राजा तब गौतम बुद्ध के अनुयायी नहीं थे। इसलिए तीनों प्रचारकों को बहुत कष्ट झेलने पड़े और वे चीन से भाग आये। जब बौद्ध मत वहाँ दोबारा स्थापित हो गया, तब वापस जाकर उन्होंने अपना प्रचार-कार्य जारी किया।

जिनगुप्त गांधार-राज्य के नगर पुरुपपुर (पेशावर) का रहनेवाला था। उसके पिता का नाम वज्रसह था। वह क्षत्रिय था। माता-पिता का सबसे छोटा लड़का था। बाल्यकाल से ही वह बड़ा शुद्ध-आचार का था। सात वर्ष की आयु में वह घर-द्वार छोड़कर भिक्षु बनना चाहता था। माता-पिता ने विरोध न किया और उसे अपने इच्छानुसार काम करने की अनुज्ञा दे दी। वह भिक्षु बन गया।

जिनयासास उसका उपाध्याय था और ज्ञानभद्र आचार्य। उन्होंने ही उसे विभिन्न विद्याओं की शिक्षा दी, जिससे वह इतना विद्वान् बन गया। २७ वर्ष की आयु में वह अपने गुरुओं के साथ चीन गया। दस आदमी मिलकर चीन के लिए निकले। रास्ता बड़ा लम्बा और कठिन था। जेपिका में वे बाध्य होकर एक वर्ष तक ठहरे रहे। बर्फ़ानी प्रदेश से गुज़रकर वे हैपथेलाइश की रियासत में पहुँचे। चीन पहुँचते-पहुँचते वे दस में से केवल चार ज़िंदा बचे।

जिनगुप्त ने चीनी भाषा सीखी। चीनी राजा ने उसका बड़ा मान किया और उसके लिए एक नया मठ बनवा दिया। यहाँ पर उन्होंने अनुवाद-कार्य आरंभ किया।

जिनगुप्त इतना सर्वप्रिय हो गया कि उसे फ़ी-प्रदेश के सभी भिक्षुओं का अग्रणी बना दिया गया। राजघराने में क्रांति होने

के कारण उसे कुछ समय निर्वासित रहना पड़ा। सन् ५७१ और ५८१ के बीच में वे बहुत से चीनी यात्री वापस चीन को लौटे, जो तुर्किस्तान में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। वे संस्कृत की बहुत-सी पुस्तकें अपने साथ ले गये। इन सबके अनुवाद का बोझ जिनगुप्त पर आ पड़ा। जिनगुप्त अपना निर्वासन-काल तुर्किस्तान में व्यतीत कर रहा था। वह वहाँ से बुलाया गया। अनुवाद के लिए एक मंडल बनाया गया, जिसका मुख्य अनुवादक जिनगुप्त नियुक्त किया गया। जिनगुप्त और हिंदू भिक्षु धर्मगुप्त दो अन्य चीनी श्रमणों की सहायता से यह कार्य करते थे। दस अन्य श्रमण निरीक्षण करते थे। जिनगुप्त ने ३७ पुस्तकों का अनुवाद किया और ७८ वर्ष की आयु में ६०० में मरा।

छठी शताब्दी में तीन और भिक्षु भारत से चीन पहुँचे। इनमें से एक गौतम धर्मज्ञान बनारस का रहनेवाला था। उसे चीन में 'गवर्नर' (शासक) बना दिया गया। दूसरा कृपि और तीसरा धर्मगुप्त था।

सातवीं शताब्दी में हिन्दुस्तान से बहुत कम पंडित चीन गये। चीन में उन पर कोई सख्ती न की गई। भारत में तब हर्षवर्द्धन का राज्य था। दूसरी तरफ़ चीन से हुएनसांग, ह्यूनइत्सी और इत्सिंग भारत आये। प्रभाकरमित्र ६२७ में भारत से चीन पहुँचा। वह ६९ वर्ष का होकर वहीं मरा।

प्रभाकरमित्र के पहुँचने के दो वर्ष बाद हुएनसांग भारत के लिए निकला। वह तीर्थों की यात्रा करने तथा संस्कृत सीखने आया था। नालंद के विद्यापीठ में उसने संस्कृत पढ़ी। वह संस्कृत का इतना पंडित हो गया कि चीन वापस लौटने पर उसने ७५ पुस्तकों का अनुवाद कर लिया। उसके पश्चात् ह्यूनइत्सी भारत आया। ६५२ में एक भिक्षु अतिगत समस्त भारत तथा लंका की

यात्रा करके चीन गया। उसने हीनयान और महायान की १५ सौ पुस्तकें एकत्र की थीं। एक अन्य पंडित रत्नसंगत काश्मीर राज्य से ६६३ में चीन गया। सौ वर्ष की आयु में वह चीन में ही मरा।

६७१ में इत्सिंग कुछ चीनी भिक्षुओं को साथ लेकर भारत आया। यहाँ से संस्कृत पढ़कर जब वह वापस चीन गया तो वहाँ उसने ५६ पुस्तकों कीनी भच ।पान्तर किया। हुएनसांग और इत्सिंग की पुस्तकों ने चीनी साहित्य में वृद्धि कर दी।

सातवीं शताब्दी में एक पंडित धर्मरूपि चीन पहुँचा। बीस वर्ष में उसने ५३ पुस्तकों का अनुवाद किया। ७२७ में चीन में उसका देहांत हुआ। कहते हैं, मृत्यु के समय उसकी आयु १५६ वर्ष की थी। नालंद विद्यापीठ ने एक पंडित शोभाकर को चीन भेजा जिसने चार किताबों का चीनी में अनुवाद किया। उसका देहावसान ६२ वर्ष की आयु में हुआ।

अमोघवज्र—आठवीं शताब्दी के आरम्भमें भिक्षु अमोघवज्र भारत से चीन पहुँचा। इस शतक में और बहुत कम हिंदू पंडित चीन गये। अमोघवज्र उत्तर भारत का ब्राह्मण था। अपने गुरु वज्रबोधि के साथ ७१६ में चीन पहुँचा। गुरु ७३२ में मर गया। शिष्य को वह भारत जाकर पुस्तकें एकत्र करने का आदेश कर गया। अमोघवज्र ७४१ में भारत आया। पाँच वर्ष तक वह भारत और लंका में घूमकर पुस्तकें जमा करता रहा। चीनी राजा उससे इतना प्रसन्न हुआ कि उसे प्रज्ञामोक्ष की उपाधि दे दी। भारत में उस समय तंत्रों का जोर था। उसके बहुत-से अनुवाद तंत्र-ग्रन्थों के हैं। वह स्वदेश को लौटने का बड़ा इच्छुक था। परन्तु उसे वापस आने की इजाजत न मिली। वह

मरते दम तक अनुवाद-कार्य में लगा रहा। तंत्र रोगों को दूर करने और अन्य बातों को सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त होते थे।

अमोघवज्र के बाद वज्रकुमार ने कुछ समय इस कार्य को जारी रखा, परन्तु तत्पश्चात् डेढ़ सौ वर्ष तक यह लहर बिलकुल बन्द नजर आती है। फिर दसवीं शताब्दी के अंत में भिक्षुओं का एक दल चीन को गया। इनमें से एक धर्मदेव नालन्द विद्यापीठ की ओर से भेजा गया था, शेष पश्चिमी तथा पूर्वी भारत के दो राजाओं के बेटे थे। ९८० में एक भिक्षु काश्मीर से गया और तीन मगध से गये।

हिन्दू भिक्षुओं का यह अध्याय समाप्त हो रहा था कि इस-लाम की लहर ठीक एक के बाद दूसरे देश को अपने क़ब्ज़े में ला रही थी। पंजाब पर भी आक्रमण शुरू हो गये। जब सीमा-प्रदेश तथा उत्तर भारत विजित हो गये तब इन पण्डितों की लहर बिलकुल बंद हो गई। विदेशी आक्रमणकारियों ने बौद्धों के प्रचार की भावना को कुचल डाला। इतना जोश, धैर्य, परिश्रम तथा त्याग जो लगभग एक हज़ार वर्ष तक हिन्दुस्तान के इन प्रचारकों ने अपने कार्य से प्रकट किया, संसार में अन्यत्र बहुत कम देखा गया है। मुसलमानी आक्रमणों ने संस्कृति तथा धर्म-प्रचार के लिए जोश के इस स्रोत को ऐसा बंद किया कि हमें खेद से यह देखना पड़ता है कि जब काबलेखां ने, जिसे अँगरेज़ी में कुबलाखां कहते हैं और जो मुसलमाम नहीं, बल्कि बौद्ध था, भारत से हिंदू पंडित मँगवाये ताकि समस्त त्रिपिटक का वे मंगोली भाषा में अनुवाद कर दें, तो उसे एक भिक्षु भी न मिल सका।

हुएनसांग—हुएनसांग जब चीन से चला तो उसकी आयु उन्नीस वर्ष की थी। वह महायान का बड़ा विद्वान् और

विख्यात प्रचारक था। उसने बौद्ध ग्रन्थों को एकत्र करने और योग सीखने के उद्देश से हिंदुस्तान में आने का विचार किया। झील प्रस्तककुल, ताशकंद और समरकंद होता हुआ वह गांधार पहुँचा। तेरह वर्ष तक वह भारत में घूमता रहा। देशाटन में उसे बहुत कष्ट हुआ। एक बार उसे डाकुओं ने पकड़ लिया। परन्तु जब वह ध्यान में बैठा था तो जोर की आँधी आई। वे डाकू भयभीत होकर उसके चरणों पर आ गिरे।

उसने देखा कि भारत अस्सी राज्यों में विभक्त है। इनमें से छोटे राज्य बड़े राजाओं के अधीन थे। उत्तर भारत में काबुल, जलालाबाद, पेशावर, गजनी और बन्नू उस हिंदू राजा को राजस्व देते थे, जिसकी राजधानी चरिकार थी। पंजाब, तक्षशिला, सिंहपुर (कटास), ऊरसा, पुणछ और राजौरी काश्मीर के अधीन थे। सारा मैदानी प्रदेश, मुलतान तथा शोरकोट लाहौर के निकटवर्त्ती राज्य सगल (वर्तमान सांगला) के अधीन थे। पश्चिमी भारत में सिंध, वलभि आदि के राजा शासन करते थे। थानेसर से गंगा के दहाने तक और हिमालय से नर्मदा तक के प्रदेश तथा जालंधर राज्य कन्नौज के अधिपति हर्षवर्द्धन के अधीन थे। दक्षिण में महाराष्ट्र, कोशल, कलिंग, आंध्र, कोकन, द्रविड़ आदि नौ राज्य थे।

काश्मीर—पंजाब तो आर्यों का आदि देश है ही। काश्मीर भी आरम्भ से उसके साथ चला आता है। काश्मीर का इतिहास ईसा से तीन हजार पाँच वर्ष पूर्व तक चला जाता है। काश्मीर में सबसे प्राचीन मंदिर मार्तण्ड है। इसे राजा रामदेव ने बनवाया। इसके साथ उसने एक नगर बाबल बसाया और

सिंचाई के लिए नहर बनवाई। रामदेव ने ३००५ ई० पू० से २६३६ ई० पू० तक राज्य किया।

राजा संदिमान ने २६२६ ई० में शंकराचार्य का प्रसिद्ध मंदिर निर्मित करवाया। यह राजा २५६४ तक राज करता रहा। राजा गोपादित्य (६२६ से ६६५ ई० पू०) ने इस मंदिर की मरम्मत करवाई। राजा सुन्दरसेन के समय २०४१ ई० पू० में एक भारी भूचाल आया जिससे संदिसन-नगर नाम के शहर के बीच की ज़मीन फट गई। तब अन्दर से इतना पानी निकला कि शहर डूब गया। बारहमूला के निकट एक पहाड़ी के गिर जाने से झेलम नदी में रुकावट आ गई। तब पानी इतना जमा हो गया कि वहाँ झील बन गई।

वर्तमान श्रीनगर को राजा प्रवरसेन ने बसाया जिसने सन्-७६ से १३६ तक राज किया। पहले श्रीनगर वर्तमान नगर से कुछ मील पर आबाद था, जो राजा अभिमन्यु (६५८ से ६७३) के राज्य-काल में आग से जल गया। हर्ष के समय में दर्भवर्द्धन ने करकोट-वंश की नींव डाली। महाराज ललितादित्य ने ६६७ से ७३७ तक राज किया। इसने शंकराचार्य-मन्दिर की मरम्मत करवाई और कन्नौज के राजा यशोवर्मा को पराजित किया। इसके पुत्र दैन्यादित्य ने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। सन् ८०५ में अवंतिवर्मा काश्मीर के राज-सिंहासन पर बैठा। इसके मन्त्री ने आबपाशी आरम्भ की। सन् ८८३ में शंकरवर्मा ने जो बहुत लोभी था, मन्दिरों को लूटा।

आरम्भ में काश्मीर की आबादी ब्राह्मणों की थी। जब शेष भारत में बौद्ध मत फैला तब काश्मीर में भी इसका प्रभुत्व हो गया। जब भारत में इसका अपकर्ष हुआ तब ६३८ में यह काश्मीर से भी जाता रहा। बौद्ध मत के प्रभुत्व के समय इसके

फैलाने में काश्मीर किसी से पीछे न रहा। चीन में यहाँ से कई प्रचारक गये। महमूद ने काश्मीर पर चढ़ाई की, परन्तु उसका बहुत कम प्रभाव हुआ। जुलक़द्रख़ां ने सन् ३२२ में साठ हज़ार सैनिकों की सहायता से आक्रमण करके इसलाम फैलाने का यत्न किया। अगले वर्ष राजा सहदेव के राज्य-काल में रेनचानशाह ने काश्मीर पर अधिकार कर लिया। उसे अपने विचारों का कुछ पता न था। वह हिन्दू बनना चाहता था। परन्तु काश्मीरी ब्राह्मणों ने, जिनका नेता देवस्वामी था, उसे हिन्दू-धर्म की दीक्षा देने से इनकार कर दिया। इस पर एक रात उसने यह निश्चय किया कि प्रात: उठने पर मुझे जो कोई आदमी सबसे पहले मिलेगा, मैं उसी का मत स्वीकार कर लूँगा। अगले दिन सबेरे बाज़ार में जाने पर उसकी दृष्टि एक मुसलमान भिखारी पर पड़ी। मुसलमान बनकर रेनचान ने उन ब्राह्मणों को, जिन्होंने उसे हिन्दू बनाने से इनकार किया था, जबरदस्ती मुसलमान बनाकर बदला लिया।

हुएनसांग के समय का भारत—हुएनसांग के समय में भारत के हिन्दू शिक्षित, आतिथ्य-प्रिय, उदार-विचार और मतांधता-मुक्त थे। धार्मिक संप्रदाय अगणित हो गये थे। कुछ बौद्ध थे, शेष वैष्णव, शैव आदि। ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के विषय में उसने लिखा है—"ये लोग हाथों के साफ़, जीवन की दृष्टि से सादा और शुद्ध रहते हैं।" कुछ ही राजा बौद्ध थे। दक्षिण भारत में जैनियों का बहुत ज़ोर था। गया और पाटलिपुत्र नष्ट हो चुके थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—सब प्रकार के राजा थे। इन्हें क्षत्रिय-पद मिल जाता था। विद्वानों तथा महात्माओं का पद समाज में राजों-महाराजों से बड़ा समझा जाता था। कोई धर्मात्मा विद्वान् विद्या या धर्म को धन के बदले न बेचता था।

उत्तरी भारत में लगभग दो लाख बौद्ध भिक्षु रहते थे। यह सब और अगणित ब्राह्मण शिक्षा देने का कार्य करते थे। बड़े-बड़े मठ और बिहार शिक्षा के केंद्र थे। देश में कई विद्यापीठ थे। मगध में नालंद महायान का प्रधान विद्यापीठ था। बनारस ब्राह्मणों का शिक्षा-केन्द्र था। नालंद में अठारह संप्रदायों की शिक्षा-संस्थाएँ थीं। वेद, शास्त्र, आयुर्वेद, गणित आदि की शिक्षा का प्रबन्ध भी बहुत अच्छा था। दस हज़ार विद्यार्थी शिक्षा-लाभ करते थे। दस प्रकार के सूत्रों के एक हज़ार विद्वान् रहते थे। भिन्न-भिन्न सूत्रों तथा शास्त्रों के कई सौ विशेषज्ञ थे। विद्यापीठ का महा-आचार्य शीलभद्र धर्म की हर एक शाखा से पूर्णतया परिचित था।

बच्चों की शिक्षा के विषय में हुएनसांग ने लिखा है—"अक्षर-ज्ञान के पश्चात् सात वर्ष की आयु में इन पाँच शास्त्रों का अध्ययन आरम्भ हो जाता है—व्याकरण, आयुर्वेद, शल्य, न्याय और दर्शन।" सारी शिक्षा मौखिक रूप से दी जाती थी। नालंद-विद्यापीठ ने हुएनसांग का स्वागत राजाओं-जैसा किया। उसे विद्यापीठ का अतिथि बनाया गया।

यह विद्यापीठ गौतम बुद्ध के समय से उन्नति कर रहा था। हुएनसांग के समय इसकी इमारतें बहुत बड़ी और सजी हुई थीं। भवन बहुत बड़े-बड़े थे। उनमें सुनहला काम हो रहा था। इसकी ज़मीन में अनके बड़े-बड़े वृक्ष लगे हुए थे और तालाब, नहरें तथा फुहारे बने हुए थे। इसके खर्च के लिए सौ गाँव माफ़ थे। सभी विद्यार्थियों और भिक्षुओं के जीवन की आवश्यकताएँ निश्शुल्क पूरी की जाती थीं। विदेशों से आकर कई विद्यार्थी पढ़ते थे। स्वयं हुएनसांग यहाँ योग-शास्त्र पढ़ता रहा।

बौद्ध जातकों के अनुसार तब गाँव के लोग अपने खर्च से एक झोपड़ी और गुज़ारा देकर शिक्षक रखा करते थे। बनारस

में बोधिसत्व एक विख्यात आचार्य था। वह पाँच सौ ब्राह्मण विद्यार्थी पढ़ाता था। बनारस के लोग इन विद्यार्थियों को मुफ्त भोजन देते थे। एक अन्य कथा में बताया गया है कि एक सुविख्यात आचार्य पाँच सौ ब्राह्मणों को पढ़ाया करता था। एक दिन उसे खयाल आया कि जब तक मैं यहाँ रहूँगा, मेरे धर्म में बाधाएँ आयँगी और मेरे शिष्य पूर्णतया विद्या प्राप्त न कर सकेंगे; मुझे हिमालय के दामन में जाकर अब कार्य करना चाहिए। उसने अपने शिष्यों से कहा—"अपने लिए चावल, तेल, कपड़े आदि ले लो।" जंगल में उसने अपने लिए पत्तों की कुटिया बना ली। आस-पास के लोग उनको चावल आदि भेजने लगे। जंगल में रहनेवाले लोग उनकी हर प्रकार से सेवा करते थे। कोई गाय ला देता था, कोई दूध।

हुएनसांग के अनुसार शहरों की सड़कें अच्छी थीं। धर्मशालाएँ भी बहुत अच्छी थीं। इनमें यात्रियों को अन्न और ओषधियाँ मुफ्त दी जाती थीं। प्रजा के कामों में राज्य बहुत कम हस्तक्षेप करता था। किसी से कोई बेगार न ली जाती थी। कृषक पैदावार का छठा भाग लगान के रूप में देते थे। सराकारी आय चार भागों में बाँटी जाती थी—एक शाही खर्च और पूजा-पाठ के लिए, दूसरा विद्वानों को पुरस्कार देने के लिए, तीसरा सरकारी नौकरों के वेतन के लिए और चौथा विभिन्न संप्रदायों को दान देने के लिए।

एक अन्य स्थान पर उसने लिखा है—"देश के विभिन्न जनपदों तथा जातियों में से ब्राह्मणों का मान सबसे अधिक होता है। उनका आचार शुद्ध है। उनकी ख्याति से देश का नाम ब्रह्मदेश पड़ गया। गरमियों में गरमी बहुत सख्त होती है। नगरों के चारों ओर की दीवारें ईंटों की बनी हुई हैं, मकानों की

लकड़ी या बाँस की। भवन की छत कच्चे-पक्के खपड़ों या चूने से बनी होती है। घर में फ़र्श को गोबर से लीपा जाता है। उसके ऊपर मौसमी फूल बिछाये जाते हैं। बैठने के लिए मोढ़ों का प्रयोग किया जाता है। राजा का स्थान बहुत ऊँचा, लम्बा-चौड़ा और मोतियों से जड़ा होता है। उसे सिंहासन कहते हैं। इसके ऊपर सुन्दर वस्त्र होता है और आगे जड़ी हुई चौकी। नगर के चारों ओर ऊँची दीवार होती है। शहरों के रास्ते तंग और पेचदार हैं। बूचड़, माहीगीर, तमाशा करनेवाले, बधिक और भंगी नगर से बाहर रहते हैं। वे घरों को जाते समय बाएँ पहलू को दबकर चलते हैं।

"लोगों का अंदर और बाहर का वेश बहुत ज्यादा सिया हुआ नहीं होता। सफ़ेद रङ्ग की बहुत क़द्र है, दूसरे रंगों की परवा नहीं की जाती। पुरुष कमर के गिर्द कपड़ा लपेटता है जो बग़लों तक पहुँचता है। दाएँ कंधे को वे नंगा रहने देते हैं। स्त्रियाँ एक लम्बा कपड़ा पहनती हैं जो दोनों कंधों को ढाँप लेता है और नीचे तक जाता है। चोटी के बालों की एक गुच्छी बना ली जाती है, शेष बाल नीचे लटकते रहते हैं। कई लोग अपनी मूँछों को काट देते हैं। सिर पर और गले में माला डालते हैं। जिससे कपड़े बनाये जाते हैं उसे कपास, रेशम या ऊन कहते हैं। राजा और धनवानों की वेशभूषा असाधारण होती है। उनके शरीर पर अधिकतर छल्ले, भुजबंद और मालाएँ होती हैं। धनवान बाजूबंद ही पहनते हैं। बहुत से लोग नंगे पाँव रहते हैं; जूतों का प्रयोग बहुत कम होता है। दाँतों को लाल या काला रँग देते हैं। बालों को एक-जैसा कटवाते हैं। कानों में सूराख होते हैं। आँखें बड़ी और कान लम्बे होते हैं। हर एक के लिए खाने से पूर्व स्नान आवश्यक होता है। टुकड़ों या बचे हुए को दोबारा खाने के काम में नहीं लाया जाता। खाने के बरतन

सामने नहीं लाये जाते। मिट्टी के बरतन फेंक दिये जाते हैं, सोने चाँदी, ताँबे या लोहे के फिर साफ़ कर लिये जाते हैं। शरीर पर चंदन या केशर लगाते हैं। लघुशंका करने के पश्चात् हाथ धोते हैं। सफ़ाई आदि करने से पूर्व एक-दूसरे को नहीं मिलते।

"इनके लिखने का तरीक़ा ब्रह्म-देव ने निकाला था। इनकी भाषा में बहुत कम परिवर्तन हुए हैं। मध्यभारत के लोग सुस्पष्ट एवं शुद्ध बोलते हैं। इस प्रदेश के लोगों के वाक्य दूसरों के लिए नमूना होते हैं। इनके पुस्तकालयों के रक्षक भिन्न होते हैं। ब्राह्मण चार वेदों का अध्ययन करते हैं। पहला आयुर्वेद आयु को लम्बा करने के लिए है; दूसरा यजुर्वेद यज्ञ तथा पूजा के लिए; तीसरा बलिदान ज्योतिष तथा युद्ध-कला सिखलाता है; चौथा मंत्र-तंत्र, विभिन्न कलाएँ तथा जादू-टोने बताता है।

"चार-श्रेणियाँ चिर काल से चली आ रही हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। खेती करनेवालों को शूद्र और व्यापारियों को वैश्य बनाया गया है। बड़े और छोटे एक-दूसरे से अलग रहते हैं। हर एक श्रेणीवाले अपनी श्रेणी के अंदर ही विवाह करते हैं। माता और पिता के सम्बन्धी परस्पर विवाह नहीं करते। कोई स्त्री दोबारा विवाह नहीं करती। मिश्रित जातियाँ अगणित हैं। इनका वर्णन नहीं किया जा सकता।

"सेना पैदल, रिसाला, रथ और हाथी में बँटी हुई है। जंगी हाथी को कवच पहनाया जाता है। उसके दाँत तेज़ शास्त्रों से मढ़े जाते हैं। सेनानायक हाथी पर सवार होता है। उसकी रक्षा के लिए दोनों ओर सैनिक होते हैं। जिस रथ में अफ़सर होता है उसके आगे चार घोड़े होते हैं। उसकी रक्षा चारों ओर से प्यादे करते हैं।

"पैदल सेना बिना कवच के लड़ती है। ये सैनिक बहुत वीर होते हैं। हर एक के हाथ में ढाल और लम्बा भाला

होता है। जिनके पास खड्ग और कृपाणें होती हैं उनको युद्धक्षेत्र में सबसे अगली पंक्ति में खड़ा किया जाता है। ये युद्ध के सभी शस्त्र चलाने में दक्ष होते हैं। कई पीढ़ियों से इनका काम हथियार चलाना चला आ रहा है। जो विशेष रूप से वीर होते हैं, उनमें से चुन-चुनकर सैनिकों को जातीय रक्षकों में रखा जाता है। इनकी यह वृत्ति पैतृक है। इसी कारण ये युद्ध-कला के विशेषज्ञ होते हैं। शांति के समय ये राज-प्रासाद आदि की रक्षा करते हैं और युद्ध के समय सबसे आगे होते हैं।

"लोगों के स्वभाव में जल्दबाज़ी और परिवर्तनशीलता पाई जाती है। परन्तु इनका नैतिक आचार बहुत अच्छा है। कोई चीज़ बुरी तरह से नहीं लेते। दबाने पर हद से ज़्यादा दब जाते हैं। इनका विचार है कि पाप की सज़ा अगले जीवन में अवश्य मिलती है। ये धोखा कभी नहीं देते और अपने वचन पर दृढ़ रहते हैं। शासन उच्च कोटि का है और लोगों की अवस्था अच्छी है, इस कारण अपराधी बहुत कम होते हैं। जब क़ानून तोड़ा जाता है या राजा के विरुद्ध षड्यंत्र रचा जाता है तब अपराधी को उम्र-क़ैद का दंड दिया जाता है, कोई शारीरिक दंड नहीं दिया जाता। नैतिक बुराई की सज़ा नाक, कान या हाथ काट देना या जंगल में निर्वासन है। शेष अपराधों के लिए रुपया देकर सज़ा माफ़ कराई जा सकती है।

"जब कोई बीमार हो जाता है तब उसे सप्ताह भर भोजन नहीं दिया जाता। इस बीच में उसे या तो आराम हो जाता है या दवा दी जाती है। इनकी दवाइयाँ, इलाज का तरीक़ा, चिकित्सा-शास्त्र और निदान भिन्न प्रकार के हैं। आदमी के मर जाने पर उसके आत्मीय रोते, पीटते, छाती कूटते, बाल नोचते और कपड़े फाड़ते हैं। मृतक को अग्नि, जल या जंगल में फेंक

दिया जाता है। जंगल में उसे जानवर खा जाते हैं। मृत्युवाले घर में कोई खाने नहीं जाता। मुर्दे को खतम करने के बाद घर के सब काम पहले-जैसे होने लगते हैं। जो लोग मृतक के साथ जाते हैं, वे अशुद्ध समझे जाते हैं। वे सभी नगर के बाहर नहा कर और कपड़े धोकर ही लौटते हैं। जो बहुत वृद्ध हो जाता है, असाध्य रोग में फँस जाता है या अनुभव करता है कि अब उसका अंत निकट आ रहा है और जीवन की परवा न करके उसे खो देना चाहिए, उसे भोज दिया जाता है। तत्पश्चात किश्ती में डालकर उसे नदी के बीच में ले जाया जाता है ताकि वह अपने आपको डुबो सके।

"क्योंकि शासन उदार है और सरकारी आवश्यकताएँ थोड़ी हैं, इसलिए परिवारों का कोई हिसाब नहीं रखा जाता। राजा की आय में से ही सरकारी खर्च के अतिरिक्त नौकरों के वेतन, धर्म-कार्य के लिए दान तथा विद्वानों को इनाम दिये जाते हैं। कर कम है, बेगार बहुत ही कम। इसी कारण हर एक मनुष्य अपना पैतृक कार्य करता और पैतृकता का ध्यान रखता है। राजा को कृषक उपज का छठा भाग लगान के रूप में देते हैं। व्यापारी इधर-उधर जाकर अनाज बेचते और उनका विनिमय करते हैं। किश्तियों के घाट या पड़ाव पर उन्हें थोड़ा-सा महसूल देना पड़ता है। सरकारी मंत्रियों तथा कर्मचारियों को निश्चित भूमि मिली होती है। नगर के लोगों को उनका खर्च देना पड़ता है। व्यापार में विनिमय के साधन सोने चाँदी की छोटी-बड़ी मुद्राएँ और कौड़ियाँ हैं।

"आम, अमला, मधूक (महुआ), कैथ, केला, तथा पान सभी जगह पाये जाते हैं। नाशपाती, आलूचा, आड़ू, खूबानी और अंगूर भी पैदा होते हैं। अनार और नारंगी सर्वत्र

मिलते हैं। लहसुन और प्याज़ बहुत कम इस्तेमाल किये जाते हैं। जो कोई इन्हें खाता है, उसे बिरादरी से निकाल दिया जाता है। दूध, घी, चीनी, चीनी की मिठाई, भूना हुआ अनाज और मीठा तेल—ये चीज़ें साधारणतया प्रयोग में लाई जाती हैं। बढ़िया भोजन के रूप में कभी-कभी मछली और मांस इस्तेमाल किये जाते हैं। बैल, गदहे, हाथी, घोड़े, कुत्ते, लोमड़ी, भेड़िये, शेर, बन्दर आदि का मांस खाना वर्जित है। इनको खानेवाला नीच समझा जाता है।

"शराब आदि पेयों का प्रयोग किया जाता है। क्षत्रिय अंगूर और गन्ने के रस की बनी हुई शराब पीते हैं। वैश्य तेज़ शराब पीते हैं। बौद्ध और ब्राह्मण शरबत का प्रयोग करते हैं। बाक़ी लोग इनमें से कुछ भी इस्तेमाल नहीं करते।

"पकाने के लिए और बरतन होते हैं, खाने के लिए और। कुछ पात्र पीतल के बने होते हैं। भोजन उँगलियों से किया जाता है, काँटे आदि से नहीं।"

हुएनसांग के विवरण से यह भी प्रकट होता है कि उस समय हिन्दू-शब्द का प्रयोग प्रचलित हो चुका था। एक स्थान में उसने बड़े गर्व से लिखा है—"हिन्दू-शब्द चीनी भाषा का इंतु शब्द है जिसका अर्थ है चाँद। अँधेरी रात में लाखों सितारों के चमकने पर भी आदमी को कुछ दिखाई नहीं देता। परन्तु जब चाँद निकल आता है तब उसे सब कुछ नज़र आने लगता है। इसी प्रकार इस पृथ्वी पर बिलकुल अँधेरा था। सितारे तो कई एक चमकते थे, परन्तु किसी को रास्ता मालूम न देता था। तब यह देश चाँद के समान प्रकट हुआ और इसकी ज्योति ने सारी पृथ्वी को प्रकाशित कर दिया। बस, इस कारण इस देश को हिन्दू कहा जाता है।"

ऐसा मालूम होता है कि हिन्दू-शब्द आठवीं शताब्दी में बहुत ज्यादा प्रचलित नहीं हुआ था। आर्य लोग इसका प्रयोग करते तो थे, परन्तु कभी-कभी। विदेशी लोग प्राचीन काल से इस देश और इसके वासियों को हिन्दू कहते चले आ रहे थे। इस विषय में प्रसिद्ध चीनी यात्री इत्सिंग का साक्ष्य भी है, जो हुएनसांग के तीस वर्ष बाद भारत में आया। वह बौद्धों के एक रिवाज का उल्लेख करते हुए लिखता है—"हर एक मनुष्य अपने काम अपने आचार्य के सम्मुख जाकर रखता है। यह रीति आर्य-देश में सिखलाई जाती है। आर्य का अर्थ श्रेष्ठ है और देश भूमि को कहते हैं। इसलिए आर्य-देश का अर्थ है. श्रेष्ठ भूमि। यह शब्द पश्चिमी भाग के लिए प्रयुक्त होता है। इसका कारण यह है कि श्रेष्ठ आचार के मनुष्य एक भू-भाग में लगातार जन्म लेते रहे हैं। आर्य-देश कहकर लोग इसकी प्रशंसा करते हैं। इसको मध्यदेश भी कहा जाता है, क्योंकि यह हजारों देशों का मध्य या केन्द्र है। सभी लोग इस नाम से परिचित हैं। केवल उत्तरी जनपद, मुगल और तुर्क, इस श्रेष्ठ भूमि को हिन्दू कहते हैं। परन्तु यह नाम इतना प्रचलित नहीं। यह प्रान्तीय बोली का शब्द है। कई लोग इसको जानते भी नहीं। इस कारण इसका उचित नाम आर्यदेश है। कुछ आदमियों का मत है कि इन्दु का अर्थ चाँद है और इस देश के लिए चीनी नाम इन्तु इसीसे निकला है। हो सकता है यह ठीक हो, परन्तु यह प्रचलित नहीं हुआ। यह भी याद रहे कि समस्त देश जिसमें पाँचों भाग सम्मिलित हैं, ब्रह्मराष्ट्र अर्थात् ब्राह्मणों का राष्ट्र भी कहलाता है।"

छठा प्रकरण

इसलाम का चक्र

संघर्ष का परिणाम—आठवीं शताब्दी में हम बौद्धमत के दिये को बुझता हुआ देखते हैं। बौद्ध मत की शिक्षा ने हिन्दुओं को व्यक्तिरूप से बहुत ऊँचा ले जाने का प्रयत्न किया। इस पंथ की समता इसके प्रसार का एक बड़ा कारण थी। अपाली नाम के नाई और सुनेता नाम के भंगी को भिक्षु की पदवी दी गई। परन्तु जब बौद्ध मत का ज़ोर था तब ब्राह्मणों और क्षत्रियों में भेद पक्का हो चुका था। बौद्ध मत ने क्षत्रियों को अपने हाथ में ले लिया और ब्राह्मणों के मुक़ाबले पर आन्दोलन शुरू कर दिया। यह संघर्ष नैतिक आधार पर चलता था।

गुप्तवंश के समय ब्राह्मणों का प्रभुत्व फिर बढ़ना शुरू हुआ। अब उन्होंने जात-पाँत के क़िले के अन्दर घुसकर इसे मज़बूत बनाया और दूसरों के लिए ब्याह, भोजन और छुआछूत की पाबन्दियों के द्वारा रुकावटें पैदा कर दीं। जो पाबन्दियाँ प्राचीन आर्यों ने दूसरों पर लगाई थीं, वही हिन्दुओं ने अपने अंदर एक-दूसरे के विरुद्ध लगादीं। ब्राह्मण विवाह में क्षत्रिय लड़कियों को लेना उचित समझते थे ; परन्तु अपनी लड़कियों के ब्याह उनके साथ करना गवारा न करते थे। पश्चिम का एक यात्री इब्नख़ुरदाद, जो सन् १२०२ में मरा, लिखता है—"ब्राह्मण लोग क्षत्रियों की लड़कियाँ ले लेते हैं, परन्तु उन्हें अपनी नहीं देते।"

इस आंदोलन में श्री शंकराचार्य और कुमारिल भट्ट जैसे ब्राह्मण थे जिन्होंने बौद्धमत के प्राबल्य को मिटाने का काम किया। आठवीं सदी में जब हुएनसांग भारत आया तो उसने देखा कि हर गाँव और शहर में ब्राह्मण और बौद्ध भिक्षु जन-साधारण को अपनी-अपनी तरफ़ खींचने में व्यस्त हैं। उसे यह देखकर खेद हुआ कि जगह जगह ब्राह्मण लोगों पर प्रभुत्व प्राप्त कर रहे थे और बौद्धमत दुर्बल हो रहा था। राजा हर्षवर्द्धन जो बौद्ध था, हुएनसांग के अनुसार, ब्राह्मणों के प्रभुत्व के सामने सिर झुकाता था। उसने गौतमबुद्ध के साथ शिव और विष्णु की सवारी निकालना भी आवश्यक समझा था।

ब्राह्मणों की विजय के कई कारण थे। पहला—बौद्धमत के दर्शन और ज्ञान में जो ऊँची बातें थीं वे सब प्राचीन ऋषियों के ग्रंथों से ली गई थीं। इसकी शिक्षा विदेशियों को प्रभावित कर सकती थी। ब्राह्मणों के लिए इसमें कोई नई बात न थी। दूसरा-बौद्धमत ने केवल गौतम बुद्ध को आगे रखकर भारत की भूतकालीन महानता से अपने आपको अलग कर लिया। परन्तु जनसाधारण के मन में अपने पूर्वजों तथा भारत से प्रेम बाक़ी था। तीसरा—ब्राह्मणों ने गौतमबुद्ध के मुक़ाबले पर लोगों के दिलों में श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि राष्ट्र-निर्माताओं को ईश्वर-पद तक पहुँचा दिया। चौथा—गौतम बुद्ध को एक अवतार मानकर बौद्धमत को स्वयं ब्राह्मणों ने अपने अंदर जज़्ब कर लिया। इस तरह वह विशाल हिन्दू धर्म का एक अंग बन गया। लेकिन सबसे बड़ी बात जिससे ब्राह्मण बौद्धमत को पराजित कर सके, यह थी : ब्राह्मणों ने उनकी समता के मुक़ाबले पर जात-पाँत का बड़ा हथियार तैयार कर लिया। समता से बौद्धमत ने विभिन्न वर्णों और उनके कर्त्तव्यों को कुचलकर जातीयता या राष्ट्रीयता

की भावना का ही अंत किया; परन्तु मनुष्यों में अपने आपको एक-दूसरे से तमीज़ करने की एक स्वाभाविक इच्छा पाई जाती है। मरी हुई जातीयता या राष्ट्रीयता के युग में यह इच्छा बहुत प्रबल हो गई और चार वर्णों के स्थान में अनेक जातें जारी हो गईं।

ज्यों-ज्यों गुण का स्थान जन्म लेता गया, त्यों-त्यों जन्म के साथ इलाके का खयाल पैदा होता गया। कनौजी, गौड़, कोकनस्थ और तैलंग—ये सब ब्राह्मणों की जातें बन गईं, जैसे पहले ऋग्वेदी, यजुर्वेदी, सामवेदी आदि बनी थीं। ब्राह्मणों के अंदर अंगणित जातें बन जाने से क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों में भी उसी प्रकार का विभाजन आरंभ हुआ। पहले विभिन्न पेशों के गण होते थे। कुछ देर के बाद ये जातों के नाम बन गये; उदाहरणार्थ कर्मकार अर्थात् लोहार, कुलाल अर्थात् कुम्हार, गणक अर्थात् ज्योतिषी, गोपाल अर्थात् ग्वाल, तक्षक अर्थात् तरखान, नापित अर्थात् नाई आदि। नसली पहचान ने भी जातों में भेद उत्पन्न करने में बड़ी सहायता की। निषाद, चांडाल आदि नाम इसी कारण से हैं। इनकी जातें इतनी पक्की हो गईं कि जहाँ कहीं एक जात के पुरुष से दूसरी जात की स्त्री का संबंध होता, उनकी संतान से एक नई जात शुरू हो जाती। हिन्दू धर्म ने यह नया रूप धारण करके बौद्धमत को अपने अंदर बिलकुल हज़्म कर लिया।

हिन्दू धर्म की जीत तो हो गई, परन्तु इसकी नई बनावट ने, जिसका आधार पृथकत्व था, समाज को बहुत दुर्बल कर दिया और इसमें कोई ऐसी शक्ति नजर न आती थी जो किसी अवसर पर सभी घटकों को संगठित कर सकती। वर्णाश्रम के अनुसार ब्राह्मण वही मनुष्य हो सकते थे जो जाति के

अंदर ज्ञान-दीप को जलाये रखें। क्षत्रियों का काम था संकट के समय देश की रक्षा करना। अब नई शकल में वर्णों के कर्त्तव्यों का और समाज को एक विराट शरीर समझकर उसके कल्याण तथा बचाव का किसी को खयाल भी न आ सकता था। जातों के घमंड के नशे में लोग केवल अपनी ज़ात का हित ही देख सकते थे। इससे आगे उनकी दृष्टि जा ही न सकती थी।

हिन्दुओं के दुर्भाग्य से थोड़ी देर के बाद उनके सामने एक ऐसा संकट आया जिससे बचने के लिए एक यही उपाय था कि वे अपने सब भेद-भाव दूर करके एक हो जायें। परन्तु इनको एक करनेवाली शक्ति कहाँ से आती? वे क्षत्रिय जिन्हें स्वदेश के लिए लड़ना और मरना था, अब कुछ जातों तक सीमित हो चुके थे। इनकी थोड़ी-सी संख्या लड़कर करोड़ों मनुष्यों की रक्षा कैसे कर सकती थी? जब कभी मौक़ा पड़ा क्षत्रिय लोगों ने स्वदेश और स्वधर्म के लिए लड़कर अपने प्राण दिये। परन्तु देश के जनसाधारण न अपना अस्तित्व एक समझते थे और न उस अस्तित्व को किसी संकट में समझते थे। इस प्रकार समस्त हिन्दू जाति सदियों के एक संघर्ष के कारण थकी-माँदी पड़ी थी, जब उसे इसलाम के आक्रमणों का सामना करना पड़ा।

अलबेरूनी का भारत-चित्र—अगली सदी में हिन्दुस्थान पर मुसलमानों के आक्रमण शुरू हो गये। पहले-पहल फ़ारस की खाड़ी के रास्ते सिंध-प्रांत पर हुए। सिंध के प्रसिद्ध ब्राह्मण राजा दाहर ने मुहम्मद क़ासिम का खूब मुक़ाबला किया। कई स्थानों पर हिन्दू स्त्रियाँ भी तलवारें लेकर अपने धर्म, संस्कृति तथा राष्ट्र-सम्मान के संरक्षणार्थ मैदान में आईं; परन्तु उन्हें सफलता न प्राप्त हुई। सिंध के पराजित हो जाने का बड़ा कारण यह था कि वहाँ की आबादी में आधे लोग बौद्ध थे जो ब्राह्मण

राजा के विरुद्ध विदेशी आक्रमणकारियों की सहायता पर तैयार थे। इसके मुक़ाबले पर ब्राह्मणाबाद के राजा के यहाँ एक सेनानायक ऐलफ़ी था (ब्राह्मणाबाद संभवतः वर्तमान हैदराबाद के निकट आबाद था।) इसके साथ चार-पाँच सौ अरब सैनिक थे। जब राजा ने इनसे अरब आक्रमणकारियों के विरुद्ध लड़ने को कहा तो इन्होंने ऐसा करने से इनकार कर दिया। तब ऐलफ़ी और उसके साथी राजा की नौकरी छोड़कर काश्मीर चले गये। यद्यपि इसलाम का राज्य सिंध में नाम को ही रहा और चिर-काल तक सिंध पर अन्य कोई आक्रमण न हुआ तो भी लगभग दो शताब्दियाँ ऐसे ही गुज़र गईं और देश के अंदर न कोई योग्य व्यक्ति उत्पन्न हुआ जो लोगों को आनेवाले संकट के लिए तैयार करता और न कोई ऐसा शक्तिशाली राजा हुआ जो हिन्दुओं की बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र करके उन्हें मुक़ाबले के लिए मज़बूत बनाता। इन शताब्दियों को खेदपूर्ण देखते हुए हम उस युग तक आ जाते हैं जब सुबुक्तगीन और महमूद ने पंजाब पर हमले शुरू कर दिये। तात्कालिक पंजाब का चित्र हम अलबेरूनी के यात्रा-विवरण में अच्छी तरह से देख सकते हैं।

अलबेरूनी का सम्बन्ध बुख़ारा के राजवंश से था। महमूद ग़ज़नवी ने बुख़ारा जीतकर अलबेरूनी को भी गिरफ़्तार कर लिया और उस पर निगरानी रखने के लिए उसे सदा अपने साथ रखता। हमलों के समय भी वह उसे अपने साथ पंजाब लाया।

अलबेरूनी यों मुसलमान था। परन्तु दर्शन और साहित्य के प्रति उसका शौक़ मज़हब की अपेक्षा बहुत बढ़ा हुआ था। वह विद्वान् था। पंजाब में आकर उसने बड़ी मुश्किल से संस्कृत पढ़ी। भगवद्गीता आदि को पढ़कर स्वयं हिंदू-दर्शन और तत्त्वज्ञान

को समझने में समर्थ हुआ। अरबी भाषा में उसने भारत की सामाजिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक अवस्था पर एक बड़ी पुस्तक लिखी। क्योंकि इसका लेखक बड़ा समझदार और पक्षपात से रहित था। कारण 'अलबेरूनी का भारत' उस युग के भारत का सच्चा चित्र है। गत शताब्दी में एक जर्मन ने इस पुस्तक का जर्मन और अँगरेजी में अनुवाद किया।

अलबेरूनी ग्यारहवीं शताब्दी के ठीक आरम्भ में पंजाब आया। उस समय पंजाब या शेष भारत पर बौद्धमत का कुछ प्रभाव न था। अलबेरूनी ने जिस भारत का वर्णन किया है, वह शुद्ध हिन्दू मालूम होता है। वह हिन्दू दर्शन का बड़ा भक्त था। उसकी सम्मति में हिन्दुस्थान और यूनान के दार्शनिक एक ही प्रकार के विचारों की शिक्षा देते हैं।

भगवद्गीता को पढ़कर वह जर्मन तत्त्ववेत्ताओं के समान मस्त होकर झूमने लगता। उसने दो बार श्रीव्यास की इस बात को दोहराया है—"पहले पचीस तत्त्वों को पहचान लो, फिर जो मत चाहो स्वीकार करो। परिणाम-स्वरूप तुम्हें मुक्ति प्राप्त होगी।" एक स्थान पर उसने यहाँ तक लिख दिया है—"हिन्दू विद्वान जो लिखते थे उसमें ईश्वर का हाथ होता था।" किसी मुसमान के लिए ऐसा लिखना असाधारण गुणग्राहकता है।

उस समय, अर्थात् दसवीं शताब्दी तक, काबुल के इर्द-गिर्द गजनी और अफ़गानिस्तान के दूसरे हिस्सों में भी हिन्दू आबाद थे। मुसलमानों के राज्य से पूर्व अफ़गानिस्तान में भी हिन्दू नरेश राज करते थे। जब अलबेरूनी भारत में आया तब हिन्दू विद्वानों के साथ अच्छा संपर्क पैदा करना विदेशियों के लिए असंभव-सा हो चुका था। म्लेच्छ के स्पर्श से भी हिन्दू घबराने लग पड़े थे। पाल-वंश का जो उत्तर-पश्चिमी

भारत और अफ़ग़ानिस्तान पर शासन करता था, अन्त हो गया और उसका प्रदेश महमूद ने ले लिया। उत्तर-पश्चिम के अन्य हिन्दू शासक ऐसे संकीर्ण और स्वार्थ-रत थे कि ग़ज़नी से आनेवाले खतरे का मतलब ही न समझ सके। उनमें इतनी भी नीतिज्ञता नहीं थी कि देश के सामान्य संकट के समय शत्रु को पछाड़ने के वास्ते एकत्र हो जाते। आनंदपाल ने अकेले ही उसका मुक़ाबला किया; परन्तु सफलता प्राप्त न कर सका। बाक़ी भी एक-एक करके गिरनेवाले थे। काश्मीर अभी तक स्वतंत्र था और कोई विदेशी उसमें दख़ल न दे सका था। आनंदपाल वहाँ भाग गया। महमूद ने उसे जीतने का प्रयत्न किया; परन्तु असफल रहा।

अलबेरूनी के समय पहले संग्रामदेव और उसके स्थान में अनंतदेव काश्मीर का राजा बना। केन्द्रीय और दक्षिणी सिंध पर महमूद ने कोई आक्रमण नहीं किया। वहाँ पर छोटी-छोटी मुस्लिम रियासतें बन चुकी थीं। पश्चिम में गुजरात की रियासत की राजधानी अनहिलवाड़ या पट्टन थी। महमूद ने सोमनाथ पर भी आक्रमण किया। गुजरात में पहले पहल चालुक्य-वंश राज्य करता था। उसके बाद सोलंकी-वंश राज्य करने लगा। महमूद के आने पर इसका राजा भाग गया। महमूद ने इसके एक राजकुमार को सिंहासन पर बैठाया। राजा दुर्लभ भी इसी वंश से था।

मालवा में परमार-वंश का राज्य था। अलबेरूनी के समय यहाँ का राजा भोजदेव था। इसने काबुल के पाल-वंश के राजाओं को अपने यहाँ आश्रय दिया। उसकी राजधानी धार विद्वानों का बड़ा केन्द्र थी। कन्नौज इस समय गौड़ या बंगाल के पाल राजा के अधीन था। राजपाल के समय महमूद कन्नौज को लौटा। राजा महिपाल ने १०२६ में अपना राज्य बनाने का यत्न किया। ये दोनों राजा बौद्ध थे।

भारत आने से पूर्व अल्बेरूनी ने हिन्दू ज्योतिष, गणित, दर्शन, योग आदि का अध्ययन अरबी पुस्तकों के द्वारा किया था। वह लिखता है—"भारत के ज्ञान के केन्द्र बनारस और काश्मीर थे जहाँ पर म्लेच्छों के विनाश का हाथ नहीं पहुँचा था।" भारत की विद्याओं ने मुसलमानों पर कैसे प्रभाव डाला—इसका उसने इस प्रकार वर्णन किया है—'भारत ने इसका बग़दाद पर दो रास्तों से प्रभाव किया। अरबों ने कुछ हिन्दू-शास्त्र ईरानी भाषा से लिये। कलेला-दमना और चरक के अनुवाद पहले फ़ारसी में किये गये, फ़ारसी से अरबी में। खलीफ़ा मंसूर (सन् ७५३ से ७७४ तक) के समय में सिंध-प्रांत खलीफ़ा के अधीन था। सिंध से कई हिन्दू पंडित बग़दाद बुलाये गये। वे संस्कृत की पुस्तकें अपने साथ लेते गये। ब्रह्म-सिद्धान्त और खंडखादिका का अनुवाद याकूब-इब्न-तारक ने इन पंडितों की सहायता से अरबी में किया। बारमक एक अन्य खलीफ़ा का मंत्री था। इसका घराना बलख़ शहर से आया था जहाँ उसके पूर्वज बौद्धों के मंदिरों के अधिकारी थे। यद्यपि बारमक मुसलमान हो चुके थे तथापि वे इसलाम की कुछ परवा न करते थे। उन्होंने आयुर्वेद और औषधियाँ बनाने के तरीके सीखने के लिए भारत से वैद्य मँगवाये। इन हिन्दू वैद्यों को खलीफ़ा ने अपने बड़े-बड़े चिकित्सालयों में प्रधान वैद्य निश्चित किया। इन पंडितों के द्वारा आयुर्वेद, दर्शन, ज्योतिष आदि विषयों की पुस्तकों का अरबी में अनुवाद करवाया गया। हिन्दू वैद्यों में से एक इब्न-धन बग़दाद के बड़े चिकित्सालय का मुख्य वैद्य था। धन का सम्बन्ध धन्वंत्रि-वंश से है। ब्राह्मण वेदपा का नाम वेदव्यास का बिगड़ा हुआ रूप मालूम होता है और सदबरम सद्वर्मन का। अरबी की एक

पुस्तक का नाम वाघ्र है। यह संस्कृत का लेखक व्याघ्र मालूम देता है।" (कलेला-दमना 'पंचतंत्र' के करटक और दमनक हैं।)

अलबेरूनी का भारत ब्राह्मण हिन्दुस्थान था न कि बौद्ध ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बौद्धमत सारे मध्य-एशिया, खुरासान, अफ़ग़ानिस्तान और उत्तर-पश्चिमी भारत से जा चुका था। यह विचित्र-सी बात है कि अलबेरूनी जैसा सत्य का जिज्ञासु बौद्धमत के विषय में कुछ भी न जानता था और न उसे इसके सम्बन्ध में किसी से कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ। बौद्धमत के सम्बन्ध में उसका ज्ञान एक ईरानी नागरिक पुस्तक पर अवलंबित था। बौद्ध रीतियों के सम्बन्ध में वह लिखता है कि बौद्ध लोग अपने मुर्दों को पानी में फेंक देते थे। उसने पेशावर में बौद्धों का एक मकान देखा जिसे राजा कनिष्क ने बनवाया था।

लिपियों का उल्लेख करते हुए वह भिक्षुकी के सम्बन्ध में लिखता है कि यह पूरब में उदानपुर में बोली जाती थी। उसका संकेत सम्भवतः मगध के उदानपुर के मठ की ओर है जिसे सन १२०० में मुसलमानों ने नष्ट कर दिया। वह लिखता है—"मुझे कोई बौद्ध नहीं मिला जिससे मैं बौद्ध मत के सिद्धांतों के विषय में पूछ सकता। ब्राह्मण बौद्धमत के विषय में सब कुछ जानते हैं ; परन्तु बताना नहीं चाहते।"

अलबेरूनी के समय में इस देश में वैष्णव मत का जोर था। वह शैव मत का योंही जिक्र करता है यद्यपि महमूद से पहले काबुल-प्रदेश और पंजाब पर राज करनेवाला वंश शिव का भक्त था। उसके राजाओं के सिक्कों पर शिव के नंदी की मूर्ति पाई जाती है।

हिन्दू मुसलमानों का मुक़ाबला करते हुए अलबेरूनी लिखता है—"मुसलमानों की हर बात हिन्दुओं की प्रत्येक बात के ठीक

उलटी है। यदि दोनों की कोई रस्म प्रकट रूप से एक-जैसी दिखाई देती है तो उसका मतलब एक-दूसरे के विरुद्ध ही होता है।" वर्णों के सम्बन्ध में वह लिखता है—"हिन्दू अपनी जातों को वर्ण कहते हैं। प्राचीन काल से हर बड़े राजा का यह यत्न रहा है कि अपनी प्रजा को विभिन्न श्रेणियों में बाँट दे और उनको एक दूसरे से मिलने से रोके। पुरानी ईरानियों की चार बड़ी जातें थीं। पहली में साधु, पुरोहित और वकील थे। दूसरी में शासक और क्षत्रिय। तीसरी में ज्योतिषी, वैद्य और वैज्ञानिक और चौथी में खेती करनेवाले और व्यापारी आदि। हिन्दुओं में आरम्भ से चार वर्ण चले आते हैं। सबसे बड़ा ब्राह्मणों का है जो ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए, दूसरा क्षत्रियों का जो उसकी भुजाओं से निकले, तीसरा वैश्यों का जो उसके पेट से और चौथा शूद्रों का जो उसके पैरों से पैदा हुए। ये सब यों भिन्न हैं; परन्तु क़सबे में मिल-जुलकर रहते हैं। इनके नीचे अन्त्यज हैं। ये नीच समझे जाते हैं। इनके आठ प्रकार हैं जो एक-दूसरे के साथ ब्याह करते हैं। धोबी, मोची, मदारी, ढोलक और टोकरियाँ बनानेवाले, माहीगीर, शिकारी और जुलाहे—ये सब चार वर्णों के साथ नहीं रहते। डोम और चांडाल किसी पेशे में गिने नहीं जाते। यह वर्ण-संकर श्रेणी है। काम सफ़ाई का करती है। समाज में इसका कोई पद नहीं।"

भाषाओं के विषय में वह लिखता है—"यूनानी पशुओं की चमड़ी पर लिखा करते थे। अरब के लोग इसके लिए हिरन आदि की खाल इस्तेमाल करते थे। मिस्री लोग पेपिरस वृक्ष की छाल को लिखने के काम में लाते थे। दक्षिण-भारत के हिन्दू ताड़ के पत्तों और उत्तर भारत के हिन्दू भोजपत्रों पर लिखा करते हैं। कहते हैं, हिन्दू पहले की वर्णमाला भूल गये और

ब्यास ने ईश्वर की कृपा से उनके लिए नई वर्णमाला बनाई। इस समय भारत में कई प्रकार की लिपियाँ हैं। सिद्धमात्रिका काश्मीर और बनारस में इस्तेमाल होती है। मगध में भी इसी का प्रयोग किया जाता है। भाटिया और सिंध में अवधनागरी चलती है; मालवा, शिवी और दक्षिण सिंध में मारवाड़ी; कर्णाटक में कर्णाटकी; आंध्र में आंध्री ; अरोड़ में अरोड़ी ; पूरब देश में गौड़ी; लाड़-देश में लाड़ी और उदानपुर में भिक्षुकी।" (लाड़-देश में दक्षिण गुजरात, थाना और चौल सम्मिलत थे।)

इसलाम का जन्म तथा उत्कर्ष—भारत में बौद्धमत का अपकर्ष हो रहा था। पश्चिम में यूनान और रोम के साम्राज्य खतम हो गये। ईरान का पुराना साम्राज्य गिरने को था। इस समय अरब के तीर्थ मक्का में क़ुरैश घराने में हजरत मुहम्मद का जन्म हुआ। अरब में अपनी पुरानी सभ्यता का जमाना गुजर चुका था। अरबी में पुराना साहित्य मौजूद था; परन्तु इस समय अरब की हालत बहुत गिरी हुई थी। इसके विभिन्न बद्दू क़बीले सदा घरेलू लड़ाइयों में संलग्न रहते थे। इसलाम के प्रवर्तक ने अपने लोगों की यह अवस्था देखी। उसके अंदर उनके लिए प्रेम था। उसने एक ऐसी भट्टी जलाने का निश्चय किया जिसमें उनका पारस्परिक विद्वेष जल जाय और वे एक जाति बन जावें। अरब के लोग देवताओं की पूजा किया करते थे। क़अबा में एक काला पत्थर रखा था। लोग आते, दूर ही से कपड़े उतारकर सात बार उसकी प्रदक्षिणा करते, सात बार उसे चूमते और सात ही बार साथ के पहाड़ की पूजा किया करते। इसके पश्चात् ऊँट या भेड़ की बलि देते, नहीं तो बाल या नाखून उतारकर वहाँ गाड़ देते।

कुरेश मक्का का शासक घराना था। हाशिम फैयाज़ी के लड़के अबदुलमतालिब के तेरह बेटों में से एक अब्दुल्ला था। इसके घर में सन् ५७१ में हज़रत मुहम्मद का जन्म हुआ। छुटपन में ही माता, पिता और दादा मर गये। लड़का अपने चचा, अबुतालिब के पास रहा। बचपन में उसे प्रार्थना का शौक़ था। वह मक्का के पास जंगल में फिरा करता। उसे खास फ़िट आते जब वह जिन-भूतों को देखा करता।

एक बार उसने जिबराईल को देखा। कहा जाता है कि उसने बताया कि तुम खुदा के पैग़म्बर या संदेश-वाहक हो। पचीस बरस की आयु में उसने एक धनाढ्य विधवा ख़दीजा के यहाँ नौकरी कर ली जिससे बाद में युवक का ब्याह हो गया। चालीस बरस की उम्र में पैग़म्बर होने का दावा किया और कहा—खुदा ने अपने अस्तित्व को प्रकृति के सभी कामों और अपना क़ानून मनुष्य के हृदय पर लिख दिया है। पहले का ज्ञान देना और दूसरे पर आचरण कराना पैग़म्बरों का कार्य है आदम, नूह, इब्राहीम, मूसा और ईसा के बाद मुहम्मद छठाँ पैग़म्बर है। जो किसी पैग़म्बर को न माने वह काफ़िर है।

खुदा और पैग़म्बर के इस संदेश को अनुगामियों ने खजूर के पत्तों और बकरे की कंधे की हड्डी पर लिखा और प्रवर्त्तक की स्त्री के सुपुर्द कर दिया। उसकी मृत्यु के दो वर्ष बाद अबुबकर ने उसे प्रकाशित किया। प्रवर्त्तक ने अपने अनुगामियों के लिए ये चार बड़े कर्त्तव्य निश्चित किये—हज (तीर्थ-यात्रा), नमाज (प्रार्थना), रोज़ा (अनशन) और ज़कात (दान)। पहले उसकी स्त्री उसकी शिष्या बनी। फिर घर के गुलाम जैद को मुक्त करके अनुगामी बना लिया गया। अबुबकर प्रवर्त्तक का मित्र था। उत्तराधिकारी बनने की आशा में वह भी शिष्य हो गया। अपने चचा के बेटे,

अली से प्रवर्त्तक का बड़ा प्रेम था । वह भी शिष्य हो गया । तीन बरस के पश्चात् हाशिम क़बीले के चालीस मेहमानों को बुलाकर योग दिया और कहा—"खुदा ने मुझे कहा है कि तुम्हें बुलाकर पूछूँ कि तुममें से कौन मेरा मंत्री बनेगा । मैं ही तुम्हें इस लोक और परलोक का राज्य दिला सकता हूँ ।" चौदह वर्ष का अली खड़ा हो गया । उसने कहा—"मैं तुम्हारा मंत्री बनूँगा । जो तुम्हारे साथ वैर करेगा उसके दाँत उखाड़ दूँगा और आँखें निकाल डालूँगा ।"

दस वर्ष तक प्रवर्तक को क़अबा में कोई सफलता न हुई । चचा ने समझाया कि ऐसा मत करो । इस पर भतीजे ने जवाब दिया—"यदि आप मेरे दायें हाथ परसूरज रख दें और बायें पर चाँद तब भी मैं अपने इरादे से नहीं टलूँगा ।" अंत में क़अबा के लोगों ने उसका वध कर देने की ठानी । इस पर प्रवर्त्तक अबुबकर को साथ लेकर १६ एप्रिल सन् ६२२ को शहर मदीना की तरफ़ भाग गया । मदीना के लोगों का मक्का से विरोध चला आता था । वे प्रवर्त्तक के अनुगामी बनकर उसकी सहायता के लिए तैयार हो गये । यहाँ पर प्रवर्त्तक ने एक अनाथ की जमीन लेकर मसजिद बनाई और स्वयं बादशाह और असाम की उपाधियाँ धारण करके यह निर्णय किया कि क्योंकि प्रेरणा से काम नहीं बना इसलिए तलवार हाथ में लेनी चाहिए । साथ ही यह निष्कर्ष निकाला—"तलवार स्वर्ग और नरक की कुँजी है । खुदा के काम में खून की एक बूँद देना या एक रात हथियार के साथ गुज़ारना दो महीने के रोजे, जकात और नमाज से बेहतर है । जो मैदान में मरता है उसके पाप माफ़ हो जाते हैं । प्रलय के दिन उसके घाव हीरे के समान चमकेंगे और खुशबू देंगे । किसी अंग के कट जाने पर उसके स्थान पर

फ़रिश्तों—देवदूतों—के पर गल जायँगे। जो आदमी मजहबी युद्ध में मरता है सीधा बहिश्त (स्वर्ग) को जाता है जहाँ हूरें (अप्सराएँ) उसका स्वागत करती हैं। वह सदा खुशी और मौज में रहता है। उसे हजारों गुलाम, मकान और बग़ीचे सजे हुए मिलते हैं।"

इस पर 'हिस्ट्री आव दि पंजाब' का लेखक सैयद मुहम्मद-लतीफ़ लिखता है—"ऐसे उदार वचनों ने अरब के जंगली लोगों में जोश की अग्नि प्रदीप्त कर दी। उनकी विषय-वासनाएँ भड़क उठीं और युद्ध की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई।" इस प्रेरणा ने सचमुच अरब के लोगों में जान डाल दी। प्रवर्त्तक ने क़अबा के सरदार अबुसफ़हान से तीन बार लड़ाई की। अंत में उसके बड़े साथी विपक्षी की तरफ़ हो गये। इस पर अबुसफ़हान भी मुसलमान बन गया। अब प्रवर्त्तक मक्का का राजा हो गया और उसने ३६० मूर्त्तियों को तोड़ने का आदेश किया। नौ लड़ाइयों और पचास मुहिमों में भाग लेने के बाद चार मास ज्वर से बीमार रहकर वह ६३ वर्ष की आयु में मरा। प्रवर्त्तक का व्यक्तिगत जीवन बहुत सादा था। वह स्वयं झाड़ू देता। अपने कपड़े और जूते स्वयं सीता। आग भी खुद ही जलाता। प्रायः खजूर और पानी उसका भोजन होता।

रोमन बादशाहों की नीति यह थी कि एक समय एक ही तरफ़ युद्ध करना चाहिए। इसलाम के प्रवर्त्तक की सेना ने इसे तिलांजली दे दी उसने एक ही समय आगस्टस और अर्धशेर के राज्यों पर हल्ला बोल दिया। ईरान पर खुसरो की संतान में से यजदीगर्द राज कर रहा था एक ही लड़ाई में ईरान के भाग्य का निर्णय हो गया। असफ़हान शहर को उजाड़कर कूफ़ा को राज-धानी बना लिया गया। यजदीगर्द जो पहले भाग गया था, अब

फिर सेना लेकर आया। परन्तु उसके अपने साथी उसका विरोध करने लगे। उसके नौकर ने स्वामी को पीटना शुरू कर दिया और उसके तुर्क सैनिकों ने उसका वध कर डाला। इस प्रकार पुराने ईरानी साम्राज्य का सन् ६५१ में अंत हो गया। एक सौ वर्ष में एक ओर ईरान और सिंध तक और दूसरी ओर सीरिया, मिस्र, अफरीका और स्पेन पर इसलाम का झंडा लहराने लगा।

सन् ६८६ में खलीफ़ा उस्मान का एक सेनानायक, अब्दुल्ला, खुरासान पर अधिकार जमा बैठा। तेरह वर्ष बाद उसने काबुल जीत लिया। खलीफ़ा उमर ने शहर बसरा बसाया जहाँ से सिंध और बलूचिस्तान की तरफ़ मुहिमें भेजी गईं। सन् ७१० में बुखारा और समरकंद जीत लिये गये। सिंध के शासक दाहर ने अरबों का एक जहाज़ रोक लिया था। इसको वापस लेने के लिए सन् ७११ में हजाज के शासक ने मुहम्मद क़ासिम को सेना दी। राजा दाहर ने मुक़ाबले के लिए बड़ी फ़ौज एकत्र की; परन्तु राजा ने युद्ध-क्षेत्र में वीरगति प्राप्त की और उसकी सेना पीछे हट गई। क़ासिम दाहर की राजधानी ब्राह्मणाबाद की तरफ़ बढ़ा, जहाँ रानी ने राजपूत ललनाओं को साथ लेकर बड़ी वीरता से मुक़ाबला किया। वे सब भी स्वर्ग सिधारीं। क़ासिम ने मुलतान पर चढ़ाई करके उसे जीत लिया। एक-दो और लड़ाइयाँ करके उसने सिंध पर अधिकार कर लिया। अब उसने अपना ध्यान हिन्दुओं को राज़ी करने और अपना शासन दृढ़ बनाने की तरफ़ किया।

एक घटना ने सारे मामले का स्वरूप बदल दिया। क़ासिम ने राजा दाहर की दो सुंदर लड़कियाँ खलीफ़ा के अंतःपुर के लिए भेजीं। जब वे खलीफ़ा के सामने पेश की गईं तो एक फूट-फूटकर रोने लगी। पूछने पर वह कहने लगी—"मैं

इस उच्च पद के योग्य नहीं क्योंकि इधर भेजने से पूर्व मुझे भ्रष्ट कर दिया गया था।" खलीफ़ा को इससे आग लग गई। उसने आज्ञा दी कि क़ासिम को किसी जानवर के ताजा उतरे हुए चमड़े के अंदर बंद करके और ऊपर से सीकर वापस लाया जाय। जब क़ासिम का मृतक वहाँ पहुँचा तो राजकुमारी ने स्पष्ट कह दिया कि यह सब कुछ उसने अपने पिता का बदला लेने के ही लिए किया था; वास्तव में ऐसी कोई बात न हुई थी। यह सुनकर खलीफ़ा ने दोनों लड़कियों के वध का आदेश दिया।

क़ासिम की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी चालीस वर्ष तक सिंध में राज करते रहे। सुमेर राजपूतों ने उनको निकालकर सिंध वापस ले लिया।

अब्बास घराने के खलीफ़ा अलमंसूर ने बग़दाद को अपनी राजधानी बनाया। उसके चालीस बरस बाद खलीफ़ा हारूँ रशीद के समय में बग़दाद व्यापार तथा विद्या का केन्द्र बन गया। इसके बाद खिलाफ़त का ऐसा पतन हुआ कि शेष प्रान्त उससे स्वतन्त्र हो गये। केवल मज़हबी मामलों में खलीफ़ा बड़ा समझा जाने लगा। इनमें से एक ताहिर-वंश ख़ुरासान का शासक बन गया। सन् ८७२ में इसके स्थान पर सुफ़रावी-वंश शासक हुआ। सन् ६०३ में एक इस्माईल ने उस्मानी-वंश की नींव रखी। यह १२० बरस तक राज्य करता रहा। इसका पाँचवाँ राजा अब्दुलमलिक बुखारा में मरा। उसका बेटा मंसूर अभी बच्चा था। उसका ग़ुलाम अलप्तगीन जो ख़ुरासान का शासक था, उसके चचा का पक्षपाती बन गया। मंसूर ने गद्दी पर बैठते ही अलप्तगीन को बुखारा जाने की आज्ञा दी। वह इसके स्थान में ख़ुरासान की राजधानी ग़ज़नी को चला गया। वहाँ कुछ प्रदेश जीतकर उसने अपने-आपको बादशाह घोषित किया।

अपने सेनानायक सुबुक्तगीन को उसने कई बार मुलतान और लमग़ान के प्रदेशों पर चढ़ाई करने के लिए भेजा। वह हज़ारों हिन्दुओं को दास बनाकर ले जाता। पंजाब में इस समय राजा जयपाल (९६०-१००१) राज करता था। वह भटिंडा के क़िले में रहा करता। पंजाब का राज्य सिंध से लमग़ान तक और काश्मीर से मुलतान तक फैला हुआ था। राजा जयपाल ने भाटनेर (हनुमानगढ़, रियासत बीकानेर) के राजा के साथ मिलकर इन मुस्लिम आक्रमणों को रोकने का प्रयत्न किया। अलप्तगीन ९७६ में मर गया। उसका लड़का भी तुरन्त ही चल बसा। इस कारण सेना ने सुबुक्तगीन को जो पहले अलप्तगीन का ग़ुलाम था और जिसने सेनानायक बनकर उसकी लड़की से ब्याह किया, ग़ज़नी की गद्दी पर बिठला दिया। उसने ९८० में पंजाब पर आक्रमण कर दिया। जयपाल ने बाध्य होकर बहुत-सी सेना एकत्र की और सिंध पार करके लमग़ान पहुँचा ताकि वहीं शत्रु का मुक़ाबला करे। एक रात ओले और आँधी का ऐसा तूफ़ान आया कि उससे राजा की सेना को बहुत हानि पहुँची। अपनी सेना का विनाश देखकर राजा ने सुलह की इच्छा प्रकट की। सुबुक्तगीन राज़ी हो गया। परन्तु उसका लड़का, महमूद, सुलह नहीं होने देता था। अन्त में जयपाल ने उसे कहला भेजा—"क्षत्रियों का यह रिवाज है कि वे निराश होकर अपने बच्चों तथा महिलाओं की बलि चढ़ा देते हैं, अपने मकानों और संपत्ति को स्वाहा करके शत्रु पर टूट पड़ते हैं और अपने-आपको रक्त की नदी में डुबो देते हैं।"

सुबुक्तगीन ने यह सुना तो पचास हाथी और दस लाख दिरम लेकर सुलह करने पर राज़ी हो गया। राजा यह सारा धन तत्काल न दे सकता था इसलिए विश्वस्त मुसलमान उसके साथ

भेजे गये ताकि बाक़ी लेकर लौट आयें। लाहौर पहुँचकर राजा ने मंत्रियों से मंत्रणा की और सुबुक्तगीन के आदमियों को क़ैद में डाल दिया। सुबुक्तगीन ग़ज़नी पहुँच चुका था। यह सुनकर घबरा गया। ईर्षा की अग्नि में जलता हुआ वह वापस आया। जयपाल ने भी अन्य राजाओं की सहायता माँगी। बहुत-सी फ़ौज और दस हज़ार सवार लेकर वह सिंध नदी पार करके लमग़ान पहुँचा। लड़ाई में जयपाल विजय प्राप्त न कर सका और सिंध के पार का प्रदेश सुबुक्तगीन के हाथ में चला गया।

सन् ९९७ में सुबुक्तगीन मर गया। उसके दो बेटों महमूद और इस्माईल में गद्दी के लिए लड़ाई हुई। इस्माईल की हार हुई और वह गद्दी का मालिक बन गया। महमूद को भारत पर आक्रमण करके इसलाम मज़हब फैलाने और रुपया लूटने का बड़ा शौक़ था। मज़हबी जोश एक शक्ति है जो कई चमत्कार दिखाती है। पर उसके साथ जब लूटमार की प्रबल इच्छा मिल जाय तो इससे विनाश का बड़ा भारी यंत्र तैयार हो जाता है।

महमूद के आक्रमण—अगस्त १००१ में दस हज़ार सवार लेकर महमूद ग़ज़नी से पेशावर पर चढ़ आया। यहाँ पर जयपाल ने बारह हज़ार सवार और तीस हज़ार प्यादा सैनिक लेकर उसका मुक़ाबला किया। हिन्दू प्राणों पर खेल गये। फिर भी राजा पन्द्रह सरदारों के साथ पकड़ा गया। महमूद को इनसे मोतियों की मालाएँ मिलीं जिनका मूल्य १३ लाख १२ हज़ार रुपये था। राजा ने महमूद को वार्षिक कर देने का वचन दिया। परन्तु यह पराजय उसके लिए ऐसा अपमान था कि वह इसे सहन न कर सका और वापस आकर अपने-आपको चिता पर जला दिया।

१००४ में महमूद मुलतान के रास्ते सिंध और सतलज के बीच शहर भाटिया पर चढ़ आया। इस नगर के गिर्द ऊँची दीवार थी और उसके बाहर गहरी खाई। राजपूतों ने ऐसी वीरता से आक्रमण किये कि तीन दिन तक मुसलमानों को पीछे ही पीछे हटना पड़ा और वे मैदान छोड़ने पर तैयार हो गये। इस समय महमूद को एक बड़ी चालाकी सूझी जिससे उसने अपने-आपको विनाश से बचा लिया। कअबा की ओर मुँह करके वह नीचे झुका और फिर ऊँची आवाज़ से यह कहने लगा—"पैग़म्बर ने मुझको विजय दी है।" इससे सैनिकों में जोश पैदा हो गया। अब जब महमूद ने आगे बढ़कर धावा किया तो उसके सैनिक ऐसे आवेश में थे कि हिन्दुओं को पीछे हटना पड़ा। घेरा डालकर मुसलमानों ने कई दिनों के बाद खाई को भर दिया। इससे घबराकर राजा विजयराव जंगल को भाग गया। उसका पीछा किया गया। उसने कृपाण से अपना अंत कर लिया। क़िला सर हो गया। महमूद को २८० हाथी और बहुत-सा सामान मिला।

अगले वर्ष महमूद ने मुलतान पर आक्रमण करने की ठानी। यह शहर सुबुक्तगीन के समय से ग़ज़नी के अधीन था। शेख हमीदसफ़री सुबुक्तगीन को वार्षिक कर दिया करता था। परन्तु सन् १००५ में उसने जयपाल के बेटे अनंगपाल के साथ मिलकर आधीनता से इनकार कर दिया। इस कारण महमूद ने मुलतान को जीतने का निश्चय किया। अनंगपाल तब पेशावर में था। परन्तु उसे हार हुई और वह काश्मीर भाग गया। महमूद भटिंडा होता हुआ मुलतान पहुँचा। उसने दुर्ग का घेरा डाल दिया। सातवें दिन दाऊद ने हथियार डाल दिये और सोने के बीस हज़ार दिरम प्रतिवर्ष देने की प्रतिज्ञा की।

महमूद ने पेशावर का प्रदेश जीतकर सेवकपाल के सुपुर्द कर दिया। यद्यपि वह एक बार पतित होकर मुसलमान हो गया था तो भी उसके अन्दर पुराने संस्कार जाग उठे। महमूद के चले जाने पर उसने दासत्व का जूआ परे फेंक मारा और सभी मुसलमानों को निकाल दिया। १००६ में महमूद पेशावर आया और सेवकपाल को उसने उम्र भर के लिए क़ैद कर दिया।

महमूद अनंगपाल से अभी जलता था। इसलिए १००८ में उसने लाहौर पर चढ़ाई की। अनंगपाल ने विभिन्न हिन्दू राजाओं से स्वधर्म और स्वराष्ट्र के नाम पर प्रार्थना की। उज्जैन, कन्नौज, देहली, ग्वालियर, अजमेर और कालिंजर के नरेशों ने सहायता में सेनाएँ भेजीं। हिन्दू ललनाओं ने गहने गलाकर सोना और चाँदी राष्ट्रीय कोष के लिए दिये, वर्तमान गुजराँवाला के इलाके में रहनेवाले तीस हज़ार गक्खड़ भी (जो उस समय सभी हिन्दू थे) लड़ने के लिए तैयार हो गये। इतनी बड़ी सेना सिंध नदी पार करके पेशावर पहुँची। इसने विदेशी मुसलमान आक्रमणकारियों को जा घेरा। मुसलमान खाइयों में छिप गये। चालीस दिन तक दोनों फ़ौजें पड़ी रहीं। अब छः हज़ार मुसलमान धनुर्धारी खाइयों से बाहर निकले। गक्खड़ों ने इन पर ऐसे ज़ोर से हमला किया कि महमूद देखता ही रह गया और मुसलमान पीठ दिखाकर भाग निकले। थोड़ी ही देर में हिन्दुओं ने उनको पकड़कर उनके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। हिन्दुओं की आशाएँ इस समय बहुत ऊँची चढ़ गईं। अब एक छोटी-सी घटना हो गई जिसने इन आशाओं को मिट्टी में मिला दिया। जिस हाथी पर राजा अनंगपाल सवार था वह गोलों की आवाज़ से डरकर भाग निकला। इससे सारी सेना में

हलचल मच गई और वह तित्तर-बित्तर होने लगी। अब विदेशियों ने खाइयों से निकलकर उनका मुक़ाबला शुरू कर दिया। बहुत सी लूट और तीस हाथी महमूद के हाथ आये।

इसके पश्चात् महमूद ने कांगड़ा-प्रदेश में नगरकोट पर आक्रमण करके पहली बार देवताओं की मूर्त्तियों को तोड़ा। फिर भीम के क़िले को घेर लिया। क़िले में वेद-शास्त्र के अध्ययन के लिए एक बड़ा विद्यालय था। उसमें सेना नहीं थी। ब्राह्मणों ने द्वार खोल दिये और दया के लिए प्रार्थना की। बहुत-सा सोना, चाँदी, हीरे, मोती और जवाहरात महमूद के हाथ लगे और वह सारा माल लेकर ग़ज़नी को चला गया।

सन् १०११ में महमूद ने थानेश्वर जीतने का निश्चय किया। यह उस समय बहुत बड़ा तीर्थ था। यहाँ जगत्स्वामी की एक बड़ी मूर्त्ति थी। कहते हैं यह वहाँ पर सृष्टि के आरंभ से ही चली आ रही थी। अनंगपाल पचास हाथी और बहुत-सा धन देने पर तैयार था। परन्तु महमूद ने मंदिर पर क़ब्ज़ा करके लोगों को लूटा और उस प्रसिद्ध मूर्त्ति को तोड़कर हिन्दुओं का अपमान करने के लिए उसके टुकड़े बगदाद, मक्का और ग़ज़नी भेजे ताकि वहाँ गलियों के फ़र्शों में लगाये जायँ। अगणित लोगों को दास बनाकर वह अपने साथ ले गया।

सन् १०१३ में दूसरा जयपाल जो अनंगपाल के स्थान में राजा बना था, काश्मीर भाग गया। इसलिए महमूद ने इसी वर्ष काश्मीर पर आक्रमण किया। यहाँ भी लोगों को लूटने के पश्चात् उसने कुछ को जबरदस्ती पतित करके मुसलमान बनाया और फिर वापस चला गया। अगले वर्ष उसने कुछ विद्रोही सरदारों को सज़ा देने के लिए चढ़ाई की। लोहकोट (काश्मीर)

लेने के लिए बहुत कोशिश की, लेकिन हिंदुओं ने उसे बहुत तंग किया। इसलिए सरदी आने पर अपना-सा मुँह लेकर वह वापस चला गया।

१०१७ में उसने एक लाख, बीस हज़ार पैदल फ़ौज लेकर कन्नौज पर चढ़ाई की। राजा कुमारराय मुक़ाबला के लिए तैयार न था। उसने अधीनता स्वीकार कर ली। मेरठ के राजा हरदत्त ने भी ऐसा ही किया। परन्तु यमुना के किनारे महावन के राजा ने पराधीनता की अपेक्षा मृत्यु को पसंद किया। अपनी रानी और राजकुमारों को खड्ग के हवाले करके अपना सिर दुर्गा की भेंट चढ़ा दिया। इसके पश्चात् महमूद मथुरा गया। उसने शहर को लूटा और देव-मूर्त्तियों को तोड़ा। माल-मत्ता और सोना-चाँदी लेक वह लौटर गया।

मथुरा के मकान देखकर महमूद चकित हो गया था। ग़ज़नी पहुँचकर उसने मथुरा के नमूने पर एक बड़ी मसजिद तैयार करवाई। साथ ही एक बड़ा पुस्तकालय भी बनवाया। पास ही एक अजायबघर खुलवाया जिसमें कला के नमूने एकत्र किये। ये सब वह भारत से लूटकर ले गया था। उसके सरदार भी बहुत-सा रुपया लूटकर लाये थे। वे भी बड़े-बड़े मकान और मसजिदें बनवाने लगे। इससे महमूद की राजधानी बड़ी रौनक़-वाली नगरी बन गई।

कुछ हिन्दू राजाओं ने मिलकर कन्नौज के कायर शासक को विदेशी आक्रमणकारी के सामने झुकने के अपराध की सजा देने के लिए चढ़ाई कर दी। कालिंजर के राजा नन्दराय ने कन्नौज के राजा और उसके सरदारों का वध कर डाला। इसका बदला लेने के लिए महमूद कालिंजर पहुँचा। राजा वहाँ से भाग गया। वापसी पर महमूद ने अपने मित्र मलिक ऐयाज को

लाहौर का शासक निश्चित किया। लाहौर का नाम उसने महमूदपुर रखकर अपने नाम का सिक्का जारी किया क्योंकि उसके आने की खबर पाकर लाहौर का राजा अजमेर भाग गया था।

ऐयाज़ ने लाहौर के गिर्द दीवार के अतिरिक्त क़िला बनवाया। इसने ग़ज़नी से शेख़ अली गंजबख्श को लाहौर बुलवाया। ताकि हिंदुओं को पतित करके मुसलमान बनाया जाय। उसी की क़ब्र लाहौर के भाटी दरवाज़े के बाहर गंजबख्श के नाम से प्रसिद्ध है।

सन् १०२३ में महमूद ने राजा नंदराय को सज़ा देने के लिए फिर चढ़ाई की। भारत पर यह उसका ग्यारहवाँ आक्रमण था। राजा ने क्षमा माँग ली। १०२४ में इस लुटेरे ने सोमनाथ पर हमला किया। यहाँ सोमनाथ की मूर्त्ति थी। मन्दिर के नाम दस हज़ार गाँव जागीर लगे हुए थे। सूर्य-ग्रहण के दिन यहाँ दो-तीन लाख भक्त एकत्र होते थे। बारह सौ मील से गंगा का पुनीत जल लाकर दिन में दो बार देवता को स्नान करवाया जाता। इसके घंटे का वज़न दो सौ मन था। यह पूजा के समय ही बजाया जाता। एक हज़ार ब्राह्मण पूजा के लिए, तीन सौ कुँवारी लड़कियाँ नृत्य के लिए, तीन सौ रागी संगीत और तीन सौ नाई यात्रियों के बाल बनाने के लिए हर समय तैयार रहते। राजा अपनी राजकुमारियाँ भी देवता के समर्पण कर देते थे।

महमूद तीस हज़ार तुर्क लेकर ग़ज़नी से निकला। मुलतान का मरुस्थल पार करके वह अजमेर पहुँचा और अजमेर से कूच करके उसने सोमनाथ को जा घेरा। हिन्दुओं ने ऐसा मुक़ाबला किया कि तीन दिन तक विदेशियों को पीछे ही पीछे हटना पड़ा। हार सामने देखकर महमूद ने एक तरीक़ा सोचा। घोड़े से उतरकर उसने प्रार्थना की और अपने सवारों से यह

कहा —"तुम्हारा देश हजारों मील दूर है। भागोगे तो शत्रु तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे। बेहतर यही है कि मैदान में प्राण दे दो और अगली दुनिया का पुण्य प्राप्त करो। यह सुनकर सैनिकों ने ऐसे जोश से हल्ला किया कि पाँच हजार हिन्दुओं को क़त्ल कर दिया गया। जो बाक़ी बचे वे कश्तियों में बैठकर समुद्र में निकल गये। अब महमूद ने मूर्त्ति को तोड़ा। उसके टुकड़े ग़ज़नी और मक्का भेज दिये गये। कच्छ, गुजरात और सिंध से होता हुआ महमूद ढाई बरस के बाद ग़ज़नी गया।

उसका अंतिम आक्रमण सिंध नदी के तट पर बसनेवाले जाट क़बीलों के विरुद्ध था क्योंकि उन्होंने उसे सोमनाथ से वापसी पर बहुत ज्यादा तंग किया था।

पथरी के रोग के कारण महमूद १०३० में मरा। मृत्यु से दो दिन पहले उसने आज्ञा दी कि उसकी सारी लूट, जवाहरात आदि का प्रदर्शन किया जाय। इनको अंतिम बार देखकर वह खुश होना चाहता कि मैंने कितने बड़े काम किये हैं। पहले दिन उसने सोना आदि देखा और फूट-फूटकर रोने लगा। दूसरे दिन सेना, हाथियों, घोडों, ऊँटों और रथों का प्रदर्शन हुआ, चलती-फिरती गद्दी पर बैठकर उसने सभी चीजें देखीं; लेकिन पाप इतने प्रबल रूप से सामने आये कि रोने को थाम न सका और इसी दयनीय अवस्था में मर गया।

ग़ज़नी और लाहौर—महमूद के दो लड़के एक साथ पैदा हुए। मुहम्मद गद्दी पर बैठा। उसे पाँच मास ही हुए थे कि उसका भाई मसऊद असफ़हान से आया। मुहम्मद की आँखें निकालकर मसऊद ने उसे गद्दी से उतार दिया। १०३६ में उसने पंजाब पर चढ़ाई करके हाँसी का क़िला ले लिया। सोनीपत का शासक, दीपाल, भाग गया। वापस आकर मसऊद ने अपने बेटे,

मौदूद, को लाहौर का शासक निश्चित किया। ग़ज़नी पहुँचने पर सलजुक तुर्कों ने उसे ऐसा तंग किया कि उसने ग़ज़नी के स्थान पर लाहौर को राजधानी बनाने का निश्चय किया। वह स्वयं लाहौर की तरफ़ चल पड़ा। मौदूद को उसने बलख का शासक बना दिया। झेलम नदी के किनारे पर उसकी सेना स्वामी के विरुद्ध खड़ी हो गई। सैनिकों ने उसे क़ैद करके उसके अंधे भाई, मुहम्मद को अपना बादशाह बनाया। (मुहम्मद को उसका भाई साथ लाया था।)

पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर मौदूद ग़ज़नी पहुँचा और अपने आपको सुलतान घोषित करके लाहौर की तरफ़ चल पड़ा। मुहम्मद को परास्त कर उसे और उसके लड़कों को पकड़ लिया गया। सभी विरोधियों को कुचलकर मौदूद लाहौर का शासक बन गया। उसकी अनुपस्थिति से फ़ायदा उठाकर उत्तर के हिन्दू राजाओं ने आपस में मिलकर पंजाब से ग़ज़नी के शासन क हटाने का निश्चय किया। थानेश्वर और हाँसी उनके अधिकार में आ भी गये। नगरकोट का मन्दिर दोबारा नये सिरे से बनाया गया। फिर दस हज़ार सवार और बहुत-सी पैदल सेना लेकर लाहौर का घेरा डाल दिया गया। सात मास तक लाहौर के मुसलमान अपनी रक्षा करते रहे। जान-माल और बच्चों के लिए वे एक-एक गली में लड़ते थे। अंत में उन्होंने मरने-मारने की ठान ली और ऐसे साहस से लड़े कि हिन्दू आक्रमणकारियों को लाहौर से हटना पड़ा।

सन् १०४६ में मौदूद मर गया। उसके पश्चात् एक के बाद दूसरा राजकुमार ग़ज़नी की गद्दी पर बिठलाया गया। लेकिन सभी क़त्ल कर दिये गये। १०६८ में तीसरा मसऊद बैठा जिसने तग़शांगीन को लाहौर का शासक निश्चित किया। थोड़ी

देर बाद स्वयं ग़ज़नी-नरेश ईरान आदि का प्रदेश खोकर लाहौर में आकर रहने लगा। अब लाहौर ग़ज़नी वंश की राजधानी बन गया।

तीसरा मसऊद १११८ में मरा। उसका बेटा अरसलान ग़ज़नी की गद्दी पर बैठा, लेकिन उसे दूसरे भाइयों ने क़ैद कर लिया। सलजुकों के सुलतान, संजार ने दूसरे भाइयों की सहायता करनी चाही। अरसलान लाहौर आया। यहाँ से फ़ौज एकत्र करके वह वापस ग़ज़नी गया। संजार ने अरसलान के भाई बहराम को ग़ज़नी का सुलतान बना दिया। लेकिन लाहौर के शासक, माइलिम ने अपने भाई बहराम की अधीनता स्वीकार न की। १११८ के अंत में बहराम ने लाहौर आकर माइलिम को पराजित किया। अब माइलिम ने अधीनता तो स्वीकार कर ली, परन्तु शिवालिक में एक क़िला बनाकर अपने दस बेटे उसने पंजाब के विभिन्न भागों के शासक नियुक्त कर दिये।

बहराम को फिर आना पड़ा। एक बहुत ख़ूनी लड़ाई हुई जिसमें माइलिम और उसके बेटे मारे गये। अब बहराम ने सालार हसन को शासक बनाया और स्वयं लौट गय। वापसी पर अपने जमाई कुतुबुद्दीन को, जो ग़ौर-प्रदेश का पठान था, फाँसी देकर उसने—ग़ौर के सरदार सैफ़ुद्दीन से झगड़ा कर लिया। ग़ज़नी की सेना धोखा देने के लिए सैफ़ुद्दीन के साथ मिल गई। उसे गिरफ़्तार करके वह बहराम के पास ले आई। बहराम ने उसका वध करवा डाला। इस पर सैफ़ का भाई अलाउद्दीन बदला लेने के लिए चल पड़ा। एक लड़ाई करके उसने ग़ज़नी पर क़ब्ज़ा कर लिया। शहर में लूट और सर्ववध हुआ। बहराम भागकर पंजाब को आया। रास्ते में वह ११५२ में मर गया।

उसका बेटा खुसरो लाहौर पहुँचा और सेना लेकर .गज़नी को गया। रास्ते में उसे मालूम हुआ कि .गज़नी पर तुर्कों ने अधिकार कर लिया है। वह वापस लाहौर आ गया। वह ११६० में मर गया। अब उसका बेटा .खुसरो मालिक गद्दी पर बैठा। इसके समय में शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी ने .गज़नी पर हमला करके क़ब्ज़ा कर लिया। यह .गयासुद्दीन का भाई था जो सैफ़ के क़त्ल के बाद गौर की गद्दी पर बैठा था। मुहम्मद .गोरी ने पेशावर, अफ़गानिस्तान, मुलतान और सिंध पर आक्रमण किये। ११८० में उसने लाहौर को आ घेरा; परन्तु लाहौर का क़िला न ले सका। अंत में .खुसरो मलिक के साथ उसकी संधि हो गई। गोरी उसका चार बरस का बेटा यरगमाल के रूप में साथ ले गया। चार साल के बाद गोरी ने फिर लाहौर पर हमला किया। लेकिन अब की भी असफल रहा। उसने सियालकोट के क़िले में अपनी सेना रख दी ताकि आस-पास के प्रदेश पर राज्य कर सके। .खुसरो-मालिक ने गक्खड़ों की सहायता से इस सेना को भगाना चाहा; परन्तु सफल न हो सका।

सन् ११८६ में मुहम्द .गोरी फिर आया। उसने मशहूर यह किया कि मैं सलजुक तुर्कों के विरुद्ध जा रहा हूँ। इसके साथ ही अपना विश्वास बैठाने के लिए खुसरो मलिक का लड़का वापस लाहौर भेज दिया। पिता अपने पुत्रको देखने के लिए आगे बढ़ा। .गोरी ने बीस हज़ार सवार उसके पीछे छोड़ दिये। प्रातः को .खुसरो मलिक ने अपने आपको .कैदी पाया। लाहौर गोरी के अधिकार में चला गया।

गोरी ने ११७६ में मुलतान और उच्च (वर्तमान रियासत बहावलपुर) पर आक्रमण किया था। उच्च का हिन्दू राजा क़िले में सुरक्षित हो गया; परन्तु रानी ने पति को बड़ा भारी धोखा दिया।

उसने गोरी को सन्देशा भेजा कि यदि मुझे मालिक बना दिया जाय तो मैं राजा का वध करवा दूँगी। गोरी ने क़िले पर क़ब्ज़ा करके राजकुमारी अपने पास रख ली और रानी को क़ैद करके ग़ज़नी भेज दिया। राजकुमारी भी जल्द ही दुःख से मर गई।

सन् ११९३ में सरस्वती के तट पर वह बदक़िस्मत लड़ाई हुई जिसने भारत के भाग्य का निर्णय कर दिया। इसमें अजमेर के महाराज पृथ्वीराज को क़ैद करके क़त्ल कर दिया गया। देहली का राजा चाँदराय और अन्य कई राजा भी काम आये। इसी वर्ष मुहम्मद गोरी के ग़ुलाम क़ुतबुद्दीन ऐबक ने मेरठ और देहली जीते। देहली मुसलमानों के शासन की राजधानी बन गई।

इसी बीच में झेलम और चनाब के दरमियान गक्खड़ क़बीले ने बड़ा ऊधम मचा दिया। गोरी प्रान्त-शासक को निकालकर उन्होंने लाहौर पर अधिकार कर लिया। मुलतान इससे पहले ही विद्रोही हो चुका था। मुहम्मद गोरी मुलतान आया। बाद में क़ुतबुद्दीन की सहायता से उसने गक्खड़ों पर आक्रमण किया। उनमें से बहुत-से क़त्ल कर दिये गये, शेष को अपने धर्म से जबरदस्ती पतित किया गया।

वापस जाते हुए गोरी रोहतक ठहरा था। यहाँ उसके तम्बू में दो ग़ुलाम पंखा कर रहे थे। दरवाज़ा हवा आने के लिए खुला था। कुछ गक्खड़ अपने क़बीले के शत्रु को क़त्ल करने के लिए तम्बू में घुस आये और कृपाणों से उसका काम तमाम कर दिया। उसके शरीर पर बीस घाव आये। अब उसका भतीजा, महमूद, गद्दी पर बैठा। पर उसने देखा कि वह क़ुत-बुद्दीन को अपने अधीन न रख सकेगा इसलिए ताज आदि क़ुत-बुद्दीन को भेज दिया जिसने २४ जुलाई १२०५ को लाहौर में अपने-आपको पहला मुसलमान बादशाह घोषित किया।

लाहौर और देहली—कुतबुद्दीन एक तुर्की दास था। बचपन में एक सौदागर ने इसे नेशापुर लाकर एक काज़ी के हाथ बेच दिया। उसके यहाँ यह विद्याभ्यास करता रहा। क़ाजी के मर जाने पर एक अन्य व्यापारी ने इसे ख़रीद लिया। वह इसे मुहम्मद गोरी के पास बेच गया। इसकी छोटी उँगली टूटी हुई थी। गोरी ने इस कारण इसको ऐअक कहना शुरू कर दिया। योग्यता के कारण उन्नति करते-करते यह सेना-नायक बन गया। यह देहली में था जब इसके ससुर ताजुद्दीन ने लाहौर पर चढ़ाई करके उसे क़ब्ज़े में ले लिया। कुतबुद्दीन ने उसे हार दी। लाहौर से कुतबुद्दीन किरमान वापस गया जहाँ १२१० में चौगान खेलते हुए घोड़े से गिरकर मर गया।

अब उसका बेटा, आराम, गद्दी पर बैठा। परन्तु वह इतना निर्बल था कि सभी प्रान्त विद्रोह करने लगे। विभिन्न सरदारों ने इकट्ठे होकर शमसुद्दीन अलतमश से प्रार्थना की कि वह गद्दी को सँभाले। उसने आराम को एक लड़ाई में हार देकर गद्दी पर अधिकार कर लिया। अलतमश भी एक दास था जिसे बचपन में एक व्यापारी बुख़ारा से लाया था। उसने इसे दूसरे के पास बेच दिया। कुतबुद्दीन ने इसे चाँदी के पचास हज़ार सिक्के देकर ख़रीद लिया। फिर अपनी लड़की से भी ब्याह कर दिया। चार बरस बाद ख़्वारज़म के शासक ख़्वारज़मशाह ने ताजुद्दीन को ग़ज़नी से भगा दिया। उसने भारत आकर लाहौर और थानेश्वर पर क़ब्ज़ा कर लिया। अलतमश ने उसे पराजित करके क़ैद कर लिया।

सन् १२२१ में चंगेज़ख़ाँ के तातारियों ने ख़्वारज़म को लूटा। (चंगेज़ख़ाँ आदि मुसलमान नहीं थे प्रत्युत मूर्त्ति-पूजक) जलालुद्दीन वहाँ से लाहौर आ पहुँचा। अलतमश ने उसे हार दी

और १२३८ में अपने बेटे, रुकनुद्दीन को पंजाब का शासक नियुक्त कर दिया। सिंध के सूबादार नासरुद्दीन को भी उसने अपने अधीन किया। १२३६ में मुलतान जाते हुए वह बीमार होकर वापस आया और मर गया।

रुकनुद्दीन देहली की गद्दी पर बैठते ही विलास में पड़ गया। उसकी माता ने अंतःपुर की सभी स्त्रियों को क़त्ल करवा डाला। लाहौर के शासक अलाउद्दीन और मुलतान के शासक कबीरखाँ ने परस्पर मिलकर उसे गद्दी से उतारना चाहा। दरबार के सरदार भी उससे असंतुष्ट थे। इसलिए उन्होंने उसे गद्दी से उतारकर उसकी बहन रज़िया बेगम को वहाँ बिठला दिया।

रज़िया विचित्र स्त्री थी। साहसी, परिश्रमी और कुछ हद तक योग्य भी। उसका दिल और दिमाग़ पुरुषों-जैसा था। वह स्वयं दरबार लगाती और राज्यकार्य किया करती। बाद में एक हबशी ग़ुलाम पर बहुत कृपा करने लगी। यहाँ तक कि वही उसे उठाकर घोड़े पर चढ़ाया करता। सरदार हबशी से जलने लगे। मलिक कबीरखां ने, जो लाहौर का शासक बनाया गया था, नाराज़ होकर विद्रोह कर दिया। भटिंडा के शासक मलिक अलतूनिया भी विद्रोही बन गया। रज़िया उसके विरुद्ध सेना लेकर गई; परन्तु सरदारों ने रज़िया को पकड़ लिया, उसके ग़ुलाम मित्र का वध कर डाला और रज़िया के भाई बहराम को गद्दी पर बिठला दिया।

बहराम ने मलिक कारागौस को लाहौर का शासक नियुक्त किया। इसके समय में चंगेजखां के मुग़ल (जो मुसलमान नहीं थे) पंजाब पर टूट पड़े। २२ नवम्बर, १२४१, को मलिक को भगाकर वे लाहौर पर क़ब्ज़ा जमा बैठे। उन्होंने शहर में लूटमार की और कई हज़ार लोगों को क़ैद करके ले गये।

वज़ीर अख्तियारुद्दीन जो उनके खिलाफ़ भेजा गया था, विद्रोही बन गया। बादशाह को गद्दी से उतारकर उसने क़त्ल कर दिया।

अब रुकनुद्दीन का बेटा अलाउद्दीन गद्दी पर बैठा। वह भी बड़ा विलासी और अत्याचारी सिद्ध हुआ। सरदारों ने उसके चचा नसीरुद्दीन को गद्दी पर बिठलाकर उसे .कैद में डाल दिया। नसीरुद्दीन ने गयासुद्दीन बलबन को अपना मंत्री नियुक्त किया और उसका भतीजा शेरखाँ लाहौर, भाटनेर और सरहिंद का शासक बनाया गया।

मुग़लों ने इस समय तक ग़ज़नी, क़ाबुल और कंधार पर अधिकार कर लिया था। गक्खड़ों ने मुग़लों की सहायता की। बादशाह सेना लेकर सिंध नदी तक आया और हज़ारों गक्खड़ों को वह .कैद कर ले गया। १२४८ में बादशाह मुलतान आया। फ़ैजुद्दीन बलबन को उसने मुलतान और उच्च का शासक नियुक्त किया। पंजाब का शासक शेरखां फ़ौज लेकर ग़ज़नी पहुँचा। मुग़लों को वहाँ से निकालकर उसने ग़ज़नी को फिर दिल्ली-राज्य में सम्मिलित किया।

सन् १२५७ में मुग़ल सेना पंजाब पर चढ़ आई। परन्तु बादशाह के आने का समाचार पाकर वह वापस चली गई। अगले वर्ष चंगेजखां के पोते हलाकूखां ने अपने दूत पंजाब को भेजे। १२६६ में नसीरुद्दीन बीमार होकर मर गया। यह बहुत सरल-प्रकृति था। स्वयं हाथ से .कुरान लिखकर रोटी कमाता था। अपनी पत्नी के अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री को इसने अपने पास न रखा। घर का सारा काम अपनी स्त्री से करवाता था। एक बार रोटी सेंकते हुए स्त्री की उँगलियाँ जल गईं। उसने एक दासी के लिए प्रार्थना की। इस पर पति ने कहा—

"प्रजा का रुपया प्रजा के हित के लिए है। उसे मैं नौकर रखने में व्यर्थ गँवा नहीं सकता।"

बलबन भी एक तुर्की ग़ुलाम था जिसे बसरा का एक आदमी देहली लाया था। अलतमश ने उसे ख़रीद लिया। धीरे धीरे वह शाही बाज़ख़ाने का निरीक्षक बन गया। रुकनुद्दीन ने उसे पंजाब का शासक नियुक्त कर दिया। गद्दी पर बैठने के बाद उसने अपने बेटे मुहम्मद को लाहौर का शासक बनाया। मुहम्मद को कविता का बड़ा शौक़ था। वह विद्वानों की क़द्र करता था। राजकवि अमीर ख़ुसरो और ख्वाजाहसन को वह अपने साथ लाहौर लाया। ईरान के कवि सअदी को उसने लाहौर आने का निमंत्रण दिया। १२७६ में मुग़लों ने मुलतान पर आक्रमण किया। मुहम्मद ने जाकर उनको पराजित किया। नुक़सान उठाकर वे पीछे हट गये।

अगले वर्ष तैमूरखां, जो चंगेज़खां की संतान में से पूर्वी ईरान का शासक था, बीस हज़ार सवार लेकर लाहौर आया। लाहौर के अतिरिक्त दीपालपुर में भी इसने लूटमार मचाई। मुहम्मद इस समय मुलतान में था। ख़बर पाते ही वह लाहौर पहुँचा। तैमूर की सेना रावी नदी के उस पार थी। मुहम्मद ने उनको बराबर का मौक़ा देने के लिए पार उतरने दिया। दोनों में लड़ाई शुरू हुई। मुग़ल घबराकर भाग निकले। उनका पीछा किया गया। मुहम्मद थककर पाँच सौ सैनिकों के साथ एक जगह ठहर गया कि इतने में पीछे से एक मुग़ल-समूह आ पहुँचा। लड़ाई हुई, जिसमें मुहम्मद मारा गया। अमीर ख़ुसरो भी पकड़ लिया गया। बूढ़े बादशाह को ऐसा आघात लगा कि वह थोड़े ही दिन बाद मर गया।

अब उसका पोता कैकबाद देहली की गद्दी पर बैठा। वह विलास में पड़ गया। सारी शक्ति जलालुद्दीन खिलजी के हाथ में चली गई। उसने १२८८ में बादशाह का वध करवा कर स्वयं राजगद्दी पर अधिकार कर लिया।

खिलजी शासन—ये खिलजी खास क़बीले थे। कुल तीस हज़ार परिवार थे। चंगेजखां के जमाई खलीजखां के नेतृत्व में पंजाब के पश्चिमी पहाड़ों में आबाद हो गये और ग़ज़नी और देहली के शासकों की सेनाओं में भर्ती होते रहे।

सन् १२९१ में हलाकूखां का पोता अब्दुल्ला एक लाख सवार लेकर पंजाब पर चढ़ आया। स्वयं जलालुद्दीन उसके मुक़ाबले पर गया। अब्दुल्ला के बहुत-से अफ़सर पकड़े गये। चंगेज़खां के पोते ओगलूखां को बादशाह ने अपनी बेटी दे दी। इससे वह और उसके तीन हज़ार सैनिक जो सब मूर्त्ति-पूजक थे, मुसलमान बन गये। ओगलूखां अपने बेटे अरकलीखां को लाहौर का सूबेदार या शासक बनाकर वापस चला गया। १९ जुलाई, १२९५ को अलाउद्दीन ने अपने चचा जलालुद्दीन को क़त्ल कर डाला और स्वयं बादशाह बन बैठा। जलालुद्दीन की स्त्री अपने बेटों और कुछ सरदारों को साथ लेकर मुलतान भाग गई। इस पर अलाउद्दीन ने मुलतान के विरुद्ध सेना भेजी। दो मास के घेरे के पश्चात् माने इस शर्त पर कि राजकुमारों को दुःख न दिया जायगा शाही फ़ौज के हवाले कर दिया। परन्तु अलाउद्दीन के आदेश से राजकुमारों को हाँसी में बन्द करके पहले उनकी आँखें निकाली गईं और फिर उनका वध कर दिया गया।

अगले वर्ष अलाउद्दीन को समाचार मिला कि मावरासुनहर का बादशाह अमीर दाऊद एक लाख मुग़ल लेकर पंजाब की

ओर आ रहा है। अलाउद्दीन ने अपने भाई अलिफ़खाँ को लाहौर भेजा। यहाँ मुग़लों को पराजित होना पड़ा। उनके बारह हज़ार आदमी मारे गये। बहुत-से स्त्री, पुरुष और बच्चे गिरफ़्तार करके क़त्ल कर दिये गये।

सन् १२९८ में मुग़ल दो लाख सवार लिये यमुना के किनारे तक आ पहुँचे। खुद बादशाह लड़ने के लिए गया। उसने उनको पीछे हटा दिया। जब अलाउद्दीन चित्तौड़ की ओर गया हुआ था तब १३०३ में बारह हज़ार मुग़ल सवार आये; परन्तु देहली तक पहुँचकर लौट गये। अगले बरस १३०४ में वे फिर आये। लाहौर के प्रांतपति तुग़लखाँ ने उनको परास्त किया। सात हज़ार तो लड़ाई में मारे गये, नौ हज़ार पकड़ कर देहली लाये गये जहाँ सबका वध कर दिया गया। १३०५ में उन्होंने एक बार फिर पंजाब आकर मुलतान लूटा। ग़ाज़ीबेग तुग़लक ने उनको सिंध में परास्त करके उनमें से तीन हज़ार को कैदी के रूप में देहली भेजा। मर्दों को क़त्ल कर दिया गया। उनकी स्त्रियों और बच्चों को दासों के रूप में बेच दिया गया। इससे भी अगले वर्ष उन्होंने आक्रमण किया, परन्तु उनके सात हज़ार आदमी क़ैद कर लिये गये। अब ग़ाज़ीबेग तुग़लक ने इन आक्रमणों को रोकने के लिए ग़ज़नी, काबुल और कंधार को सेनाएँ भेजीं ताकि मुग़लों को दूसरों पर हमले करने के बजाय अपने घर का ख़याल हो।

सन् १३०६ में बादशाह मर गया। रनिवास के नपुंसक भृत्य, ख्वाजासरा, मलिक काफ़ूर ने छोटे लड़के उमर को गद्दी पर बिठा दिया और उसकी माता से स्वयं ब्याह कर लिया। दो राजकुमारों की उसने आँखें निकलवा दीं और तीसरे, मुबारिक को क़त्ल करने के लिए बधिकों को भेजा। मुबारिक ने

क़ातिलों के सामने कुछ जवाहरात फेंक दिये जिससे वे परस्पर लड़ने लगे। इतने में गारद को खबर लग गई। वह आ गई। सैनिकों ने मलिक काफ़ूर का बध करके मुबारिक को गद्दी पर बिठला दिया।

मुबारिक १३२१ तक राज करता रहा। परन्तु यह ऐसा भ्रष्टाचार और विलासी था कि सारी सेना भी विलास में पड़ गई। मलिक खुसरो नाम के हिन्दू ने एक रात उसका अंत कर दिया और मुबारिक के भाई खिज़रखाँ की रखेली देवलदेवी से ब्याह करके स्वयं गद्दी पर बैठ गया। उसने राजवंश के सभी आदमियों को ख़तम कर दिया। यह सुनकर ग़ाज़ीबेग तुग़लक पंजाब से सेना लेकर देहली आया। हज़ार मीनार के पास पहुँचकर उसने इस प्रकार भाषण दिया—"मैं बादशाह बनने के लिए नहीं आया हूँ। मैं तुम्हें इस अत्याचारी से छुड़ाने के लिए आया हूँ। तुम जिसको चाहो बादशाह बना लो। मैं तो सदा प्रजाभक्त रहूँगा।" लोगों ने कहा—"तुम ही बादशाह हो!" वे उसे उठाकर ले गये और गद्दी पर बिठाल दिया, अपना नाम उसने गयासुद्दीन रखा।

तुग़लक़-राज्य—ग़ाज़ीबेग का पिता एक तुग़लक था। वह बलबन का तुर्की ग़ुलाम था। उसने लाहौर के पास एक जाट लड़की से ब्याह किया जिससे ग़ाज़ीबेग उत्पन्न हुआ। लाहौर के सूबेदार के रूप में ग़ाज़ीबेग ने मुग़लों को कई बार परास्त किया। काबुल की सीमा पर उसने क़िले बनवाये और उसमें फ़ौजें रखीं ताकि मुग़लों के आक्रमण बन्द हो जायँ। चार वर्ष बाद वह छत से गिरकर मर गया।

अब ग़ाज़ीबेग का बेटा मुहम्मद तुग़लक गद्दी पर बैठा। वह बहुत उदार और शांति-प्रिय था। भाषण अच्छा देता था।

इतिहास, तर्क और गणित का उसे शौक़ था। उसने चिकित्सालय और अनाथालय बनवाये। १३२७ में मुग़लों ने भारत पर हमला किया। वे मुलतान और लमग़ान को जीतकर देहली आ पहुँचे। मुहम्मद लड़ाई के लिए तैयार न था। बहुत-सा धन देकर उन्हें लौटा दिया गया।

इसके पश्चात् उसे चीन जीतने का पागलपन सवार हुआ। उसने एक लाख सैनिक नेपाल के रास्ते उत्तर को भेजे। चीन की सेना ने अपनी सीमा पर मुक़ाबला किया। इसके अतिरिक्त रास्ते में ऐसा तूफ़ान और वर्षा हुई कि एक मुसलमान भी बचकर वापस न लौटा।

एक पहाड़ी पठान, शाहू, ने मुलतान पर चढ़ाई करके वहाँ के शासक को परास्त किया और सारा प्रदेश वीरान कर दिया। स्वयं मुहम्मद उसके मुक़ाबले के लिए गया। परन्तु पठान पहाड़ों को भाग गया। अब गक्खड़ों ने लाहौर पर आक्रमण करके वहाँ के शासक कुमारखाँ का वध कर दिया। १३५१ में मुहम्मद सिंध-प्रदेश की ओर गया। मुहर्रम में अधिक मछली खाने से बीमार हो गया और प्राण निकले।

मुहम्मद के स्थान पर फ़ीरोज़ तुग़लक़ गद्दी पर बैठा। उसे नहरें बनवाने का शौक़ था। १३५४ में ४८ कोस लम्बी नहर बनवाने के लिए वह दीपालपुर आया। एक अन्य नहर के द्वारा उसने यमुना का पानी हाँसी और हिस्सार तक पहुँचाया। सरस्वती और घाघरा (सरजू) के बीच के प्रदेश के लिए भी एक नहर बनवाई गई। उसने सराएँ, विद्यालय, मसजिदें, पुल, चिकित्सालय और कुएँ भी बनवाये।

सन् १३८८ में उसकी मृत्यु पर उसका पोता ग़यासुद्दीन गद्दी पर बैठा। पाँच मास बाद उसका वध कर दिया गया।

दूसरा, अबुबकर, जल्दी गद्दी से उतार दिया गया। तब फ़ीरोज़ के बेटे, मुहम्मद को लोगों ने गद्दी पर आसीन कर दिया। वह १३६४ में मर गया। अब मुहम्मद का बेटा महमूद गद्दी का अधिकारी बना। पंजाब में गक्खड़ों ने विद्रोह कर दिया। दीपालपुर के शासक सारङ्गखाँ ने लाहौर और मुलतान से सेना एकत्र करके अजोधान में गक्खड़ों को पराजित किया। उनका नेता शेखा, भाग गया।

सारङ्गखाँ और मुलतान के सूबेदार, फ़कीरखाँ में पहले झगड़ा हुआ, फिर लड़ाई शुरू हो गई। सारङ्ग ने मुलतान ले लिया। उसे इतना साहस हुआ कि वह देहली पर चढ़ आया। परन्तु रास्ते में पानीपत के शासक, तातारखाँ, ने उसे हार देकर वापस भगा दिया।

इतने में तैमूर का पोता पीर मुहम्मद किश्तियों का पुल बनाकर सिंध पार हुआ। उसने उच्च का घेरा डाल दिया। सारङ्ग इसके विरुद्ध पहुँचा। पीर मुहम्मद ने पहले ही ब्यास पर सारङ्ग के सैनिकों को जा दबाया। सारङ्ग ने मुलतान आकर अपने आपको बन्द कर लिया। पीर मुहम्मद ने छः मास तक घेरा डाले रखा। तब सारङ्ग को अधीनता स्वीकार करनी पड़ी।

१२ सितंबर, १३६८, को स्वयं तैमूर सिंध पार करके लाहौर की ओर बढ़ा। कुछ सेना उसने आगे भेज दी। लाहौर का सूबेदार मुबारिकखाँ भी मुक़ाबले के लिए चनाब तक आया। तैमूर के पहुँचने पर मुबारिकखाँ स्व-परिवार लेकर लौट पड़ा और सेना ने हथियार डाल दिये।

तैमूर चनाब के किनारे-किनारे चल पड़ा। तुलंबा में किश्तियों का पुल बाँधकर उसने रावी पार की। ब्यास पहुँचकर उसने तीस हज़ार कुमक अपने पोते को भेजी। भाटनेर में

बहुत-से लोग मुक़ाबले के लिए जमा हो गये थे। तैमूर ने नगर पर अधिकार करके गली-गली में लोगों का वध करना आरम्भ किया। लोगों ने और कोई चारा न देखकर अपने बच्चों को क़त्ल कर डाला और मुग़लों पर टूट पड़े। उन्होंने हज़ारों मुग़ल काट डाले। तैमूर को इतना ग़ुस्सा आया कि उसने भाटनेर का एक मनुष्य भी जीवित न छोड़ा और नगर को मिट्टी में मिला दिया।

इसके पश्चात् उसने सरस्वती, राजपुर, आहौरी और रोहाना में लूट-मार मचाई। उधर उसकी सेना का एक भाग लाहौर और मुलतान के क़िलों को लूट रहा था। पानीपत के रास्ते यमुना से गुज़रकर सूनी का क़िला जा लिया। महमूद पाँच हज़ार सवार लेकर देहली से बाहर आया। परन्तु एक लड़ाई में हार खाकर वह वापस लौट गया।

तैमूर के पास इस समय एक लाख भारतीय क़ैदी थे। वे बहुत प्रसन्न हुए जब देहली के बादशाह ने तैमूर के साथ लड़ाई की। उन्होंने समझा कि बस, अब छूट जायेंगे। तैमूर को यह पता लगा तो उसने सबके वध का आदेश दे दिया।

१५ जनवरी, १३६६, को तैमूर ने देहली की सेना को बुरी तरह से पराजित किया। देहली में शुक्रवार को प्रविष्ट होकर उसने अपने आपको हिन्दुस्तान का बादशाह घोषित किया। लोगों से रुपया वसूल करने के लिए उसने अपने आदमी नियुक्त किये। कुछ अमीरों ने रुपया देने से इनकार किया। तैमूर ने उनके विरुद्ध सैनिक भेजे जिन्हों ने मकानों को लूटना और स्त्रियों का अपमान करना आरम्भ किया।

अपने साथ हिन्दुओं-जैसा व्यवहार देखकर मुसलमान भी हिन्दुओं से मिल गये। सबने अपनी स्त्रियों का वध करके मुग़लों पर हल्ला बोल दिया। पर बेचारे असंगठित थे और न कहीं

उन्हें किसी प्रकार का सैनिक शिक्षण प्राप्त था। इसलिए क्या कर सकते थे। देहली में इतने आदमी क़त्ल किये गये कि गलियों में मुर्दों के ढेर लग गये।

अठारह दिन देहली रहने के पश्चात् तैमूर मुलतान होता हुआ जम्मू पहुँचा। इस हलचल में शेखा गक्खड़ ने लाहौर पर अधिकार कर लिया था। तैमूर ने जम्मू से सेना भेजी। वह उसे पकड़ लाई। तैमूर ने उसका वध करवाया और मुलतान के सूबेदार खिज़रखां को लाहौर का शासक नियुक्त करके स्वंय समरकंद को चला गया। महमूद देहली वापस आकर मर गया। लोगों ने दौलतखां लोदी को बादशाह बनाया। परन्तु खिज़रखां ने देहली का घेरा डालकर गद्दी पर अधिकार जमा लिया और सैयद घराने की नींव रखी।

गक्खड़ों का नेता जसरत----खिज़रखां ने तैमूर के नाम का सिक्का जारी किया ताकि सभी सरदार उससे डरते रहें। सात वर्ष तक राज करके वह मर गया। १४२१ में उसका बेटा मुबारिक गद्दी पर बैठा। इस समय पंजाब में गक्खड़ों ने फिर सिर उठाया। अपने नेता, जसरत के अधीन उन्होंने काश्मीर के शासक अलीशाह को, परास्त करके कैद कर लिया। जसरत ने लाहौर और जालन्धर पर अधिकार करके देहली लेने की ठानी। जब जसरत ने सरहिन्द ले लिया तब मुबारिक सेना लेकर वहाँ पहुँचा। जसरत ने सतलज नदी से इधर आकर वहाँ से किश्तियाँ हटा लीं। वर्षा के अंत में मुबारिक ने सतलज पार किया। लड़ाई में गक्खड़ों की हार हुई और जसरत चनाब पार करके पहाड़ों में छिप गया।

मुबारिक लाहौर आकर कुछ देर यहाँ रहा। महमूद हसन को सूबेदार नियुक्त करके वह वापस हो गया। ज्यों ही बादशाह

गया त्यों ही जसरत ने पहाड़ से उतरकर लाहौर का घेरा डाल दिया। इसमें छः मास से अधिक समय लग गया। इसलिए यह घेरा हटाकर वह कलानौर पहुँचा और वहाँ से जम्मू पर चढ़ाई कर दी। जब उधर भी सफलता न मिली तब सेना भरती करने के लिए व्यास की तरफ़ चला गया।

देहली से सिकन्दर सेना लेकर आया। जसरत को चनाब के पार भागना पड़ा। देहली की तरफ से सिकन्दर लाहौर का शासक नियुक्त किया गया। इतने में जसरत ने बारह हज़ार गक्खड़ एकत्र किये और लाहौर तथा दीपालपुर को लूटा। सिकन्दर के आने पर वह फिर पहाड़ों को भाग गया। १४२७ में उसने पहाड़ से उतरकर कलानौर को घेर लिया, परंतु सिकन्दर ने उसे हार देकर भगा दिया। देहली को सामान और सरहिंद के शासकों के लिए फ़ौज भेजनी पड़ी।

सन् १४२९ में काबुल के शासक शेख़अली ने पंजाब पर हमला किया। गक्खड़ उसकी सहायता को पहुँच गये और पंजाब में उन्होंने लूट मार शुरू कर दी। शेख़अली ने लाहौर पहुँचकर सिकन्दर से एक वर्ष की आय बतौर दंड वसूल की। फिर वह रावी के किनारे खैराबाद पहुँचा और वहाँ से २९ मई, १४३० को मुलतान पर चढ़ाई की। मुलतान लेने में उसे सफलता न हुई, इसलिए उसे घेर लिया गया। लेकिन देहली से फ़ौज सहायता को पहुँच गई। उसने मुग़लों को परास्त कर भगा दिया। उसका पीछा करके अधिकतर को क़त्ल कर दिया गया। जो बचे वे झेलम नदी में डूब गये। शेख़अली कुछ ही आदमियों के साथ काबुल पहुँचा।

अगले वर्ष १४३२ में जसरत और शेख़अली ने मिल कर लाहौर पर आक्रमण किया, परंतु उन्हें पीछे हटना पड़ा।

जनवरी १४३५ में मुबारिक नमाज़ पढ़ता हुआ क़त्ल कर दिया गया। उसका बेटा सैयद महमूद गद्दी पर बैठा। अगले वर्ष सरहिंद का शासक इसलामखां मर गया। उसके भतीजे बहलोल लोदी ने उसका स्थान लेकर लाहौर पर भी अधिकार कर लिया। दीपालपुर भी उसके क़ब्जे में आगया।

बहलोल के समान जौनपुर और मालवा के सूबेदार भी स्वाधीन होने लगे। बादशाह ने बहलोल को राजी करके उसे बीस हजार सेना के साथ मालवा भेजा। बादशाह घबराया हुआ था। परन्तु बहलोल ने मालवा के सुलतान मुहम्मद को परास्त करके भगा दिया। इस पर बादशाह इतना प्रसन्न हुआ कि उसे खान-जहान की उपाधि देकर अपना दत्तक बना लिया और १४४१ में पंजाब का सूबेदार नियुक्त करके जसरत पर आक्रमण करने की इजाज़त दे दी। परन्तु बहलोल ने जसरत के साथ मैत्री करके अपनी शक्ति बढ़ा ली।

सैयद महमूद के मर जाने पर १४४५ में उसका बेटा अलाउद्दीन गद्दी पर बैठा। उसने देहली के स्थान पर बदायूँ को अपनी राजधानी घोषित करके वहाँ बाग़ और विलास के स्थान बना दिये। दरबारियों ने बादशाह और मन्त्री में झगड़े शुरू करवा दिये। यह देखकर बहलोल ने देहली आकर गद्दी पर क़ब्जा कर लिया। अलाउद्दीन स्वयमेव बदायूँ चला गया।

सन् १४८८ में बहलोल मर गया तो उसका बेटा सिकन्दर लोदी गद्दी पर बैठा। १५०७ में वह मर गया। वह बहुत अत्याचारी था। मथुरा में उसने मन्दिर गिराकर मसजिद खड़ी की। यात्रा के समय किसी हिन्दू को दाढ़ी या बाल कटवाने की इजाज़त न थी।

सिकन्दर का बेटा इब्राहीम लोदी बड़ा ज़ालिम था। उसने

अपने भाई को क़त्ल कर दिया। सरदार उससे नाराज़ हो गये। पंजाब में दौलतखां लोदी स्वाधीन हो गया। उसके चचा अलाउद्दीन ने काबुल से चालीस हज़ार सवार लेकर देहली पर आक्रमण किया। पहले दिन तो उसे सफलता हुई। परन्तु उसके सैनिक लूटमार में लग गये। बादशाह ने सेना एकत्र करके अलाउद्दीन को परास्त किया। वह भागकर पंजाब चला गया। इस पर दौलदतखाँ ने तैमूर के पोते, बाबर के पास काबुल में संदेशा भेजा।

मुग़ल-शासन—बाबर तैमूर की छठी पीढ़ी में से था। जब वह बारह वर्ष का था तब पिता ने उसे जुभीजान का प्रदेश दिया। पिता के मर जाने पर वह गद्दी पर बैठा। पन्द्रह वर्ष की आयु में उसने समरकंद जीता। इसके पश्चात् उसने अपना राज्य खो दिया और उसके जीवन में कई क्रांतियाँ आईं। वह जंगलों में अकेला भागता फिरा और उसे सिर छिपाने की जगह न मिलती। दौलतखाँ के निमन्त्रण से पूर्व ही उसने पंजाब पर हमला करने की ठान रखी थी।

सन् १५१६ में उसने पहला आक्रमण भेरा (पंजाब) पर किया। वहाँ से चार लाख शाहरुखी (सिक्के) लेकर मौलाना मुरशिद को इब्राहीम के पास भेजा कि पंजाब तो सदा ग़ज़नी के पास रहा है और लड़ाई को रोकने के लिए वह पंजाब को छोड़ दे। इसके पश्चात् चनाब पहुँचकर उसने गक्खड़ों के क़िला, बरहाला, को जा घेरा। वहाँ से बहुत-सा सामान लेकर वह वापस हुआ। दूसरी बार उसने यूसुफ़ज़ई लोगों को हार दी। तीसरी बार आया तो सियालकोट जीता। सैदपुर ने विरोध किया तो सभी क़िलेवाले क़त्ल करवा दिये और जन-साधारण में से बहुत दास बना लिये गये।

सन् १५२४ में दौलतखाँ के बुलाने पर वह लाहौर आया। शाही सेना को परास्त कर वह शहर में प्रविष्ट हुआ। मकानों को उसने आग लगा दी। चार दिन के बाद दीपालपुर जीतकर वहाँ के सभी क़िलेवालों का वध करवा दिया। दौलतखाँ जिसे लाहौर से निकलवा दिया गया था, बाबर को यहाँ आकर मिला। बाबर ने उसे जालंधर का सूबेदार नियुक्त किया। परन्तु दौलतखाँ घबराकर पहाड़ों को भाग गया। इससे बाबर को निराशा हुई और वह वापस चला गया।

पाँचवाँ आक्रमण १५२६ में देहली पर था। २१ एप्रिल को पानीपत के प्रसिद्ध क्षेत्र में युद्ध हुआ। इब्राहीम लोदी के पास एक लाख सवार और एक सौ हाथी थे। बाबर के पास तेरह हजार सवार। इब्राहीम मारा गया और बाबर की जीत हुई। बाबर देहली में दाखिल हुआ। उसने कोष खोलकर लाखों रुपये अपने सरदारों को दिये। बड़ी-बड़ी रक़में मक्का, मदीना आदि स्थानों को भेजी गईं।

बाबर चार बरस राजपूताना, बंगाल आदि में लड़ाइयाँ करता रहा। १५३० के अंत में वह आगरा आकर मर गया। अब उसका बेटा हुमायूँ गद्दी पर बैठा। दूसरा लड़का, कामरान, गजनी से फ़ौज लेकर पंजाब आया। हुमायूँ ने खुद ही उसे पेशावर, पंजाब और लमगान के प्रदेश दे दिये। हुमायूँ गुजरात में लड़ रहा था जब शेरखाँ पठान ने बंगाल में स्वायत्त शासन बना लिया। हुमायूँ को उसके विरुद्ध कुछ लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। अंत में शेरखाँ ने उसे ऐसी हार दी कि १५३९ में वह भागकर लाहौर आया। शेरखाँ पीछा कर रहा था। हुमायूँ भक्खर चला गया। मरुभूमि में उसे बहुत कष्ट सहन करने पड़े। न पानी, न छाया; और कुएँ इतने गहरे कि बैल हाँकने-

वाले को काम शुरू करने से पहले नक्कारे से आवाज़ देनी पड़ती। चार दिन के सफ़र के बाद हुमायूँ और उसके साथी एक कुएँ पर पहुँचे। परन्तु जब पानी का डोल निकला तो सभी उस पर टूट पड़े। रस्सी टूट जाने से डोल कुएँ में जा पड़ा। इससे कई आदमी मर गये। ऐसी परिस्थिति में अकबर उत्पन्न हुआ। हुमायूँ अपने परिवार को अमरकोट के राणा के पास छोड़कर स्वयं सीसतान चला गया।

शेरखाँ—जिला पेशावर में एक स्थान रोह है। शेरखाँ वहाँ के सूर क़बीले से था। बहलोल के समय उसका दादा देहली आया। पिता के व्यवहार से तंग आकर वह जौनपुर के सूबेदार के पास जा नौकर हुआ। उसे इतिहास के अध्ययन का व्यसन था। वहाँ से वह बिहार के शासक के पास चला गया। एक बार शिकार के समय कटार के एक ही वार से उसने शेर मार डाला। जन्म का नाम फ़रीद था। अब शेरखाँ पड़ गया। मुहम्मदशाह के मर जाने पर उसकी स्त्री ने शेरखाँ को मंत्री नियुक्त किया। कुछ दिन के बाद चनार के शासक की विधवा से ब्याह करके वह उस क़िले का मालिक बन गया। जब हुमायूँ गुजरात में था तब शेरखां ने बिहार और बंगाल पर अधिकार कर लिया। हुमायूँ को परास्त करके उसने अपने आपको बंगाल का बादशाह प्रसिद्ध किया और ख़्वासखां को पंजाब में अपना सेनानायक बनाया। हुमायूँ के चले जाने के बाद चित्तौड़, कालिंजर आदि की हिन्दू रियासतों से लड़ाई करतार रहा। १५४५ में वह कालिंजर-दुर्ग के अन्दर मर गया।

शेरखां ने गङ्गा से सिंध तक दो हज़ार मील लम्बी सड़क बनवाई। इसके किनारों पर वृक्ष लगवाये और चौकियाँ तथा

हरकारे बिठलाये। फौजी अफ़सरों ने उसके छोटे बेटे सलीम को उसके स्थान पर बिठलाया। परन्तु लाहौर के सूबेदार, हैबतखाँ ने उसे मंजूर न किया। ख्वासखाँ भी उसके साथ मिल गया। सलीम सेना लेकर लाहौर के लिए चल पड़ा। अंबाला में षड्यंत्रकारी सेना के साथ उसका मुक़ाबला हुआ। बादशाह के सौभाग्य से उनके दरमियान मतभेद उत्पन्न हो गये। ख्वासखाँ आदिलशाह के पक्ष में था। हैबतखाँ कहता था—"राज्य उसी का होता है जिसकी तलवार तेज़ होती है।" ख्वासखाँ हट गया। बादशाह को आसानी से विजय प्राप्त हुई। परन्तु १५५३ में वह मर गया और उसका बारह बरस का लड़का तख्त पर बैठा। उसके मामा मुहम्मदशाह आदिल ने महल में जाकर बच्चे का वध कर डाला और स्वयं गद्दी पर जा बैठा। उसने हेमूँ नाम के हिन्दू को अपना मन्त्री बनाया। यह बहुत योग्य पुरुष सिद्ध हुआ।

जब इब्राहीमखाँ ने गद्दी पर क़ब्ज़ा करने का प्रयत्न किया तो आदिल चनार की तरफ़ भाग गया। अहमदखां सूर ने सिकन्दरशाह की उपाधि धारण करके पंजाब पर राज्य करना आरम्भ कर दिया। उसने देहली पर हमला किया तो इब्राहीम सामने आया। इब्राहीम के दो सौ सरदार और अफ़सर मखमल के तंबुओं में पड़े थे। हर एक के साथ अपना-अपना नौबत या नक्कारा था। लड़ाई में इब्राहीम की पराजय हुई और सिकन्दर-शाह देहली और आगरे का स्वामी बन गया।

हुमायूँ ईरान के बादशाह के यहाँ मेहमान था। उसने हुमायूँ को शिया बनाने के विचार से दस हज़ार सवार सहायता के लिए दिये। कंधार में हुमायूँ के पुराने अफ़सर उससे जा मिले। लड़ाई के पश्चात् हुमायूँ अफ़ग़ानिस्तान का स्वामी बन गया।

उसके भाई जो विरोधी थे, इन लड़ाइयों में काम आये। आगरा और देहली से लोगों ने हुमायूँ को वापस आने के लिए चिट्ठियाँ लिखीं। हुमायूँ ने बहरामखाँ को फौज का नायक नियुक्त किया। रोहतास में लाहौर के शासक तातारखाँ से मुठभेड़ हुई। तातार भाग गया और हुमायूँ लाहौर में प्रविष्ट हुआ।

आगे बढ़कर बहरामखाँ ने सिकन्दरखाँ की बीस हज़ार सेना को माछीवाड़ा में परास्त किया। लेकिन उसके पीछे ही ख़ुद सिकन्दर अस्सी हज़ार सेना लिये आ रहा था। सरहिन्द में १८ जून, १५५५, को लड़ाई हुई जिसमें सिकन्दर हार खाकर भाग गया। अकबर ने बड़ी वीरता दिखलाई। हुमायूँ पन्द्रह वर्ष के निर्वासन के पश्चात् राजगद्दी पर बैठा। नमाज़ के समय मकान से नीचे आ रहा था। सोंटा फिसला और हुमायूँ ज़मीन पर गिरकर मर गया।

अकबर—अकबर इस समय बहराम के साथ था। पौने चौदह वर्ष की आयु में उसे कलानौर के किले में गद्दी पर बिठलाया गया। अकबर के सामने कई खतरे थे। सूर बादशाह अभी मैदान में था। हिन्दू राजाओं में से कोई साथ न था। पंजाब का शासक अबुलमआली विद्रोही हो गया। उसे पकड़कर लाहौर के कोतवाल पहलवान गुलजार की कैद में रखा गया। उसके भाग जाने पर कोतवाल ने अपमान के डर से आत्महत्या कर ली।

अकबर ने पहले सिकन्दर को अंबाले के निकट हार देकर पहाड़ों को भगा दिया। खिजरखाँ को लाहौर का सूबेदार नियुक्त किया गया। इधर हेमूँ नाम के हिन्दू सेनानायक ने आगरा पर क़ब्ज़ा कर लिया और देहली पर चढ़ाई करके

मुग़ल सूबेदार कादिरीबेगखां को निकाल दिया और स्वयं विक्रमादित्य की उपाधि धारण करके पंजाब की तरफ़ बढ़ा। अकबर की सेना बहुत थोड़ी थी। उसे कहा गया कि वह काबुल चला जाय क्योंकि इतने बड़े टिड्डी दल का मुक़ाबला मुश्किल से होगा। परंतु बहरामखाँ इसके विरुद्ध था। पानीपत में ५ नवंबर १५५६ को लड़ाई हुई। यह स्थान निर्णायक युद्धों के लिए सदा से प्रसिद्ध है। हेमूँ बहुत से हाथी लाया था। ये डरकर बेकाबू हो गये। पठानों में हलचल मच गई। हेमूँ बड़े साहस से हाथी को इधर-उधर ले जा रहा था कि एक तीर उसकी आँख में आ लगा और वह एक ओर हट गया। उसके साथी यह समझकर कि वह मर गया है, भागने लगे। सख्त पीड़ा होने पर भी वह वीर हिंदू उठा और उसने अपने हाथ से ही तीर को आँख से निकाला। अब आँख और सिर पर रूमाल बाँधकर वह लड़ाई के लिए तैयार हो गया; परन्तु हाथी के गिर जाने पर उसे पकड़ लिया गया।

बहराम चाहता था कि अकबर हेमूँ को अपने हाथ से क़त्ल कर झूठा ग़ाज़ी बन जाय। परन्तु अकबर ने उसका सिर तलवार से छू दिया। कायर और निर्दय बहराम ने वीर पुरुष का वध कर डाला। उस युग में यह पहला हिंदू था जो छोटे-से पद से उन्नति करके चोटी पर जा पहुँचा। उसकी योग्यता और प्रबंध-शक्ति के कारण पठान बादशाह मुग़लों का सामना कर सके। इतने में सिकंदर ने खिज़रखाँ को पराजित कर दिया। अकबर यह सुनकर पंजाब आया और सिकंदर को कलानौर से निकाल दिया। वह यहीं था जब उसकी माता और अन्य संबंधी काबुल से आकर मिले।

सन् १५५८ में बहरामखाँ ने हुमायूँ की भतीजी से ब्याह

किया। इसके बाद वह इतना धृष्ट हो गया कि अकबर ने उसे आज्ञा दी कि अब तू मक्का जाकर शेष जीवन प्रभु-भक्ति में गुज़ार। बहराम मक्का जाने के विचार से नागौर तक गया। यहाँ पर उसने अपना निश्चय बदल लिया और पंजाब में आकर विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। पीर मुहम्मद ने उसका पीछा करके उसे भटिंडा तक भगा दिया। दीपाल से होकर वह जालंधरपुर और वहाँ से माछीवाड़ी गया। अकबर ने उसे लुधियाना में परास्त किया। बहराम ने क्षमा माँगी। अकबर ने उसके नाम पचास हज़ार रुपये की पेंशन लगा दी। वह मक्का जा रहा था कि रास्ते में उसे एक पठान ने मार दिया।

एक मराठा-लेखक के अनुसार अकबर ने हिन्दुत्व ग्रहण करने का प्रयत्न किया; परन्तु रूढ़िवादी हिन्दुओं ने उसे स्वीकार न करके मूर्खता दिखलाई। संभवतः इसी विचार से १५६१ में अकबर ने राजा पूर्णमल की लड़की से ब्याह किया और दस बरस बाद राजा कल्याणमल की लड़की से। १५६६ में अकबर के सौतेले भाई हाकिम मिर्ज़ा ने काबुल से पंजाब आकर लाहौर लेने का प्रयत्न किया। परन्तु अकबर के आने पर वह वापस भाग गया। १५७९ में राजा मानसिंह लाहौर का शासक था जब हाकिम मिर्ज़ा ने दूसरी बार आक्रमण करके लाहौर के गिर्द घेरा डाल दिया। राजा मानसिंह ने वीरतापूर्वक शहर की रक्षा की। स्वयं अकबर पंजाब को आया। हाकिम मिर्ज़ा पेशावर की ओर चल पड़ा राजा मानसिंह ने आगे बढ़कर उसे पराजित किया। काबुल जाकर अकबर ने हाकिम मिर्ज़ा को क्षमा कर दिया और वहाँ का शासन उसे दे दिया। वापसी पर अकबर ने अटक का क़िला बनाने की आज्ञा दी और राजा भगवानदास को पंजाब

का शासक नियुक्त किया। जब १५८६ में हाकिम मिर्जा मरा तो उसके स्थान में काबुल का शासक राजा मानसिंह को बनाया गया।

इसी वर्ष स्वयं अकबर लाहौर आया और यहां से उसने काश्मीर, स्वात और बाजौर की तरफ़ फ़ौजें भेजीं। स्वात और बाजौर के पठानों दिलेरी से लड़े और राज-सेना को उन्होंने परास्त कर दिया। राजा बीरबल मारा गया। दर्रा खैबर में राजा मानसिंह ने रोशनाई पठानों को हार देकर भगा दिया।

सन् १५८६ में काश्मीर ने अधीनता स्वीकार कर ली। १५८६ में अकबर लाहौर से भिंबर के रास्ते श्रीनगर पहुँचा। कई दिन वहाँ ठहरकर वह काबुल गया। वहाँ उसे लाहौर में राजा टोडरमल की मृत्यु का समाचार मिला। वापस आकर १५६८ तक वह आक्रमणों के भय से लाहौर में ही दरबार करता रहा। १५६० में काश्मीर का सूबेदार यूसुफ़खाँ मशहदी अपने भाई यादगार-मिर्जा को पीछे छोड़ लाहौर आया। एक धनवान जमींदार की लड़की से ब्याह करके वह बादशाह बन बैठा। जिन सरदारों ने उसका विरोध किया उन्हें क़त्ल करवा दिया गया। यह समाचार सुनकर अकबर ने सेना भेजी। यादगार को मैदान में धोखे से गिरफ्तार कर लिया गया। यहाँ से अकबर काश्मीर गया और चालीस दिन वहीं रहा। अगले वर्ष उसने सिंध को सेना भेजकर उसे अपने अधीन किया। रोशनाई क़बीले के सरदार जलाल ने विद्रोह किया तो वह और उसके भाई पकड़कर दरबार में भेजे गये।

चित्तौड़ का दुर्ग अजेय चला आता था। अकबर ने उसको लेने की ठानी। उसका मुक़ाबला करने के लिए तीस हज़ार राजपूत वीरों ने प्राण दे दिये। जब अहमदनगर का घेरा डाला

गया तो हुसैन निजामशाह की लड़की चाँदबीबी ने बड़ी वीरता दिखलाई।

अकबर ने एक नया मजहबी पंथ जारी किया। यह सूर्य की पूजा पर आश्रित था और इसकी रस्में अधिकतर पारसियों से मिलती थीं। जब १५८३ में अकबर अपना दरबार फतहपुर सीकरी से लाहौर ले आया तब उसके साथ तीन ईसाई पादरी भी आये। उन्हें आशा थी कि वे अकबर को ईसाई बना लेंगे।

सन १५६५ में एक और ईसाई मिशन लाहौर आया। इसमें जेवियर और अन्य पादरी थे। वे कई वर्ष तक लाहौर ठहरे बादशाह के साथ वे काश्मीर भी गये। जेवियर ने लाहौर के मौलवी अबुसलारीन की सहायता से ईसा का जीवन-चरित्र फ़ारसी में लिखा। अकबर ने मजहबी सहिष्णुता के नियम भी यहीं से जारी किये। इनके कारण वह बहुत प्रसिद्ध हो गया। शनिवार सायं को उसके प्रार्थनागृह में मजहबी वाद-विवाद हुआ करता था। स्वयं अकबर वहाँ विद्यमान होता। अबुलफजल विवाद आरंभ करते हुए अकबर के विचारों की व्याख्या करता। हर एक मजहब के विद्वान अपने अपने विचार प्रकट करते। अकबर बड़े ध्यान से इनको सुना करता। इस उद्देश से लाहौर के बाहर दो मकान बनवाये गये। मियाँमीर को जाते हुए दारा-नगर के पास खैरपुरा मुसलमानों, ईसाईयों और यहूदियों के लिए था। धर्मपुरा हिंदुओं के लिए बना।

इन विवादों के परिणाम कभी कभी बहुत अनिष्टकारी होते। एक बार एक शिया मुल्ला अहमद को मिर्जा फौलाद ने क़त्ल कर डाला। इस पर क़ातिल को हाथी की टाँग से ज़िन्दा ही बाँध दिया गया।

अकबर ने हिन्दुओं पर से जज़िया हटा दिया और मुसल-

मानों में बहु-विवाह की प्रथा बंद कराने का यत्न किया। गोमांस-भक्षण भी मना कर दिया गया। गोमांस का छूना पाप समझा गया। सती की रस्म बन्द करने के लिए खास अफ़सर नियुक्त किये गये। दाढ़ी मुँड़वाना मैत्री का चिह्न समझा गया। अकबर के सामने कोई खास आदमी ही दाढ़ी बढ़ाकर जा सकता। शरीर-रक्षा के लिए मद्य-पान उचित था, परन्तु नशे के लिए अनुचित। उसका मजहबी पंथ 'दीन इलाही' प्राकृतिक शक्तियों का पूजन था। पाँच-पाँच कोस पर घुड़सवार नियुक्त करके उसने चिट्ठियाँ भेजने का तरीक़ा निकाला। अथर्ववेद, रामायण, महाभारत, लीलावती आदि संस्कृत के कई ग्रंथों का फ़ैजी आदि ने फ़ारसी में अनुवाद किया। अरबी का पढ़ना बंद करा दिया गया। हिज्री सन् और महीनों के अरबी नाम उड़ा दिये गये।

राजा टोडरमल ने मालगुजारी का तरीक़ा निकाला। बहुत से कर जो उद्योग-धंधों पर बोझ डालते थे, दूर कर दिये गये। पहले तरीक़ा यह था—सूबेदार साहुकार को गाँव का ठेका देता। ठेकेदार जमींदारों को निचोड़ लेता। इस रुपये में से सूबेदार फौज को वेतन देता। जो कुछ बच जाता वह सरकारी कोष में भेज देता। अकबर ने यह ढंग बदलकर सूबेदारों को लिखा कि सारा लगान सरकारी कोष में भेज दिया जाय। फिर वहां से सेना को वेतन दिया जाय। सारी जमीन की पैमाइश कराई गई। 'दस्तूरुल-अमल' के अनुसार जो आदमी 'खालसा' जमीनों के मालिकों से 'माल' और जागीरदारों से 'जिहात' वसूल करते उन्हें 'आमिल' या 'पटेल' कहा जाता। पटेल के अधीन 'कारकुन' या प्रबंधक और 'खास नवीस' या पटवारी होता। इनके अतिरिक्त चौकीदार भी रहता। वह सारी जमीन

जो एक करोड़ रुपया वार्षिक लगान देती एक अफ़सर के अधीन होती। उसे 'करोड़ी' कहा जाता। हर गांव में एक मुल्ला या उस्ताद रहता। यह लड़कों को शिक्षा देता।

अकबर का दरबार बड़ा शानदार था। उसके पास शिकारी जानवरों के अतिरिक्त बारह हज़ार घोड़े और पांच हजार हाथी थे। उसका डेरा चलता-फिरता शहर होता। इससे उसको जंगल में भी हर प्रकार के सुख के साधन प्राप्त होते। अकबर, सरदारों और नौकर-चाकरों के लिए तंबू पांच मील का स्थान घेर लेते। अकबर के जन्म-दिन बड़ी रौनक़ होती। अमीर उसे प्रणाम करते और वह इनाम बाँटता। सुनहले तराज़ू पर वह सोने, चाँदी और अतर के साथ अलग-अलग तौला जाता। बाद में ये तीनों चीजें बाँट दी जातीं। अकबर अपने हाथ से सोने-चाँदी के बादाम फेंकता जिनको पकड़ने के लिए अमीर भी दौड़ते।

लतीफ़ लिखता है 'हिंदुओं के शहरों और मंदिरों को लूटकर इस मुग़ल बादशाह ने अपार धन एकत्र कर लिया था।' आगरा में एक बार चार सौ आदमी तराज़ू लेकर सोने और जवाहरात को तौलते रहे। परन्तु पाँच मास तक यह काम समाप्त न हो सका। अकबर के मुकुट का मूल्य अनुमानतः तीन करोड़ और सिंहासन का नौ करोड़ रुपया था। अंतिम दिनों में अकबर को अपने बेटे सलीम की विलास-प्रियता से बहुत दुःख हुआ। मरते समय उसने सभी अमीरों को बुलाकर शिक्षा दी, अपनी भूलों के लिए क्षमा माँगी और सलीम की तरफ़ इशारा करके उसे गद्दी पर बिठलाने के लिए कहा। १२ अक्टूबर, १६०५ को अकबर दुनिया से चल दिया।

जहाँगीर—सलीम जहाँगीर के नाम से गद्दी पर बैठा। पिता के मंत्रियों को उसने ज्यों का त्यों रहने दिया, परन्तु मज़हबी परि-

वर्तन करनेवालों को हटा दिया। वह इसलाम का खास ध्यान रखने लगा। वह स्वयं शराब पीता था (पादरियों ने बचपन में उसे यह आदत डाल दी थी।) परन्तु लोगों के लिए उसने मद्य-पान की मनाही कर दी। प्रातः वह झरोखे में बैठता। तब लोग उसे प्रणाम करते। अपने महल में उसने एक जंजीर लगा दी जिसे खींचकर कोई भी पीड़ित अपनी फरियाद जहाँगीर तक पहुँचा सकता था।

जहाँगीर को राजगद्दी पर अभी चार ही मास हुए थे कि राजकुमार खुसरो ने विद्रोह कर दिया और पंजाब में आकर दस हजार सेना एकत्र कर ली। पंजाब में जहाँगीर ने सैयदखाँ मुग़ल को सूबेदार नियुक्त किया था। लाहौर का घेरा डालकर खुसरो ने उसके एक दरवाजे को आग लगा दी। शाही अफसरों ने शहर की रक्षा करने में कोई कसर न रखी। खुद जहाँगीर भी आ पहुँचा। बाक़ायदा लड़ाई हुई जिसमें खुसरो हार गया। वह भाग गया। चनाब से गुजरकर रेत पर चढ़ रहा था कि पकड़ा गया। वह रोने और काँपने लगा। उसे क़ैद में डाल दिया गया। उसके दो साथियों हुसेन बेग और अबुल अजीज को गाय और गधे की खालों में सी दिया गया। पहला चौथे दिन और दूसरा पाँचवें दिन मर गया। गुरु अर्जुन को भी इसी अपराध के बदले प्राणों की बलि देनी पड़ी। जहाँगीर लाहौर के क़िले में प्रविष्ट हुआ। मिर्ज़ा कामरान के बाग़ के दरवाज़े तक लकड़ियाँ जमा की गईं। इनमें सात सौ विद्रोहियों को ज़िन्दा जला दिया गया।

लाहौर में जहाँगीर को समाचार मिला कि कज़लबाशियों ने विद्रोह कर दिया है। इस पर कुछ सरदारों को लाहौर छोड़-कर वह स्वयं काबुल गया। रावी पार करके हरिपुर, चाँद-

वाला, हाफिज़ाबाद, गुजरात, रोहतास, हसनअब्दाल और पेशावर होता हुआ खैबर से काबुल पहुँचा। वर्ष भर काबुल ठहरकर काश्मीर की सैर करता हुआ १६०७ में लाहौर लौटा।

सन १६१६ में दो वर्ष तक वर्षा न हुई। इस कारण पंजाब से सरहिन्द और देहली तक एक ऐसी मरी फैली जो आठ वर्ष तक जारी रही। लाहौर में उसने ऐसी तबाही मचाई कि मकान लाशों से भर गये। लोग उन्हें ताले लगाकर भाग गये। बाद में कोई डर के मारे उन्हें खोलता न था। इसी वर्ष राजकुमार खुर्रम (शाहजहाँ) ने दक्षिण पर चढ़ाई की। मलिक अंबर को उसने परास्त किया और बीजापुर से अधीनता स्वीकार करवाई। १६२२ में खुसरो कैद में मर गया इससे शाहजहाँ का गद्दी पर बैठना निश्चित हो गया।

नूरजहाँ—अकबर मुगल-साम्राज्य का निर्माता था। जहाँगीर विलासी पुरुष था जिसने बादशाही को आसक्ति में बदलकर उस पर मस्ती का रङ्ग चढ़ा दिया। शाहजहाँ के राज्य-काल में साम्राज्य पर उत्सवों की मौज का रङ्ग चढ़ा। दरबार और सेना सभी इसी रङ्ग में रँगे गये। जहाँगीर कहा करता —"मैंने एक प्याले के बदले सारा साम्राज्य नूरजहाँ के हाथ बेच दिया है।" जहाँगीर नाम को ही बादशाह था। वास्तव में शासन नूरजहाँ के हाथ में था।

नूरजहाँ का पिता मिर्ज़ा गयास ईरान का एक अमीर था। कालचक्र उसे भारत ले आया। रास्ते में उसकी स्त्री के लड़की पैदा हुई। इसे जंगल में छोड़कर वे स्वयं इधर चले आये। पीछे सौदागरों का एक समूह आ रहा था। एक ने लड़की को उठाकर उसकी मा को ही पालने के लिए दे दी। अकबर के दरबार में मिर्ज़ा गयास का मान बढ़ने लगा। नूरजहाँ भी सौंदर्य

के कारण प्रसिद्ध होने लगी। जहाँगीर-उस पर आसक्त हो गया।

अकबर को यह बात मालूम हुई तो उसने नूरजहाँ का ब्याह एक पठान सरदार शेर अफ़गान के साथ करके सरदार को बंगाल का शासक नियुक्त कर दिया। गद्दी पर बैठने के बाद जहाँगीर को नूरजहाँ का ख्याल भूला न था। उसने ऐसा प्रबंध किया कि एक मुक़ाबले में शेर अफ़गान मारा गया तब नूरजहाँ को जहाँगीर ने अपने महल में रख लिया।

नूरजहाँ अपने पिता की मंत्रणा से राज का कारोबार करती थी, परन्तु जब वह मर गया तो वह ऐसे षड्यंत्रों में लग गई कि इसके कारण जहाँगीर का सारा जीवन कटुतापूर्ण हो गया। नूरजहाँ चाहती थी कि उसका बेटा शहरयार पिता के बाद गद्दी पर बैठे। शाहजहाँ को यह बात मालूम हो गई। उसने विद्रोह किया। जहाँगीर को उसके विरुद्ध खड़ा होना पड़ा। शाहजहाँ तलंगाना को भाग गया।

नूरजहाँ का दूसरा षड्यंत्र एक बड़े सरदार महाबतखाँ के विरुद्ध था। महाबतखाँ को मालूम हुआ कि जहाँगीर मुझसे नाराज है। जब वह काबुल जाते हुए झेलम से गुजरा तो महाबतखाँ अपना दस्ता लेकर जहाँगीर के तंबू पर जा पड़ा और उसे गिरफ्तार कर लिया। नूरजहाँ ने बादशाह को छुड़ाने का यत्न किया। महाबतखाँ के राजपूत बहादुरी से लड़े। जब नूरजहाँ को कोई आशा नजर न आई तो वह भी बादशाह के साथ गिरफ़्तारी में रहने पर तैयार हो गई। महबतखाँ दोनों को काबुल ले गया।

नूरजहाँ की बहुत मिन्नत-खुशामद से उसने जहाँगीर को छोड़ दिया। वापसी पर बादशाह ने आसिफ़खाँ को लाहौर का सूबेदार नियुक्त किया। स्वयं वह लाहौर से काश्मीर की सैर

को चला गया। रास्ते में दमा ने आ दबाया। हरिनों का शिकार करते हुए जहाँगीर की तबीअत ऐसी बिगड़ी कि १६२८ में वह मर गया। उसका शव लाहौर में लाकर उस पर मक़बरा बनाया गया। नूरजहाँ ने लाहौर में सोलह बरस बिताये। उसे पचीस लाख रुपया वार्षिक पेन्शन मिला करती थी। बहत्तर वर्ष की आयु में वह लाहौर में मरी। शाहदरा में उस स्त्री की क़ब्र पाई जाती है जो किसी समय सारे मुग़ल साम्राज्य को उँगलियों पर नचाया करती थी।

शाहजहाँ—शहरयार ने लाहौर में अपने आपको बादशाह घोषित किया। परन्तु उसके साथियों की हार हो जाने पर उसने अपने आपको किले में बंद कर लिया। उसे वहाँ से निकालकर अंधा कर दिया गया। जब शाहजहाँ गद्दी पर बैठा तो उसके घराने के कई राजकुमारों के सिर काटकर उसके पास आगरा भेज दिये गये। यद्यपि उसकी मा मारवाड़ की राजकुमारी थी तथापि शाहजहाँ में इसलाम के लिए पक्षपात पाया जाता था। उसने हुगली लेकर वहाँ के छः सौ ईसाई पुर्तगेज़ों को क़ैद कर लिया। सुन्नत करके उसने उन सबको ज़बरदस्ती मुसलमान बनाया। उनकी स्त्रियों में से कुछ को उसने अपने हरम में डाल लिया, बाक़ी मुसलमान अमीरों में बाँट दीं।

शाहजहाँ ने शाहजहानाबाद-नाम से नई देहली आबाद की और उसमें कई मसजिदें और इमारतें बनवाईं। यमुना के पानी में शोरा होने के कारण दूर से दो नहरों के द्वारा पानी लाया गया। शाहजहाँ को तमाशों और इमारतों का बहुत शौक़ था। उसकी बड़ी इमारत आगरा का ताजमहल है। इसके निर्माण के संबंध में ट्रेवरनियर ने लिखा है—"बीस हज़ार आदमी बाईस वर्ष तक प्रतिदिन काम करते रहे।"

शाहजहाँ गर्मियों में काश्मीर और सर्दियों में लाहौर रहता था। सन १६३७ में ईरान के एक भाग का शासक अलीमर्दान खाँ लाहौर में शाहजहाँ से मिला और कंधार प्रदेश, जिस पर मुग़लों का बराएनाम कब्जा था, उसके सुपुर्द कर दिया। शाहजहाँ ने उसे 'अमरों का अमीर' की उपाधि देकर पंजाब का सूबेदार बना दिया। १६४४ में अलीमरदान खाँ ने मुग़ल सेना लेकर बुखारा पर आक्रमण किया। सर्दी के कारण उसे पीछे हटना पड़ा। राजा मानसिंह का बेटा जगतसिंह राजपूत-सेना लेकर उसकी सहायता को पहुँचा। इन वीरों ने प्रचलित मिथ्या धारणाओं की परवा न करते हुए बड़ी वीरता से पहाड़ों में रास्ते बनाये और बर्फ में से गुजरकर दुर्ग निर्माण किया। उज़बकों पर इन्होंने कई बार विजय प्राप्त की। स्वयं शाहजहाँ काबुल गया परन्तु यह देखकर कि इन पहाड़ों में मनुष्यों के प्राण नष्ट करने से कुछ लाभ न होगा, उस प्रदेश को नज़रमुहम्मद के हवाले कर वह वापस चला आया।

सन १६४६ में ईरानियों ने कंधार पर अधिकार कर लिया इस पर शाहजहाँ ने औरङ्गज़ेब को सेना देकर उधर भेजा परन्तु कोई फ़ायदा न हुआ। स्वयं साठ हज़ार सवार लेकर वह काबुल गया। कई मास तक उसने कंधार का घेरा डाले रखा। परन्तु असफल होकर लाहौर लौटना पड़ा। अगले वर्ष उसने लाहौर से तिब्बत को सेना भेजी जिसने अस्करदू को जीत लिया। औरङ्गज़ेब ने कंधार को दोबारा जा घेरा, पर सफल न हुआ। दाराशिकोह को सेना देकर सहायता के लिए भेजा गया। लेकिन इससे भी कुछ न बना। इस समय इटली का एक डाक्टर मनोची भारत आया। उसने शाहजहाँ और उसके लड़के लड़कियों का हाल लिखा है। उसी के ये शब्द हैं—

"शाहजहाँ को काश्मीर और लाहौर का बड़ा शौक है। काश्मीर से लौटकर वह लाहौर में दरबार किया करता है। उसने क़िले में समन बुर्ज बनवाया जहाँ वह प्रतिदिन सवेरे बैठता और लोग उसे देखते। अमीर लोग वहीं से आदेश प्राप्त करते। लाहौर और श्रीनगर में उसने शालामार बाग़ बनवाये।"

सन १६५७ में वह देहली में अचानक बीमार हो गया। कई दिन तक वह बेहोश रहा। दाराशिकोह ने सब सारा प्रबंध अपने हाथ में ले लिया।

बर्नियर ने १६५५ से १६६७ तक देश भर का भ्रमण किया। उसने अपने विवरण में शहरों की सुन्दरता और दौलत का उल्लेख किया है।

औरंगज़ेब—शाहजहाँ की बीमारी की ख़बर पाकर एक लड़का शुजा बङ्गाल से सेना लेकर चल पड़ा। उधर गुजरात में दूसरे बेटे मुराद ने अपने आपको बादशाह घोषित किया। इस पर तीसरे औरंगज़ेब ने, जो मक्कारी की विद्या का पक्का उस्ताद था, मुराद को लिख भेजा—"मैं तो इस क्षणभंगुर संसार की कोई चीज़ लेना नहीं चाहता। मैंने हज को जाने का दृढ़ निश्चय कर रखा है।" भोले मुराद ने अपनी सेना औरङ्ग-ज़ेब के हवाले कर दी। इसकी सहायता से उसने पहले चौथे भाई दाराशिकोह के और फिर शुजा को पराजित करके भगा दिया। अन्त में एक बहाने से मुराद को पकड़कर ग्वालियर के क़िले में बन्द कर दिया।

शाहजहाँ अच्छा तो हो गया, परन्तु विद्रोह की ज्वालाओं को रोक न सका। दाराशिकोह चंबल के स्थान पर हार खाकर देहली भाग आया। औरंगज़ेब ने आगरा पर क़ब्ज़ा करके पिता को क़ैद कर लिया। दाराशिकोह लाहौर पहुँचकर फ़ौज

एकत्र करने लगा। औरंगजेब भी इधर चला आया। दारा शिकोह भागकर पहले मुलतान फिर वहाँ से सिंध और भक्खर होता हुआ गुजरात जा पहुँचा। औरंगजेब ने उसे परास्त करके सिंध को वापस भगा दिया। बख्तियार खाँ नामक पठान ने दाराशिकोह को धोखे से पकड़वा दिया। दारा की स्त्री निर्वासन में ही मरी। हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ डालकर दारा को शाहजहानाबाद लाया गया। क़ाजियों ने क़त्ल का फ़ैसला दिया। परन्तु वह इतना ज्ञानी था कि कोई आदमी उसका वध करने पर तैयार न हुआ। कई दिन के बाद औरंगजेब को एक क़ातिल मिला। जब वह मकान के अंदर गया तो दारा और उसका लड़का मसूर की दाल बना रहे थे। छुरी लेकर दोनों मुक़ाबले के लिए तैयार हो गये; परन्तु तलवार के घावों के कारण मर गये।

इधर शाहजहाँ ने और आठ बरस क़ैद में व्यतीत किये। एक बार औरंगजेब ने एक योरपीय डाक्टर को इलाज के लिए भेजा। इससे अगले दिन शाहजहाँ की मृत्यु मशहूर हो गई। कहते हैं यह डाक्टर कई बार जहर देने के लिए इस्तेमाल किया जा चुका था।

सन् १६५८ में औरंगजेब गद्दी पर बैठा। सबसे पहले उसने नववर्ष की रस्म, शराब, जूआ, नाचना, गाना और तमाशे बन्द कर दिये। संगीत के सभी साज जला देने के लिए अफ़सर नियुक्त कर दिये। राजकवि, राजज्योतिषी और राज-गायक निकाल दिये गये। उसका गुप्तचरों और मुखबिरों का तरीक़ा ऐसा अच्छा था कि उसे हर बात की खबर रहती थी। वह शिया मुसलमानों से भी घृणा करता था। उसने हिंदुओं की धार्मिक शिक्षा बन्द करवा दी। बनारस में विश्वनाथ का मंदिर और

मथुरा में देरा केशवराय उसके हुक्म से गिरा दिये गये। मथुरा के एक मन्दिर पर तैंतीस लाख रुपया खर्च हुआ था। उसके गुम्बद इतने ऊँचे थे कि वे आगरा में दिखाई देते थे। औरंगजेब ने इसके अतिरिक्त कई अन्य मन्दिरों के स्थान में मसजिदें बनवाईं। अकेले राजपूताने में तीन सौ मन्दिर गिरा-कर उनकी मूर्तियाँ तुड़वा दीं। मन्दिरों की मूर्त्तियाँ ले जाकर आगरा की नवाब बेगम की मसजिद की सीढ़ियों के नीचे रखवा दीं ताकि हिन्दुत्व का अपमान हो और हिंदुओं को ठेस पहुँचे। मथुरा का नाम सरकारी कागजों में इसलामाबाद लिखने की आज्ञा दी। यह भी आदेश दिया कि सब मन्दिर गिरा दिये जायँ और हिन्दू मेले बन्द कर दिये जायँ। विभिन्न प्रांतों को उसने यह हुक्म लिख भेजा कि किसी हिन्दू को सरकारी पद न दिया जाय; सभी नौकर मुसलमान होने चाहिए, नहीं तो वे निकाल दिये जायँ। वह इसलाम को भारत का मजहब बनाना चाहता था सन् १६९० में उसने घोषणा की कि कोई हिन्दू पालकी या अरबी घोड़े पर न चढ़े, योगी और संन्यासी राज्य के बाहर निकाल दिये जायँ और व्यापार के माल पर हिन्दुओं से मुसलमानों की अपेक्षा दुगुना टैक्स लिया जाय। अपने राज्य के बाईसवें वर्ष में उसने हिन्दुओं पर फिर से जजिया जारी कर दिया। यह टैक्स हिन्दुओं से केवल इस कारण लिया जाने लगा कि ये हिन्दू थे। देहली के हिन्दू एक बार झरोखे के नीचे एकत्र हुए कि औरङ्गजेब से जज़िया हटाने के लिए कहें, परन्तु वह कब सुनता था। हिन्दुओं ने हड़ताल कर दी जिससे सारा व्यापार बंद हो गया। एक शुक्रवार को वे महल से मसजिद तक सारे बाजारों में जमा हो गये। औरङ्गजेब को नमाज के लिए मसजिद जाना था। उसका रास्ता रुकने लगा उसने उनकी

एक भी बात न सुनी और जंगी हाथियों तथा घोड़ों को आगे बढ़ने का आदेश दिया। इससे अगणित हिन्दू हाथियों तथा घोड़े के पैरों तले कुचले गये। इसके पश्चात् देहली के हिन्दू तो ऊपर से चुप हो गये. परन्तु महाराष्ट्र और पंजाब के हिन्दू जाग उठे।

औरंगजेब जब देहली में रहता तो अपने आपको बड़ा परहेजगार जाहिर करता: परन्तु जब गर्मियों में काश्मीर जाता तब देहली से सर्वथा भिन्न होता। वहाँ स्त्रियों से विलास करता और हर प्रकार से तबीअत ख़ुश करता।

सन १७६२ में ख़ैबर के अफ़ग़ानों ने विद्रोह कर दिया। मीरजुमला का लड़का अमीन ख़ाँ जो काबुल का सूबेदार था, पेशावर में रहा करता। वह पेशावर से सेना लेकर उठा। परन्तु उसकी सारी सेना कट गई और उसकी माँ, बहन और लड़कियाँ दासियाँ बना ली गईं। स्वयं औरंगजेब फ़ौज लेकर उधर गया। परन्तु देहली के पास सतनामी-संप्रदाय के लोगों ने विद्रोह कर दिया। इसलिए उसे वापस लौटना पड़ा। सेना ने बड़ी निर्दयता से इस विद्रोह का अंत किया। सतनामी स्त्रियों और बच्चों को बहुत बुरी तरह से क़त्ल किया गया।

औरंगजेब ने कासिम ख़ाँ को अपनी चालाकी समझाकर पेशावर भेजा। उसने जाते ही मैत्री की बातें करके अफ़ग़ानों के दिल नरम कर लिये और अपने बेटे की सुन्नत पर सबको भोज में बुलाया। शहर के मैदान में घुड़दौड़, हाथियों की लड़ाई और अन्य तमाशे होने लगे। कासिम ख़ाँ वहाँ से चुपके ही उठकर चला आया। उसकी सशस्त्र सेना ने मौज मनानेवाले अफ़ग़ानों को घेरकर सबको गोलियों से उड़ा दिया। इस सर्वबध के

कारण पठानों पर ऐसा रोब छाया कि उन्होंने फिर कभी सिर उठाने का साहस न किया।

औरंगजेब अधिकतर प्रवास में रहता। उसका शिविर एक प्रकार से सफ़री शहर होता। उसकी स्त्रियाँ हाथियों पर सवार हुआ करतीं। उनके साथ असंख्य नौकरानियाँ रहतीं। भोजन की सारी सामग्री साथ होती। पीने के लिए गङ्गा का पानी ऊँटों से पहुँचाया जाता। रिसाले, पलटनें, हाथी, घोड़े, शिकारी कुत्ते—सभी साथ होते।

हिन्दुओं के विरुद्ध औरङ्गज़ेब की नीति इसलिए सख्त थी कि वह हिन्दुत्व को मिटाकर हिन्दुस्तान में इसलाम ही देखना चाहता था। इसके अतिरिक्त वह दक्षिण के राज्यों को मिटाकर समस्त देश में अपना शासन स्थापित करना चाहता था। उसकी आयु के पिछले बीस-पचीस वर्ष बीजापुर तथा गोलकुन्डा की मुसलमान रियासतों के विरुद्ध और दक्षिण में मराठों के रूप में हिन्दू-शक्ति को दबाने में गुज़रे। औरङ्गज़ेब ने मुसलमानी रियासतों को कुचलकर एक दृष्टि से मराठों को शक्ति-संपन्न बनने का अवसर दिया। जब औरङ्गज़ेब का शासन दक्षिण में भी वैसा ही स्थापित हो गया जैसा उत्तर में था तो यह भवन अपने ही बोझ से गिरने लगा। दक्षिण के प्रायः सभी हिन्दू राष्ट्र-पुरुष महाराज शिवाजी के स्वतंत्र राज्य की रक्षा के लिए उठ खड़े हुए और औरङ्गज़ेब तथा उसकी सेना का नाक में दम कर दिया।

जब वह मराठों के साथ युद्ध कर रहा था तब दक्षिण में ही उसकी मृत्यु हुई। उसके अंतिम पत्र यह सिद्ध करते हैं कि वह अपने जीवन के कार्यों के कारण बहुत विह्वल था। एक पत्र में उसने लिखा—"मैं अकेला संसार में आया और अकेला ही जा रहा हूँ। परन्तु अपने विषय में मैं कुछ नहीं जानता

कि मैं क्या हूँ और मेरा क्या बनेगा।" एक अन्य पत्र उसने में लिखा—"अच्छा-बुरा जो कुछ मैंने किया तुम्हारे लिए ही किया।" अपनी वसीयत में उसने अपने राज्य को तीन भागों में बाँटा; परन्तु उसकी वसीयत की किसी ने रत्ती भर भी परवाह न की और मार्च, १७०७ में वह मर गया।

बहादुरशाह— औरङ्गजेब का बड़ा बेटा मुअज़म काबुल से लाहौर आया। मृत्यु का समाचार सुनकर लाहौर में ही उसे उत्तराधिकारी बनाने का निर्णय किया। वह सेना एकत्र करके आगे बढ़ा। दूसरा लड़का आज़म दक्षिण से सेना ले आया। ताजो में लड़ाई हुई जिसमें आज़म और उसके दो बेटे मारे गये। अब मुअज़म बहादुरशाह की उपाधि लेकर गद्दी पर बैठा।

यह समाचार पाकर कामबख़्श ने भी लड़ाई की तैयारी आरंभ कर दी। मुअज़म ने उसे बहुतेरा समझाया पर वह राज़ी न हुआ। हैदराबाद के निकट लड़ाई हुई जिसमें कामबख़्श घायल हुआ। उसको लाकर एक योरपीय सर्जन के इलाज में रखा गया। शाम को मुअज़म उसके पास गया और कहने लगा—"खेद है कि मैं अपने भाई को ऐसी दशा में न देखना चाहता था।" मरते हुए घमंडी नवयुवक ने उत्तर दिया—"और मैं भी तुमको ऐसी हालत में देखना नहीं चाहता।" उसने भोजन करने से इनकार कर दिया और उसी रात मर गया।

इस समय पंजाब में सिखों ने अपनी हालत बदल ली। सरहिंद, सहारनपुर और मुज़फ्फरनगर पर आक्रमण किये गये। सिखों की सेना सत्रह हज़ार तक पहुँच गई। इनकी शक्ति देखकर बहादुरशाह को अपनी राजधानी लाहौर में लानी पड़ी और यहाँ से उसने सिखों के विरुद्ध फौजें भेजनी शुरू

कीं। लाहौर में सिखों का आना बंद कर दिया गया। इस पर वे रात को रावी नदी तैर कर आते और काम हो जाने पर सूर्य निकलने से पूर्व उसे पार कर वापस लौट जाते।

बहादुरशाह विचारों की दृष्टि से शिया था। उसने मजहबी मुसलमानों को एकत्र करके यह निश्चय किया कि एक खुतबा में अली के साथ यह जोड़ दिया जाय कि वह उत्तराधिकारी था। इस पर लाहौर के मुसलमानों में हलचल हुई। बहादुरशाह के दोनों लड़के सुन्नी थे, जब शिया मुल्ला मसजिद में खुतबा पढ़ने गया तो सुन्नियों ने उसके कुछ बोलने से पहले ही उसे खींचकर उसके टुकड़े-टुकडे कर दिये। गड़बड़ इतनी मची कि बहादुर-शाह को हुकम देना पड़ा कि खुतबा में कोई परिवर्तन न किया जाय। १७१२ में उसे खप्त हो गया। वह बेहोश रहने लगा। उसने आज्ञा दी कि शहर के सभी कुत्ते मार दिये जायँ। १६ फ़रवरी को वह मर गया। बहादुरशाह को शाहआलम भी कहा जाता था। शाहआलमी दरवाजा लाहौर में उसी के नाम पर है।

मुगलों का अन्त—बहादुरशाह के चार बेटों में झगड़ा-सा शुरू हो गया। अजीमुश्शान ने अपने आपको लाहौर का बादशाह घोषित किया। प्रधान मंत्री जुल्फ़िकार खाँ दूसरे बेटे मुअज़्ज़ुद्दीन के साथ हो गया। तीसरा रफ़ीउश्शान और चौथा खजस्ता अख्तर था। ये दोनों मुअज़्ज़ुद्दीन के साथ इस विचार से मिल गये कि विजय होने पर सारा राज्य तीनों परस्पर बाँट लेंगे। उन्होंने क़िले से तोपखाना निकाल लिया। अजीम ने रावी की तरफ़ पीठ करके मैदान में डेरा डाल दिया। चार दिन सेनाएँ इसी प्रकार पड़ी रहीं। पाँचवें दिन अजीम ने लड़ाई आरंभ की। उसके दो साथी मोहकमचंद खत्री और राजसिंह जाट वीर थे लड़ने पर मारे गये; परन्तु अजीम की हार हुई। दूसरे दिन

वह फिर तैयार हुआ जब कि हाथी ने बैठने से इनकार कर दिया। इसे छोड़कर दूसरा हाथी लाया गया। इतने में अज़ीम नीचे न घायल होकर गिर पड़ा। उधर हाथी को एक गोला लगा और वह रावी नदी में जा घुसा जहाँ अज़ीम डूब गया।

खजस्ता सारे माल-दौलत के तीन हिस्से करना चाहता था। परन्तु प्रधान मंत्री पाँच हिस्सों में से दो चालाकी से रफ़ी और खजस्ता को देकर बाक़ी के तीन मुअज़ुद्दीन के लिए रखना चाहता था। खजस्ता ने इसका विरोध किया, पर लड़ाई में मारा गया। रफ़ी का प्रधान मंत्री पर बड़ा भरोसा था। परन्तु उसे निराशा हुई और हार खाने पर उसका वध कर दिया गया। अब मुअज़ुद्दीन देहली जाकर जहाँदार का उपाधि लेकर गद्दी पर बैठा। बैठते ही उसने निष्कंटक होने के लिए तैमूर-घराने के सभी राजकुमार क़त्ल करा दिये।

मुअज़ुद्दीन की तबीअत बहुत कमज़ोर थी। देहली में वह एक स्त्री लालकौर के हाथ पड़ गया जिसके कारण उसने अपने मान का विचार ही छोड़ दिया। यहाँ तक कि एक रात बादशाह ने शराबख़ाने में गुज़ारी। उसका गाड़ीवान महल को वापस आ गया। सबेरे लालकौर तो महल में थी, परन्तु बादशाह का किसी को पता ही न था। तलाश शुरू हुई। मालूम हुआ कि वह दो मील की दूरी पर लालकौर की सहेली जोहरा कुंजड़िन की गोद में सोया पड़ा है। प्रधान मंत्री को मालूम हुआ कि अज़ीम का बेटा फ़र्रुख़सियर बिहार के सूबेदार अब्दुल्ला और प्रयाग के सूबेदार हुसैनअली की सहायता से राजगद्दी लेने की तैयारी कर रहा है। उसकी सेना आगरा आ पहुँची। ३० दिसम्बर, १७१२, को लड़ाई हुई जिसमें मुअज़ुद्दीन पकड़कर क़ैद कर दिया गया। अब्दुल्ला और हुसैन दोनों भाई सैयद थे।

फर्रुखसियर ने गद्दी पर बैठते ही अपने घराने के सभी राजकुमारों का वध कर डाला। उसके राज्य-काल में सिख बहुत शक्तिशाली हो गये। कुछ समय के पश्चात् दोनों सैयद भाई उसके विरुद्ध हो गये। १७१८ में उसे अंधा करके खींच-खींचकर मार दिया गया। अब बहादुरशाह के एक पोते रफीउलदरजात को गद्दी पर बिठलाया गया। तीन मास के अंदर वह क्षय से मर गया। उसके भाई रफीउलदौला का भी इसी प्रकार संग्रहणी से प्राणांत हो गया। १७१६ में मुहम्मदशाह को गद्दी पर बिठलाया गया। १७२३ में उसने अपने आपको सैयद भाइयों की गुलामी से मुक्त किया। उसके समय में १७३६ में नादिरशाह ने देहली पर आक्रमण किया जिसके कारण मुग़लों का टिमटिमाता हुआ दीपक बुझ गया।

नादिर—नादिर १६८८ में पैदा हुआ। जवानी में मशहद (ईरान) के शासक के पास रिसाले का एक अफ़सर था। उसे उज़बक तातारियों ने पकड़ लिया। चार वर्ष बाद उनके यहाँ से भागने के बाद लूटमार करने लगा। १७२२ में तुर्कों और रूसियों ने ईरान के शासक थमाशप के विरुद्ध षड्यंत्र रचकर उसका इलाक़ा लेना चाहा। थमाशप भागकर नादिर से मिला। नादिर ने उसकी सहायता करके उसकी सत्ता बनाये रखी। १७३१ में वह थमाशप से इस कारण नाराज़ हो गया कि उसने तुर्कों से अनुचित संधि की है। नादिर ने उसे अंधा करके उसके लड़के को गद्दी पर बिठा दिया। १७३६ में वह लड़का मर गया। नादिर ने सभी अफ़सरों को एकत्र करके प्रकटरूप में इनकार करते हुए राजमुकुट को स्वीकार कर लिया और अपने बड़े बेटे का ब्याह बादशाह की लड़की से कर दिया। तुर्कों से उसने ईरान का प्रदेश वापस ले लिया और कंधार, बलख तथा बुखारा को

जीता। उसने मुहम्मदशाह को देहली में दो बार संदेश भेजा कि वह अफ़ग़ानों को अपने यहाँ आश्रय न दे। पहली बार तो मुहम्मद ने प्रतिज्ञा की, परन्तु उसका पालन न किया। दूसरी बार उसने संदेश-वाहक को एक वर्ष तक अपने यहाँ ठहराये रखा। इससे नादिर को आग लग गई। उधर से मुग़ल दरबार के असंतुष्ट सरदारों, निज़ामुल्मुल्क और सआदतख़ाँ ने नादिर को पत्र लिखे कि वह आकर मुग़ल-शासन का अंत कर दे।

नादिर १७३८ में कंधार से चला। ग़ज़नी का सूबेदार उसके सामने झुक गया। काबुल उसने जीत लिया। यहाँ से उसे बहुत-सा माल और धन मिला। अब जलालाबाद को जीतकर वह पेशावर पहुँचा। यहाँ के सूबेदार ने देहली को सहायता के लिए कई बार पत्र लिखे थे, परन्तु कोई उत्तर न मिला। उसे भी झुकना पड़ा। अटक पहुँचकर नादिर ने मुहम्मद-शाह को पत्र लिखा कि "मुझे आशा न थी कि यदि दक्षिण के हिन्दू देहली पर आक्रमण करेंगे तो आप उनकी मदद करेंगे।"

अटक में उसने भारत के लोगों-जैसे कपड़े पहन लिये और भारतीय ढंग से गद्दी पर बैठने लगा। पंजाब में प्रवेश करते ही उसने सेना को आज्ञा दी कि वह लूटमार करती हुई आगे बढ़े। झेलम, चनाब और ऐमनाबाद होता हुआ वह लाहौर जा पहुँचा। सूबेदार ज़करिया ख़ाँ ने लड़ाई की, जिसमें नादिर की जीत हुई। उसने लाहौर के बाहर शालामार बाग़ में तंबू लगाये। सूबेदार ने बीस लाख रुपये भेंट करके लाहौर को लूटमार से बचा लिया। नादिर लाहौर में अपना सिक्का चला-कर देहली के लिए चल पड़ा। ब्यास के तट पर उसने एक हज़ार सात क़ैदियों के गले कटवाये।

१४ फ़रवरी, १७३९, को करनाल के मैदान में दोनों सेनाएँ

जमा हुईं। मुगल फौज में डेढ़ लाख सवार थे। परन्तु उनकी हार हुई। नादिर ने मुहम्मदशाह का तंबू घेर लिया। वह ताज छोड़ने पर तैयार हो गया। उसने नादिर से मुलाक़ात की। नादिर सौजन्य से मिला। उसने मराठों के चौथ लगाने पर खेद प्रकट किया। इस पर मुहम्मदशाह ने उत्तर दिया—"यदि मैं हुज़ूर की राय पर चलने में देर न करता तो आज मुझे आप की मुलाक़ात नसीब न होती।" नादिर मुसकरा दिया। मुहम्मद-शाह ने देहली के कोष और शस्त्रालय की चाबियाँ नादिर के हवाले कर दीं।

देहली में प्रविष्ट होकर नादिर ने सभी जगह अपने सैनिक खड़े कर दिये। उसने पचीस करोड़ जुर्माना माँगा और खज़ाने से सभी बहुमूल्य हीरे-जवाहर आदि ले लिये। इतने में एक दुर्घटना हो गई। एक सैनिक ने कुछ पालतू कबूतर एक आदमी से छीन लिये। वह चिल्लाने लगा कि नादिर ने क़त्ल का हुक्म दे दिया है। इससे देहली के लोगों को आग लग गई और वे ईरानी सैनिकों पर टूट पड़े। कहीं से आवाज़ आई—"नादिर मारा गया है!" बस, फिर क्या था। सभी लोग ईरानियों के पीछे पड़ गये। नादिर ने समझाने का यत्न किया, परन्तु कुछ न बना। एक गोली नादिर के पास से निकल गई। इस पर उसने सर्ववध की आज्ञा दे दी। दोपहर तक गलियों में ख़ून की नदियाँ बहने लगीं। प्रायः सभी मकान जला दिये गये। नादिर मसजिद में बैठा था। दरीबा बाज़ार में साहुकारों और व्यापारियों का ख़ून बह रहा था। न स्त्री का विचार किया गया न आयु का। मुहम्मदशाह और सरदार नादिर के पास गये कि "शहर पर दया करो!" नादिर ने प्रार्थना स्वीकार कर ली। ज्योंही उसने अपनी तलवार म्यान में डाली त्यों ही

क़त्ल बन्द हो गया। शाहजहाँ का तख़्तताऊस उसने ले लिया और अपने बेटे की ब्याह तैमूरी घराने की एक लड़की से कर दिया। फिर मुहम्मदशाह को गद्दी पर बिठलाकर वह वापस चला गया। चनाब के तट पर उसने अपने सभी सैनिकों की तलाशी ली और उनसे हीरे-जवाहरात छीन लिये। वहाँ हिन्दुस्तान के सभी क़ैदियों को उसने छोड़ दिया। हसन-अब्दाल के रास्ते वह लौटा। घर जाकर वह पागल हो गया। अपने बेटे को उसने अंधा कर दिया। १७५७ में नादिर को क़त्ल कर दिया गया।

सातवाँ प्रकरण

हिन्दू-जाग्रति

गत एक हज़ार वर्ष—पिछले अध्याय में हमारे सामने से एक हज़ार वर्ष का इतिहास गुज़रा है। इन शताब्दियों की घटनाओं पर विचार करते हुए हमारा ध्यान दो विशेष बातों की ओर खिंच जाता है। पहली, इन शतकों की घटनाओं का इनसे पहले एक हज़ार वर्ष की घटनाओं के साथ अजीब मुक़ाबला है। पिछले सहस्राब्द में पंजाब तथा शेष भारत में बौद्धमत का प्राबल्य था। स्थान-स्थान पर बौद्ध भिक्षुओं के मठ बने हुए थे। इन लोगों ने संसार का त्याग कर पृथ्वी-तल पर एक नये प्रकार की दुनिया प्रस्थापित करने का निश्चय किया। इनके समूह के समूह सदियों तक विदेशों को जाते रहे ताकि अपने धर्म तथा ज्ञान के अमृत से विदेशियों की प्यास बुझाएँ। हिन्दू-जाति के लिए वह कितने उत्साह तथा अभिमान का युग होगा जब बड़े-बड़े धनाढ्य और राजवंशों के कुमार और कुमारियाँ सांसारिकता को लात मारकर इस ज्ञान के प्रसार में जीवन व्यतीत कर देते थे। इसके मुक़ाबले पर दूसरे सहस्राब्द में चित्र का दूसरा पक्ष दिखाई देता है। लोगों में न हिम्मत है न धैर्य, न राष्ट्र के लिए सहानुभूति है न धर्म या संस्कृति का प्रेम उन्हें आत्म-बलिदान के लिए तैयार कर सकता है। ऐसा मालूम होता कि वह स्रोत जो पहले हिन्दू-समाज को अपने पानी से सींचता था, बाद में बिलकुल सूख गया और समस्त भूमि खुश्क हो गई। इस अवस्था में वे गुण जो किसी समाज को जीवित रखते हैं

कहीं नज़र ही नहीं आते। संभवत: पहाड़ की चोटी पर पहुँच-कर वे ऐसे गिरे कि उनका इस ज़मीन पर भी कोई ठिकाना न रहा। गौतम बुद्ध की शिक्षा बहुत उच्च कोटि की थी। उसने मानवों को देवता बनाने का यत्न किया। परन्तु न मालूम इस शिक्षा में ही कोई दोष था जिसके कारण वह मनुष्यों के लिए उपयुक्त न थी या मानव-प्रकृति में ही कोई ऐसी त्रुटि थी कि इस शिक्षा का प्रभाव उलटा पड़ा। जो भी हो हम इतना अवश्य जानते हैं कि वे मनुष्य देवता बनते-बनते मानवों के कर्त्तव्य भी भूल गये।

दूसरी बात दो विरोधी समाजों का संघर्ष है। इन में से एक आक्रमणकारी था। ये आक्रमणकारी पूर्व-युग में बौद्धमत के अनुयायी थे। परन्तु ज्यों ही इसलाम की तलवार ने बौद्ध-मत छुड़ाकर इन्हें अपने अंदर जज़्ब किया त्योंही ये बौद्धों के भया-नक एवं ख़ूँखार शत्रु बन गये। इसलाम में जाने पर आध्या-त्मिक या नैतिक दृष्टि से उनमें कोई उच्च परिवर्तन न हुआ। जहाँ पर पहले वे शांत और स्वकर्मों के फल पर संतुष्ट थे वहाँ पर अब उन्हें दूसरों पर आक्रमण करके लूटमार करने में प्रसन्नता मालूम देने लगी। इनके मुक़ाबले पर वे हिन्दू थे जो प्रतिवर्ष आक्रमणों की लहर को आते देखते थे; परन्तु उनमें न इस लहर को रोकने की शक्ति थी, न वे उस शक्ति के विकास का प्रबंध करते थे। उनके विचार में शक्ति का होना और उसका उपयोग करना पाप था। नैतिक दृष्टि से उनकी अवस्था अपने आक्रमणकारियों की अपेक्षा बहुत ऊँची थी। वे संतोष से अपने देश में बैठे थे। दूसरों पर हमला करके दुख देना उन्हें घोर पाप प्रतीत होता था। संसार को वे एक झूठा खेल समझते थे जिसमें दिल लगाना बच्चों का काम है। अपने सिर पर आनेवाले

संकट भी उन्हें माया के झूठे खेल मालूम देते थे। उनका विचार था कि जैसे वे आते हैं वैसे ही गुज़र जायँगे। उन्होंने इनकी ओर कभी ध्यान ही न दिया।

हो सकता है कि यह शिक्षा बहुत ऊँची और आध्यात्मिक हो। परन्तु इसमें पशुओं के जैसे अंधकार का भी बड़ा भारी प्रमाण दिखाई देता है। कबूतर-जैसे कई पशु-पक्षी हैं जो प्राण-हर्ता शत्रु को अपने सामने देखकर आँखें बंद कर यह समझ बैठते हैं कि इनका दुश्मन अब दुनिया में रहा ही नहीं। एक दृष्टि से यह आध्यात्मिक तत्त्व की वह चरम सीमा है जहाँ पर सत्त्वगुण तमोगुण को उत्पन्न कर देता है। ये हिन्दू अहिंसा के परम धर्म का पालन करते हुए किसी भी प्राणी को दुःख देना पाप समझते थे। इनकी दृष्टि में दुःख देनेवाले पशुओं का शिकार करना भी निंद्य था। ये मछलियों को आटा और लूले कुत्तों को रोटियाँ डालकर अपनी आत्माओं को प्रसन्न करते थे। ये समझते थे कि इनका उद्देश कर्म है। वे किसी का बुरा नहीं चाहते। इस-लिए यदि कोई दूसरा आकर इनका अपकार करता है तो उसे कर्मों के नियम के अनुसार आप ही सज़ा मिल जायगी। और, यदि यह सज़ा इस लोक में नहीं मिलती तो बुरा करनेवाले परलोक में तो जरूर ही दुःख पायेंगे। इस कारण उन्हें न अपनी जान-माल बचाने के लिए, न स्त्री-बच्चों की रक्षा के वास्ते और न अपने मान के संरक्षणार्थ ही दुश्मनों के मुक़ाबले पर हाथ उठाना चाहिए वरन् हाथ पर हाथ धरकर राम-भरोसे बैठ रहना चाहिए।

परन्तु न ये सारी ऊँची ख़ूबियाँ और न कर्मों का उच्च ज्ञान इन हिन्दुओं को अपमान तथा विनाश से बचा सका।

इनके आक्रमणकारियों में ये गुण नहीं थे। अपनी नज़रों में वे खुद सबसे ऊँचे थे और बाक़ी दुनिया काफ़िर थी। दूसरों के मज़हब को नष्ट करना इनके लिए सबसे बड़ा पुण्य था। दूसरों का माल, स्त्रियाँ और बच्चे ले जाना उनके लिए न सिर्फ़ उचित था प्रत्युत् पुण्य-कार्य भी। उनमें न अहिंसा-भाव था, न सत्त्वगुण और न सत्य ही। वे कर्मों के तत्त्व को जानते ही न थे। दोनों में संघर्ष हुआ। अचम्भा यह है कि इसमें वे लोग विजयी होते रहे जो अत्याचारी और लुटेरे थे और जो नेक थे वे पराजित एवं अपमानित होते रहे।

क्या इसका मतलब यह समझ लिया जाय कि दुनिया में पुण्य या नेकी धक्के खाती है और पाप या बदी विजय प्राप्त करती है? या यह समझा जाय कि ये नैतिक गुण वास्तव में नेकियाँ नहीं वरन बदियाँ हैं? यह बात ऐसी नहीं। वास्तव में तथ्य यह है कि ये सब नैतिक ख़ूबियाँ अच्छी हैं और इनका न होना बुराई है। परन्तु ये उसी समाजिक अवस्था में अच्छी हो सकती हैं जब इन पर आचरण करनेवाले लोगों में सामाजिक जीवन विद्यमान हो और सामाजिक जीवन का अर्थ है शक्ति। सामाजिक या सांघिक निर्बलता वह बुराई है जो राष्ट्र के सभी उच्च गुणों को बुरा बना देती है। चलना, फिरना, सैर करना, अच्छा खाना और व्यायाम करना शारीरिक शक्ति बढ़ाने के लिए बहुत अच्छे हैं। परन्तु जब शरीर में निर्बलता आ जाती है तब ये सभी बातें शरीर के लिए हानिकारक और घातक सिद्ध होती हैं। शारीरिक शक्ति होने पर यदि कोई मनुष्य इनमें से किसी पर आचरण न करे तो उसका गुज़ारा हो सकता है। इसी प्रकार जिन लोगों के अंदर सामाजिक या सांघिक शक्ति पाई जाती है उनमें नैतिक गुण न भी हों तो भी वे, कम से कम कुछ

समय के लिए, संपन्न एवं सुखी हो सकते हैं। परन्तु निर्बल के लिए तो इस संसार में कोई स्थान ही नहीं।

हिंदुओं में सामाजिक जीवन प्रायः लुप्त हो चुका था। बौद्ध और जैन मतों के त्याग तथा अहिंसा-भाव ने इनके अंदर उच्च गुण उत्पन्न कर दिये थे। परंतु साथ ही जातीयता या राष्ट्र-भावना को कुचल दिया गया। वैदिक-काल के हिंदू ईश्वर से सांसारिक संपत्ति के सभी साधनों के लिए प्रार्थना किया करते थे। वैदिक प्रार्थनाएँ हिंदू-समाज की सामूहिक मनोकामनाएँ थीं और उनका उद्देश हिंदुओं के सामने उस आदर्श को सतत बनाये रखना था जिसके लिए उन्हें प्रयत्न करना चाहिए। इन प्रार्थनाओं में परमेश्वर से स्वतंत्रता, विजय, साम्राज्य, पुत्र, धन, घोड़े, हाथी और गौएँ माँगी गई हैं। इनसे भी बढ़कर शत्रुओं के विनाश के लिए अपने अंदर बल माँगा गया है। आर्यों को परमेश्वर से ये गुण तथा चीजें माँगने में शरम न आती थी। परन्तु ऐसा समय आया जब बौद्ध मत और वेदांत की शिक्षा का प्रभुत्व हो गया। तब हिंदू इस संसार से इतनी घृणा करने लगे कि उन्हें परमेश्वर से सांसारिक चीजें माँगने और उनके लिए प्रयत्न करने में शरम अनुभव करने लगे। नव पंथों की शिक्षा का प्रभाव यह था कि वीरता, साहस, पौरुष तथा उद्यम के बजाय हर समय केवल त्याग, अहिंसा और धैर्य का ही ध्यान रहने लगा। पहले गुण सामाजिक या सांघिक शक्ति का विकास करते थे। यदि हिंदुओं में सामाजिक संगठन होता तो वे स्वयं बच जाते और अपने धर्म तथा गुणों को भी बचा लेते। संगठन न होने के कारण ये गुण उनको न बचा सके। उनके आक्रमण-कारियों में ये गुण न थे। परन्तु मज़हब पर अंधविश्वास ने उनमें ऐसा संगठन उत्पन्न कर दिया था कि इस अकेली शक्ति के

कारण उन्होंने समस्त भारत को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और हिंदुओं के सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक जीवन में विचित्र क्रांतियाँ पैदा कर दीं।

प्रतिक्रिया—लोहार की भट्ठी में आहरन गड़ा होता है। सारा दिन उस पर हथौड़े की चोटें पड़ती रहती हैं। चोटें सहते दिन, महीने और वर्ष गुज़र जाते हैं। इससे हमें एक शिक्षा तो यह मिलती है कि आहरन बना रहता है, परंतु उस पर चोटें करनेवाले कई हथौड़े टूट जाते हैं। हिंदू भी आहरन के समान हथौड़े की चोटें सहते रहे। वे सदियों तक पड़ती रहीं। कई हथौड़े टूट गये, परंतु आहरन अपनी जगह पर बराबर क़ायम रहा।

यह कैसे होता है? हर बार जब आहरन पर हथौड़े की चोट पड़ती है तब आहरन की ओर से भी एक प्रकार की प्रति-क्रिया होती है जो हथौड़े को पीछे हटा देती है। जातियों के इतिहास में भी ऐसा ही देखा जाता है। जब एक जाति की दूसरी से रगड़ होती है तो उनका एक-दूसरे पर असर हुए बग़ैर नहीं रह सकता। एक दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि मुसलमानी शासन की कथा हिंदू-इतिहास में ऐसी ही है जैसे समुद्र के पानी पर तैरता हुआ तेल।

फिर भी यह मानना पड़ता है कि विदेशी आक्रमणों की आँधी और तूफ़ान का हिंदुओं पर बड़ा प्रभाव हुआ। आक्रमण-कारियों में संगठन था। इसलिए जब पहले आक्रमणों का ज़ोर कम हो गया और अचानक घबराये हुए हिंदू इन हमलों के आदी हो गये तब उनमें वह नई धार्मिक लहर उत्पन्न हो गई जिसे हम इस रगड़ का परिणाम कह सकते हैं। इस धार्मिक जीवन को उत्पन्न करनेवाले कई आन्दोलन थे। गोरखनाथ ने

कनफटे जोगियों का संप्रदाय निकाला जिसका उद्देश अपने अंदर योग-बल पैदा करके हिंदू समाज में धर्म-बल को बनाये रखना था। रामानंद ने बैरागी साधुओं का संप्रदाय चलाया जिसका उद्देश यह था कि व्यक्तिगत भक्ति के स्थान में समाज के रूप में राम की उपासना की जाय। रामानन्द के बाद बनारस में ही कबीर ने हिन्दुओं में एकता का प्रचार किया। बंगाल में चैतन्य ने इसी आदर्श को लेकर श्रीकृष्ण की भक्ति के द्वारा हिन्दुओं को जागृत किया। गोस्वामी तुलसीदास ने हिन्दी में वह 'रामचरित-मानस' लिखा जिसके प्रत्येक शब्द से श्रीराम की अगाध भक्ति की सुगंध आती है और जिसने गोस्वामीजी का नाम अमर करके हिंदी भाषा का पद बहुत ऊँचा कर दिया। गुजरात में वल्लभाचार्य ने दुनिया के भोगों को उचित स्थान देते हुए श्रीकृष्ण-चरित की पूजा को सबसे ऊँचा आदर्श बताया। महाराष्ट्र में समर्थ रामदास ने राष्ट्र-धर्म का प्रसार करते हुए उस महान् राष्ट्रीय आंदोलन का बीजारोपण किया जिसका फल हम महाराज शिवाजी के सत्कार्यों तथा हिंदू-साम्राज्य के उत्कर्ष में देखते हैं। समर्थ रामदास ने समस्त देश में भ्रमण किया और सर्वत्र विशुद्ध देशभक्ति की ज्योति जलाई। उनके विचारों ने महाराज शिवाजी को राष्ट्र-रक्षक बना दिया। जातीयता, धर्म एवं संस्कृति का प्रेम शिवाजी के शिक्षा-गुरु दादाजी और माता में ऐसा था कि उन्होंने बाल्यकाल से ही शिवाजी को महान् कार्य के लिए तैयार किया। माता ने बताया—"देवी ने सपने में मुझे संकेत किया है कि शिवाजी बड़े राज्य का स्वामी और हिंदू-धर्म रक्षक होगा।" दादाजी ने मरते समय यह सीख दी—"गो-ब्राह्मण का संरक्षण तथा हिंदू-धर्म का मान सदा बनाये रखो!"

गुरु नानक का आंदोलन—पंजाब में गुरु नानक का

आंदोलन उस महान् जागरण का एक भाग है जो कुछ समय से हिंदू-जाति में उत्पन्न हो रहा था। इनके धार्मिक सुधार में सिख-मत का बीज था। सिख-मत की शिक्षा देखकर कुछ लेखकों ने यह सम्मति प्रकट की है कि वे हिंदुओं और मुसलमानों के मजहबों को मिलाकर नया मत बनाना चाहते थे। यह बात एक बड़ी भूल पर आश्रित है। जैसा कि पहले कहा गया है हिंदुओं पर इसलाम का बड़ा प्रभाव हुआ और सिख-मत एक दृष्टि से उसका एक फल था। शायद यह कहना भी ठीक होगा कि यदि भारत पर इसलामी आक्रमण न होते तो गुरु नानक के आंदोलन के खड़े होने की कोई संभावना न होती। संसार का समस्त इतिहास ऐसी शृंखला में बँधा हुआ है कि एक घटना का दूसरी के साथ घनिष्ट सम्बन्ध पाया जाता है। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं हो सकता कि नानक इसलाम से कुछ भी लेना चाहते थे। नानक के आंदोलन का इसलाम के साथ जो सम्बन्ध है वह नानक के उत्तराधिकारियों में स्वयमेव अच्छी तरह प्रकट हो जाता है। नानक कोई नया महजब नहीं चलाना चाहते थे। उनके मन में हिंदू-जाति तथा धर्म को बचाने का ही विचार था। इसी कारण उन्होंने हिन्दू धर्म को रूढ़ियों से पृथक् करके उसमें सुधार जारी किया। उन्हें अपने कार्य का जारी रखना बहुत आवश्यक प्रतीत हुआ। इसी लिए उन्होंने अपने स्थान में ऐसा उत्तराधिकारी नियुक्त करना जरूरी समझा जो उनके काम को जारी रख सके।

पंजाब के इतिहास में सदियों तक हमें न कोई बड़ा राजा दिखाई देता है न कोई महापुरुष। इसी कारण गुरु नानक की तरफ सारे पंजाब की आँखें लग गईं। पंजाब का अगला इतिहास गुरु नानक के आंदोलन से आरंभ होता है। इस आंदोलन की वजह से पंजाब के हिन्दुओं के जीवन ने पलटा खाया।

कोई नहीं कह सकता कि इस आंदोलन के बगैर पंजाब का भविष्य कैसा होता। एक हजार वर्ष की आँधी के बाद हमें इस आंदोलन में वह रेखा दिखाई देती है जिससे उस युग का इतिहास बनता है। इसी का फल गुरु हरगोविंदसिंह हुए। इसी का फल गुरु गोविंद हुए। इसी का फल वीर बैरागी हुए। इसी का परिणाम खालसा का उत्कर्ष और महाराज रणजीतसिंह का साम्राज्य हुआ जिसने पंजाब को फिर उन्हीं सीमाओं तक पहुँचा दिया जहाँ तक यह वैदिक तथा चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में फैला हुआ था।

सिखों का उत्कर्ष पंजाब के इतिहास में एक बड़ा चमत्कार है। हमने देखा है कि बराबर नौ सौ वर्ष तक उत्तर-पश्चिम से पंजाब पर आक्रमण होते रहे। इन हमलों की लहर ऐसे मालूम देती है जैसे एक बड़ी भारी नदी सदियों से ऊपर से नीचे बहती हुई चली आती है। इस नदी को बंद बाँधकर रोक देना ही चमत्कार से कम नहीं। परन्तु हम देखते हैं कि इसे न सिर्फ रोक दिया गया वरन् पंजाब में एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हुई जो इस नदी का मुँह फेरकर इसे नीचे से ऊपर ले गई। वह दरिया जो पहले उत्तर-पश्चिम से पंजाब को बहता था अब पंजाब से उत्तर-पश्चिम को बहने लगा। महाराज रणजीतसिंह के सेनानायकों के आक्रमण वह शक्ति प्रकट करते हैं जिसने इस नदी का रुख पलट दिया। आजकल युद्ध के दिनों में इंजीनियर आवश्यकता के अनुसार कभी-कभी छोटी-मोटी नदियों के रास्ते बदल देते हैं ताकि शत्रु उनसे लाभ न उठा सके बल्कि शत्रु को धोखा हो। इसे नदी की 'आदत' बदलना कहते हैं। परन्तु पंजाब के राजनीतिक इतिहास में ऐसी बात पहले कभी न सुनी गई थी।

प्रश्न यह है—इस चमत्कार को उत्पन्न करनेवाली गुप्त शक्ति कहाँ से आई? इसका उत्तर गुरु गोविंदसिंह के शब्दों में मिलता है—

"सवा लाख से एक लड़ाऊँ,
चिड़ियों से मैं बाज मराऊँ,
तभी नाम गोविन्दसिंह पाऊँ।"

विदेशी आक्रमणकारी पंजाब के हिन्दुओं को तो चिड़ियाँ समझते थे और अपने आपको बाज। वे ख़याल करते थे कि जैसे बाज चिड़ियों को मारकर खा जाता है ऐसे ही वे हिन्दुओं को लूटकर, मारकर, अपमानित कर हड़प कर सकते हैं। गुरु गोविन्दसिंह के हृदय पर इससे चोट लगी। उन्होंने उत्तर दिया—"मैं तभी गोविन्दसिंह कहलाऊँगा जब इन चिड़ियों में वह शक्ति उत्पन्न कर दूँगा जिससे ये बाजों को मारकर उन्हें खाने लग जायँगी। साथ ही एक चिड़िया में ऐसी शक्ति होगी कि वह सवा लाख विरोधियों पर विजय प्राप्त कर सके।" गुरु गोविन्दसिंह ने अपने जीवन-काल में ही यह वचन पूरा कर दिखलाया। उनके वचन पर पूरा-पूरा आचरण वीर बैरागी और महाराज रणजीतसिंह के काल में हुआ।

गुरु गोविन्दसिंह ने क्षत्रियों की एक नई श्रेणी खड़ी कर दी जिसे उन्होंने शिष्य या सिख से सिंह बना दिया। खालसा-पंथ में इस समय वह धार्मिक संगठन पाया जाता है जिससे अपने आपको बाज कहनेवालों का संगठन तोड़ा जा सकता है। गुरु गोविन्दसिंह की इस शक्ति की नींव में वह त्याग-भावना थी जिसका प्रमाण उन्होंने अपने शिष्यों से दुर्गा-पूजा के समय देवी को प्रसन्न करने के लिए माँगा।

गुरुओं के समय पंजाब में धीरे-धीरे दुर्गा की पूजा होने लग गई थी। जनसाधारण दुर्गा को विशेष देवी समझते थे। परन्तु बुद्धिमान दुर्गा का रूप उस शक्ति में देखने लगे जो हाथ में नंगी तलवार लिये शेर की सवारी करती और उसे अपने

वश में रखती है। दुर्गा युद्ध की अधिष्ठात्री देवी है। मरते हुए राष्ट्र में जीवन-संचार करने की जरूरत हो तो उसे दुर्गा की पूजा सिखला देने से वह उठकर खड़ा हो जाता है। दुर्गा की पूजा केवल मंत्र-जाप से नहीं हो सकती। उसे प्रसन्न करने के लिए यज्ञ करना आवश्यक होता है। यज्ञ भी वह जिसमें मनुष्य अपने ही सिर की बलि दे। सम्भवतः इस विचार को लेकर पूर्वकाल में यज्ञों के अंदर पशुओं की बलि देने का रिवाज चल पड़ा। इससे पहले कि लोग अन्य पशुओं का बलिदान करें, दुर्गा का यज्ञ तभी सफल हो सकता है जब मनुष्य उसकी पूजा के लिए अपने आपका बलिदान करने पर तैयार हो। गुरु गोविन्दसिंह ने वह यज्ञ किया और सच्चे बलिदान का रिवाज डालकर सच्चे क्षत्रिय निर्माण किये। पहले 'पाँच प्यारे' चार अछूत और एक खत्री था। क्षत्रिय बनने पर जब यज्ञोपवीत की आवश्यकता हुई तो गुरु ने उनको तलवार का जनेऊ पहनने की आज्ञा दी।

मजहबी स्वतन्त्रता—यह बात प्रसिद्ध है कि "सभी धार्मिक आन्दोलन वास्तव में राजनीतिक आन्दोलन हुआ करते हैं।" यों भी यदि ध्यान से देखा जाय तो मजहब और राजनीति को एक दूसरे से अलग करना बहुत कठिन है। इसलाम तो शुरू से ही राजनीतिक आंदोलन था। खलीफा मुस्लिम संसार का राजा था और वही मजहबी दुनिया का प्रधान। परन्तु किसी मजहबी आंदोलन का राजनीतिक रूप ग्रहण कर लेना इतिहास में साधारण बात है। योरप के मजहबी सुधार के आंदोलन (रिफार्मेशन) ने योरप के देशों में राजनीतिक स्वतंत्रता का बीज फैलाया। इँगलैंड का सुधार-आंदोलन (प्यूरिटेनिक मूवमेंट) बिलकुल मजहबी था; परन्तु अमेरिका का प्रजातंत्र इसी का एक परिणाम था।

जहाँ कहीं राजनीतिक दबाव बहुत ज़ोर का होता है वहीं उसको हटाने के लिए बड़ी धारणाशक्ति और बलवान आत्मा की आवश्यकता होती है। ये दोनों गुण ऊँची आध्यात्मिक शिक्षा के द्वारा प्राप्त होते हैं और यह शिक्षा धर्म की सहायता से ही दी जा सकती है। आध्यात्मिक शक्ति-वाले मनुष्य भी राजनीतिक स्वतंत्रता के क्षेत्र में काम कर सकते हैं। जिस मज़हबी आंदोलन में ऐसे आदमी विद्यमान होते हैं वह अवसर आने पर राजनीतिक रूप ग्रहण कर लेता है; और जो मज़हबी आंदोलन ऐसे मनुष्य नहीं पैदा कर सकता वह मज़हबी दृष्टि से भी जीवित नहीं रहता।

भारत में धर्म और राजनीति आरम्भ से ही एक चले आते हैं। राजनीति क्षत्रियों के राज-धर्म का दूसरा नाम है। वेद में कहा गया है कि यदि क्षत्रिय न हो तो धर्म नहीं रह सकता और जहाँ राज-धर्म नहीं वहाँ क्षत्रिय कैसे हो सकते हैं? भगवद्गीता में मज़हब और राजनीति एक करके दिखलाये गये हैं। भगवद्गीता का अध्ययन करके यदि कोई हिंदू यह नहीं समझता कि राजनीति में ही आध्यात्मिक ज्ञान की जड़ पाई जाती है तो उसने या तो भगवद्गीता को पढ़ा नहीं या उसका पढ़ना अकारथ गया है। जो मज़हबी आंदोलन हिंदुओं को राजनीति से अलग रखना चाहता है उसने हिन्दू-धर्म का सार समझा ही नहीं।

पंजाब में हिन्दू चिरकालिक मुसलमानी शासन के कारण ऐसे दब गये थे कि प्रतिरोध-शक्ति उनसे निकल गई। प्रतिरोध-शक्ति में ही जीवन पाया जाता है। विदेशी अत्याचार और जब्र के कारण पंजाब में मेहनत-मजदूरी और खेती करनेवाले हिंदू पतित होकर मुसलमान हो चुके थे। हिंदू-मंदिर मिट्टी में मिला दिये गये थे। पाठशालाओं और विद्यापीठों के स्थान में

मस्जिदें और मकतब बना दिये गये थे। हिन्दू जनसाधारण में धर्म का प्रायः लोप हो चुका था। इसका स्थान मिथ्याचार और दंभ ने ले लिया था। शिक्षा का दर्जा कम हो गया था। ब्राह्मण भी बाह्य आडम्बर को बहुत महत्व देते थे। परकीय आक्रमणों से अपने अस्तित्व को बचाने का तरीका उन्हें एक ही सूझा। जात-पाँत को उन्होंने एक सुरक्षित दुर्ग समझा और अपने आपको उस में बन्द करके बिरादरियों में ऐसे नियम चलाये कि लोगों पर उनका प्रति क्षण भय छाया रहता। यदि किसी से जरा सा कुसूर हो जाता तो उसे बिरादरी से निकाल देने की धमकी दी जाती। इस भय ने हिन्दुओं को आत्मरक्षा में सहायता तो दी, परन्तु साथ ही इसने वास्तविक जातीयता को कुचल कर सच्ची राष्ट्रीय भावना के जन्म को रोक दिया। इन शताब्दियों में यह जात पाँत जो धीरे धीरे हिन्दू समाज में विशेष रूप ग्रहण कर रही थी, हिन्दू धर्म का एक आवश्यक अंग बन गई।

गुरु नानक—पंजाब में चारों ओर अज्ञानता और अन्धकार था जब लाहौर के निकट तलवंडी में १४६६ में कालू खत्री के घर में नानक का जन्म हुआ। वह गाँव का पटवारी था। पिता ने लड़के को मकतब में पढ़ने के लिए भेजा, परन्तु उसने इस तरफ ध्यान न दिया। जवानी में साहूकारा में भी मन न लगा। सबसे बड़ा काम हिन्दुओं को उठाना दिखाई देता था। इसका रास्ता नानक को यही नजर आया कि उन्हें मिथ्याचार से मुक्त कर सच्चे परमेश्वर की भक्ति की ओर ले जायँ। मजहबी स्वतन्त्रता में उन्हें हिन्दुओं की मुक्ति दिखाई दी। जहाँ पर नानक ने इस बात की आवश्यकता अनुभव की कि राजनीतिक अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाई जाय वहाँ

पर इससे पहले उन्होंने यह आवश्यक समझा कि मिथ्याचारी पंडितों और मुल्लाओं के फंदे से हिन्दुओं को निकाला जाय। सामान्य बुद्धि या विवेक ही नानक का पथप्रदर्शक था। यही उनकी शिक्षा का आधार था। उन्होंने किसी ग्रन्थ का आश्रय न लिया और न ही किसी समकालीन महापुरुष को समक्ष रखकर अपनी शिक्षा आरम्भ की। लोगों को समझाने के लिए उन्होंने ऐसे तर्क का प्रयोग किया जो जन साधारण की समझ में आ सकता था। इस शिक्षा को समझकर ही लोग मज़हबी स्वतन्त्रता के पथ पर चलने के योग्य बन सकते थे। नानक सत्तर वर्ष तक जीवित रहे। समस्त देश तथा उससे बाहर अरब आदि में भी उन्होंने अपने विचारों का प्रचार किया। जीवन के अंतिम दिनों में वे करतारपुर में रहने लगे। इस गाँव की स्वयं उन्होंने नींव रखी। यहाँ प्रचारार्थ एक धर्मशाला बनवाई। जहाँ पञ्जाब के विभिन्न भागों से लोग एकत्र हुआ करते।

सन् १५३८ में गुरु नानक परलोक सिधारे। मृत्यु से पूर्व हजारों मनुष्यों के जीवन में उन्होंने परिवर्तन उत्पन्न कर दिया। पञ्जाब में उन्होंने विचारों का एक नया वातावरण निर्माण किया जिसके अन्दर रहते हुए पञ्जाब के हिन्दू अपने आप को ऊँचा और बेहतर अनुभव किये बग़ैर न रह सकते थे। नानक ने बीज बो दिया। वह अच्छी भूमि में बोया गया था। उनके उत्तराधिकारियों के काम में वह एक महान् वट वृक्ष बन गया।

पञ्जाब आर्यों का आदि देश है, यह हमने देखा है। हमने यह भी देखा है कि इतने विदेशी आक्रमण होने पर भी पञ्जाब में आर्य नसल का रक्त शुद्ध चला आता है। फिर जब दुनियाँ अँधेरे में थी तब पञ्जाब के ब्रह्मतेजधारी आर्य हिन्दुओं ने

संस्कृति का प्रकाश पुरानी दुनियाँ में फैलाया। बौद्धकाल में काश्मीर और पञ्जाब के हिन्दुओं ने चीन आदि देशों में संस्कृति का प्रचार करने में विशेष भाग लिया। अब जब कि हजारों वर्षों के परिवर्तन के पश्चात् हिन्दू जाति मृतप्राय:-सी थी, पञ्जाब के खत्रियों में से एक महान् नेता उत्पन्न हुए जिनके काम का मान देखकर हमें आश्चर्य होता है कि किस प्रकार अन्धकार तथा पतन के युग में भी साधारण अशिक्षित लोगों में से इतने उच्च कोटि के उदात्त तथा प्रखर बुद्धिवाले पुरुष उत्पन्न हो सके हैं। गुरु नानक का बड़प्पन इसमें पाया जाता है कि उन्होंने अपने जीवन में गृहस्थ और सन्यास या त्याग को मिला दिया। वे गृहस्थ थे। उनके समक्ष महाराज जनक का यह प्राचीन आदर्श था कि मनुष्य कमल के पत्ते की तरह गृहस्थ में रहते हुए दिल से संसार का त्याग कर सकता है। उन्होंने अपना उदाहरण लोगों के सामने रखकर संसारी मनुष्यों के जीवन को उच्च बनाने का यत्न किया। उनके उदाहरण का इससे बढ़ कर और क्या प्रभाव हो सकता है कि उनके उत्तराधिकारियों ने भी गृहस्थ रहते हुए अपने अन्दर इतनी श्रेष्ठ आध्यात्मिक शक्ति का विकास किया।

श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द गुरु नानक के दो पुत्र थे। दोनों में गुरु नानक के गुण पृथक्-पृथक् हो गये। लक्ष्मीचन्द ने दो ब्याह करके सांसारिकता अपने हिस्से में ले ली। श्रीचन्द सांसारिकता को तिलांजली देकर साधु बन गये। उन्होंने उदासी पन्थ की नींव रखी। श्रीचन्द का तप तथा त्याग इतना प्रबल था कि उनके जीवन में ही उदासी पन्थ ने बहुत उन्नति की।

गुरु अंगद—गुरु नानकने अपने काम को जारी रखने के

लिए अपने शिष्य और सच्चे भक्त लहणा खत्री का चुनाव किया। इनकी योग्यता का सब से बड़ा प्रमाण जीवन की शुद्धता तथा श्रद्धा में पाया जाता है। लहणा ने अपना नाम अंगद रख लिया, अर्थात् वे अपने आपको गुरु नानक के शरीर का एक अंग समझते थे। गुरु अंगद को भी यह अनुभूति हुई कि उनका प्रचार तभी चिर स्थायी हो सकता है जब अपने पीछे चलने वालों की एक विशेष श्रेणी तैयार की जाय। ऐसी सुदृढ़ श्रेणी के बगैर यह संभव था कि गुरु नानक का काम यों ही हवा में उड़ जाता।

ऐसे श्रेणी का निर्माण करने के लिए गुरु अंगद ने अपने अनुयायियों के वास्ते तीन बातें जारी कीं। पहली तो गुरुमुखी लिपि थी। पंजाब में साधारण हिंदू उस समय अनपढ़ थे। जो कोई विदेशी तथा मुसलमानी सरकार की छोटी-मोटी नौकरी करना चाहता उसे मकतब में फारसी पढ़नी होती थी। जो ब्रह्म-विद्या प्राप्त करना चाहता उसे आरंभ में संस्कृत-व्याकरण सीखना पड़ता। आम बोलचाल की पंजाबी बोली में कोई पुस्तक न थी। न ही लोगों में पढ़ने की प्रवृत्ति पाई जाती थी। विचारों को लेखनी-बद्ध करने के लिए एक भाषा का होना आवश्यक है। हिन्दी अभी उस अवस्था को न पहुँची थी कि समस्त देश की भाषा बन सकती। भारत के विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न प्राकृतें बोली जाती थीं। पंजाबी एक प्रकार से प्रांतीय बोली बन चुकी थी। ब्राह्मण लोग देवनागरी को पवित्र समझते थे। जन-साधारण को एक तरह से संस्कृत पढ़ने की इजाज़त न थी। ऐसी स्थिति में अपने आन्दोलन के लिए स्थायी साहित्य की आवश्यकता अनुभव करके गुरु अंगद ने देवनागरी अक्षरों में साधारण से परिवर्तन करके गुरुमुखी अक्षर बना लिये ताकि वह पंजाब के आम लोगों की

भाषा के लिए विशेष लिपि बन जावे। इसका नाम गुरुमुखी इस लिये रखा गया कि यह गुरु के शिष्यों के लिए तैयार की गई थी। तब जो आदमी गुरुमुखी का प्रयोग करते वे गुरु के श्रद्धालु बन जाते।

दूसरी बात विशेष साहित्य तैयार करना था। गुरु नानक के सारे प्रवास तथा यात्राओं में बाला उनके साथ रहा था। गुरु अंगद ने बाला से गुरु नानक की सभी बातें तथा कथाएं सुनी और उनको लेखनी-बद्ध कर दिया। गुरु-नानक कवि थे। उनके वचन अधिकतर पद्य में थे। इनको एकत्र करके वचन-संग्रह बनाया गया। यह पंजाबी भाषा की सब से पहली पुस्तक थी। सिखों के लिए यह धर्म-पुस्तक बन गई।

तीसरी बात गुरु अंगद ने यह की: अपने डेरे के साथ खुले लंगर का प्रबन्ध कर दिया। इसमें जो हिंदू चाहता भोजन कर सकता था। लंगर प्रचार का बड़ा साधन था। इस के कारण सिखों ने दान देना अपना कर्त्तव्य समझा। लंगर से एक बड़ा लाभ यह हुआ कि क्रियात्मक रूप से खाने-पीने के बंधन टूट गये क्योंकि इसमें निर्धन-धनवान् शूद्र-ब्राह्मण बिना किसी भेदभाव के एक साथ बैठकर खा सकते थे।

गुरु अमरदास—गुरु अंगद ने अपने स्थान पर अपने एक शिष्य को नियुक्त करने की ठानी। अंगद बहुत बुड्ढे थे। उनके एक शिष्य, अमरदास, भी उम्र में बड़े थे। फिर भी वे गुरु के स्नान के लिए हर रोज़ प्रातः पानी का घड़ा भर कर लाते। एक दिन वे अँधेरे में घड़ा उठाये आ रहे थे कि पड़ोसी जुलाहे के मकान से गुज़रना पड़ा। कपड़ा बुनने वाली खड्डी के पास उनका पाँव फिसल गया और वे गिर पड़े। जुलाहा चौंक उठा—"कौन है?" जुलाही बोली—"वही न-खसमा अमरू

होगा; और कौन होगा ?" यह बात गुरु अंगद के कानों तक पहुँच गई। बस इसके बाद उन्होंने अमरदास को अपना उत्तराधिकारी बना दिया।

गुरु अमरदास को गद्दी पर बैठते ही एक मुश्किल का सामना करना पड़ा। उस समय कई लोगों को यह खयाल हुआ कि श्रीचंद को नानक की गद्दी पर बिठलाया जाय। तपस्या के कारण श्रीचंद के चेले बढ़ रहे थे। सब साधु होने के कारण वे इस बात पर जोर देने लगे कि गद्दी पर किसी त्यागी को बैठना चाहिये। सिख संप्रदाय के लिए यह परीक्षा का पहला अवसर था। गुरु अमरदास इस समय सच्चे नेता सिद्ध हुए। उन्होंने लोगों को समझाया कि गुरु नानक का मार्ग इस प्रकार के संन्यास या त्याग का नहीं था। उन्होंने तो बीच का सुन्दर स्वर्ण-पथ चुना था जिससे मनुष्य संसार में रहते हुए भी दुनियाँ का ग़ुलाम नहीं बनता। गुरु नानक के मन में संसार के लिए घृणा न थी। वे तो सांसारिक जीवन को पूर्ण करना चाहते थे ताकि लोगों का लोक भी सुधर सके और परलोक भी। इस प्रकार गुरु अमरदास ने अपनी बुद्धिमत्ता से सिख-पंथ को साधुओं का संप्रदाय बनने से बचा लिया। उनकी सफलता का एक कारण यह भी था कि सच्चे सन्यासी होने के कारण श्रीचंद सांसारिक झगड़ों में न पड़ना चाहते थे। इसी समय से उदासी साधु सिख-संप्रदाय से पृथक् हो गये।

गुरु अमरदास के समय में सिखों की संख्या बहुत बढ़ गई। इसी कारण उनको नियमित संगठन में लाने के लिए गुरु ने सारे प्रदेश को बाईस भागों या 'मंजों' (पंजाबी में मंजा चारपाई को कहते हैं) में विभक्त कर दिया। हर एक

भाग में एक प्रचारक काम करता था जो चारपाई या मंजे को गद्दी के रूप में इस्तेमाल करता।

गुरु अमरदास ने ब्यास के तट पर गोंदवाल-नाम का गाँव बसाया और यहाँ चौरासी सीढ़ियों वाली एक बावली बनवाई। सिक्खों के लिए यह पहला तीर्थ हुआ। कहते हैं जब इस बावली की सीढ़ियाँ बन रही थीं तब अकबर ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया। लाहौर के सूबेदार मिर्जा जाफरबेग का बेटा सेना लेकर चित्तौड़ गया हुआ था। उसने अकबर से गुरु की बहुत प्रशंसा की। अकबर ने सरहिंद के खत्री भगवानदास को गुरु के पास भेजा ताकि वे चित्तौड़ के सम्बन्ध में अकबर की सफलता के लिए परमेश्वर से प्रार्थना करें। गुरु की प्रसिद्धि पहाड़ी राजाओं में भी फैल चुकी थी। परन्तु इनका मान उस समय बहुत ज्यादा बढ़ गया जब स्वयं अकबर ने गुरु के पास आकर मैत्री प्रकट की। गुरु अमरदास की मृत्यु के पश्चात् अकबर गुरु रामदास से भी मिलने आया और उनका भी वैसा ही मान करता रहा।

अकबर की भेंट से गुरु अमरदास को दो तरह से लाभ हुआ। मुगल बादशाह के आने से जन-साधारण में गुरु का पद बहुत ऊँचा हो गया। इससे धनवान भी गुरु के शिष्य बनने शुरू हो गये। दूसरे, इस मैत्री से फ़ायदा उठा कर गुरु ने लोगों पर अत्याचार कम कराने का यत्न किया। एक मौके पर गुरु अमरदास बहुत से यात्रियों के साथ हरिद्वार जा रहे थे। उन सब को रोक लिया गया कि प्रत्येक यात्री सवा रुपया बतौर टैक्स अदा करे। गुरु ने यह कर देने से इनकार कर दिया। जब यह समाचार बड़े राज-कर्मचारियों को मिला तो उन्होंने यह कर सदा के लिये हटा दिया।

एक अन्य बात के द्वारा भी गुरु अमरदास ने अपने संप्रदाय को अधिक संगठित कर दिया। गुरुआई को अपने वंश में पैतृक बना कर उन्होंने इसे गद्दी के झगड़ों से सदा के लिये बचा लिया। इसके पैतृक बन जाने की कथा बहुत मनोरंजक है। गोंदवाल में प्रति वर्ष सिखों की 'संगत' या समूह आया करता था। एक बार संगत के कुछ आदमी लाहौर से गुजर कर गोंदवाल जा रहे थे। उन्हें घुँघनियाँ बेचने वाला एक लड़का रामदास मिला। वह भी उनके साथ जाने पर तैयार हो गया। गुरु अमरदास की लड़की ब्याह के योग्य हो चुकी थी और वे लड़की के लिये वर की खोज में थे। गुरु-पत्नी की नजर लड़के रामदास पर पड़ी तो उसने पति से कहा—"यदि हमें कोई ऐसा लड़का मिल जाय तो क्या ही अच्छा हो ?" गुरु बोले—"अच्छा, यही सही।" उन्होंने रामदास से अपनी पुत्री का ब्याह कर दिया।

गुरु रामदास—रामदास ऐसे गुरु-भक्त और धर्म-प्रेमी सिद्ध हुये कि गुरु ने अपने पीछे इन्हें गद्दी के लिये तजवीज किया। गुरु-पुत्र, मोहन, दिन-रात योग-साधन में मगन रहता। गुरु की वृद्ध अवस्था में सेवा करनेवाली उनकी लड़की ही थी। एक दिन लकड़ी की चौकी पर बैठ कर गुरु स्नान कर रहे थे कि चौकी का एक पाया टूट गया। अपना हाथ उस के स्थान में रख कर लड़की उन्हें स्नान कराती रही। चौकी की कील लड़की के हाथ में घुस जाने से रक्त की धारा बह निकली। जब गुरु ने पानी में रक्त मिला हुआ देखा तो चकित हो कर पूछा—"क्या बात है ?" लड़की ने शांति से उत्तर दिया—"कुछ नहीं।" जब गुरु को सारी घटना मालूम हुई तो प्रेम के वश में होकर पूछा—"माँगो, क्या चाहती हो ?" लड़की ने कहा—"गद्दी को



श्री सद्गुरु रामसिंहजी महाराज

मेरी संतान के लिए पैतृक बना दिया जाय।" गुरु वचन दे चुके थे। पीछे हटना सम्भव न था। गद्दी रामदास और उनकी संतति के लिए निश्चित हो गई। इससे गुरु का पद सांसारिक दृष्टि से भी बढ़ गया।

गुरु रामदास ने गद्दी पर बैठते ही अमृतसर-नगर की नीव रखी। जहाँ पर आजकल अमृतसर है वहाँ पहले पानी का एक कच्चा पोखरा था। कहते हैं यह स्थान गुरु नानक को बहुत पसंद था। इस पोखरे के किनारे गुरु रामदास ने अपने लिए एक झोंपड़ी बना ली और १५७७ में तुंग के जमींदारों को ७०० अकबरी रुपये देकर ५०० बीघे जमीन खरीद ली। धीरे-धीरे यह पोखरा प्रसिद्ध होने लगा। कई सिक्खों ने भी यहाँ आकर रहना आरम्भ कर दिया। गुरु ने इसका नाम रामदासपुर या गुरु का चक रख दिया और पोखरे को बेहतर बना कर तालाब का रूप दे दिया। यह स्थान सारे इलाके की हिन्दू जमींदार आबादी का केंद्र था। इस कारण जमींदार यहाँ आकर गुरु के अनुयायी बनने लगे। इस प्रकार सिक्ख संप्रदाय में नव शक्ति आने लगी।

एक बार अकबर बड़ी-सी सेना लेकर लाहौर में एक वर्ष तक ठहरा। सभी खाद्य पदार्थ फौजी खा जाते। विभिन्न चीजों के भाव चढ़ गये। बेचारे जमींदारों को अन्न न मिलने से बहुत ज्यादा कष्ट उठाना पड़ा। गुरु ने देख लिया कि अकबर के ससैन्य चले जाने पर कीमतें गिर जायँगी और ऋणी जमींदार और भी कष्ट में पड़ जायँगे। गुरु से अकबर की मैत्री तो थी ही। जब अकबर गुरु से मिलने आया तो वापसी पर उसने पूछा—"क्या मैं आपकी कोई सेवा कर सकता हूँ?" गुरु ने गरीबों की करुण कथा अकबर के सामने रखकर कहा—"अब की लोगों से एक साल का

लगान न लिया जाय।" ऐसा ही हुआ। लोग आने वाली मुसीबत से बच गये। इससे माझा और मालवा के इलाके के जमींदारों में गुरु का जोर इतना बढ़ा कि वे सभी गुरु के अनुयायी हो गये। यही लोग थे जिन्होंने गुरु गोविंदसिंह के काल में सिखों को एक जंगी शक्ति बना दिया।

गुरु अर्जुन—गुरु रामदास के बाद उनके सुपुत्र गुरु अर्जुन गद्दी पर बैठे। ये ज्ञानी और वीर ही नहीं प्रत्युत् बड़े प्रबंधक तथा राजनीतिज्ञ भी थे। गुरु ने सब से पहले सिखों के लिए धार्मिक ग्रंथ की आवश्यकता अनुभव की। इस समय तक बाला की बनाई गुरु नानक की जीवनी ही एक पुस्तक थी। गुरु अर्जुन ने मोहन से पहले तीन गुरुओं की बानियाँ प्राप्त कीं। चौथे गुरु रामदास के कथन उनके अपने पास थे। इनके साथ गुरु अर्जुन ने प्रसिद्ध भक्तों के वचनों तथा गुरुओं की प्रशंसा में अन्य कवियों के कथनों को एकत्र किया। इस संग्रह में उन्हें कई वर्ष लग गये। तैयार हो जाने पर यह सिखों का धर्म-ग्रंथ बन गया। इसे 'ग्रंथ' ही कहा जाता है।

गुरु अर्जुन ने सिखों के लिए एक तीर्थ बनाने का निश्चय किया। रामदासपुर को इस उद्देश्य से ठीक समझा गया। उन्होंने अपना निवास-स्थान यहीं बदल लिया। यहाँ तालाब के अंदर एक बड़ा मंदिर बनवाया गया। उसका नाम हर-मंदिर रखा और आपने बड़े-बड़े शिष्यों से कहा कि वे वहाँ आकर आबाद हो जायँ। जब गुरु ने देखा कि सिख मत माझे-मालवे के अन्दर जोर से फैल रहा है तब उनमें एक अन्य तीर्थ बनाने का विचार उत्पन्न हुआ। इस उद्देश्य से तरनतारन बसा

कर वहाँ एक तालाब बनवाया गया। अमृतसर एक प्रकार से सिखों की राजधानी बन गया।

गुरु अर्जुन को अपने कोश के लिए रुपये की जरूरत महसूस हुई। रुपये के बग़ैर कोई काम न हो सकता था। धन देने वालों की अनुमति से गुरु ने हर एक के लिए रकम निश्चित कर दी। पुराने बाईस इलाकों में बाईस मसनदें नियुक्त की गईं। इन का काम यह था कि रुपया वसूल करके बैशाखी के दिन अमृतसर में उपस्थित हुआ करें। उसी रोज वार्षिक दरबार भी लगाया जाने लगा।

इसके साथ ही गुरु ने अपने शिष्यों को प्रोत्साहन दिया कि वे तुर्किस्तान आदि जाकर घोड़े लाने और बेचने के व्यापार में लग जायँ। इससे हिन्दुओं की अलग रहने की कूपमंडूकता की बीमारी दूर हो गई और उन्होंने अन्य जातियों से सम्बन्ध बनाकर देखा कि बाहर वालों का रहन-सहन कैसा है। उनसे मिलने पर इनका भय भी जाता रहा। साथ ही घुड़सवारी का शौक भी बढ़ता गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुरु अर्जुन के काल में सिखों का मजहबी सम्प्रदाय व्यवस्थित रूप से एक नेता के अधीन आने, राजकोष के बनने तथा नियमित संगठन होने से एक राजनीतिक शक्ति बन गई। पहले गुरुओं के समान गुरु अर्जुन भी सादे कपड़ों में रहते थे। परंतु उन्होंने अपने दरबार को बड़ी शान से लगाना आरम्भ किया। शाही मकान, तम्बू और घोड़े—इन बातों से उनका दरबार राजा का दरबार प्रतीत होने लगा।

जब ये परिवर्तन हो रहे थे तब एक-दो घटनाएँ ऐसी हुईं जिनके कारण गुरु को मुग़लों के शाही शासन के साथ टक्कर लेनी

पड़ी। जब खुसरो अपने पिता जहाँगीर से विद्रोह करके पंजाब में आया तो गुरु अर्जुन ने उसे न केवल आश्रय दिया वरन् बहुत-से धन से उसकी सहायता भी की। जहाँगीर को यह बात भूली न थी। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यों हुई। लाहौर के सूबेदार के मंत्री चंदू ने अपनी लड़की के लिए वर की तलाश में अपना पुरोहित भेजा। गुरु अर्जुन की शान और उनके सुपुत्र, हरगोबिंद, का सौंदर्य तथा योग्यता देख कर पुरोहित ने हरगोबिंद का नाम चंदू के सामने रखा। चंदू यह नाता करने पर राजी तो हो गया, परन्तु साथ ही यह बात भी कह दी—"ऐसा करना कहीं महल की ईंट को मोरी में लगाना तो न होगा ?"

गुरु को इस बात का पता लग गया और उन्होंने नाता लेने से इनकार कर दिया। चंदू ने इसे अपना अपमान समझा। फिर भी हिन्दू विचार के अधीन उसने बार-बार नाता पेश किया। गुरु राज़ी न हुए। चंदू ने नाराज होकर गुरु के विरुद्ध जहाँगीर से शिकायत की कि उन्होंने जो 'ग्रन्थ' तैयार किया है उसमें इसलाम पर आक्षेप किये गये हैं। कहते हैं जहाँगीर ने गुरु को बुला कर उनसे इस विषय में पूछा। उन्होंने उत्तर दिया—" 'ग्रंथ' का कोई स्थल देखा जा सकता है।" एक जगह निकाल कर देखी गई तो वहाँ ईश्वर-स्तुति का एक भजन निकला। अब जहाँगीर ने यह कहा—"यदि आप मज़हब इसलाम को बुरा नहीं समझते तो 'ग्रंथ' में ऐसा ही भजन इसलाम के प्रवर्त्तक की प्रशंसा में लिख दीजिये।"

यह समय कठिन परीक्षा का था। इस इम्तिहान में इस बात का निर्णय होना था कि सिख-इतिहास का भविष्य कैसा होगा। गुरु अर्जुन इस बात को खूब समझते थे। उन्होंने सांसारिक शक्ति के सामने उस निर्भयता का प्रदर्शन किया जो उनके पद के अनुकूल थी। उन्होंने यह उत्तर दिया—"'ग्रंथ'

में जो कुछ है वह 'वाहे-गुरु' (परमेश्वर) की प्रेरणा से लिखा गया है। किसी के कहने पर इसका परिवर्धन नहीं हो सकता।"

चंदू को एक और मौका मिला। उसने गुरु पर मुग़ल-शासन के विरुद्ध होने का यह इल्ज़ाम लगाया—"गुरु अपने आप को 'सच्चा बादशाह' कहता है और अपने अधीन उसने एक बड़े संप्रदाय को संगठित कर लिया है।" इसके दंड-स्वरूप गुरु अर्जुन को दो लाख रुपया जुर्माना किया गया। सिखों ने तत्काल चन्दा उगाहना शुरू कर दिया। परन्तु गुरु ने उनको जुर्माना अदा करने से रोक दिया और हवालात में रहने को पसंद किया।

अब चन्दू ने उनको फिर नाता लेने के लिए कहा। परन्तु गुरु इस तरह दब जानेवाले न थे। कहा जाता है कि मुग़ल-शासकों ने उन्हें पहले उबलते हुए पानी में बिठाया। फिर उनका शरीर गरम-गरम रेत में जलाया गया। अन्त में आज्ञा दी गई कि उन्हें गाय के चमड़े में सी दिया जाय। गुरु ने इससे पूर्व रावी-नदी में स्नान के लिए छुट्टी माँगी। इजाज़त मिल गई तो रावी में ऐसा गोता लगाया कि फिर बाहर न निकले। जल-समाधि के द्वारा उन्होंने अपना शरीरान्त कर लिया। इस प्रकार गुरु अर्जुन इस युग के पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अपने प्राण दे दिये, किन्तु धर्म की रक्षा की। इससे सिख-इतिहास में बलिदानों का श्रीगणेश होता है।

गुरु हरगोविंद—कोई गवर्नमेंट किसी संगठन को, चाहे वह कितना ही धार्मिक एवं निष्कपट हो, पसंद नहीं करती। संगठन का अस्तित्व ही शासन के लिए भयावह होता है। गुरु अर्जुन ने सिख-संगठन को सुदृढ़ बना दिया। उनकी मृत्यु के पश्चात् १६०६ में हरगोविंद गद्दी पर बैठे। इनकी आयु

अभी ग्यारह ही बरस को थी कि इन्होंने अपनी कमर में एक के स्थान में दो तलवारें बाँधनी शुरू कर दीं। एक अपने पिता का बदला लेने के लिए; दूसरी इसलाम के प्रवर्तक के तथाकथित चमत्कार नष्ट करने के लिए। टोपी और सेली के अतिरिक्त, जो फ़कीरों के चिह्न थे, उन्होंने तलवार, छत्र, कलगी आदि बादशाही के चिह्नों का प्रयोग आरम्भ कर दिया। गुरु हरगोविन्द की लिखी हुई कोई प्रार्थना या भजन नहीं मिलता। जहाँ पर पहले भक्तों ने भक्ति एवं श्रद्धा को पसन्द किया वहाँ पर हरगोविन्द ने शारीरिक बल पर जोर दिया। इसके साथ ही भोजन में भी परिवर्तन हो गया। मांस खाने को न केवल अनुज्ञा दी गई वरन् इसे सत्कार्य समझा गया। उन्होंने सभी शिष्यों को शस्त्र रखने का आदेश दिया और निर्देश कर दिया कि मौका पड़ने पर वे धर्म के लिए शत्रुओं के साथ लड़ने-मरने पर तैयार रहें। जरूरत के वक्त उन्हें झंडे के अधीन एकत्र होने की आज्ञा दी गई। डाकुओं और लुटेरों को भी गुरु ने मंत्र दे कर शिष्य बनाना प्रारंभ किया ताकि वे उनकी सेना की शक्ति एवं संख्या बढ़ा सकें। उनके अस्तबल में आठ सौ से ज्यादा घोड़े थे। तीन सौ सवार और साठ तोपची वे अपने साथ शरीर-रक्षक के रूप में रखा करते थे।

ये सब बातें प्रकट करती हैं कि गुरु हरगोविंद ने पूर्व-गुरुओं के आदर्शों को अपने लिए बिलकुल बदल लिया और अब वे अपने आप को किसी के मुकाबले के लिए तैयार कर रहे थे। अब जो कर या भेंट आती उसका स्वरूप घोड़े, शस्त्र या दूसरी युद्ध-सामग्री होता। गुरु अपना समय अधिकतर प्रवास या शिकार में व्यतीत करते। अमृतसर में रहते हुए वे नियम-पूर्वक दरबार लगाते जिसमें लोगों के मुकदमें सुन कर सजाएँ दिया करते। कई डाकू उनके प्रभाव

में आ जाने से अपनी लूट का माल उनकी भेंट कर देते। इन में से एक, बिधिचंद, बहुत बड़ा और मशहूर डाकू था।

जहाँ पर गुरु हरगोबिन्द बैठते उसे 'तख्त अकाल बुंगा' कहलवाना शुरू किया। सभी शिष्यों को आदेश दिया गया कि गुरु को 'सच्चा बादशाह' कहा जाय। इसका अर्थ यह था कि मुग़ल शासक को लोग झूठा बादशाह समझें। इन सब बातों की शिकायत होने पर जहाँगीर ने गुरु हरगोबिन्द को नालागढ़ के विद्रोही राजा ताराचन्द को सर करने के लिये भेजा। इसमें गुरु सफल हुए। इसके पश्चात् जहाँगीर ने गुरु का एक हज़ार प्यादा, सात सौ रुपया और सात सौ तोपें देकर पञ्जाब में सरकारी कर्मचारियों का निरीक्षक नियुक्त किया। इस बीच में गुरु ने दीवान चन्दू से अपने पिता का बदला इस प्रकार लिया कि उसकी टाँगों के साथ रस्सी बाँध कर उसे लाहौर की गलियों में घसीटा गया जिससे वह तड़प-तड़प कर मर गया।

सन् १६२० में जहाँगीर गुरु हरगोबिन्द को साथ लेकर काश्मीर की सैर को गया। रास्ते में गुरु के तरीके और लापरवाही से जहाँगीर ऐसा रुष्ट हुआ कि उन्हें ग्वालियर के किले में कैद कर दिया। कैद की अवधि बारह वर्ष की बताई जाती है। प्रसिद्ध फकीर मियाँमीर की सिफारिश पर जहाँगीर ने उन्हें मुक्त कर दिया। कैद के दिनों में गुरु का मान तथा यश बहुत बढ़ गया। सिखों में उनके दर्शन करने की प्यास इतनी प्रबल थी कि सैकड़ों सिख प्रतिवर्ष ग्वालियर जाते और किले की दीवारों के साथ माथा रगड़ कर लौट आते।

मुक्ति के पश्चात् गुरु हरगोबिन्द के जीवन का तीसरा हिस्सा शुरू होता है जब उन्हें मुग़ल सेना से लड़ाइयाँ लड़नी

पड़ीं। कुछ वर्ष तक तो गुरु चुप रहे। परन्तु एक ऐसी घटना हुई जिसके कारण उन्हें अपने बचाव के लिए हथियार उठाने पड़े। सन् १६२८ में एक सिख तुर्किस्तान से गुरु के लिए खास नसल के घोड़े लाया। लाहौर से गुजरने पर स्थानीय नाज़िम ने वे घोड़े छीन कर जहाँगीर के लिए रख लिये। जहाँगीर ने उनमें से एक लाहौर के काजी रुस्तमखाँ को दे दिया।

कहते हैं इस काजी की लड़की कौलाँ (कमला) के दिल में गुरु हरगोबिन्द के लिए बड़ा प्रेम और श्रद्धा हो गई। वह घर से निकलकर आश्रय के लिए फ़क़ीर मियाँमीर के पास जा पहुँची। यह समाचार पाकर गुरु उसे अपने यहाँ ले गये और उसके नाम पर अमृतसर में कमलसर बनवाया। काज़ी ने इसे अपना घोर अपमान समझा और फ़ौज भेजी। इसका नायक लाहौर का नायबनाज़िम मुखलिसखाँ था। काज़ी के दो बेटे भी साथ थे। गुरु ने पाँच हज़ार सैनिक एकत्र करके अमृतसर से चार मील बड़ाली के मैदान में लड़ाई की जिसमें मुगलों की हार हुई। दो सप्ताह बाद पहले से दुगुनी, पन्द्रह हज़ार, सेना आ पहुँची। उसने अमृतसर पर आक्रमण कर दिया। गुरु ने कुछ देर तक लड़ाई की। फिर यही बेहतर समझा कि अपने बचाव के लिए पहाड़ी किले की शरण ली जाय।

साल भर गुज़र गया। गुरु अपने बसाये कसबे, श्रीहरगोबिन्दपुर, में ठहरे हुए थे कि जालन्धर के नाज़िम ने अलीबख्श और अयामबख्श को पाँच हज़ार मुगल सैनिक देकर गुरु के विरुद्ध भेजा। लड़ाई में गुरु और उनके साथियों की विजय हुई। स्वयं नाज़िम, जो बाद में वहाँ पहुँच गया था, इस लड़ाई में मारा गया। पहला युद्ध समाप्त हुआ।

दूसरे युद्ध का श्रीगणेश गुरु हरगोबिन्द की ओर से इस प्रकार हुआ। गुरु को अपने वे घोड़े अभी तक नहीं भूले थे जो लाहौर के नाज़िम ने उनके एक शिष्य से छीन लिये थे। उन्होंने अपने साहसी शिष्य बिधिचन्द को भेजा ताकि वह किसी प्रकार उन्हें उड़ा लाये। बिधिचन्द घसियारे का रूप बना कर शाही अस्तबल में नौकर हो गया। एक अँधेरी रात को वह घोड़े पर सवार होकर रावी में कूद पड़ा। घोड़ा लेकर वह गुरु के पास आ पहुँचा।

गुरु के मन में यह इच्छा बाकी थी कि उसका साथी, दूसरा घोड़ा, भी लाया जाय। बिधिचंद ने दोबारा जाने का निश्चय किया। अब की उसने खोज करनेवाले का रूप बनाया। दरबार में जाकर उसने यह प्रकट किया कि वह चोरी-गये घोड़े को खोज निकाल लायगा। इस बहाने से वह किले में प्रविष्ट हुआ। वहाँ उसने छुट्टी माँगी कि मुझे अकेला छोड़ दिया जाय। मौका पाकर वह दूसरे घोड़े की पीठ पर सवार हुआ और नदी में जा कूदा। कूदने के पूर्व उसने उच्च स्वर से यह कहा, "पहला घोड़ा भी इसी तरह गया था। किसी की हिम्मत है तो आकर ले लेवे।"

इसका परिणाम यह हुआ कि लाहौर से एक बड़ी मुहिम अब्दुल्लाखाँ, सलीमखाँ और बहलोलखाँ के अधीन भेजी गई और दिसम्बर, १६३१, में मालवा में लावा के मैदान में लड़ाई हुई जिसमें गुरु की जीत हुई। इसके पश्चात् गुरु भटिंडा के जंगलों में चले गये। वहाँ उन्होंने धर्म-प्रचार के द्वारा शिष्यों की संख्या को बढ़ाना शुरू किया।

इन लड़ाइयों के कारण गुरु ने अमृतसर छोड़ करतारपुर को अपना निवास-स्थान बना लिया। कभी-कभी, साल-दो साल बाद, अमृतसर को देख आते। इतने में सौतेले भाई

पैंदेखाँ से गुरु का झगड़ा हो गया। पैंदेखाँ ने पिछली लड़ाइयों में गुरु का साथ दिया और बड़ी बहादुरी दिखलाई। लेकिन उसे इसका घमंड हो गया। उसके जंवाई ने गुरु के घर से कुछ बहुमूल्य चीजें चुरा लीं।

इसके अतिरिक्त दो और दल गुरु के विरुद्ध काम करते थे। एक तो मन्त्री चन्दू का बेटा था। दूसरा गुरु के चचेरे भाई धीरमल की संतति। दोनों ने पैंदेखाँ को अपने हाथ में ले लिया। सभी मिलकर मुगल शासक के पास गये कि यदि हमको पर्याप्त सहायता मिल जाय तो हम गुरु की शक्ति नष्ट कर देंगे। फल-स्वरूप एप्रिल, १६३४, में गुरु को करतारपुर में अपने शत्रुओं से लड़ाई लड़नी पड़ी जिसमें पैंदेखाँ को उन्होंने अपने हाथ से कत्ल किया। मुगल सेना की हार हुई और चन्दू का लड़का भी वहीं मारा गया। यद्यपि गुरु की विजय हुई तथापि उन्होंने इधर रहना उचित न समझा और पहाड़ में कीर्तिपुर चले गये। यहाँ १६४४ तक शान्ति-पूर्वक जीते रहे।

गुरु हरगोविंद ने अपने संप्रदाय के जीवन में एक प्रकार से क्रांति उत्पन्न कर दी। उन्होंने बताया कि धर्म की खातिर लड़ना और प्राण देना केवल भजन, पाठ और जाप की निस्बत कहीं अच्छा है। सबसे बड़ा धर्म यह है कि सिख अपने बाल-बच्चों और घरों की रक्षा के लिये हथियार बाँध लें। गुरु की सफलताओं ने सिखों में साहस और दिलेरी पैदा करदी। इस साहस ने सिखों की आनेवाली बड़ाई के लिए बीज का काम किया।

सिख परंपराओं में गुरु हरगोबिंद को बहुत सुंदर नौजवान और वीर बताया गया है। जो कोई उनके संपर्क मे आता उन से प्रेम करने लग जाता। उनके शिष्य तो उन पर प्राण

निछावर करने पर तैयार रहते। उनका सौंदर्य जगत्-प्रसिद्ध था। कहते हैं जहाँगीर की बेगमों ने केवल दर्शन करने के लिये उन्हें अपने महल में बुलवाया था। शिकारी इतने अच्छे थे कि अकेले ही अपने हाथ से चीते और शेर मारा करते। धनुर्धारी ऐसे थे कि उनका निशाना कभी न चूका था। उनकी बातचीत में मोहक शक्ति थी। चर्चा के समय ऐसा मालूम देता जैसे भगवद्गीता का उपदेश कर रहे हैं।

मृतपति के साथ चिता पर जलकर मर जाना भारत में हिंदू स्त्री के लिये असाधारण बात नहीं। परन्तु जब गुरु हरगोबिंद का शरीर चिता पर रखा गया तब उनके कई चेले दौड़-दौड़कर जाते कि अपने आप को उनके साथ ही जला दें। उनमें से दो, जैसलमीर का भागा-हुआ राजा प्रतापसिंह और उसका बेटा राजकुमार रामसिंह, गुरु की चिता में जल गये। पुरुषों में इस प्रकार के प्राण-उत्सर्ग के उदाहरण अन्यत्र कहीं नहीं पाये गये।

गुरु हरराय—गुरु हरगोबिंद का बेटा गुरांदित्ता उनके जीते जी मर चुका था। इसलिए उन्होंने अपने पोते हरराय को चौदह वर्ष की आयु में गद्दी के लिए तजवीज किया। ये १६४५ से १६६१ तक गद्दी पर बैठे। इन की तबियत बहुत नरम थी। कहते हैं ये एक बार बाग़ में सैर कर रहे थे कि इनका चोगा पौधे के साथ लगा और कुछ फूल जमीन पर गिर पड़े। पुष्प-पतन से इनके दिल पर ऐसा आघात हुआ कि उसके बाद जब कभी बाग़ में जाते अपना चोगा हाथ से सँभाल कर टहला करते।

जो मनुष्य फूलों का गिरना नहीं देख सकता वह मानव-पीड़ा सहन नहीं कर सकता। गुरु हरराय ने केवल एक बार

लड़ाई में थोड़ा-बहुत भाग लिया। १६५८ में दाराशिकोह भाग-कर गुरु की शरण में आया। उसने सहायता माँगी। दारा का नाम ही मुसलमानों जैसा था। बाकी हर तरह से वह हिन्दू था। गुरु के लिए उसमें बहुत श्रद्धा थी। १६४८ में गुरु की दवा से उसके प्राण बच गये थे। तभी से वह गुरु-भक्त था। अब औरंगजेब की सेना उसका पीछा कर रही थी। गुरु के शिष्यों ने मुग़ल फौज को व्यास-नदी पार करने से रोके रखा। इतने में दारा एक सुरक्षित स्थान में पहुँच गया।

औरंगजेब को यह घटना भूल न सकती थी। जब वह अपनी गद्दी पर दृढ़ता-पूर्वक बैठ गया तब उसने गुरु को देहली बुला भेजा। गुरु ने स्वयं जाना उचित न समझ-कर अपने लड़के रामराय को भेज दिया। औरंगजेब ने उसके साथ व्यवहार तो अच्छा किया, परन्तु यरग़माल के रूप में अपने पास रख लिया। औरंगजेब ने रामराय से कहा, "तुम्हारी धर्म-पुस्तक में मुसलमानों को गाली क्यों दी गई है? 'ग्रंथ' में एक स्थान पर यह लिखा है—

मिट्टी मुसलमान की, पेड़े पई कुमहार,
घड़ भांडे इट्टाँ कियाँ, जलती करे पुकार।"

(अर्थात् "मुसलमान की मिट्टी ले जाकर कुम्हार ने उस से बरतन बनाये। (कुम्हार लोग कब्रिस्तान की मिट्टी से जो ज्यादा चिकनी होती है, बरतन बनाते हैं।) फिर आँवे की आग में डालकर उन्हें पकाया गया। तब आँवे से मुसलमान की जलती हुई मिट्टी की चीख-पुकार की आवाज आई।") मुसलमान कहते हैं कि अपने मृतकों को जमीन के अन्दर दबाना चाहिये, जलाना नहीं चाहिये। हिंदू अपने मृतकों को आग देते हैं, इसलिये वे सदा की आग में जलते रहेंगे।

इस पद्य में मुसलमानों को इस बात का निराकरण किया गया है। इस में कहा गया कि मुसलमानों के शरीर भी तो मिट्टी के साथ मिलकर अंत में आग में ही पड़ते हैं।

"इस पद्य में मुसलमान शब्द नहीं वरन् बेईमान-शब्द है," रामराय ने झटपट चालाकी से जवाब दिया। औरंगजेब तो इस दक्षता से प्रसन्न हो गया, परन्तु गुरु हरराय रुष्ट हो गये। रामराय के लिए यह चालाकी घातक सिद्ध हुई।

जब गुरु को मालूम हुआ कि उनके बेटे ने मुग़ल शासक के डर से 'ग्रंथ' के शब्द में परिवर्तन किया है तो वे उस की कायरता से ऐसे नाराज़ हुए कि उसे गद्दी से वंचित कर दिया इसके साथ ही मिलने से भी इनकार कर दिया।

गुरु हरराय के समय में कैथल का भाई भक्तू, बगेरियाँ का भाई धर्मसिंह और पटियाला, जींद, नाभा आदि का अग्रज फूलसिंह पंथ में सम्मिलित हुए। यह बड़ी बात थी।

गुरु हरराय १६६१ में परलोक सिधारे। गद्दी पर उन्होंने अपने छोटे लड़के हरकिशन को बिठलाया। उसकी उम्र उस समय पाँच बरस की थी। रामराय ने औरंगजेब से कहा कि उस के पूर्वजों का बना-बनाया खेल एक बालक के गद्दी पर बैठने से बिगड़ जायगा। इसके अतिरिक्त उसे गद्दी से वंचित करके उसके साथ बड़ा अन्याय किया गया है। औरंगजेब ने गुरु हरकिशन को देहली बुला भेजा। छोटी आयु के होते हुए भी वे बहुत समझदार थे। देहली में वे शीतला-रोग में बीमार हो गये। वहीं १६६४ में उनका शरीरांत हो गया।

गुरु तेगबहादुर—मरते हुए गुरु हरकिशन ने अपने दादा के छोटे भाई तेगबहादुर को गुरुआई का चिह्न भेज दिया। तेगबहादुर बकाला-गाँव में तप का जीवन व्यतीत करते थे।

उनके स्वभाव में ऐसी मृदुलता एवं आतिथ्य पाया जाता था कि वे अपने आप को 'देगबहादुर' कहलाना पसंद करते थे। (देग उस बड़े बरतन को कहते हैं जिसमें पुलाव बनाया जाता है।) रामराय देहली में उनके विरुद्ध औरंगजेब से शिकायतें करता रहता। औरंगजेब गुरु को अपने काबू में रखना चाहता था ताकि उनकी शक्ति बढ़ने न पाये। इस आशय से उसने उनको देहली बुलाया। वहाँ पहुँचने पर जयपुर का राजा औरंगजेब से सिफारिश करके गुरु को बंगाल-आसाम की ओर ले गया।

उधर से लौटने पर गुरु तेगबहादुर पंजाब को चले आये। कलौर के राजा से जमीन खरीद कर उन्होंने मखोवाल गाँव आबाद किया और वहाँ रहने लगे। कनिंघम लिखता है कि अपने पिता का अनुकरण करते हुये गुरु तेगबहादुर भी सिखों को लूटमार के लिये प्रोत्साहित किया करते थे और हाफिज आदम-नामक मुसलमान के साथ मिल कर धनवानों तथा मुसलमानों से बलात् रुपया वसूल किया करते थे। इससे औरंगजेब रुष्ट हो गया और उसने उन्हें देहली बुलाया। सिख लेखकों का विवरण दूसरा है। वे लिखते हैं—जब औरंगजेब ने हिंदुओं पर अत्याचार करने के लिये कमर बाँधी और हिंदुओं के यज्ञोपवीत जबरदस्ती उतारने आरंभ किये तब काश्मीर से बहुत से पंडित चलकर गुरु तेगबहादुर के पास पहुँचे कि आप हिंदू धर्म की रक्षा का कोई उपाय करें। गुरु ने उनको उत्तर दिया—"इस समय किसी महात्मा के बलिदान की आवश्यकता है।" इस पर उनके बेटे गोविंदसिंह ने खड़े होकर विनम्रता-पूर्वक कहा—"इस समय आप से बढ़कर और कौन महात्मा होगा ?" तब उन्होंने औरंगजेब को यह संदेसा भेजा कि गरीबों को सताने के बजाय वह अकेले गुरु तेगबहादुर को मुसलमान बना ले

क्योंकि उनके पीछे समस्त पंजाब आप से आप ही मुसलमान बन जायगा।

रामराय औरंगज़ेब के पास था। सुल्तान शायद उससे इतना प्रसन्न था कि टीढ़ी के राजा को लिखकर उसे देहरादून में बहुत-सी ज़मीन बतौर जागीर दिलाई थी। वहीं आजकल रामराय का प्रसिद्ध डेरा है जिसमें प्रति वर्ष रामराय के सिक्खों का मेला लगता है।

रामराय की शिकायत पर या राजनीतिक कारणों से औरंगज़ेब ने गुरु तेगबहादुर को गिरफ्तार करके देहली लाने का आदेश किया। आगरा में पाँच साथियों के सहित पकड़कर उन्हें देहली लाया गया। सुल्तान उनके पास वाद-विवाद करने के लिये काज़ी भेजता। वे उन्हें कहते कि या तो कोई चमत्कार दिखायें या मुसलमान बन जायँ। इन विवादों का एक परिणाम यह निकला कि गुरु तेगबहादुर से पहले ही उनके दो साथियों को धर्म-हित हुतात्मा बनना पड़ा। पहले तो स्वर्गीय तपस्वी ज्ञानी देशभक्त भाई परमानन्द के पूर्वज भाई मतिदास के सिर पर आरा रखकर उन्हें चीर दिया गया। बाद में भाई दयाला को उबलते हुए तेल के कड़ाहे में पड़कर प्राण देने पड़े। गुरु ने एक कागज़ पर कुछ लिख कर कहा—"इसे मेरे गले के गिर्द बाँध दिया जाय; इस पर तलवार का कुछ असर न होगा।" कागज़ बाँधने के पश्चात् औरंगज़ेब के हुक्म से तलवार चलाई गई। गला कट गया। कागज खोलने पर उस पर यह लिखा पाया गया—"सिर दिया, पर सर न दिया।" (अर्थात् सिर देकर भी मान बचा लिया।)

गुरु गोविंदसिंह—गुरु तेगबहादुर का आत्मोत्सर्ग पञ्जाब के इतिहास में उस मरहले को शुरू करता है जब सिख-

पंथ को एक जंगी संप्रदाय में परिवर्तित करने का बीज पड़ गया। गुरु गोविन्दसिंह गद्दी पर बैठे। इस समय औरंगजेब ने हिन्दुओं पर खुल्लम-खुल्ला अत्याचार आरम्भ कर दिया था। औरंगजेब पूर्णतः स्वच्छाचारी था। उसकी इच्छा ही कानून समझी जाती थी। न कोई विधान था, न नियमित शासन। बादशाह के सूबेदार विभिन्न प्रान्तों में अपने-अपने स्थान में स्वेच्छाचारिता के नमूने थे। उनका कार्य भिन्न-भिन्न राजाओं तथा रईसों को परस्पर लड़ा कर अपना शासन चलाना था। जब कभी किसी से अपराध हो जाता तो न कोई कानून था, न इंसाफ। गुरु गोविन्दसिंह को औरंगजेब के राज्य-काल में इस बात से जरूर लाभ पहुँचा कि औरंगजेब में दक्षिण की मुसलमान रियासतों को जीतने का खब्त समाया हुआ था और उसे यह भी खयाल था कि उसका कोई सेनानायक यह काम कर नहीं सकता। पंजाब को खाली छोड़कर वह स्वयं दक्षिण की मुहिमों पर चला गया।

पिता के देहावसान के समय गुरु गोविन्दसिंह की आयु पन्द्रह वर्ष की थी। उनके अपने घराने के आदमी, रामराय और धीरमल, उनके विरुद्ध दल बना कर हर प्रकार का विरोध करने पर तैयार थे। सिक्खों की जो सेना उनके दादा गुरु हरगोविन्द ने तैयार की थी वह औरंगजेब की सख्ती की नीति के कारण तितर-बितर हो गई थी। औरंगजेब के पक्षपात, अत्याचार एवं प्रजा-पीड़न के कारण पंजाब पर एक विचित्र-सा भय छाया हुआ था। औरंगजेब ने हर एक मुल्ला के साथ कुछ सवार नियुक्त कर दिये थे जिनका काम यह देखना था कि कोई हिन्दू धार्मिक प्रदर्शन न करे। इन कठिनाइयों के कारण गुरु ने अपने आपको बेबस-सा पाया। वे कर क्या सकते थे? फिर भी इतनी छोटी आयु में ही

उन्होंने उन बड़ी तदबीरों की नीव रखने का निश्चय किया जो उनके मन को विचलित कर रही थीं। इनकी सहायता से वे अपने पिता के साथ किये गये व्यवहार का बदला लेना और साथ ही अपनी पद-दलित जाति की जंजीरों को काटना चाहते थे। उनकी धारणा थी कि किसी पहाड़ी स्थान में रहकर अपनी योजनाओं को क्रियात्मक रूप दिया जा सकता है। यमुना के किनारे की एक पहाड़ी पर उन्होंने पटना और बनारस के संस्कृत के बड़े-बड़े पण्डित और पञ्जाब से फ़ारसी के विद्वान् तथा कवि एकत्र किये। अपने परिश्रम से वे इनसे जो कुछ सीख सकते थे, अपने अन्दर जज़्ब करने लगे। गुरु के पास ऐसे साठ विद्वान् रहने लगे। संस्कृत का वीर-रस-प्रधान साहित्य उन्होंने विद्वानों की सहायता से देखा और ध्यान-पूर्वक सुना। महाभारत तथा पुराणों [illegible] ही ऐसी कथाएँ पाई जाती हैं जिनमें देवताओं और असुरों के युद्धों का वर्णन है। देवी दुर्गा ने अनेक असुरों की खोपड़ियों को तोड़कर उनका रक्त पिया। लंका के राक्षस रावण को श्रीराम ने और कंस को श्रीकृष्ण ने नष्ट किया—इस प्रकार की सभी कथाओं ने गुरु के मन पर गहरा प्रभाव किया। उन्होंने अपने 'विचित्तर नाटक' में इस बात को दोहराया है कि किस प्रकार ऐसे संकट-काल में जब कि धर्म का विनाश हो रहा होता है, ईश्वर मानव का रूप धारण करके धर्म की रक्षा करता है। उन्हें विश्वास हो गया कि उनके जीवन का भी यही उद्देश्य है।

बीस वर्ष में गुरु गोविंदसिंह ने इस सारे ज्ञान के अतिरिक्त वीर-रस-पूर्ण कविता लिखने का अभ्यास कर लिया, सवारी तथा धनुर्विद्या में पूर्णता प्राप्त की और जंगलों में शेर-चीतों का शिकार करके अपने आप को महान् कार्य

के लिए तैयार किया। अब उन्हें अपने सामने यही प्रश्न दिखाई देता था कि हिंदुओं के परस्पर के भेद-भाव मिटा कर उनमें एकता कैसे पैदा की जाय और उनकी मुर्दा हड्डियों में नवजीवन का संचार कैसे हो। उन्होंने यह अनुभव किया कि हिंदू चिरकाल से नरम, तथा सब्र करनेवाली अल्प-संतोषी जाति बन चुकी है। हिंदुओं की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाएँ मर चुकी हैं। ये न स्वयं कष्ट उठाना चाहते हैं और न किसी अन्य को कष्ट देने पर तैयार हैं। फिर इनका यह खयाल इतना बढ़ गया है कि ये छोटी सी बात से भयभीत हो जाते हैं। गुरु को इस बात की अनुभूति हुई कि जाति के निर्माण में जाति-पाँति एक बड़ी रुकावट है। इसलिए हिंदुओं को उन्होंने सब से पहले जात-पाँत के बंधन से छुड़ाना चाहा। उन्होंने कहा कि चारों वर्ण पान, सुपारी, कत्था और चूना के समान हैं जो सब मिलकर ही पान का स्वाद बना सकते हैं।

केशगढ़ की पहाड़ी पर बहुत से सिख एकत्र हुए। एक दिन उनके सामने भाषण दिया और अंत में कहा—"देवी प्रति दिन मुझसे सिर माँगती है। क्या आप में से कोई अपना सिर देने पर तैयार है?" कुछ क्षण के लिए वहाँ स्तब्धता छा गई। गुरु ने अपना प्रश्न दोहराया। इस पर दयाराम उठा। गुरु उसे अपने तंबू में ले गये और वहाँ पर एक बकरे को तलवार से झटका डाला। खून से भरी तलवार लेकर वे बाहर निकले। दोबारा अपील की तो दूसरा सिख खड़ा हो गया। इस प्रकार पाँच सिख सिर देने पर तैयार हो गये। इन पाँचो को जीता-जागता लेकर तंबू से बाहर चले आये। लोग चकित रह गये। इन पाँच में से एक खत्री था, बाकी शूद्र कहलाने वाली जातों में से थे। गुरु ने इन को 'पाँच प्यारे' कह कर अमृत चखाया। (यह अमृत

पानी में चीनी घोल कर बनाया जाता है।) फिर इन पाँचों के हाथ से तैयार किया अमृत स्वयं पिया। इस प्रकार गुरु ने खालसा की नींव रखी। (यह शब्द खालिस से बना है जिसका अर्थ है शुद्ध।) खालसा को दृढ़ता से संगठित करने के लिए उन्होंने ऐसे ढंग निकाले जिनका प्रभाव सर्वसाधारण पर जादू जैसा होता था। उदाहरणार्थ सब सिखों को चाहिए कि एक दूसरे को मिलते समय 'वाह-गुरुजी का खालसा, वाह गुरुजी की फतह!' कहा करें। सभी सिख पाँच क—केश, कड़ा, कंघा, कच्छ और कृपाण—धारण करें। हर एक के नाम के पीछे सिंह होना चाहिये। इनके अंदर भावना भरने के लिये कहा कि खालसा प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर की आज्ञा में है और उन्हें विश्वास होना चाहिये कि जहाँ पर खालसा होगा वहाँ पर स्वयं परमेश्वर होगा। इस प्रकार एक ही पग उठाकर उन्होंने सीधे-सादे सिखों को सिंह बना दिया जिससे छोटे से छोटा आदमी बड़े से बड़े क्षत्रिय के साथ बराबरी का दावा कर सकता था। इससे पूर्व सिंह-शब्द केवल क्षत्रियों के नाम के साथ लगाया जाता था। अब जो कोई आदमी गुरु के खालसा में सम्मलित होता, वह चाहे नाई होता चाहे चमार, सिंह बन जाता। हम देखते हैं कि समता की इस घोषणा के कारण किस प्रकार छोटी-छोटी जातों के आदमी खालसा में प्रविष्ट होकर बड़ी-बड़ी सेनाओं के नायक बन गये।

पूर्वकाल में भी जब आवश्यकता हुई तब नये क्षत्रिय पैदा करने के लिए ऐसे साधनों को ही प्रयोग में लाया गया। इसका एक उदाहरण तो यह है जब ब्राह्मणों ने आबू-पहाड़ पर यज्ञ करके राजपूताना के जंगल में रहनेवाले लोगों में से अग्निकुल राजपूत निर्माण किये। कुछ काल गुजर जाने पर जब ऊँची जातों के अंदर नैतिक पतन आ जाता है तब छोटी

जातों से, जो नई और ताजा जमीन के समान होती हैं, क्षत्रिय बनाये जाते हैं। महाराज शिवाजी के वे वीर मराठे जिन्होंने स्वातंत्र्य-युद्ध को सफल बनाने तथा हिंदू साम्राज्य को स्थिर रखने में सब कुछ किया, शूद्र-वर्ग से समझे जाते थे। इनमें से ही मराठा साम्राज्य के वे बड़े-बड़े सेनानी और राजा उत्पन्न हुए जिनका पद क्षत्रियों से कम नहीं समझा जाता। गुरु का खालसा भी क्षत्रियों का एक नया संप्रदाय था।

इस समय शक्ति की पूजा का आम रिवाज था। गुरु गोविंदसिंह ने भी संभवत: अपने मन की श्रद्धा से दुर्गा के लिए यज्ञ करना आवश्यक समझा। यह यज्ञ एक वर्ष तक होता रहा। अंत में समस्त सामग्री अग्नि में डाल देने से पर्वत-शिखर पर से ऊँची ज्वालाएँ उठीं। इनमें से नंगी तलवार फिराते हुए गुरु बाहर आये। लोगों ने समझा कि यह तलवार गुरु को विजय के चिह्न-स्वरूप दुर्गा से प्राप्त हुई है।

गुरु गोविंदसिंह तलवार के सच्चे पुजारी थे। उन्होंने तलवार की देवी की पूजा के संबंध में बहुत सुन्दर कविताएँ लिखी हैं।

उनके ग्रंथ 'छक्के देवी' से यह कविता यहाँ दी जाती है—

नमो उग्रदेती अनेती सवैया,
नमो योग योगेश्वरी योग मैया।
नमो केहरी-बाहनी शत्रु-हेता,
नमो शारदा ब्रह्म-विद्या पढ़ेती।
नमो जोति-ज्वाला तुमै बेद गावैं,
सुरासुर ऋषीश्वर नहीं भेद पावैं।
तुही काल आकाल की जोति छाजै,
सदा जै, सदा जै, सदा जै बिराजै।

यही दास माँगे कृपा सिंधु कीजै,
स्वयं ब्रह्म की भक्ति सर्वत्र दीजै ।
अगम सूर वीरा उठहिं सिंह योधा,
पकड़ तुरकगन कउ करैं वै निरोधा ।
सकल जगत महि खालसा पंथ गाजै,
जगै धर्म हिंदू सकल दुंद भाजै ।
तुही खंड ब्रह्मंड भूमे सरूपी,
तुही विष्णु, शिव, ब्रह्म, इंद्रा अनूपी ।
तुही ब्रह्मणी वेद पारण सवित्री,
तुही धर्मिणी करण-कारण पवित्री ।
तुही हरि-कृपा सिउ अगम रूप होई,
सबै पच मुए, पार पावत न कोई ।
निरंजन स्वरूपा तु ही आदि राणी,
तु ही योग-विद्या तुहि ब्रह्म-वाणी ।
आपुन जानकर मोहि लीजै बचाई,
असुर पापीगन मार देवउ उड़ाई ।
यही आस पूरण करहु तुम हमारी,
मिटै कष्ट गऊअन छुटै खेद भारी ।
फतह सत गुरु की सबन सिउँ बुलाऊँ,
सबन कउ शबद वाहि वाहे दृढ़ाऊँ ।
करो खालसा पंथ तीसर प्रवेशा,
जगहिं सिंह योधा धरहिं नील वेषा ।
सकल राछसन कउ पकड़ वै खपावैं,
सबी जगत सिव धुन फतहि की बुलावैं ।
यही बीनती खास हमरी सुनीजै,
असुर मार कर रच्छ गऊअन करीजै ।

इसी प्रकार की एक अन्य कविता भी मन में वीर-रस का संचार करती है—

यही देहि वर मोहि सत गुरु धियाऊँ,
असुर जीतकर धर्म नौबत बजाऊँ।
मिटैं सब जगत सिउ तुर्कन दुन्द शोरा,
बचहि संत सेवक खपहिं दुष्ट चोरा।
सबै सृष्टि परजा सुखी हुई बिराजे,
मिटै दुख-संताप आनन्द गाजे।
न छाडउँ कहूँ दुष्ट असुरन निशानी,
चले सब जगत महि धरम की कहानी।

हमें यह याद रखना चाहिए कि उस युग में मुसलमानों को 'तुरक' कहा जाता था। इन क्रूर विदेशियों से क्योंकि हिन्दुओं को लड़ना पड़ता था इस कारण युद्ध में विजय के लिए प्रार्थना की गई है—

देह शिवा वर मोहे इहै,
शुभ कर्मन ते कबहूं न टरूँ।
न डरूँ अरि से जब जाय लरूँ,
निश्चय कर अपनी जीत करूँ।

उनका विचार था कि अत्याचारी नृशंस शासन को तब तक नहीं पलटा जा सकता जब तक हिंदू रोटी की तरह नरम रहेंगे। उन्होंने लोगों से कहा—"अब हल और तराजू को परे रखकर तलवार हाथ में लो और जो अत्याचारी मुगल या धोखेबाज़ हिंदू तुम्हारे काबू चढ़े उसे सीधा कर दो क्योंकि शठ के साथ शठ जैसा व्यवहार करने में कोई पाप नहीं वरन् यह धर्मशास्त्रों की आज्ञा के अनुसार है।"

इस शिक्षा पर आचरण करनेवाले खालसा ने लूटमार

करते हुए एक प्रकार का गोरिल्ला-युद्ध आरंभ कर दिया। इससे उनको अपने कार्य के लिए धन मिलने लगा और शत्रुओं के मन में भय उत्पन्न होने लगा। इसके अतिरिक्त स्वयं उन्हें जंगी जीवन का अभ्यास होने लगा।

गुरु गोविन्दसिंह अपने कार्य के लिए तैयारी कर चुके थे। सन् १६५५ में उन्होंने औरंगजेब के शासन के विरुद्ध स्वतंत्रता की घोषणा की। एक साधु के लिए जिसके अनुयायियों की संख्या कुछ हजार हो, मुगल शासक के विरुद्ध इस प्रकार की घोषणा करना, असाधारण बात थी। इस घोषणा में वह शक्ति थी जिसने विदेशी साम्राज्य की जड़ों को हिला दिया। गुरु ने लड़ाई आरंभ करने के लिये पहाड़ियों में आश्रय-स्वरूप तीन किले तैयार किये। एक नाहन के पास पौंटा में, दूसरा रोपड़ से थोड़ी दूर चमकौर में और तीसरा आनंदपुर में। सैन्य-नेता के रूप में उन्होंने ऐसे दुर्गों की आवश्यकता अनुभव की।

अब उन्होंने अपना ध्यान पहाड़ के हिंदू राजाओं की तरफ किया। उनसे कहा कि स्वतंत्रता के युद्ध में आप मेरी सहायता करें। परन्तु इन राजाओं ने गुरु को बड़ी उपेक्षा एवं घृणा से उत्तर दिया। इस पर गुरु ने इन नरेशों को अपनी शक्ति अनुभव कराने की ठानी। उन्होंने खालसा को आदेश दिया कि इन राजाओं के प्रदेशों में लूटमार शुरू करदी जाय। इससे वे जल्दी ही तंग पड़ गये। तब बिलासपुर के भीमचन्द, कटोच के कृपालचन्द, जसवाँ के केसरीचन्द, जसरोटा के सुखदयाल, नालागढ़ के हरिचन्द, दोबाला के पृथीचन्द, श्रीनगर के फतहशाह आदि ने परस्पर मिलकर दस हजार सेना एकत्र की और गुरु पर आक्रमण

कर दिया। गुरु दो हजार खालसा लेकर मुकाबले के लिये निकले। संगिला-गाँव के पास बड़ी सख्त लड़ाई हुई।

गुरु ने पाँच सौ पठानों का एक रिसाला साढौरा के सरदार सैयद बुद्धुशाह को सिफारिश पर भरती किया था। ये पठान ठीक लड़ाई के समय उन्हें छोड़कर चल दिये। परन्तु जब बुद्धुशाह को यह समाचार प्राप्त हुआ तो वह दो हजार आदमी लेकर गुरु की सहायता के लिये आ पहुँचा। गुरु ने शत्रुदल को पराजित किया। उन्हें विजय प्राप्त हुई। पौंटा के किले में आकर उन्होंने दरबार किया और अपने सरदारों को खिलअत और इनाम दिये। बुद्धुशाह को उन्होंने एक कंघा और अपने सिर की आधी पगड़ी सिरोपाव के रूप में प्रदान की।

इसके पश्चात् गुरु ने चार नये किले—लोहगढ़, आनंदगढ़, फूलगढ़ और फतहगढ़—तैयार करवाये। राजाओं ने यह देखा तो उनके कान खड़े हो गये। उन्होंने गुरु के साथ मैत्री करली और मुगल खजाने में राजस्व भेजने से इनकार कर दिया। कर न देना पहला कदम था जो दासत्व में फँसे हुए लोग उठा सकते थे। औरंगजेब दक्षिण में था। इस कारण कई बरस तक इनके राजस्व की परवाह ही न की गई। परन्तु ज्यों ही औरंगजेब देहली लौटा उसने एक बड़ी सेना जहानखाँ, अलिफखाँ और जुलफिकारखाँ के अधीन भेजी। गुरु राजाओं की सहायता के लिए तैयार हो गये और नादौन के पास हिंदू-सेना ने खालसा के साथ मिलकर मुगल सेना को बड़ी भारी हार दी।

इससे कांगड़ा का सूबेदार दिलावरखाँ जोश में आया। वह स्वयं पहाड़ के हिन्दू राजाओं के विरुद्ध फौज लेकर गया

और अपने बेटे रुस्तमखाँ को आनंदपुर पर आक्रमण करने के लिये भेजा। एक रात वर्षा खूब हुई। आनंदपुर के पास एक पहाड़ी नाला इतने ज़ोर से बहा कि रुस्तमखाँ के बहुत से सैनिक बह गये। शेष इतने घबराये कि रुस्तमखाँ को वापस कूच करना पड़ा। औरंगजेब को जब यह खबर मिली तो वह क्रोध से भड़क उठा। अपने बेटे मुअज्ज़म को उसने पंजाब भेजा। वह स्वयं लाहौर ठहरा और मिर्ज़ाबेग को सेना देकर उसने पहाड़ की तरफ भेजा। पहली लड़ाई में मिर्ज़ाबेग पराजित हुआ। इस पर मुअज्ज़म खुद सेना लेकर वहाँ पहुँचा। मुअज्ज़म का मंत्री नन्दलाल गुरु का भक्त निकल आया। उसने मुअज्ज़म को यह कह कर कि साधु का पीछा करने से क्या फ़ायदा हो सकता है, राजाओं का विरोध करने पर लगा दिया। मिर्ज़ाबेग ने देहात को आग लगा कर इलाका नष्ट करना आरंभ किया। कई सौ देहातियों को उसने क़ैदी बना लिया। उनके मुँह काले कर के उन्हें गदहों पर चढ़ा कर इलाके भर में फिराया। राजाओं ने पराजित होने पर देखा कि वे औरंगजेब का मुकाबला नहीं कर सकते। क्षमा माँग कर सारा राजस्व शाही खज़ाने में जमा करवा दिया।

गुरुने इस बीच में कुछ शक्ति-संचय कर लिया था। उन्हों-ने राजाओं को दोबारा सहायता के लिए कहला भेजा। परंतु राजाओं को शिक्षा मिल चुकी थी। वे किसी प्रकार गुरु का साथ देने पर तैयार न थे। गुरुने एक बार फिर पुराना तरीका अख्तियार किया: सिखों को उन का प्रदेश लूटने के लिये भेज दिया। तंग आ कर राजाओं ने बीस हज़ार सेना जमा की और गुरुका मुकाबला करने के वास्ते उसे भेज दिया। गुरु आनंदपुर में थे। उन के साथ केवल आठ हज़ार आदमी थे। इन के द्वारा उन्होंने राजाओं को परास्त किया। राजाओं ने

निराश हो कर औरंगजेब को यह शिकायत लिखी—"यह अपने आप को सच्चा बादशाह कहता है। विजय के कारण इस का सिर फिर गया है। हजारों आदमी इस के पास जमा हो गये हैं। पर वह समय दूर नहीं जब समस्त देश में खालसा का राज्य फैल जायगा।

औरंगजेब इससे इतना डरा कि उसने सरहिंद के नाजिम को आज्ञा दी कि वह खुद सेना लेकर गुरु के विरुद्ध जाय। सरहिंद का नाजिम एक बड़ी फौज लेकर निकला। १७०१ में गुरु ने कीर्तिपुर में उसका सामना किया। सिखों ने प्राणोत्सर्ग प्रारंभ किया। परंतु शत्रु की शक्ति अपेक्षतया बहुत अधिक थी। इसलिए वे कुछ कर न सके। बाध्य हो कर गुरु भी आनंदपुर चले गये। शाही फौज ने किले का घेरा डाल दिया। मुगल सेनानायक खाजामुहम्मद और नाहरखाँ ने गुरु को दूत-द्वारा यह संदेशा भेजा—"इस समय पहाड़ी राजाओं से आपका मुकाबला नहीं। अब आप की लड़ाई महाराजाधिराज और दुनिया के रक्षक आलमगीर औरंगजेब के साथ है। इसलिए यह लड़ाई लड़ना निरा पागलपन है। आप इसलाम ग्रहण कर के आधीनता स्वीकार कर लें।"

गुरु-पुत्र अजीतसिंह ये शब्द सुन न सका। उसने तलवार निकालकर दूत से कहा "अब यदि एक शब्द भी और बोले तो तुम्हारा सिर धड़ से अलग हो जायगा और तुम्हारे शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जायँगे।" दूत गुस्से से जलता हुआ लौट गया। घेरा जारी रहा। बाहर से आना-जाना बंद कर दिया गया। किले में खाने की सामग्री कम होने लगी। भूखे मरते सिखों ने गुरु से कहा—"इस समय संधि करके आप किसी सुरक्षित स्थान में चले जायँ।" गुरु ने उनको

समझाया कि अत्याचारी अपना वचन कभी पूरा नहीं किया करते। उन्हें मुग़ल सेना से किसी प्रकार की कोई आशा न करनी चाहिये और ईश्वर पर भरोसा रख कर हिम्मत न हारनी चाहिये।

जब सिख भूख से मरने लगे तब उन्हें किले से भागना सूझा। यहाँ तक कि केवल पैंतालीस सिख गुरु के साथ रह गये। एक अँधेरी रात को गुरु अपने लड़कों और स्त्री समेत किले से निकले। भक्त सिखों का एक समूह भी उन के साथ था। वे सब चमकौर के किले की ओर जा रहे थे। ख़्वाजामुहम्मद और नाहर को इस बात की ख़बर लग गई। उन्होंने पीछा किया। सिख अंतिम श्वास तक लड़ते रहे। गुरु के दो बेटे, अजीतसिंह और जुझारसिंह, उन की आँखों के सामने लड़ते हुए मारे गये। नाहर खाँ को गुरु ने अपने हाथ से क़त्ल किया। ख़्वाजामुहम्मद उनकी तलवार से घायल ही हुआ। चमकौर की यह छोटी-सी लड़ाई कितनी सख़्त थी—इसका अनुमान इस बात से ही लगाया जा सकता है कि पैंतालीस में से केवल पाँच आदमी बचे जो गुरु के साथ चमकौर के किले तक पहुँच सके।

चमकौर के छोटे-से किले में वे बहुत दिन तक न ठहर सकते थे। मुग़ल सेना उनके सिर पर थी। गुरु ने अपने साथियों से यह फ़ैसला किया कि वे एक-एक करके मोरी के रास्ते जंगल को भाग जायँ। रात भर जंगल में गुज़ार कर अगले दिन प्रातः गुरु कसबा माछीवाड़ा में जा पहुँचे। वहाँ वे एक बाग़ में छिप गये। बाग़ में मालिक ग़नीखाँ और नबीखाँ रुहेले पठान थे। उन्होंने गुरु को देखा तो हैरान हो गये। पहले तो उनमें लोभ उत्पन्न हुआ और उन्होंने गुरु को मुग़लों के सुपुर्द करके धन तथा मान प्राप्त करने का निश्चय

किया । परन्तु गुरु से उनका बहुत देर का संबंध था । गुरु उन से घोड़े खरीदा करते थे । मानव-सहानुभूति ने जोर मारा और उन्होंने गुरु को आश्रय दिया ।

गुरु को मुसलमान फकीर का वेश पहना दिया गया । दोनों पठानों ने घोषित किया कि वह उनका पीर है और उच्च (वर्तमान रियासत बहावलपुर का एक शहर) की यात्रा करके उनके पास आया है । तत्पश्चात् गुरु सलोह के काज़ी पीर मुहम्मद के पास जा ठहरे । इनसे उन्होंने छुटपन में फारसी पढ़ी और कुरान का अध्ययन किया था । चमकौर से भागे हुए तीन सिख गुरु से यहाँ मिल कर बहुत प्रसन्न हुए । अब गुरु ने मालवा जाने का निश्चय किया । उच्च के पीरों की तरह वे एक पालकी में सवार हुए जिसे उनके सिखों ने उठा लिया । इतने में शत्रु के सैनिक सिर पर आ पहुँचे । उनके पूछने पर पालकी वालों ने बताया—"हमारे मालिक उच्च के पीर हैं ।" मुग़ल सेनानी ने कहा—"पीर हमारे यहाँ खाना खाएँ ।" गुरु ने इसे स्वीकार कर लिया और उनके साथ एक दस्तरखान पर भोजन भी किया ।

सिख इतिहासके एक पंडित का मत है कि गुरु गोविंदसिंह के एक पत्र 'ज़फ़रनामह' से मालूम होता है कि माछीवाड़ा से वे पीर का वेश बना कर नहीं गये बल्कि रात के समय किश्ती में बैठ कर निकले । वे सारा कार्य मनु के धर्मशास्त्र के अनुसार किया करते थे । इस लिए वेश बदलने को वे कायरता समझते थे ।

एक अन्य मत यह है कि माछीवाड़ा में गुरु एक गुलाबा मसंद के घर रहे । यहाँ से उन्होंने भाई दयासिंह प्यारा के हाथ औरंगज़ेब को फतहनामह-नाम का पत्र भेजा । संदेश-वाहक ने नीले कपड़े पहन रखे थे । दो पठानों ने उसे पालकी

में उठा रखा था जब कि एक मुग़ल दस्ते ने उसे रोक लिया। ये मुग़ल गुरु की खोज में थे। उससे कई प्रश्न पूछे गये, परन्तु उसने एक का भी उत्तर न दिया। उसे रात भर बंद रखा गया। शरअ के अनुसार दो साक्षी यह कहते कि यह गुरु नहीं है तभी उसे मुक्त किया जा सकता था। नूरपुर के क़ाज़ी इनायतुल्लाह और सलोह के क़ाज़ी ने हाथ में क़ुरान लेकर कहा कि हम गुरु को बचपन से जानते हैं, यह गुरु नहीं है। इस पर भाई को छोड़ दिया गया।*

यहाँ से चल कर गुरु उस जगह पहुँचे जहाँ आजकल मुक्तसर है। शत्रु जगह-जगह उनकी खोज कर रहे थे। यहाँ गुरु के कुछ सिख मौजूद थे। उन्होंने मुग़ल सिपाहियों का मुक़ाबला किया और सब के सब मारे गये। गुरु ने उनकी स्मृति में एक तालाब बनाने की आज्ञा दी। उसका नाम मुक्तसर रखा गया। ये सिख गुरु के पुराने सैनिक थे जो एक बार गुरु को छोड़ कर घरों को वापस चले आये। जब उनकी स्त्रियों को यह मालूम हुआ कि वे कायरता-वश वापस चले आये हैं तो उनमें से हर एक ने इस आशय के शब्द कहे— "तुम गुरु से विमुख होकर आये हो। मैं तुम्हारा मुँह नहीं देखना चाहती।"

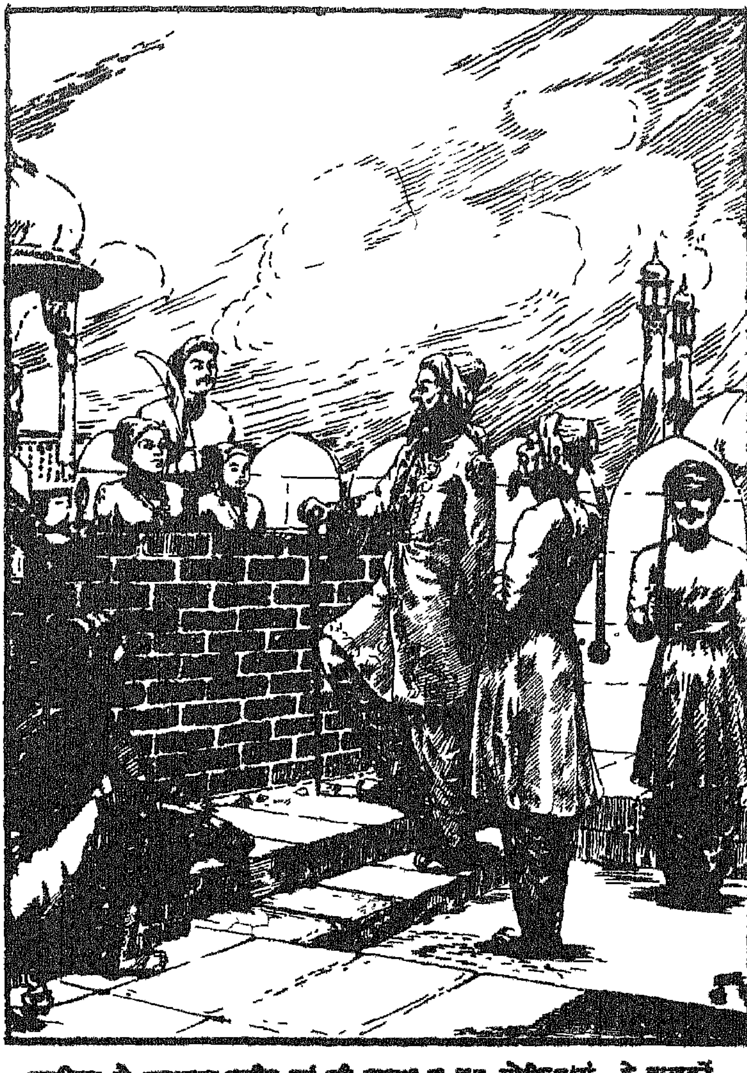
गुरु गोबिंदसिंह के दो बेटों, ज़ोरावरसिंह और फ़तहसिंह, को गुरु-माता गुजरी आनंदपुर के क़िले से निकाल कर ले जा रही थी कि एक गाँव में वे धोखे से पकड़ लिये गये। उन्हें सरहिंद के सूबेदार वज़ीरख़ाँ के पास ले जाया गया। इन बालकों की आयु अभी बहुत छोटी थी। वज़ीरख़ाँ ने इनको शाही क़ैदी के तौर पर रख लिया। एक दिन दरबार

* फ़तहनामह के लिये परिशिष्ट इ देखिये।

में बैठे हुए सूबेदार ने गुरु-पुत्रों से पूछा—"लड़को, अगर तुम्हें छोड़ दिया जाय तो तुम क्या करोगे ?" जोरावरसिंह ने उत्तर दिया—"हम फौज इकट्ठी कर के तुम्हारे साथ लड़ाई करेंगे।" सूबेदार ने दूसरा प्रश्न किया—"अगर उस में तुम हार गये तो क्या करोगे ?" अब फतहसिंह ने जवाब दिया।—"हम फिर फौज जमा करेंगे और या तुमको मार देंगे या खुद मर जायँगे" वजीरखाँ ने क्रोध में आकर अपने दीवान कुलजस से कहा कि इन्हें घर ले जा कर इनका फैसला कर दो। सिख-लेखकों का कहना है कि सूबेदार ने इन बच्चों को किले की दीवारों में चुन देने का हुक्म दिया था। यद्यपि इन को एक दूसरे से अलग रख कर बहुत ज्यादा लोभ-लालच दिया गया तो भी ये अपने पवित्र धर्म पर दृढ़ रहे। अंत में ये धीरे-धीरे पत्थरों की दीवार में चुन दिये गये। गुरु माता दोनों पोतों के मारे जाने के आघात को सहन न कर सकी और उन्होंने प्राण दे दिये।

चारों बेटों के खो जाने से गुरु की मानसिक अवस्था करुणाजनक थी। मुक्तसर से चल कर उन्होंने हाँसी और फीरोजपुर के दरमियान एक स्थान पर आ कर दम लिया। (इसी कारण इस का नाम बाद में दमदमा पड़ गया।) यहाँ पर एक वर्ष के लगभग ठहर कर वे ग्रंथ के विषय में संलग्न रहे। औरंगजेब ने उनको एक पत्र लिख कर देहली बुलाया और कुरान की क़सम पर यह प्रतिज्ञा की कि उन के साथ सम्मान-पूर्वक व्यवहार किया जायगा। गुरु ने मुग़ल को बहुत सख्त उत्तर दिया। इस में उसके अत्याचारों का जिक्र कर के यह बतलाया कि खालसा एक दिन इन सब का बदला लेगा।

गुरु गोविंदसिंह का दिल अब पंजाब से उठ गया। वे फिरते-फिराते दक्षिण में जा निकले। यहाँ पर उन्होंने



सरहिन्द के सूबेदार वज़ीर ख़ाँ की आज्ञा से गुरु गोविन्दसिंह के बालकों, ज़ोरावरसिंह और फ़तहसिंह को दीवार में चुना गया।

एक बैरागी के तप, त्याग और शक्ति की प्रसिद्धि सुनी। गुरु उनसे मिलने के लिये नांदेड़ पहुँचे। उन्होंने जाते ही देख लिया कि वे साधु किस कारण बैरागी बने थे। डेरे के महंत माधवदास बैरागी ने गुरु का यश सुन रखा था। गुरु से सारा पिछला हाल सुना। दोनों में बहुत प्रेम हो गया। गुरु की बातचीत का बैरागी पर ऐसा प्रभाव हुआ कि उन्होंने अपनी सेवा गुरु के अर्पण कर दी। गुरु ने इसे स्वीकार कर उन्हें खालसा का नेता बना दिया। फिर अपने साथ किये गये अत्याचार का बदला लेने और मुग़ल शासन को उखाड़ कर स्वराष्ट्र को स्वाधीन बनाने का कार्य बैरागी के सुपुर्द करके उन्हें पंजाब भेज दिया।

गुरु के पीछे दो पठान लड़के लगे हुए थे। इनका पिता गुरु के हाथों मरा था। इसलिए बाप का बदला लेने के लिये इन्होंने गुरु पर वार किया। गुरु ज़ख्मी हुए। उनका ज़ख्म सी दिया गया। वह अच्छा हो रहा था कि एक दिन कमान को ज़ोर से खींचने पर वह घाव फट गया। गोदावरी-तट पर १७०८ में गुरु गोविंदसिंह का देहांत हो गया। इस स्थान को सिख अबिचल-नगर कहते हैं। (यह भी कहा जाता है कि पठानों के वार करने की बात झूठी है। यह कहानी देहली के मुग़ल बादशाह की कल्पना से निकली और उसी ने इसे चारों ओर फैलाया।)

मरने से पूर्व गुरु ने अपने शिष्यों को सुदृढ़ और अविचल रहने का उपदेश दिया। उन्होंने अनुयायियों को विश्वास दिलाया कि "जहाँ पर पाँच सिख एकत्र होंगे वहाँ पर मैं उपस्थित हूँगा। मैंने अकाल पुरुष की आज्ञा से पंथ चलाया है। सभी सिखों को चाहिये कि वे 'ग्रंथ' को अपना सच्चा गुरु समझें।"

इस प्रकार उस वंश का यह अंतिम घटक इस संसार से चल दिया जिसने अनेक असाधारण व्यक्ति उत्पन्न किये। लगातार चार-पाँच पीढ़ियों तक इस तरह एक के बाद दूसरा वीर पैदा होना असाधारण घटना है। लाहौर को इस बात का अभिमान है कि इस वंश का उससे गहरा सम्बंध है और तीन गुरुओं ने अपने जीवन का बहुत-सा समय वहाँ व्यतीत किया। गुरु रामदास, गुरु अर्जुन और गुरु हरगोविंद नगर के बीच में बैठकें किया करते थे। उनमें धर्मचर्चा के अतिरिक्त उनके उपदेश हुआ करते। इन्होंने ही अमृतसर की नींव रखी और अमृतसर-नगर को सिखों का पुण्य-स्थान बना दिया। इस प्रकार अमृतसर लाहौर के एक बालक के समान है।

गुरु रामदास की संतान से गुरु अर्जुन हुए जिन्होंने यातनाएँ सहन करते हुए लाहौर में धर्म-हित प्राण दे दिये। गुरु अर्जुन के सुपुत्र गुरु हरगोविंद थे जिनका समस्त जीवन धर्म के अर्पण हुआ। गुरु हरगोविंद के बेटे गुरु तेगबहादुर थे जिन्होंने धर्म की खातिर देहली में अपना सीस कटवाया। इन्हीं के विषय में गुरु गोविंदसिंह ने कहा है—

> कीनो बड़ो कलू में साका,
> तिलक जंजू राखा प्रभ ताका।

(उन्होंने तिलक और यज्ञोपवीत के लिए कल-युग में बड़ा कीर्तिकर कर्म किया।) गुरु तेगबहादुर के बेटे गुरु गोविन्दसिंह थे जिनका कीर्ति-कलाप अभी-अभी समाप्त हुआ है। गुरु गोविन्दसिंह के चार बेटे थे जिन्होंने बालकाल में ही अपने प्राण धर्म के समर्पण कर दिये। ऐसा वंश संसार के इतिहास में अन्य कहीं नहीं मिलता।

गुरु गोविन्दसिंह मुगल साम्राज्य को नष्ट न कर सके

परन्तु उन्होंने मुग़ल शासन का जादू अवश्य तोड़ दिया और उसके विनाश की नींव रखदी। गुरु की मृत्यु को कुछ ही वर्ष हुए थे कि मुग़ल साम्राज्य का पंजाब में कोई चिह्न ही न रहा। ऐसा न हो सकता यदि गुरु गोविन्दसिंह ने अपने कार्य को शुरू न किया होता। गुरु ने अपने अनुयायियों को सच्ची समता की शिक्षा दी और उन्हें एक दूसरे का सच्चा भाई बना दिया। गुरु ने पहली बार इस पंथ के लोगों को यह बताया कि वे सब मिल कर 'गुरुमत' या सभा किया करें और जिस किसी बात का निर्णय एवं निश्चय करना हो उसे इस गुरुमत के समक्ष रखा करें। गुरु ने उनको इस बात का विश्वास दिला दिया कि खालसा ईश्वर के चुने हुए लोग हैं और वे अत्याचार का विनाश करने के लिए निर्माण किये गये हैं। गुरु ने उनमें से हर एक के अंदर सवा-लाख का बल उत्पन्न कर दिया: उन्हें सचमुच ही चिड़ियों से बाज़ बना दिया।

वीर बैरागी—गुरु गोविन्दसिंह ने खालसा-पंथ को जन्म देकर एक नवीन क्षत्रिय श्रेणी उत्पन्न कर दी। इनके पार-स्परिक संगठन को दृढ़ रखने के लिए गुरु ने कुछ चिह्न निश्चित किये थे। इन चिह्नों का परिणाम यह निकला कि सिक्ख लोग अपने आपको शेष हिन्दुओं से अलग समझने लगे। पृथक्त्व का यह भाव गुरु की मृत्यु के बाद देखने में आया। इस भाव को वेग से आगे लानेवाली शत्रु की पुरानी शक्ति थी।

श्रीगोविन्दसिंह से पूर्व गुरुओं के काल में जितना कार्य हुआ उसे हम हिन्दू जागरण समझते हैं। इनगुरुओं के जीवन का उद्देश हिन्दू राष्ट्र को जगाना था। हिन्दुओं का संरक्षण ही

उनका प्रयोजन था। गुरु गोविन्दसिंह ने तो अपनी मोहिनी से मृदु-स्वभाव हिन्दुओं में से एक युद्ध-प्रिय श्रेणी उत्पन्न की। अब हम उस युग में आ पहुँचे हैं जब इस जागरण का फल हमारे सामने आ जाता है। वह फल हम एक राष्ट्र-पुरुष में मूर्तिमान देखते हैं।

बैरागी माधवदास को उस जमाने के हिन्दू कलियुग का कल्कि अवतार समझते थे। सिखों की पुस्तकों में इन्हें बंदा-बहादुर कहा गया है। इनका जन्म जम्मू के पहाड़ी प्रदेशमें रियासी के निकट एक गाँव के राजपूत घराने में हुआ। माता-पिता ने नाम लछमनसिंह रखा। छुटपन से ही इन्हें शिकार का बहुत शौक था। शिकार करनेवालों में से ऐसे युद्ध-प्रिय मानव उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने बाद में राज्यों की नींव डाली हैं। पर लछमनसिंह का हृदय बर्बरों जैसा नहीं था। उनके मन पर हिन्दू संस्कृति ने अपना संस्कार कर रखा था। एक दिन उन्होंने एक हिरनी को तीर मारा। वह गर्भिणी थी। उसके अन्दर से बच्चे निकले जो तड़प-तड़प कर मर गये। इन नन्हे जीवों की मृत्यु देख कर वीर शिकारी का दिल टुकड़े-टुकड़े हो गया। लछमनसिंह ने न केवल शिकार छोड़ दिया वरन् घर-द्वार और दुनिया का परित्याग कर वे बैरागी साधुओं में सम्मिलित हो गये। अब उनका नाम माधवदास पड़ा। जानकीदास-नाम का साधु उन्हें कसूर ले आया। कुछ समय वहाँ रहने के पश्चात् उनमें तीर्थ-यात्रा एवं तप करने की इच्छा उत्पन्न हुई। तीर्थाटन करते हुए नांदेड़-नाम के गाँव में ठहर गये। धीरे-धीरे उनका मान बढ़ने लगा और वे वहाँ के महन्त बन गये।

इन दिनों औरंगजेब दक्षिण में फिर रहा था। मराठों ने उसके विरुद्ध गोरिल्ला-युद्ध जारी कर रखा था। औरंगजेब

की फ़ौज की ठाठ शाही होती थी। हर प्रकार का सामान उसके साथ रहता। कूच की तैयारी करने में उसे दोपहर हो जाती। मराठे इस बीच में आकर हमला करते और लूट-मार करके चले जाते। जब मुग़ल सेना उनको पकड़ने दौड़ती तो पीछे से मराठा घुड़सवारों का एक और दस्ता आकर छापा मारता। इस प्रकार युद्ध करके मराठों ने औरंगज़ेब की नाक में दम कर दिया। इन बातों की चर्चा संभवतः वैरागी माधवदास भी सुनते होंगे और कौन कह सकता है कि उनके मन पर इनका क्या प्रभाव पड़ता होगा। परंतु वे अपने वैरागी वेश को कैसे छोड़ सकते थे? गुरु गोविन्दसिंह की भेंट ने उनको इसका एक मौक़ा दे दिया। एक महापुरुष का कहना मान कर वैरागी ने वैराग्य छोड़ दिया। अब संसार के संघर्ष में सम्मिलित हो कर उन्हों-ने अपने जीवन को एक बड़ा भारी पलटा दिया। भगवद्-गीता के अनुसार अब वे सच्चे कर्मयोगी बन गये।

गुरु ने कुछ सिख वैरागी के साथ पंजाब भेजे थे। उन्हों-ने रुपये के लिए वैरागी को तंग करना शुरू किया। भरतपुर पहुँचने पर कुछ पंजाबी व्यापारियों ने वैरागी की बहुत सेवा की। वैरागी ने वह धन उन सिखों में बाँट दिया। खंडे नगरोट होते हुए उन्होंने टोहाना पर एक हल्ला किया और वहाँ से हिसार पहुँच कर सब सिखों के नाम परवाने लिखे। इतने में उन्हें खबर मिली कि भिवानी के पास खज़ाना जा रहा है वैरागी उस पर टूट पड़े और सारा माल लूट कर सिखों में बाँट दिया।

वैरागी की कीर्ति इससे पहले ही फैल चुकी थी। रुपये का लोभ सैकड़ों-हज़ारों को उनके पास खींच लाया। वैरागी को तीन प्रकार के मनुष्य मिले। एक तो सच्चे सिख थे जो गुरु

गोविंदसिंह की आज्ञा पर तथा धर्म-प्रेम के कारण उन के पास चले आये। दूसरे वे लोग थे जिनको रुपये का प्यार और लूटमार का शौक बैरागी के निकट ले आया। इनमें से बहुत-से लुटेरे और डाकू थे। तीसरे ऐसे भी सिख थे जो प्रकट रूपसे मुग़ल सरकार से बिगाड़ना न चाहते थे, परंतु गुप्त रूप से हर प्रकार की सहायता देने पर तैयार थे। तीसरे समूह में फुलकियाँ के सरदार रामसिंह और तिलोकसिंह भले आदमी थे।

सरहिंद के नवाब के पास जा कर कुछ सिख नौकर हो गये थे। जब नवाब ने बैरागी के आगमन की खबर सुनी तो घमंड से वह उन सिख सैनिकों से कहने लगा—"तुम्हारे एक गुरु की तो यह दुर्गति हुई है कि मारा-मारा फिरता है अब एक नया गुरु आया है। उसकी भी ऐसी खबर ली जायगी कि कहीं पता नहीं लगेगा।" अपने नेताओं के इस अपमान को वे सिख सहन न कर सके और भाग कर बैरागी से आ मिले।

बैरागी ने जितनी सेना एकत्र की उसी की सहायता से सामाना पर चढ़ाई कर दी। तीन दिन तक कसबे को खूब लूटा और जितना सरकारी खज़ाना वहाँ था वह सब सैनिकों में बाँट दिया। गुरु तेगबहादुर का क़ातिल जलालुद्दीन इसी कसबे का रहने वाला था। सामाना के पश्चात् सैफ़ाबाद सनौरा को लूटते-मारते बैरागी ने गंजपुर पर अपना अधिकार आ जमाया और उसे बरबाद कर डाला। साढौरा को भी जीत कर वहाँ दो दिन लूटमार की। मुखलिसगढ़ पर क़ब्ज़ा कर के उसका नाम लोहगढ़ रखा गया।

ये विजय-कार्य यद्यपि बहुत छोटे थे तो भी इनसे बैरागी

की धाक सारे इलाके में जम गई। हिन्दू नवयुवक दूर दूर से आकर बैरागी से मिलने लगे। साधारण हिन्दुओं में यह विचार फैल गया कि उनकी रक्षा के लिए ईश्वर ने अवतार लिया है वे। मुसलमान जो हिन्दुओं को हर समय डराते थे, अब खुद डर से काँपने लगे। कई मुसलमान सरदार उपहार लेकर बैरागी से आ मिले और उनके चेले बन गये। स्थान-स्थान से अत्याचार-पीड़ित ब्राह्मण आकर बैरागी के सामने शिकायतें करने लगे कि उनकी रक्षा की जाय। जहाँ कहीं से उत्पीड़न की खबर आती बैरागी के सैनिक वहीं पहुँच कर अत्याचार का अंत कर देते।

सरहिंद का नवाब लड़ाई की तैयारी कर रहा था। इधर बैरागी के दिल में भी सरहिन्द का खयाल खटक रहा था क्योंकि सरहिन्द से उन्होंने गुरु-पुत्रों का प्रतिकार लेना था। २३ मई, १७१०, को सरहिन्द में दोनों फौजों का मुकाबला हुआ। नवाब वजीरखाँ के पास बहुत-सी तोपें और हाथी थे। मालेरकोटला का ख्वाजा भी सेना लेकर उसकी मदद को आया था। बैरागी के पास तोपें और हाथी तो कहाँ लड़ाई का सामान भी काफी न था। तोपों की आवाज सुन कर वे डाकू और लुटेरे भागने लगे जो केवल लूट के लोभ से एकत्र हुए थे। परन्तु स्वयं बैरागी सच्चे क्षत्रिय-नेता के समान अपना तीर-कमान लिये तोपों का मुकाबला करते रहे। उनके साथ इलाका मालवा के सिखों के सरदार फतहसिंह, रामसिंह, धर्मसिंह तथा अलीसिंह और इलाका माँझा के बाजसिंह तथा बलवंतसिंह अपने प्राण देने पर तैयार थे। वजीरखाँ और उसका दीवान लड़ाई में मारे गये।

सिखों का कथन है कि "वजीरखाँ पकड़ा गया और

बैरागी के दरबार में लाकर उसे जूतों में बिठलाया गया। तत्पश्चात् बड़े अपमान के साथ उसकी जान ली गई। तीन दिन तक सरहिंद में लूट और सर्वबध जारी रहा। मुसलमानों को पकड़-पकड़ कर ज़िन्दा जलाया गया या तलवार से टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये। मसजिदों में सूअर लाकर क़त्ल किये गये।"

बाजसिंह को सरहिंद का शासक और आलीसिंह को उसका सहायक नियुक्त किया गया। फ़तहसिंह को सामाना का शासक बनाया गया, रामसिंह और नबोदसिंह को थानेसर का। सतलज और यमुना के दरमियान सरहिंद के प्रदेश के २८ परगने थे। सभी स्थानों के मुसलमान हटा कर हिन्दू अधिकारी नियुक्त किये गये।

इन सभी लड़ाइयों में बैरागी की तीरंदाज़ीने कमाल कर दिया था। उनका तीर सदा शत्रु की फ़ौज के बड़े अफ़सर को अपना निशाना बनाता। मुसलमान अफ़सरों के दिलों में यह बात जम गई कि बैरागी ने भूतों को अपने वश में कर रखा है; वही हर समय उनकी सहायता करते हैं। इस से सभी मुसलमानों में नैतिक पतन आगया।

इस प्रकार विजयी के रूप में बैरागी काँगड़ा के पहाड़ की तरफ़ गये। वहाँ के हिंदू राजाओं से पहले कुछ लड़ाई-झगड़े हुए। तत्पश्चात् उनसे मित्रता हो गई। ये राज्य भी उनकी सहायता करने पर तैयार हो गये। इससे पूर्व उन्होंने अमृतसर में एक बड़ा भारी दरबार किया और अपने सरदारों को इनाम दिये।

मुग़ल बादशाह ने देहली वापस आकर अपने मशहूर सरदार हाजी इस्माईलखाँ और इनायतुल्लाखाँ को बैरागी के विरुद्ध भेजा। उधर से लाहौर के सूबेदार असलमखाँ और



वीर वैरागी के दरबार में सरहिन्द का नवाब वज़ीर खाँ
जूतों में बिठलाया गया—पृ० ३३४

कसूर के पठान रईस मुहम्मदखाँ ने भी सहायता भेजी। देहली की सेना के आने की खबर सुन कर बाबा विनोद-सिंह करनाल छोड़ कर भाग आया। मुनीमखाँ ने आकर सरहिंद पर अधिकार कर लिया। सिख जगह-जगह भागने लगे। मुग़ल सैनिक उनका पीछा कर रहे थे। बैरागी पहाड़ से लौटे तो सिखों में जान पड़ गई। उन्होंने फिर सारे प्रदेश को अपने अधीन कर लिया।

देवबंद के हिन्दुओं ने आकर खबर दी कि वहाँ का हाक़िम जलालुद्दीन उनपर बड़ा अत्याचार कर रहा है। बैरागी अपनी सेना लेकर सहारनपुर पहुँचे। उसका शासक अलीमुहम्मद शहर छोड़कर भाग गया। सिखों ने उसपर अधिकार करके उसे खूब लूटा। तत्पश्चात् बेहात, अम्बेटा और ननोता फिरते हुए जलालाबाद की ओर चल पड़े। ननोता की लड़ाई में क़सबे के एक हिस्से में ही तीन सौ शैखजादे मारे गये। (इस हिस्से को अब भी फूटा-शहर कहा जाता है।) जलालाबाद पहुँच कर बैरागी ने उसका घेरा डाल दिया। परन्तु वर्षा के कारण घेरे को उठा लिया और करनाल-पानीपत की ओर मुँह किया।

इस विजय-शृंखला का संबंध देहली के निकटवर्ती प्रदेश से था। इसी कारण देहली का तख्त हिलने लगा। बहादुरशाह ने देहली में प्रवेश करने से पूर्व अपनी सेना बैरागी के विरुद्ध भेजी। बैरागी ने साढौरा से कुछ मील दूर लोहगढ़ के क़िले में आश्रय लिया। मुग़ल सेना ने क़िले को चारों ओर से घेर लिया। स्वयं बादशाह अपने चारों बेटों समेत वहाँ आ पहुँचा। बादशाह ने आज्ञा दी कि उन्हें सिखों के मज़बूत क़िले पर आक्रमण न करके इस बात का यत्न करना चाहिये कि सिख किसी प्रकार क़िले से बाहर आवें। कई दिन त

फ़ौजें ऐसे ही पड़ी रहीं। अन्त में खानखानाँ अपने कुछ सैनिकों को साथ लेकर शत्रु की जाँच के लिए क़िले के नज़दीक पहुँचा। ज्यों ही वे लोहगढ़ की जद में आये सिक्खों ने ऊपर से गोलाबारी शुरू कर दी। शाही सेना को भी हमले का आदेश मिला। खानखानाँ घोड़े से उतर कर सेना को आगे ले जाने लगा। क्योंकि स्वयं बादशाह लड़ाई देख रहा था, इस कारण बहुत-से सरदार और सैनिक आगे बढ़-बढ़ कर धावा करते थे।

सिक्खों को बहुत ऊँची चोटों से हट कर केंद्रीय क़िले में आना पड़ा। डर था कि वे सर्वथा नष्ट हो जायँगे। परंतु रात ने आ कर उन्हें बचा लिया। एक तंग-सा रास्ता क़िले से हिमालय की पहाड़ियों को जाता था। वैरागी इस रास्ते से निकल गये। अब उन्होंने एक जोगी फ़क़ीर का वेश धारण कर लिया था। वैरागी इस कला में बड़े सिद्धहस्त थे। यों वे राजकुमार के रूप में रहते। परंतु जब चाहते फ़क़ीरों का वेश बना लेते। कोई उनका पीछा न करे, इस विचार से वे अपने एक भक्त नौकर गुलाब को, जिसकी शक्ल उनसे मिलती थी, अपने पीछे क़िले में छोड़ गये।

दूसरे दिन खानखाना नक्कारों के साथ किले में प्रविष्ट हुआ। वैरागी को वहाँ देख कर उसकी खुशी की हद न रही। परंतु जब वह उसे पकड़ कर बादशाह के सामने लाया तब हक़ीक़त खुली। इस से बादशाह प्रसन्न होने के बजाय उलटे नाराज हो गया। वैरागी नाहन की ओर भाग गये थे। उन्हें पकड़ने के लिए बहुत यत्न किये गये, परंतु फ़िज़ूल।

बहादुरशाह अभी साढौरा में ही था कि वैरागी पठानकोट में आ प्रकट हुए। जम्मू का शासक बायज़ीदखाँ

और उसका भतीजा शमसखाँ उनके मुकाबले पर आये। परन्तु दोनों की हार हुई और वे मैदान में मारे गये। बहादुरशाह लाहौर आ पहुँचा। उसने मुहम्मद अमीनखाँ और रुस्तमदिलखाँ को बैरागी के विरुद्ध भेजा।

बैरागी फिर हिमालय की ओर चले गये। शाही सेना उनका कुछ बिगाड़ न सकी। बहादुरशाह कुछ साल लाहौर ठहरा। लेकिन वह पागल होकर १७१२ में मर गया। इसके लड़कों में गद्दी के लिए झगड़े शुरू हुए। देहली में तख्त के लिए ग़दर-सा मच गया। कभी एक राजकुमार गद्दी पर बैठता, कभी दूसरा। बैरागी के लिए यह सुनहरी मौका था। यदि वे चाहते तो पंजाब को स्वतंत्र हिंदू राज बना कर इस प्रांत के अधिपति बन जाते। इसे बैरागी की भूल कहा जाय या सांसारिकता से परहेज़, परंतु वास्तविक बात यह मालूम देती है कि बैरागी ने पंजाब को विभिन्न हिंदू सरदारों में बाँट दिया और स्वंय ब्याह करके पहाड़ में रहने लगे।

विद्रोह खड़ा कर देना आसान बात नहीं। परन्तु विद्रोह को सफल बनाना कठिन होता है। फिर एक बार सफलता प्राप्त कर उसका अस्तित्व बनाये रखना और भी कठिन होता है। बैरागी ने यह बात समझी कि राज्य प्राप्त करना एक बात है, परंतु उसे सँहाले रखना दूसरी बात है।

फर्रुखसियर ने गद्दी पर बैठते ही बैरागी को पकड़ने का निश्चय किया। बैरागी भी पहाड़ से उतरते, परन्तु शाही सेना से बच कर निकल जाते। १७१६ में उन्होंने बटाला और कलानौर लूटा। यहाँ सभी मुसलमानों का वध कर दिया गया। फर्रुखसियर ने लाहौर के नाज़िम को सख्त हुक्म भेजा कि

वैरागी की सत्ता को नष्ट कर दो। अबदुल्लाखाँ ने बड़ी भारी सेना और तोपखाना लेकर सरहिंद पर चढ़ाई की। वैरागी ने यहाँ पहुँच कर उसका खूब मुकबला किया।

यह समाचार सुनकर फ़र्रुखसियर को एक और चाल सूझी जिसका वर्णन 'पंथप्रकाश' में विस्तार से पाया जाता है। गुरु गोविंदसिंह की पत्नी सुंदरी देहली में रहा करती थीं। फ़रुखसियर ने अपने हिंदू मंत्री रामदयाल को कई उपहार देकर गुरु-पत्नी के पास भेजा। वे इस बात पर राजी हो गई कि वैरागी को संधि के लिए पत्र लिखें। सुंदरी ने लिखा—"आपने पंथ की बड़ी सेवा की है: इसे डूबने से बचा लिया है। अब मुग़ल बादशाह जागीर देने पर राजी है। बेहतर यह है कि आप उससे संधि करलें।"

वैरागी ने इसका उत्तर यह दिया—"तुर्कों (मुसलमानों) पर विश्वास नहीं किया जा सकता। आप मुग़ल के धोखे में न आएँ और हमें अपना काम करने दें।" फ़रुखसियर का आदमी सुंदरी को भड़काने के लिए मौजूद ही था। वे वैरागी से नाराज हो गईं। सुंदरी ने सभी सिख सरदारों को लिख भेजा कि "वैरागी गुरु बनना चाहता है। जब तक वह नियम-पूर्वक अमृत चख कर गुरु का सिख बनना स्वीकार न करे तब तक उसका साथ मत दो।"

अब सिखों में एक दल ऐसा खड़ा हो गया जो कई कारणों से वैरागी के विरुद्ध था। वैरागी ने 'वाह-गुरु जी का खालसा' के स्थान में 'फ़तह धर्म' का जय-घोष लगवाना शुरू किया। उन्होंने ऐसे एक-दो परिवर्तन कर के इस युद्ध को जातीय युद्ध बनाने का यत्न किया था। ये बातें उस संकीर्ण दल को पसंद न थीं। उसने अपना नाम तत्खालसा

रख लिया। जब अमृतसर के दरबार में बैरागी कलगी लगाये गद्दी पर बैठे थे तब बाबा बहनोरसिंह और काहन-सिंह-नाम के सरदारों ने बैरागी को हाथ से पकड़ कर गद्दी से उतारने का यत्न किया। इसके साथ ही यह शोर मचा दिया—"जो गुरु का सिख है वह बैरागी से अलग हो जाय।"

ततखालसा पृथक् हो गया। उसने बैरागी का असबाब तक लूट लिया। फ़र्रुख़सियर की चाल चल गई। फूट ने उसके लिए वह काम कर दिया जो उसकी सारी शाही ताक़त न कर सकी थी। यही नहीं; मुग़ल ने ततखालसा के साथ संधि करके खालसा के इलाक़े ततखालसा को बतौर जागीर प्रदान कर दिये। इसके बदले में नवीन दल के सिखों ने प्रतिज्ञा की कि वे बैरागी की सहायता कभी न करेंगे और यदि लाहौर पर चढ़ाई की गई तो वे वहाँ के मुग़ल शासक को मदद देंगे। फ़र्रुख़सियर ने वचन दिया कि इसके बाद किसी हिंदू को पतित करके मुसलमान न बनाया जायगा और किसी हिंदू के सामने गो-हत्या न की जायगी।

यह संधि एक धोखा और सिर्फ़ सब्ज़ बाग़ था। बैरागी को इस घटना से बड़ा आघात हुआ। परंतु उन्होंने अपने निश्चय से मुँह न मोड़ा और न अपने यत्न में शिथिल हुए। उन्होंने ततखालसा के सिखों को लिखा—"एक बार आप हमारे साथ मिलकर लाहौर को जीत लें। उसके पश्चात् जिस दल के साथ सिखों का बहुमत हो वह शासन को सँभाल ले।" परंतु धोखे में फँसे हुए सिखों ने उनकी बात न सुनी।

फिरभी जो थोड़े-बहुत लोग उनके साथ रह गये थे

उनकी सहायता से बैरागी ने लाहौर पर हमला करने का निश्चय किया। तत्खालसा के सैनिक और सरदार प्रतिज्ञा के अनुसार लाहौर के मुग़ल नाज़िम की फ़ौज में भरती हो गये। बैरागी की सेना शालामार-बाग़ में जा उतरी। उधर से लाहौर की मुग़ल फ़ौज आ गई। सब से पहले सिख सैनिक बैरागी के मुक़ाबले पर लड़ने को तैयार हो गये। बैरागी के सिपाहियों ने जब पुराने साथियों को तलवारें लिए अपने सामने डटा हुआ देखा तो उनके दिल टूट गये और उन्हों-ने रणक्षेत्र से पीछे कदम हटा लिये। इस बात ने बैरागी के भाग्य का निर्णय कर दिया। वे सेना लेकर पीछे हट गये।

कुछ देर इधर-उधर फिरकर वे गुरुदासपुर के क़िले में जो स्वयं उन्होंने बनवाया था, आ गये। अब्दुलसमदखां की सेना ने गुरुदास पुर का घेरा डाल दिया। जालंधर से भी उसकी सहायता के लिए मुसलमान सेना आ गई। उन सबने मिलकर क़िले के अंदर किसी प्रकार का सामान जाने के लिए कोई रास्ता न छोड़ा। समय बीतने लगा। क़िले में खाद्य-पदार्थ कम होने लगे। एक बार सैनिकों ने क़िले से निकल कर सामग्री लेने का यत्न किया। शाही सेना उन पर टूट पड़ी और वे सब मारे गये। जब भूख से तंग आगये तब कुछ आदमी बैरागी के विरुद्ध शिकायतें करने लगे। बाजसिंह ने सब को संतोष देते हुए कहा—"हमें अपने नेता पर विश्वास रखना चाहिये। उनमें हमारे कष्ट-निवारण का सामर्थ्य है।" भूख की नौबत यहाँ तक आ पहुँची कि लोगों ने घोड़े मार कर खाने शुरू कर दिये। इस प्रकार चार मास गुज़र गये। भूख से मरना लड़कर मरने से बहुत ज्यादा मुश्किल है। एक बार सभी मिल कर बैरागी से फ़रियाद करने लगे। तब उन्हों ने कहा—" संसार में सुख-

दुःख दोनों रहते हैं। मैं जानता हूँ कि आप भूखे हैं। परंतु मैंने भी अपने मुँह में चिर समय से अनाज का दाना नहीं डाला।"

उनके कष्ट का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। सब एक-दूसरे की तरफ़ देखते थे। कोई किसी की मदद न कर सकता था। अधीनता के सिवाय कोई चारा न रहा। लाचार क़िले के फाटक खोल दिये गये। मुग़ल सेना किले में प्रविष्ट हुई। वैरागी भूख के मारे हड्डियों का पिंजर रह गये। फिर भी किसी मुसलमान को उनके समीप जाने की हिम्मत न हुई। अंत में वैरागी ने अपना धनुष-बाण एक ओर रख दिया। तब कहीं मुसलमान सिपाहियों ने उन्हें जंजीरें डाल कर क़ैद किया। इससे पंजाब के हिन्दुओं की आशाओं पर पानी फिर गया और मुसलमानों के घरों में खुशियाँ मनाई गईं।

वैरागी और उनके साथियों को पकड़ कर देहली भेज दिया गया। देहली ने बहुत-सी आँधियाँ और तूफ़ान देखे हैं। इस देश के भाग्य का निर्णय महाभारत के युद्ध से लेकर अब तक प्रायः इसी नगर में होता रहा है। यह शहर कई बार उजड़ा और कई बार आबाद हुआ। यहाँ के लोग कितनी ही बार आक्रमणकारियों और लुटेरों के शिकार बने। देहली में हुतात्माओं के खून की भी कमी नहीं रही। परन्तु प्राणोत्सर्ग का जो दृश्य इस समय देहली ने देखा उसने गत सभी दृश्यों को मात कर दिया।

ये पुरुष-श्रेष्ठ अपने देश तथा धर्म के लिए इतने स्थिर रहे कि इन्होंने भूख से मरते हुए और मृत्यु के भयानक रूप को अपने सन्मुख देखते हुए भी अपने नेताओं का साथ दिया। परन्तु मुग़ल बादशाह के लिए तो ये यम थे। इस लिए उसने

भेड़ों की खालें पहना कर इन्हें गदहों पर सवार किया और सारे शहर में घुमाया। ये वीर क़ाज़ियों के सामने लाये गये। उन्होंने शरअ् से यह फ़तवा निकाला—"तुम्हें प्राण-दान दिया जा सकता है यदि तुम इस्लाम स्वीकार करलो।" यह सुन कर उन वीरों ने पहले थूका, फिर एक ने सब की ओर से यह कहा—"प्राण लेना या देना तुम्हारे हाथ में नहीं है। तुम अपना काम करो।"

इस पर सब को प्राणदंड देने का हुक्म सुनाया गया। प्रति दिन सौ-सौ वीरों को कोतवाली के सामने लाकर क़त्ल कर दिया जाता। इन बहादुरों के हर्ष का अनुमान एक सोलह-वर्षीय लड़के के उदाहरण से लगाया जा सकता है। उसकी बूढ़ी माता रोती, पीटती और चिल्लाती हुई जल्लादों के पास पहुँच कर कहने लगी—"मेरा बेटा बैरागी का चेला नहीं है।" उसके मामले पर क़ाज़ी दोबारा विचार करने लगे। यह बात लड़के की समझ में न आई। उसने पूछा—"मेरे संबंध में देर क्यों की जा रही है? मैं जल्दी स्वर्ग जाना चाहता हूँ।" जब उसे माँ की बात बताई गई तो वह झट से बोला—"मेरी माँ झूठ बोलती है। मैं बैरागी का सच्चा शिष्य हूँ। मैं अपने साथियों के पास जाना चाहता हूँ। वे तो मुझसे बहुत पहले जा चुके हैं।"

आठवें दिन बैरागी की बारी आई। उन्हें लोहे के पिंजरे में बन्द करके लाया गया। लोहे की तपी हुई सलाखों और चिमटों से उनका शरीर नोचा गया। उनकी आँखों के सामने उनके छोटे से बेटे का बध करके उसका कलेजा चीरा गया। कलेजे के लहू से भरे टुकड़े पिता के मुँह पर फेंके गये। परंतु महात्मा बैरागी पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा। न मुख पर भय था, न मुँह से कोई शब्द निकला।

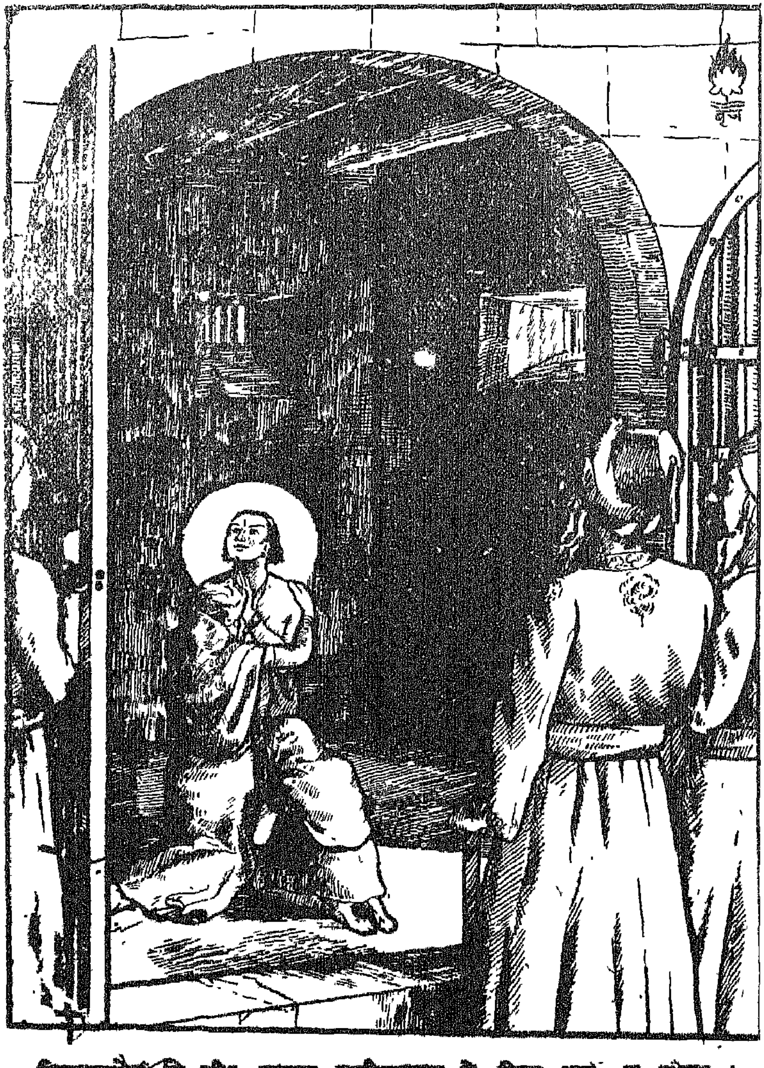
शत्रुओं को इससे बहुत आश्चर्य हुआ। मुग़ल शासक से रहा न गया। उसने पूछ ही तो लिया—"इतनी यातनाएँ देने पर भी दुःखी नहीं मालूम देते। इसका कारण क्या है?" महात्मा ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"जो इस आत्मा को जानता है वह अनुभव करता है कि यह आत्मा दुःखों से परे है।" इस प्रकार वैरागी ने स्वराष्ट्र और स्वधर्म की वेदी पर अपने प्राणों की बलि चढ़ा दी।

तत्खालसा का पश्चात्ताप—वीर वैरागी के मरने की देर थी कि तत्खालसा को मालूम हुआ कि हम क्या कर बैठे हैं। अब उन्हें अपने नेता की याद आने लगी। परंतु इस पश्चाताप से क्या हो सकता था। अब्दुलसमद जानता था कि सिख इसलाम के दुश्मन हैं। उसने सभी प्रतिज्ञाओं को भुला दिया। वास्तव में वे प्रतिज्ञाएँ भंग करने के लिए ही की गईं थीं। मुग़ल शासक ने खालसा के सर्वनाश के लिए नये-नये ढंग निकालने आरंभ किये। सिख बहुत भोले थे। वे इतना भी न समझ सके कि संसार में राजनीतिक प्रतिज्ञाएँ उसी समय तक के लिए होती हैं जब तक कि उनको पूरा करवाने का सामर्थ्य होता है। वैरागी के विरुद्ध शत्रु से मिल कर वैरागी-जैसे नेता को उन्होंने अपने हाथ से खो दिया: अपनी शक्ति पर स्वयं उन्होंने कुल्हाड़ा चला दिया। अब उन्हें इसकी सज़ा मिली। सूबेदार ने घोषित कर दिया कि सिखों ने जिस किसी को कष्ट पहुँचाया हो या जिस किसी का माल लूटा हो वह आकर बताये। सिखों के विरुद्ध चोरी, डाका आदि की दरख़्वास्तें गुज़रने लगीं। उन्होंने पंजाब छोड़ कर भागना आरंभ किया। कुछ तो हिमालय की ओर चले गये, कई एक ने राजपूताना में जा आश्रय लिया। सिख के सिर

का मोल रख दिया गया। जो आदमी किसी सिख का सिर काट कर लाता उसे मुग़ल शासन दस रुपये इनाम देता। सिख होना मृत्यु की निशानी थी। सैकड़ों सिख प्रतिदिन क़त्ल किये जाते। कई हज़ार ने जो लूट-मार के लिए सिख बने हुये थे, अपने लंबे बाल कटवा डाले। जंगलों में रहकर बहुतेरे सिख जड़ों और पत्तों पर गुज़ारा किया करते। उनकी स्त्रियाँ और बच्चे मुसलमान अफ़सरों की दया पर दिन बिताने लगे।

अब्दुलसमद १७२६ तक लाहौर का शासक रहा। उसने सिखों को एक क्षण के लिए भी चैन न लेने दिया। दीवाली का उत्सव कई बरस तक बन्द रहा। परंतु सिख बहुत देर तक चुप न बैठने वाले थे। उन्होंने इस बीच में अपने कई समूह बना लिये। उन्हें जब कभी अवसर प्राप्त होता वे छापा मारते और अत्याचारियों का वध कर देते या उन्हें लूट ले जाते जिन मुसलमानों ने उनके खिलाफ़ अर्जियाँ दी थीं उनको चुन-चुन कर वे तंग करते।

वैरागी के साथियों का क्या बना? जब वैरागी का ज़ोर था तब अमृतसर का हरमंदिर उनके हाथ में था और सारी आय पर उनका अधिकार था। कुछ समय तक यह मंदिर भी उजड़ा रहा। १७२५ में कई वर्ष के बाद पहली बार दीवाली मनाई गई। बहुत से सिख वहाँ एकत्र हुए। चढ़ावे पर किसका क़ब्ज़ा हो, इस बारे में झगड़ा हो पड़ा। वैरागी के शिष्य उस पर अपना क़ब्ज़ा समझते थे, तत्खालसा अपना। दोनों तरफ़ तलवारें चमकने लगीं। भय था कि सिखों में घरेलू युद्ध छिड़ कर उनके विनाश का एक और कारण न पैदा हो जाय। भाई मनीसिंह की बुद्धिमत्ता ने इसे रोक दिया। उसकी



स्यालकोट के वीर बालक हक़ीक़तराय ने हिन्दू धर्म न छोड़ा। इस पर १७३४ में लाहौर में उसका सिर काट दिया गया और वे हुतात्मा बन गये। क़ैदख़ाने में माता और पत्नी की अंतिम भेंट।

तजवीज़ थी कि कागज़ के दो टुकड़ों पर दो नाम लिख कर उनकी गोलियाँ बना पानी में डाल दी जायँ। जिस दल की गोली पहले डूब जाय उसका चढ़ावे पर कोई अधिकार न समझा जाय। यदि दोनों तैरती रहें तो चढ़ावा दोनों में बाँट दिया जावे। दोनों पक्षों ने इसे स्वीकार कर लिया।

इससे सिद्ध होती है कि वैरागी के मृत्यु के बाद भी उनके शिष्यों तथा साथियों की इतनी संख्या थी कि तत्खालसा लाटरी डाल कर उनके साथ समझौता करने पर राजी हो गया। संयोग था या कोई चलाकी, वैरागी-नाम की गोली पहले डूब गई। वैरागी-दल हैरान रह गया। इसमें से बहुत से निराश हो कर तत्खालसा के साथ जा मिले। जो बचे वे गुमनामी की हालत में रहने लगे।

हुतात्मा हक़ीक़तराय—वीर वैरागी-पक्ष के इस प्रकार खतम हो जाने पर पंजाब में हिंदू जाग्रति का एक प्रकार से अंत हो गया। इसका अनुमान हक़ीक़तराय की शहादत से लगाया जा सकता है।

हक़ीक़तराय सियालकोट-शहर में १७१६ में पैदा हुआ। पिता का नाम बाघमल था और माता का गोरां। जात का पुरी (खत्री)। छोटी उम्र में ही बडाला के एक सिख खत्री की लड़की से उसका ब्याह हो गया। वह मुल्ला के पास फ़ारसी पढ़ने जाया करता था। तब वह पंद्रह बरस का था।

एक दिन मुल्ला की अनुपस्थिति में लड़कों का परस्पर झगड़ा हो गया। कुछ मुसलमान लड़कों ने दुर्गा-देवी को गालियाँ दीं। हक़ीक़तराय के मन में देवी के प्रति बड़ी श्रद्धा थी। वह इसे सहन न कर सका। उसने देवी के अपमान का प्रतिकार लेने के लिए इसलाम के प्रवर्त्तक को लड़को बोवा

फ़ातिमा को गाली दे दो। हिन्दू हो कर हक़ीक़तराय ऐसा साहस कर सकता है—यह मुसलमानों के लिए ग़जब की बात थी। मुल्ला वापस आया। मुसलमान लड़कों ने उससे शिकायत की। शिक्षक ने पूछा तो हक़ीक़तराय ने बड़ी दलेरी दिखाई और सारा मामला सच-सच बता दिया, परन्तु साथ ही यह भी कह दिया—"मुसलमान लड़कों ने उस देवी को गालियाँ दी हैं जिसके पूजन के लिए अकबर भी नंगे पाँव चल कर आया था।"

मुल्ला भी उससे खफ़ा हुआ और उसे स्थानीय मुसलमान न्यायाधीश, क़ाज़ी, की कचहरी में ले गया। क़ाज़ी उसे लेकर सियालकोट के हाकिम अमीरबेग के पास पहुँचा। लड़के के माता-पिता यह समाचार पाकर दौड़े-दौड़े हाकिम के यहाँ आये और उसके पैरों पर सिर रख कर क्षमा माँगी—"बच्चा है। ग़लती से उसके मुँह से ऐसे शब्द निकल गये हैं। इस पर दया की जाय।"

क़ाज़ी और मुल्ला चाहते थे कि हक़ीक़तराय को स्वधर्म से पतित करके मुसलमान बनाया जाय, अन्यथा क़त्ल कर दिया जाय। इस उद्देश्य से उन्होंने शहर के मुसलमानों में शोर-सा पैदा कर दिया। अमीरबेग इतने बड़े अत्याचार का उत्तरदायित्व अपने ऊपर न लेना चाहता था। उसने मौलवियों को बुला कर सारा मामला उनके सामने रख दिया। मौलवियों ने वही निर्णय किया जो मौलवियों को देना चाहिये, अर्थात् इसलाम या मृत्यु।

अमीरबेग दिल से यह नहीं चाहता था। उसने मौलवियों से कहा—"इससे बहुत बुरे परिणाम निकलेंगे।" मौलवी पक्षपात से ऊपर न उठ सके और अपनी बात पर अड़े रहे—

"ऐसा करना हमारा मज़हबी कर्त्तव्य है। इसकी पूर्त्ति में अन्य विचारों को परे रख देना चाहिये।" बहुत से लोग अमीरबेग की अदालत के गिर्द एकत्र हो गये थे। उसने तंग आ कर यह फ़ैसला दिया—"मुकद्दमा लाहौर के नाज़िम की अदालत में भेज दिया जाय।"

हक़ीक़तराय को सिपाही लाहौर ले गये। रास्ते में हर गाँव और क़सबे के लोग उसके दर्शन के लिए आते। क़ाज़ी साथ था। लोग उससे बेचारे लड़के के लिए दया की प्रार्थना करते। कई एक मुसलमानों ने भी, जिन में शाह-दरा का मुक़द्दम दरगाही एक था, उस की मुक्ति के लिए सिफ़ारिश की, परंतु किसी की एक न सुनी गई।

लाहौर के नाज़िम का निर्णय मौलवियों के फ़तवे के अनुसार ही था। परंतु उसने हक़ीक़तराय पर दया कर के उसे समझाने का यत्न किया—"यदि मुसलमान बन जाओगे तो तुम्हें बड़ा रुतबा मिलेगा और अन्य कई प्रकार के सांसारिक लाभ प्राप्त होंगे।" उस की माँ गौरां भी दौड़ी-दौड़ी आई और बेटे से कहने लगी—"अच्छा है। किसी तरह से अपनी जान बचा लो।" लड़के ने, लड़ कर माँ को यह जवाब दिया- "मरना हर हालत में आवश्यक है। मैं धर्म छोड़ कर जीना नहीं चाहता।"

धर्मपत्नी का दुःख और माता-पिता तथा अन्य मित्र-संबधियों का वियोग एक तरफ़ था, धर्म दूसरी तरफ़। हक़ीक़तराय ने धर्म का मार्ग स्वीकार किया और इसके बदले १७३४ में अपना सिर कटवा दिया। समस्त हिंदू आबादी ,रो रही थी जब शहर लाहौर के ठीक बीच में इस निरापराध धर्मी पुण्यात्मा पर वसंत पंचमी के दिन तलवार चलाई गई। जब

इसकी अर्थी उठाई गई तब नगर के छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष साथ थे। इसके फूल लाहौर से चार मील की दूरी पर गाड़ कर ऊपर समाधि बनाई गई जहाँ प्रतिवर्ष बसंत पंचमी को बड़ा भारी मेला लगता है।

खालसा का संघर्ष—वीर वैरागी की मृत्यु के बाद आठ वर्ष तक सिखों का निशान भी कहीं दिखाई न दिया। इसके पश्चात् जब खालसा फिर मैदान में आया तो तत्खालसा-दल ने ही अपना काम शुरू किया। वीर वैरागी के सिख १७२५ में सिख पंथ से निकल गये। अब सिख आंदोलन से हिंदू जातीयता की भावना निकल गई और वह एक संप्रदाय बन गया। इसका यह अर्थ नहीं कि हिंदू धर्म से खालसा का कोई संबंध नहीं रहा। खालसा हिंदुओं में से उत्पन्न किया गया था। इसको जन्म देने वाले हिंदू थे। गुरु नानक के ये शब्द यही सिद्ध करते हैं—

कहा नर अपनो जनम गवावै,
माया, मद, विषया-रस राच्यो राम शरन नहिं आवै।
इह संसार सकल है सुपना देखत कहा लुभावै।
जो उपजे सो सकल बिनासै रहन न कोऊ पावै।
मिथ्या तन सांचो करि मान्यों इहि विधि आप बंधावै।
जन नानक सोऊ जग मुक्ता राम भजन चित लावै।

ऊपर तो 'रामशरन' और 'रामभजन' का प्रयोग किया गया है। इसमें 'हरि' का—

हिरदे जिनके हरि बसे सो जन कहिए सूर,
कही न जाई नानका पूरि रहा भरपूर।

गुरु गोविंदसिंह की जो कविताएँ हम पीछे दे आये

हैं उन में से पहली के ये पद इस बात की पुष्टि करते हैं—

जगै धर्म हिंदू सकल दुन्द भाजै।

इसमें अधिकतर लोग ऐसे थे जो हिंदू धर्म की सभी बातें मानते और उन पर आचरण करते थे। उदाहरणार्थ महाराज रणजीतसिंह सभी हिंदू रीति-रिवाज मानते थे। वे हिंदू धर्म की सभी बातों का अनुष्ठान करते थे। ब्राह्मण उनके दरबार में विद्यमान रहते थे और वे उनका मान करते। अन्य हिंदुओं के समान महाराज भी ज्वालामुखी और हरद्वार को तीर्थ मानकर श्रद्धा से इनकी यात्रा किया करते थे। इन सब बातों के रहते हुए भी हमने यह देख लिया है कि जब सिखों के सामने परीक्षा का समय आया तो वे भ्रमवशात् अपने आप को हिंदुओं से पृथक समझने लगे। तब पृथकत्व का भाव प्रबल हो गया और खालसा एक दृष्टि से हिंदुओं से अलग हो गया।

सन् १७२४ में खालसा के विभिन्न समूहों ने जगह-जगह मार-धाड़ शुरू कर दी। उनका हाथ ऐसे जाति-घातकों पर पड़ा जिन्होंने उनकी अनुपस्थिति में स्त्रियों तथा बच्चों पर अत्याचार करवाये थे। सम्भवतः इसी डर से अब्दुलसमद को १७२६ में मुलतान बदल दिया गया और उसका लड़का ज़करियाख़ाँ लाहौर का हाकिम बनाया गया। इसने काम सँभालते ही सेना का एक गश्ती दस्ता इस उद्देश्य से दौरे पर भेजा कि वह सिखों को कहीं भी एकत्र न होने दे। यह दस्ता सारे इलाक़े में फिरता था। मुग़ल कर्मचारियों के साथ सिखों की टक्कर दिन प्रति दिन बढ़ने लगी। दलावान के तारासिंह ने पट्टी (लाहौर) के हाकिम जाफ़र को परास्त किया। एक सिख जत्थे ने कानाकाछा (लाहौर) के समीप

सरकारी खजाना लूट लिया। एक अन्य जत्थे ने घोड़ों के शाही सौदागर मुर्तजाखाँ को जा लूटा। १७३० में इन्होंने वह सारा सरकारी खजाना लूट लिया जो लाहौर से देहली जा रहा था। अगले वर्ष ये लूटमार करते हुए लाहौर के एक दरवाजे तक जा पहुँचे। शहर के मुसलमान लोग सूबेदार की सहायता के लिए एकत्र हुए। सिखों को दो बार पीछे हटा दिया गया। अन्त में इन्हें बड़ा भारी नुक्सान उठा कर हार खानी पड़ी। १७३१ में जकरियाखाँ ने सुलह की चाल चली। सिखों को दबाने के विचार से बादशाह की ओर से उनके लिए एक लाख रुपये की जागीर और उनके नेता के लिए नवाब की उपाधि भेजी गई।

सिखों ने पहले तो इसे लेने से इनकार कर दिया। लेकिन बाद में यह उचित समझा कि इसे स्वीकार कर लिया जाय। अन्त में फैसलपुर के जाट कपूरसिंह ने जो उस समय पंखा हिलाने का काम करता था, इसे मंजूर कर लिया। उसके बाद वह नवाब कपूरसिंह के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बाद में वह एक मिसल का अग्रणी बना। उसका जीवन इतना सरल और ऊँचा था कि उसने सैकड़ों जाटों, तरखानों, भड़भूंजाओं और जुलाहों को 'अमृत' चखा कर सिख बनाया। वह अभिमान-पूर्वक कहा करता कि उसने अपने हाथों से पाँच सौ मुसलमान का वध किया है।

सन् १७३४ में सिखों के दो दल हो गये—एक में वृद्ध थे, दूसरे में तरुण। तरुण दल के पाँच भाग थे जिनमें से एक मजहबी सिखों का था। इसके अग्रणी बीरसिंह और अमरसिंह थे। दूसरा खत्री सिखों का था जिसके अग्रणी धर्मसिंह और प्रेमसिंह थे। इनके अतिरिक्त तीन

जाटों के थे जिनके अगुआ दिलीपसिंह शहीद, दसवंधसिंह, बाबा काह्नसिंह और नबोदसिंह थे। ये सब अमृतसर के इर्द-गिर्द गाँवों में आबाद हो गये।

अब तरुण दल ने नये सिरे से लूट-मार शुरू कर दी। लाहौर के दीवान लखपतराय ने सेना लेकर इनको सतलज-नदी के पार भगा दिया। १७३५ में इनकी जागीर ज़ब्त कर ली गई। अगले वर्ष नवाब कपूरसिंह ने लाहौर के सेनानायक हैबतखाँ का अमृतसर के पास वसारकी में मुक़ाबला किया, परन्तु पराजित हुआ। तब वृद्ध और तरुण, दोनों, दलों ने मिल कर हुजरा शाहमुक़ीम के पास मुग़ल सेना को परास्त किया। दो बरस और खालसा इस तरह के लड़ाई-झगड़ों में संलग्न रह कर अपने उत्कर्ष का मार्ग साफ़ करता रहा।

लुटेरे नादिर के आक्रमण से पूर्व देहली का मुग़ल शासन विलास-प्रियता और मदभेदों के कारण सख़्त कमजोर हो रहा था। मुहम्मदशाह दिन रात राग रंग और नाच-तमाशे में मस्त रहता था। उसने नादिर की चिट्ठी का दो बरस तक उत्तर न दिया। जब नादिर भारत पर आक्रमण करने के लिए आ रहा था तब उसने एक और पत्र लिखा। इसे मुहम्मदशाह ने कवि हाफ़िज़ का एक शेर पढ़ कर शराब के प्याले में डुबो दिया। इसकी सबसे प्यारी बेगम एक नाचने वाली हिंदू स्त्री थी जिससे अहमदशाह उत्पन्न हुआ। यह मुहम्मदशाह के बाद देहली के तख़्त पर बैठा।

अहमदशाह ने अपने माता-पिता से यही सीखा कि अपना सारा समय विलास और मौज में गुज़ारना चाहिये। इसका हरमसरा एक मील लम्बा था। दरबार में धड़ाबंदी का इतना

ओर था कि एक बड़े के लोग अपने प्रतिद्वंद्वी की शक्ति की अपेक्षा साम्राज्य के विनाश को बेहतर समझते थे। आसिफजाह को एक बार मखौल से यह कहा गया—"तू तो बादशाह के सामने बंदर की तरह नाचता है।" इस पर उसने कसम खा ला कि वह देहली के हरएक बुर्ज और मीनार पर बंदर नचा कर ही दम लेगा। इसी ने नादिर को देहली पर हमला करने के लिए पत्र लिखा।

इस समय बंगाल, दक्षिण और अवध में सूबेदारों ने अपना-अपना स्वायत्त राज्य बना लिया था। राजपूतों ने मुगलों की जंजीरों से अपने आप को मुक्त कर लिया। रुहेले रुहेलखंड में और जाट भरतपुर में स्वतंत्र हो गये। सब से बड़ी घटना यह हुई—बाजीराव पेशवा सेना लेकर आगरा से देहली में आ पहुँचा।

लाहौर की भी देहली-जैसी ही हालत थी। जकरियाखाँ लाहौर का शासक था। अन्य सूबेदारों के समान यह खुद-मुख्तार न बन सका। इस समय जालधंर दोआबा का नाजिम जसपतराय था। जकरियाखाँ ने उसे एक छोटे परगने ऐमनाबाद में बदल दिया और उसके स्थान में अदीनाबेग को नियुक्त किया। जसपतराय और उसका भाई दीवान लखपतराय अदीनाबेग से ईर्षा करते थे। वे इस कोशिश में रहते थे कि किसी प्रकार उसका अपकर्ष हो। जसपतराय सिखों को भड़काता था कि वे जालंधर दोआबा में गड़बड़ मचाएँ। इधर अदीनाबेग यह चाहता था कि मध्य पंजाब के सिख विद्रोह खड़ा कर दें। इस प्रकार सिखों के दिलों से शासन का भय जाता रहा और वे देश के इस भाग में गड़बड़ फैलाने के लिये तैयार हो गये।

पंजाब की यह अवस्था थी जब १७३८ में नादिर ने हमला किया। लाहौर-शासन को एक भयानक शत्रु का सामना करना पड़ा। उसने सिखों को अपने हाल पर छोड़ दिया। उन्होंने डेरा बाबानानक के पास दलीवाली में रावी के किनारे एक छोटा-सा किला बना लिया। यहाँ से निकलकर सिख सरकारी कर्मचारियों और मुसलमानों के गाँवों तथा मुग़लों के पक्षपाती अन्य लोगों को लूटते। उन्होंने नादिर को भी न छोड़ा। वे उसकी सेना के उस हिस्से पर जा पड़े जो देहली लूटने के लिये जा रहा था। जो कुछ हाथ लगा, लेकर चल दिये। नादिर ने पूछा—ये लंबे-लंबे बालोंवाले वहशी कहाँ आते हैं जो मुझे इस तरह के कष्ट देने का साहस करते हैं। खुद इनको और इनके घरों को नष्ट कर देना चाहिए।" नादिर को जवाब मिला—"इनके घर तो घोड़ों की काठियाँ हैं।"

सिख कुछ समय तक इसी प्रकार ऊधम मचाते रहे। अंत में ऐमनाबाद के पास दो हजार की संख्या में एकत्र हो गये और साथ के गाँवों से लगान वसूल करना आरंभ कर दिया। एक दिन एक देहाती ने मौजा खुकरां में आकर जसपतराय से शिकायत की कि सिख उसकी भेड़ों और बकरियों को लूट ले गये हैं और रोड़ीसाहब में बैठ उन्हें मार कर खा रहे हैं। जसपतराय ने उन्हें कहला भेजा कि वे वहाँ से चले जायँ। परन्तु उन्होंने इनकार कर दिया। वह सेना ले कर वहाँ जा पहुँचा। लड़ाई में एक 'रंगरेटा' सिख हाथी की दुम पकड़ हौदे पर चढ़ गया। जसपतराय का सिर काट कर वह दौड़ गया।

दीवान लखपतराय यह सुन कर आग बबूला हो गया।

उसने कहा—"सिख पंथ चलाने वाला खत्री था। परन्तु मैं अपने आपको खत्री न कहूँगा यदि इसको मिटा न दूँ।" सूबेदार को साथ लेकर वह सिखों का पीछा करने लगा। जम्मू के पास सिखों की हार हुई। बहुत-से क़ैद करके लाहौर लाये गये। देहली दरवाज़ा के बाहर उस स्थान पर उन्हें क़त्ल कर दिया गया जिसे शहीदगंज कहा जाता है। इसके साथ ही यह घोषित किया गया कि जो कोई आदमी गुरु गोविंद का नाम लेगा उसका पेट चाक कर दिया जायगा।

अब्दाली—सिखों को अब फिर थोड़ी देर के लिए इधर-उधर छिपना पड़ा। लेकिन लखपतराय के अपने दिन खतम हो रहे थे। लाहौर के सूबेदार यैयाखाँ का भाई शाहनिवाज़ मुलतान का नाज़िम था। उसने १७५४ में लाहौर पर आक्रमण करके यैयाखाँ और लखपतराय को निकाल दिया और स्वयं मालिक बन बैठा। देहली के शासन से डर कर शाहनिवाज़ को एक नई बात सूझी। उसने अहमदशाह अब्दाली को जो नादिर के जगह ग़ज़नी का बादशाह बन गया था, भारत पर आक्रमण करने के लिए पत्र लिखा और स्वयं उसके अधीन होना स्वीकार किया। अहमदशाह पहले ही हमला करना चाहता था। दस हज़ार सवार लेकर वह तुरंत ही पेशावर की तरफ़ चल पड़ा।

इतने में शाहनिवाज़ को इस धोखाबाज़ी के लिए लज्जित किया गया। साथ ही उसे लाहौर की सूबेदारी पर पक्का करने का वचन दिया गया यदि वह आक्रमणकारी का मुक़ाबला करे। खैबर पहुँचकर अहमदशाह ने शाहनिवाज़ के पास संदेश-वाहक भेजा। यह बहुत घमंडी था। शाहनिवाज़ को नाराज़ करके लौट गया। रोहतास पहुँचकर

अहमदशाह ने अपने पीर के बेटे साबिरशाह को शाहनिवाज़ के पास भेजा। शाहनिवाज़ ने उससे लापरवाही से प्रश्न किया—"अहमदशाह का क्या हाल है?" साबिर ने उसे इस अशिष्टता पर लज्जित किया। शाहनिवाज़ को इससे इतना गुस्सा आया कि उसके मुंह में पिघला हुआ सीसा डालकर उसे मार दिया गया।

अहमदशाह लाहौर पर चढ़ आया। थोड़े ही मुक़ाबले के बाद उसकी जीत हुई। शाहनिवाज़ देहली भाग गया। अहमदशाह ने लखपतराय को लाहौर का सूबेदार नियुक्त किया और कसूर के जुमलाखाँ को उसका परामर्शदाता बनाया। अहमदशाह देहली की तरफ़ कूच कर रहा था। सरहिंद में सिखों के हाथों उसे बड़ी हार हुई जिससे वह जल्दी से काबुल वापस चला गया।

सिखों के लिए यह अवसर प्रकृति-प्रदत्त था। वे फिर मैदान में निकल आये और आते ही आक्रमणकारी की सेना के पीछे पड़ गये। एक तो उन्हें बहुत-सी लूट हाथ लगी। फिर पठानों का पीछा करने से उनका साहस बढ़ गया। इस लूट से सिखों ने रामरौनी का क़िला तैयार किया। इस समय उनका नेता जस्सासिंह था जिसने पंजाब में अपने शासन की घोषणा की।

मीरमन्नू—सरहिंद की लड़ाई में बूढ़ा वज़ीर कमरुद्दीन अपने तंबू में कुरान पढ़ता हुआ मारा गया। उसके बड़े बेटे मीरमन्नू के कारण अहमदशाह अब्दाली को हार हुई। देहली में वज़ीर का पद सफ़दरजंग को मिला जो अवध के सूबेदार सआदतखाँ का जँवाई था। सफ़दरजंग को मीरमन्नू की शक्ति का डर था। इस कारण उससे बचने

के लिए सफ़दर ने उसे लाहौर और मुलतान का शासक बना कर देहली से बाहर भेज दिया।

जब मीरमन्नू १७४८ में लाहौर पहुँचा तो पंजाब में हर जगह सिखों का प्रभुत्व था। उन्होंने स्थान-स्थान पर अपने जत्थे बना लिये थे। ये निधड़क होकर सर्वत्र लूटमार करते। मीरमन्नू को आते ही सिखों की तरफ़ ध्यान देना पड़ा। रामरौनी के क़िले को जीतकर उसने गिरा दिया। साथ ही सभी इलाक़ों में फ़ौजी दस्ते नियुक्त कर दिये ताकि जहाँ कहीं कोई सिख मिले उसके बाल काट दिये जायँ। सिखों को एक बार फिर जंगलों और पहड़ों की शरण लेनी पड़ी। मीरमन्नू ने पहाड़ी राजाओं को लिख भेजा कि वे सिखों को अपने यहाँ न रहने दें और उनको गिरफ़्तार करके लाहौर भेजते जायँ। प्रतिदिन कई सिख पकड़ कर लाये जाते। उसी शहीदगंज में उनका बध किया जाता।

मीरमन्नू ने सिखों को बिलकुल ही नष्ट कर देने का निश्चय कर लिया। लेकिन उसके दुर्भाग्य से अहमदशाह अब्दाली सिंध-नदी पार करके अपना पिछला कलंक धोने के लिए लाहौर की तरफ़ बढ़ने लगा। मन्नू ने सेना भेजने के लिए देहली को लिखा। परंतु वहाँ उसकी कौन परवाह करता था। वहाँ तो किसी को रंग-राग से फ़ुरसत ही न मिलती थी। उधर मन्नू देहली से निराश हो गया और इधर अब्दाली चनाब तक आ पहुँचा। उसने अपनी सेना एकत्र की और मुक़ाबले के लिए आगे बढ़ा। चनाब के किनारे सोधरा के मैदान में थोड़ी देर लड़ाई हुई जिसमें मन्नू ने देख लिया कि वह मुक़ाबला नहीं कर सकता। उसने संधि के लिए प्रार्थना की। अब्दाली ने अपने पीछे अफ़ग़ानिस्तान में सक-

लीफ़ मालूम हुई। पसरूर, गुजरात, सियालकोट और औरंगाबाद—इन चार ज़िलों का लगान राजस्व के रूप में लेकर वह लौट गया।

जब मन्नू इस लड़ाई में लगा हुआ था तो सिख जो उससे हृदय से घृणा करते थे, लाहौर पर आ पड़े, उसे लूटा और बाहर के हिस्से मुग़लपुरा आदि को आग लगाकर मिट्टी में मिला दिया। मन्नू ने आकर लाहौर की दुर्दशा देखी तो सिखों के विरुद्ध फिर सख्तियाँ शुरू कर दीं। जंगल या पहाड़ में जहाँ कहीं कोई सिख मिलता उसे गिरफ़्तार करके क़त्ल कर दिया जाता। सिखों में भी यह कहावत प्रचलित हो गई—

मन्नू असाडी दात्री, असी हां उसदे सोये,
ज्यों-ज्यों मन्नू वडदा घरीं-घरीं असी होये।

(मन्नू हमारे लिए दाँती है और हम उसके लिए सोआ-साग हैं। ज्यों-ज्यों मन्नू हमें काटता है त्यों-त्यों हम हर घर में बढ़ते हैं।)

सफ़दरजंग को मन्नू की शक्ति का डर तो था ही। उसने शाहनिवाज़ को फिर मुलतान का नाज़िम नियुक्त कर दिया। मन्नू ने अपने प्रधान मंत्री कूड़ामल को उसे रोकने के लिए भेजा। इसमें कूड़ामल को सिखों की सहायता से सफलता प्राप्त हुई और शाहनिवाज़ मारा गया। मन्नू इससे बहुत प्रसन्न हुआ। उसने कूड़ामल को महाराज की उपाधि देकर मुलतान का नाज़िम बना दिया और स्वयं देहली से खुद-मुख्तार बन बैठा। उसने अब्दाली को भी राजस्व देने से इनकार कर दिया।

अहमदशाह अब्दाली ने १७५१ में सिंध को पार किया। चनाब पहुँचकर उसने अपने प्रतिनिधि दीवान सुखजीवन-मल को लाहौर भेजा। मन्नू ने पहले तो यह कहा कि मेरे अंदर राजस्व देने का सामर्थ्य नहीं है; फिर कहने लगा "क्योंकि शाह ने पंजाब में आने का कष्ट उठाया है इसलिए मैं सारा बकाया वसूल करके भेज दूँगा यदि शाह काबुल वापस चले जायँ। उनके आने की खबर सुनकर सारे जमींदार डर के मारे भाग गये हैं। उनसे इस समय लगान वसूल करना संभव नहीं।"

मन्नू जानता था कि यह उत्तर संतोषजनक नहीं। अब्दाली ने लाहौर की ओर मुँह किया। मन्नू सेना लेकर चनाव तक जा पहुँचा। छः मास तक छोटी-मोटी लड़ाइयाँ हुईं। इसके बाद मन्नू की हार हुई। कूड़ामल भी भाग गया। अंत में मन्नू को अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। इस समय अब्दाली और मन्नू में यह बातचीत हुई।

अब्दाली—"तुमने मुझे प्रणाम क्यों नहीं किया ?"

मन्नू—"क्योंकि मैं पहले ही एक मालिक को प्रणाम करता हूँ।"

अब्दाली—"अब तुम्हारा वह मालिक तुम्हारी सहायता करने क्यों नहीं आया ?"

मन्नू—"क्योंकि वह समझता है कि उसका नौकर अपनी रक्षा आप कर सकता है ?"

अ०—"अगर मैं तुम्हारे हाथ पड़ जाता तो तुम क्या करते ?"

म०—"तुम्हारा सिर काटकर मैं देहली में अपने मालिक के पास भेज देता।"

अ०—"अब तुम मेरे हाथ में हो। मुझसे तुम क्या आशा रखते हो?"

म०—"अगर तुम व्यापारी हो तो मुझे बेच दो, अगर तुम ज़ालिम हो तो मुझे क़त्ल कर दो और अगर तुम बादशाह हो तो मुझे क्षमा कर दो।"

अब्दाली इस नौजवान की स्पष्टता और हाज़िरजवाबी से इतना प्रसन्न हुआ कि उसे न केवल प्राण-दान दिया वरन् 'फ़रज़ंद खानबहादुर रुस्तमे हिंद' की उपाधि देकर देहली के अधीन पक्का सूबेदार बना दिया।

इस बीच में सिख अपना काम बराबर करते रहे। उन्हों-ने अमृतसर और कांगड़ा के बीच के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। मन्नू ने लाहौर आकर फिर सिखों की ओर ध्यान दिया। अदीनाबेग को उसने उन्हें चेतावनी देने के लिए नियुक्त किया। सिख सुखोवाल में एक त्योहार के लिए एकत्र हो रहे थे। वह उन पर जा पड़ा और उन्हें हार दी। परन्तु वह उनको सर्वथा नष्ट नहीं करना चाहता था। उसने समझौता करके उन्हें अपनी नौकरी में ले लिया। इनमें से एक जस्सासिंह तरखान भी था। दूसरे सिखों से उसने इक़रार लिया कि वे बहुत ज्यादा लगान न वसूल करेंगे।

सन् १७५२ में मन्नू मर गया। उसकी स्त्री मुरादबेगम अपने बालक के नाम पर राज करने लगी। पंजाब इस समय काबुल के शासन के अधीन था। थोड़े दिन में वह बालक मर गया। मुरादबेगम ने शासन-सूत्र अपने हाथ में ले लिये। सिख एक स्त्री के शासन से लाभ उठाये बग़ैर न रह सकते थे। पहले पहल तो सरदार उसके साथ रहे। परंतु जल्द ही उसने अपनी निर्बलता का प्रदर्शन प्रारंभ कर दिया।

सभी सरदारों ने दरबार में जाना छोड़ दिया और उसके चरित्र के विषय में देहली को शिकायतें लिख भेजीं। देहली में सफ़दर को निकालकर ग़ाज़ीउद्दीन प्रधान मंत्री बन बैठा था। मन्नू की लड़की से उसकी सगाई हो चुकी थी। उसने अपने विश्वस्त नौकर सैयद जामिल को लाहौर भेजा ताकि वह उसकी सास की सहायता करे। बेगम ने उसकी मंत्रणा से तंग आकर काबुल चिट्ठियाँ लिखीं। इस पर ग़ाज़ीउद्दीन सेना लेकर लाहौर चढ़ आया और लड़की तथा सास को साथ लेकर देहली लौट गया। वहाँ उसने लड़की से ब्याह कर लिया। अदीनाबेग को लाहौर का सूबेदार नियुक्त किया गया।

सिखों ने समस्त पंजाब में सरकारी प्रबन्ध को अस्त-व्यस्त कर दिया। इतने में अहमदशाह अब्दाली लाहौर की क्रान्ति का समाचार सुनकर १७५५ में लाहौर आ पहुँचा। अदीनाबेग पहाड़ को भाग गया। अब्दाली सरहिंद होता हुआ देहली पहुँचा। देहली को उसने लूटा और मुहम्मदशाह रँगीले की लड़की से उसने ब्याह कर लिया। नजीबुद्दौला को प्रधान मंत्री नियुक्त करने के पश्चात् उसने मथुरा और आगरा में लूटमार की और फिर वापस चला गया। पंजाब से गुज़रने पर सिखों ने उसकी सेना पर आक्रमण करके लूट का बहुत-सा माल छीन लिया। उसे सिखों पर बहुत गुस्सा आया। परंतु तुर्किस्तान में एक विद्रोह हो गया था, इसलिए अपने लड़के तैमूर को पंजाब के शासन के लिए छोड़ कर वह स्वयं वापस लौट गया।

जस्सासिंह—तैमूर ने सबसे पहले सिखों की ओर ध्यान दिया। जस्सासिंह ने रामरौनी के क़िले का पुनर्निर्माण करके उसका नाम रामगढ़ रखा था। तैमूर ने हमला करके उसे

मिट्टी में मिला दिया। अदीनाबेग ने बहुत-से सिखों को अपना मुलाज़िम रखकर जालंधर दोआबा पर अपना अधिकार कर लिया था। तैमूर ने उसे लाहौर बुलाया। अदीनाबेग ने ऐसा करने से इनकार किया तो तैमूर ने उसके विरुद्ध मुरादखाँ को भेजा जिसे अदीनाबेग ने पराजित किया। तैमूर ने मुराद पर धोखे का अपराध लगाकर उसे क़त्ल करवा दिया और स्वयं अदीनाबेग के विरुद्ध चल पड़ा। अदीनाबेग फिर पहाड़ों को भाग गया। बहुत-से भागे हुए सिख पहाड़ों में जमा थे। सब ने मिलकर लाहौर पर आक्रमण करने का निश्चय किया। उन्होंने अपनी सेना के दो भाग कर दिये। एक का नेता कलाल जस्सासिंह था और दूसरे का तरखान जस्सासिंह रामगढ़िया।

कलाल ने लाहौर पर चढ़ाई की। सारे इलाक़े में सिख सवार दिखाई देते थे। सभी जगह उन्होंने लगान वसूल करना शुरू कर दिया। कई छोटी-मोटी लड़ाइयों के बाद १७५८ के प्रारंभ में एक लड़ाई हुई जिसमें पठान पराजित हुए। यह पहली जीत थी जो खालसा ने पठानों पर प्राप्त की।

सिख फ़ौज के दूसरे हिस्से ने जालंधर दोआबा पर अधिकार कर लिया। तैमूर और उसका शरीर-रक्षक घबरा कर चनाब को वापस भाग आये। वे रात को ऐसी जल्दी में भागे कि उनके परिवार सिखों के हाथ में पड़ गये। वे घबराये तो बहुत, परंतु सिखों ने उन्हें कुछ कहे बग़ैर छोड़ दिया।

जस्सासिंह कलाल ने लाहौर का शासन सँभाला। उसने अपने नाम का सिक्का जारी किया जिस पर फ़ारसी में ये शब्द लिखे थे—

सिक्का जद दर जहान बफ़ज़्ले अकाल,
मुल्के अहमद गरिफ्त जस्सा कलाल।

(जस्सा कलाल ने अहमद के देश पर अधिकार करके अकाल की कृपा से संसार में यह सिक्का चलाया।)

राघोबा—अदीनाबेग समझता था कि वह सिखों को अपने मतलब के लिए इस्तेमाल कर रहा है और सिख लाहौर का शासन उसके हाथ में दे देंगे। उन्हें ख़ुद राज करते देखकर वह चकित रह गया। अब उसे एक और चाल सूझी। वज़ीर ग़ाज़ीउद्दीन के निमंत्रण पर मराठे देहली में आ चुके थे। वह देहली गया और मराठों के सरदार राघोबा से पंजाब को जीतकर सिंध-नदी तक मराठा साम्राज्य स्थापित करने के लिए कहा। जो सिख सैनिक साथ थे उन को लेकर वह यमुना से राघोबा के साथ पंजाब के लिए चल पड़ा। आते ही सरहिंद जीतकर देहली के सूबेदार समुन्दरख़ाँ को वहाँ से निकाल दिया। सिखों ने सरहिंद ख़ूब लूटा, परंतु मराठों को लूट का हिस्सा न दिया। मराठों ने इससे नाराज़ होकर सिखों को अलग कर दिया।

अदीनाबेग ने शालामार बाग़ में सवा लाख रुपया खर्च कर एक बड़ा भारी मंच तैयार करवाया। सारे बाग़ में रोशनी की गई और सभी फुव्हारों के द्वारा गुलाबजल छिड़का गया। मंच पर राघोबा को बिठलाया गया। तैमूर और जहानख़ाँ पंजाब छोड़कर भाग गये। मराठों का झंडा लाहौर, मुलतान और अटक में लहराने लगा। रामजी श्यामजी मुलतान का शासक बनाया गया, साहबपटेल अटक का और अदीनाबेग लाहौर का। यद्यपि सिख लाहौर से निकल गये

थे तथापि वे अपने सरदारों के अधीन जगह-जगह लूटमार बराबर करते रहे।

माझा में सिखों का बहुत जोर था। उन्होंने अमृतसर का तालाब साफ किया। अब हर-मन्दिर का नये सिरे से निर्माण किया गया। मुसलमानों के साथ वे वैसा ही व्यवहार करते थे जैसा मुसलमान शासक सिखों के साथ करते रहे थे। अदीनाबेग ने फौज का एक दस्ता मीर अजीजबख्श के अधीन सिखों के विरुद्ध भेजा। उसने उनका पीछा करके बहुत-से सिखों का वध किया। शेष भाग गये। परंतु १७५८ में अदीना के मर जाने पर सिख फिर उसी प्रकार सारे इलाके में स्वतंत्रता से घूमने और लूटमार करने लगे।

अहमदशाह को मराठों के लाहौर आने का समाचार पहुँचा तो १७५६ में वह पञ्जाब की ओर चल पड़ा। मराठा शासक बापूराव लाहौर छोड़ गया। अब्दाली ने हाजी करीमखाँ को लाहौर का शासक नियुक्त किया और स्वयं मराठों का पीछा करने के लिए देहली की तरफ चला। १७६१ के आरंभ में पानीपत में लड़ाई हुई जिसमें मराठे जीत न सके। इससे मराठा शक्ति को ऐसा धक्का लगा कि उनकी आशा-लता सूख गई।

अब्दाली की अनुपस्थिति में सिखों के बड़े-बड़े सरदार जस्सासिंह कलाल, चेतसिंह कन्हैया, हरिसिंह भंगी, गूजरसिंह भंगी और लहणासिंह भंगी १७६० में बैसाखी के दिन अमृतसर में एकत्र हुए। सभा करके उन्होंने लाहौर पर हमला करने का निश्चय किया। खालसा को इकट्ठा करके उन्होंने लाहौर पर चढ़ाई की, दीवारों में आग लगा दी और शहर लूटना शुरू कर दिया। बड़े-बड़े मुसलमानों का शिष्ट-मंडल

तीस हज़ार रुपया भेंट लेकर उनके सामने उपस्थित हुआ। लूट और भेंट लेकर सिख लाहौर से चल दिये।

जस्सासिंह रामगढ़िया और जस्सासिंह कन्हैया ने बटाला, कलानौर, श्रीहरगोविंदपुर, कादियाँ, अमृतसर और गुरुदासपुर ज़िलों के बहुत-से क़स्बों पर क़ब्ज़ा कर लिया। इस प्रदेश की वार्षिक आय कई लाख रुपया थी। जस्सा कलाल ने सरहिंद और दीपालपुर को लूटा और फ़ीरोज़पुर के ज़िले में डोगर तथा नईपाल में क़िले बना लिये। उसने होशियारपुर और ज़िला अंबाला का कुछ भाग भी जीत लिया। फिर कपूरथला के सरदार इब्राहीम भट्टी से राजस्व प्राप्त किया।

अब्दाली बसंत में देहली की तरफ़ से लाहौर आया। सिखों के संबंध में उसने सब कुछ सुन लिया था, परन्तु वह अधिक ठहर न सका। ज़ीनखाँ को सरहिंद का, सरबुलंदखाँ को मुलतान का और ख़्वाजा उबैदखाँ को लाहौर का शासक नियुक्त करके वह काबुल वापस चला गया।

ज्यों ही अब्दाली ने पीठ फेरी त्यों ही भीमसिंह और रूपसिंह लाहौर के निकट ही क़िले बनाने लग गये। चढ़तसिंह ने गुजरांवाला में क़िला बनाया। कई अन्य स्थानों में सिखों के क़िले बनने लगे। अब्दाली ने पानीपत की लड़ाई के बाद केवल पंजाब को अपने शासन के लिये रखा था। परन्तु यह भी उसके हाथ से निकल गया। इसलिये उसने अपने सेनानायक नूरुद्दीनखाँ को पंजाब भेजा। १७६२ में सिखों ने उसे बुरी तरह से पराजित किया। उसने अपने आप को सियालकोट के किले में बंद कर लिया और वहाँ से निकलकर जम्मू की पहाड़ियों में चला गया।

खालसा का साहस अब बहुत बढ़ गया था। सिख

सरदार सब जगह लगान वसूल करने लगे। लाहौर का सूबेदार गुजराँवाला में सिखों के विरुद्ध पहुँचा। बाबा श्यामसिंह को उसने गिरफ़्तार कर रखा था। सिखों ने उसे छुड़ाने के लिए एक दिन उबैदखाँ से बातचीत शुरू की। इतने में रात पड़ गई। अफ़ग़ान फ़ौज में अचानक हमले का शोर मच गया और वे सब घबराकर अपना सामान और बंदूकें आदि छोड़ भाग निकले। दीवान सूबाराम और चोबदार हरिराम उसी जगह मारे गये। मुसलमानों का एक सेनापति साहबसिंह सिखों के साथ जा मिला। उबैदखाँ तीन-चार सौ सवारों के साथ रात के समय भाग गया।

इस सफलता के पश्चात् सिखों ने अमृतसर में 'गुरुमता' या सभा की और मालेरकोटला के हाकिम बैंगनखाँ पर हमला करने और जंडियाला के महंत उखलदास से बदला लेने का निश्चय किया। महंत ने अब्दाली की सहायता की थी। अब महंत ने अब्दाली को जोरदार पत्र लिखा कि समय पर पहुँचकर सहायता करो। अब्दाली १७६२ के अंत में लाहौर आ ही गया। सिख सरदार भाग गये। सतलज पार होकर वे सरहिंद जा पहुँचे। अब्दाली ने अढ़ाई दिन में डेढ़ सौ मील का फ़ासला तय करके लुधियाना के निकट उन्हें जा पकड़ा। वहाँ बड़ी भारी लड़ाई हुई जिसमें सिखों की हार हुई और उनके बारह से पचीस हज़ार के दरमियान आदमी मारे गये।

सिखों पर ऐसी मुसीबत पहले कभी न आई थी। इस में पटियाला के राजवंश का प्रवर्तक आलासिंह बरनाला में पकड़ा गया। जंजीरों से जकड़कर उसे लाहौर लाया गया। रानी ने अब्दाली को चार लाख रुपया देकर पति को छुड़ा

लिया। अब्दाली ने खुश होकर उसकी रियासत भी वापस लौटा दी। अब्दाली अमृतसर पहुँचा। यहाँ सिख दीवाली के कारण एकत्र हो रहे थे। पठानों के आने पर वे सभी भाग गये। पठानों ने हर-मंदिर को बारूद से उड़ा दिया और तालाब में गोहत्या की। सिखों के कटे हुए सिरों को जमा करके मीनार बनाये गये और उनके रक्त से मसजिदों की दीवारों को साफ़ किया गया।

अब अब्दाली ने काश्मीर की ओर मुँह किया। वहाँ उसका शासक सुखजीवन स्वतंत्र बन बैठा था। सुखीजीवन संखत्रा (जिला सियालकोट) का रहनेवाला महाजन था। छुटपन में ही उसके माता-पिता मर गये। उसने फ़ारसी में ऊँची शिक्षा प्राप्त की। सोलह वर्ष की आयु में वह एक क़लमदान लेकर पेशावर चला गया। अब्दाली के दर-बार के बाहर बैठा रहता। जब एक पत्र को पढ़ने में कठिनाई हुई तो अब्दाली ने उसे बुला भेजा। उसकी योग्यता से अब्दाली इतना प्रसन्न हुआ कि उसे अपने पास रख लिया और बाद में काबुल का सूबेदार बना दिया।

पुठहार के इलाक़े से सुखजीवन अपने साथ बहुत-से ब्राह्मण काश्मीर ले आया था। इनकी सहायता से उसने काश्मीर में हिंदू राज्य बना लिया। अब्दाली ने नूरुद्दीन को सेना देकर उसके विरुद्ध भेजा। जम्मू का रणजीतदेव उसकी सहायता को पहुँचा। पीरपंजाल के पास सुखजी-वन की हार हुई और वह गिरफ़्तार करके लाहौर लाया गया। यहाँ अब्दाली ने पहले उसकी आँखें निकलवाईं और फिर क़त्ल का हुक्म दे दिया।

कंधार में विद्रोह हो जाने के कारण अब्दाली वापस

चला गया। काबुल के एक ब्राह्मण काबुलीमल को वह लाहौर का शासक नियुक्त कर गया। सिख दब नहीं गये थे। सिखों के इतिहास में विशेषता देखी जाती है कि जब कभी उनको कुचलने का प्रयत्न किया गया तभी वे नव-जीवन प्राप्त कर अधिक बलवान बन गये। सरहिंद की लड़ाई के पश्चात् यह विचार जोर से काम करने लगा कि राज्य स्थापित करने का उन्हें भी वैसा ही अधिकार है जैसा किसी मुग़ल या पठान का। आलासिंह को राजा की उपाधि देकर अब्दाली ने सिखों के अंदर यह विचार उत्पन्न कर दिया कि उनके सरदार भी राजा और महाराजा बन सकते हैं। अब्दाली के जाने पर उन्होंने पसरूर और मालेरकोटला को लूटा और मालेरकोटला के नवाब बैंगन को क़त्ल कर डाला। दिसंबर १७६३ में उन्होंने सरहिंद में अब्दाली के नियुक्त किये शासक जीनखाँ पर चढ़ाई करने का निश्चय किया। जस्सासिंह और आलासिंह, दोनों, इस मुहिम में सम्मिलित थे। खालसा की संख्या पचास हज़ार के लगभग थी। जीनखाँ मुक़ाबले पर आया। परंतु वह और उसका नायब लछमीनारायण मारे गये। सतलज और यमुना के बीच का प्रदेश सिखों के हाथ में पड़ गया जिसे सरदारों ने बहुत जल्दी परस्पर बाँट लिया।

अब सिख सिपाही गाँव में जाता। कर माँगता। रुपया न मिलने पर गुड़ माँगता। गुड़ न मिलने पर रोटियाँ ही लेकर गाँव को अपने अधीन कर लेता। सरहिंद को सिखों ने बरबाद कर दिया। उसकी सारी ज़मीन और शेष चिह्न आलासिंह ने बुधसिंह को पचीस हज़ार रुपया देकर खरीद लिये। इस सफलता के कारण जोश में आकर सिख यमुना पार भी गये। सहारनपुर तक उन्होंने सारा

इलाका जीत लिया। नजीबुद्दौला इस समय भरतपुर के जाटों के साथ लड़ाई कर रहा था। सिखों से अपना प्रदेश बचाने के लिए वह वापस आया। उन्हें रिश्वत देकर उसने अपने इलाके से बाहर किया। वापस जाकर उसने जाटों को परास्त किया जिसमें उनका राजा सूरजमल मारा गया। परन्तु शीघ्र ही सूरजमल के बेटे ने सिखों और मराठों के साथ सम्मिलित होकर देहली को घेर लिया और नजीबुद्दौला को नाक में दम कर दिया।

लाहौर में सिख—नजीब को अब्दाली ने देहली का वजीर नियुक्त किया था। उसकी दशा सुनकर अब्दाली १७६४ में भारत आया। परन्तु अफगानिस्तान में गड़बड़ हो जाने के कारण कुछ कर न सका और उसे लौटना पड़ा। जाते हुए उसने आलासिंह को महाराजा की उपाधि देकर सरहिंद का शासक नियुक्त कर दिया। सिखों और मराठों में परस्पर झगड़ा हो जाने के कारण देहली का घेरा हटा लिया गया। अब्दाली के आने से पूर्व सिखों ने लाहौर के इर्द-गिर्द अपना राज्य बना लिया था। सरदार हरिसिंह भंगी का प्रतिनिधि टेकचंद लाहौर-दरबार में रहता था। वह काबुलीमल को राजप्रबंध में सहायता भी देता था। हरिसिंह की ओर से एक मुंशी शाहआलमी दरवाजा के बाहर पठान कर्मचारियों के साथ बैठकर चुंगी के महसूल में से निश्चित भाग प्राप्त किया करता। सिखों ने एक बार काबुलीमल को इस बात के लिए बाध्य किया कि उन बूचड़ों को जो गोहत्या करते हैं, उनके हवाले कर दिया जाय। वह घबराया। अंत में समझौता हुआ और एक मुसलमान बूचड़ की नाक काट कर उसे शहर से बाहर निकाल दिया गया।

अब्दाली ने यह सारा हाल देख लिया था। उसने सिखों को कलानौर की ओर भगा दिया। परन्तु और कुछ किये बग़ैर वह सीधा काबुल चला गया। उसका जाना था कि सिख सरदार फिर लाहौर आ पहुँचे। भंगी सरदार लहना-सिंह और गूजरसिंह ने बाग़बानपुरा में अपने सैनिकों के साथ डेरा डाल दिये। बस्ती की छोटा जात अराईं में से सुलतान, गुलाम रसूल, अशरफ आदि लाहौर के क़िले में माली का काम करते थे। इनसे मिलकर सिख सरदारों ने क़िला लेने का षड्यंत्र रचा। क़िले का थानेदार नंदराम पुरबिया भी साथ मिला लिया गया। गूजरसिंह पचास वीर सैनिकों को लेकर आधी रात के समय क़िले की दीवार तोड़ कर अंदर घुस गया। जिस मकान में अब्दाली लाहौर आकर ठहरा करता था उसे आग दिखा दी गई। लहना-सिंह, जो सेना लिये बाहर ठहरा हुआ था, इस संकेत को समझ गया। काबुलीमल वहाँ मौजूद न था। सारी खालसा फ़ौज प्रविष्ट हो गई।

काबुलीमल के भतीजे अमरसिंह और जँवाई जगन्नाथ ने थोड़ा-बहुत मुक़ाबला किया, परन्तु हार गये। अब क़िले पर खालसा का झंडा लहराने लगा। शहर में लूटमार शुरू हो गई। परन्तु चौधरी रूपा, लाला बिशनसिंह, महाराजसिंह, हाफ़िज़ क़ादिरबख़्श और मीर नत्थूशाह-नाम के हिंदू-मुसलमान रईसों की प्रार्थना पर लूट बन्द कर दी गई। शहर को तीन हिस्सों में बाँटा गया। मिचाजैबेग तक दरवाज़ा लाहौर सोभासिंह के हिस्से में आया। काबुलीमल की हवेली और पूर्वी भाग गूजरसिंह को मिला। (इस भाग का नाम अभी तक क़िला गूजरसिंह है।) क़िले और शाही मसजिद पर लहनासिंह का अधिकार हो गया।

इसके पश्चात् झेलम नदी तक सारा प्रदेश खालसा के क़ब्ज़े में आ गया। १७६५ में सिखों ने अमृतसर में एक बड़ी सभा की। उसमें घोषित किया गया कि पंजाब में खालसा का राज हो गया है। एक सिक्का भी जारी किया गया जिस पर फ़ारसी में इस आशय के शब्द लिखे थे—"देग और तेग की सहायता तथा नानक और गुरु गोविंदसिंह के आशिर्वाद से विजय प्राप्त की गई है।"

लगभग दो वर्ष शांति से गुज़रे। १७६७ में अब्दाली ने एक बार फिर पंजाब लेने का यत्न किया। परन्तु वह वृद्ध था। उसकी नाक में फोड़ा हो गया था। सिखों ने झेलम और यमुना के बीच के प्रदेश पर अपना अधिकार जमा लिया था। अब्दाली ने देखा कि अब वह बाहु-बल से पंजाब नहीं ले सकता। उसने साम-दाम से अपना मतलब निकालना चाहा। उसके आने पर सिख सरदार लाहौर से भाग गये। अब्दाली ने लहनासिंह को बुला भेजा, पर वह न आया। शहर के लोगों ने उसे बताया कि लहनासिंह हिंदू मुसलमानों में कोई भेद नहीं करता था। वह शहर के क़ाज़ी, मुफ़्ती और अमामों का भी वैसा ही मान करता था जैसा हिंदू महापुरुषों का। अब्दाली ने खेद प्रकट किया कि लहनासिंह जैसा आदमी भाग गया है। उसे लाहौर का शासक नियुक्त करने का पत्र भेजा गया। उसने यह कह कर इसे स्वीकार करने से इनकार कर दिया—"मैं खालसा की नज़रों में गिरना नहीं चाहता।" अब्दाली ने नियुक्ति-पत्र के साथ उपहार-स्वरूप कुछ फल भी भेजे थे। इन्हें लहनासिंह ने यह कहकर लौटा दिया—"फल बादशाहों का भोजन है। मैं

ग़रीब ज़मीदार हूँ। मेरे लिए अनाज ही सब से उत्तम भोजन है।"

अब्दाली ने दादनखाँ को लाहौर का और शुजाखाँ को मुलतान का शासक नियुक्त किया। आलासिंह के बेटे अमरसिंह को पटियाला और सरहिंद के राज पर पक्का कर दिया गया। अब्दाली के कुछ सैनिक विद्रोही होकर काबुल चले गये थे। उनसे शरारत के भय से वह भी उनके पीछे-पीछे हो लिया। सिख उसका सामान लूटने लगे। ज्यों ही वह सिंध पार हुआ, सिख सरदार चढ़तसिंह ने रोहतास के क़िले पर क़ब्ज़ा करके अब्दाली-द्वारा नियुक्त किये गये सरफ़राज़खाँ को बाहर निकाल दिया। तीनों सिख सरदारों ने लाहौर पर फिर अधिकार कर लिया। इस प्रकार खालसा का राज्य यमुना से सिंध तक फैल गया।

मिसलें—अब्दाली १७७३ में मर गया। उसकी जगह उसका बेटा तैमूर बैठा। उसने सिंध पर आक्रमण किया, परंतु पञ्जाब में दख़ल न दिया। सहारनपुर और अटक के दरमियान का प्रदेश कुछ सिख सरदारों के हाथ में था। ये सब अपने- अपने इलाक़े के मालिक थे। हर एक को मिसल कहा जाता था। यद्यपि इनमें परस्पर झगड़े होते रहते थे तथापि धर्म के लिए सब एक हो जाते। इनका राज मज़हबी क़ानून के अनुसार चलता था। प्रतिवर्ष अमृतसर में एकत्र होते और अपने विजय-क्षेत्र को बढ़ाने की योजनाएँ करते। विजित क्षेत्र पर "राखी" लगाते थे। सारी लूट सरदारों में बाँटी जाती थी। सम्मिलित कोष से सैनिकों को वेतन मिलता। सैनिक जो कुछ लूटते उसे कोष में जमा कराते। सरदार अपने अधीन सैनिकों का लिहाज़ रखते।

परंतु इन सैनिकों को अख़्तियार था कि वे एक सरदार को छोड़ कर दूसरे के पास चले जायें। सैनिक लूट मार, विजय, वध आदि गोविंद के नाम पर करते। पंथ में प्रवेश के लिए यह आवश्यक था कि हथियार चलाना आता हो। जब आदमी खालसा का सदस्य बनता तो अपने साथ भाला और तलवार लाता। सिख लोग तब अफ़ीम और भंग का प्रयोग खूब करते थे। मालवा, माझा और जालंधर दोआब में सिख सरदारों के इलाक़े कभी एक और कभी दूसरे के हाथ में चले जाते। मुसलमानों के लिए सख्ती के दिन आ गये और वे घर-द्वार छोड़ कर आश्रय के लिए अँगरेजी इलाक़े में जाने लगे।

मुग़ल शासन और महाराज रणजीतसिंह के अभिषेक के बीच तीस वर्ष के समय में पंजाब में बारह मिसलें या समूह थे। यहाँ तात्कालिक पंजाब की राजनीतिक अवस्था ठीक-ठीक बताना असंभव-सा है। फिर भी इन मिसलों में कई अच्छे गुण थे। मिसलों के समय गाँव का प्रबंध बड़े आदमियों की एक पंचायत के सुपुर्द होता था। अपराधी के मुक्त होने पर उसे सरदार को शुकराना अदा करना पड़ता था। सजा मिलने पर उसे जुर्माना देना होता था। अपराधी से अपराध इक़बाल कराने या उससे रुपया वसूल करने के लिए कड़ी यातनाएं दी जातीं। यदि एक आदमी दूसरे का क़त्ल कर देता तो क़ातिल को दूसरे आदमी के संबंधियों के सुपुर्द कर दिया जाता ताकि वे जिस तरह चाहें उसके प्राण ले लें। बड़े अपराध का दंड हाथ-पाँव या नाक-कान काट देना या आँखें निकाल देना था। कभी-कभी बड़ा अपराध करनेवाला भी जुर्माना अदा करने पर छोड़ दिया जाता।

जब किसी के यहाँ चोरी होती तो उसे माल का चौथा हिस्सा थानेदार को देना होता ताकि वह मामले की खोज करे। जब अपराधी मिल जाता तो वह मालिक के हवाले कर दिया जाता या कभी-कभी वह सारा माल अफ़सरों को देकर क्षमा प्राप्त कर लेता। वह माल अफ़सर परस्पर बाँट लेते और मालिक से कह दिया जाता—"आगे के लिए सावधान रहो!" मवेशी की चोरी में 'खोजी' खोज करता। जहाँ तक खोज जाता, उससे आगे उस आदमी को पता देना होता जिसकी जमीन तक खोज पहुँचता, अन्यथा उसे मोल देना पड़ता। खेतों की हदबंदी के संबंध में बहुत-सी लड़ाइयाँ होतीं। जब ऐसी लड़ाई में कोई पुरुष मर जाता तो दूसरे पक्ष के रिश्तेदारों से ब्याह में अपनी लड़की या वैसे ही रुपया दिलवा कर दोनों में सुलह करवा दी जाती। जमीन का लगान अन्न आदि के रूप में लिया जाता। जितना अनाज पैदा होता उसका आधा भाग सरदार का होता और आधा मालिक का। गन्ना, रुई, पोस्ता, तेल आदि पर लगान नक़द लिया जाता। व्यापारी जो माल इलाक़े से गुजारते, उस पर सरदार बहुत-सा कर लेता। जम्मू, श्रीनगर और नादौन में शाल-दुशालों का व्यापार होता। व्यापारी सख्त से सख्त पहाड़ी रास्ता अख्तियार करना पसंद करते ताकि किसी सिख सरदार के इलाक़े से गुजरना न पड़े। यदि कोई आदमी लगान न अदा करके दूसरे सरदार के इलाक़े में भाग जाता तो वह उसे वापस करने से प्रायः इनकार कर देता। बेगार की पद्धति प्रचलित थी और इसका बोझ प्रायः गरीबों पर पड़ता। सती का रिवाज आम था, परन्तु इसके लिए कोई जबरदस्ती न की जाती। अधिकतर स्त्रियाँ विधवा के गिर्द एकत्र हो जातीं और एक बार उसके मुँह

से यह कहलवा लेना पर्याप्त समझतीं कि "मैं सती हो रही हूँ।"

हर एक मिसल की अपनी राजधानी थी। बारह मिसलों के बारह सरदारों या नेताओं में कोई बड़ा या छोटा न था : सभी बराबर थे। इन मिसलों और गुरु गोविंदसिंह या वीर वैरागी के आंदोलन में क्या अंतर था? इन सरदारों के शासन के अंतस्तल में कौन-सा सिद्धांत काम करता था?—ये दोनों बातें हमें समझ लेनी चाहिएँ। गुरुओं के आंदोलन में बड़ा सिद्धांत हिन्दू धर्म तथा जाति की रक्षा था। हिन्दुओं पर शताब्दियों से अत्याचार हो रहा था। उनको इससे बचाने का विचार गुरु नानक में पैदा हुआ। गुरु नानक ने जिस कार्य को ईश्वर-भक्ति से आरंभ किया उसे गुरु हरगोविंद ने कई अन्य साधनों से भी पूरा किया। गुरु अर्जुन और गुरु तेगबहादुर ने इसकी पूर्ति के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग किया। औरंगज़ेब के विरुद्ध गुरु गोविंदसिंह की स्वातंत्र्य-संबंधी घोषणा इस कार्य की पूर्ति के मार्ग में बड़ा भारी पग था। वीर वैरागी ने जो कुछ किया, गुरु गोविंदसिंह की मरज़ी से किया। गुरु गोविंदसिंह के मन में धर्म की रक्षा और स्वाधीनता की प्राप्ति के साथ-साथ प्रतिकार का अंश भी विद्यमान था। वीर वैरागी ने प्रतिकार के विचार को एक और क्रियात्मक रूप दे दिया। वे प्रतिकार के देवता थे। उन्होंने गुरु गोविंदसिंह की मनोकामना पूरी की। उनका कार्य गुरुओं के कार्य का एक आवश्यक अंग था। सभी गुरु अपने आप को हिन्दू समझते और हिन्दुत्व पर गर्व करते।

वीर वैरागी की मृत्यु इतिहास को एक प्रकार से उस कार्य

के अंत तक ले आती है। उनके मरण के कुछ वर्ष बाद खालसा का जो आंदोलन आरंभ हुआ उसमें पुरानी परंपराएँ अवश्य पाई जाती थीं, परन्तु इसकी भावना बिलकुल नई थी। इसमें ईश्वर पर विश्वास या धर्म के संरक्षण का विचार दूसरे दर्जे पर आ जाता है। व्यक्तिगत प्रभुत्व की इच्छा पहला दर्जा ले लेती है। गुरुओं के आंदोलन का आदर्श भी परकीय मुसलमान शासन का उन्मूलन करना था, परन्तु वे यह कार्य धर्म के संरक्षणार्थ करना चाहते थे। खालसा-आंदोलन का भी यही उद्देश था और यह ठीक है कि खालसा-सरदार धर्म तथा निर्बलों की रक्षा का खयाल भी रखते थे, परन्तु जो तरीक़ा उन्होंने ग्रहण किया उसके लिए यह आवश्यक था कि अपनी शक्ति की वृद्धि को वे अपना विशेष उद्देश बनाते।

दूसरी बात समझ लेने के लिए यह बता देना आवश्यक है कि ऐसे शासन का विचार जिसमें लोगों का शासन, लोगों की ओर से लोगों के हित के लिए हो, बिलकुल नया और आधुनिक युग का है। प्राचीन काल में प्रजासत्तात्मक राज्य और प्रजातंत्र भी थे. परन्तु उनका अधिकार अपने-अपने शहर या क़सबे तक ही सीमित था। तब समस्त देश में प्रजासत्तात्मक भावना या राष्ट्रीयता की भावना वर्तमान युग के समान न पाई जाती थी। देश जब कभी एक हुआ तभी वह किसी बड़े सम्राट् या बादशाह के अधीन था। वर्तमान युग में यह एक दृष्टि से विभिन्न विद्याओं की असाधारण उन्नति का फल है। अब बड़ी से बड़ी जाति भी अपना शासन-प्रबंध इस प्रकार कर सकती है कि हर एक मनुष्य के व्यक्तिगत अधिकार तथा स्वतंत्रता सुरक्षित हो।

मिसलों के समय में लोगों के मन में अपने राजनीतिक

अधिकारों का इतना विचार उत्पन्न होना ही असंभव था। खालसा ने जब यह निश्चय किया कि मुग़ल शासन को नष्ट कर दिया जाय तब उसके लिए स्वाभाविकतया यह सोचना भी आवश्यक था कि विदेशी शासन का उन्मूलन करके उसके स्थान में वह किस प्रकार का शासन खड़ा करे। उस समय आम दस्तूर यह था : कोई मनचला नेता किसी स्वार्थ को सामने रख कर कुछ साथियों को अपने गिर्द एकत्र कर लेता। यह समूह उसके पास एक ऐसा साधन हो जाता कि इससे वह देहात और क़सबों से राजस्व प्राप्त कर के उन्हें अपनी अधीनता स्वीकार करने पर राज़ी कर लेता। यही उसके राज्य की नींव हो जाती। अपनी योग्यता तथा साहस से वह इसी नींव पर आगे और उन्नति करता। उसका स्वार्थ प्रायः दूसरों पर प्रभुत्व और लूटमार होती। लूटमार के द्वारा उसे धन प्राप्त होता जिससे उसके साथियों की संख्या बढ़ती जाती। सिख सरदारों ने देखा कि तातार के गड़रिये लूटमार करते-करते कुछ वर्षों में अधिराज बन गये। उन्होंने देखा कि उनके अपने देश में कई मनचले नवयुवकों ने लूटमार आरंभ की और बड़े-बड़े नवाब, राजा तथा राज्यों के संस्थापक बन गये। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ऐसे आदमियों का अनुकरण करके वे भी अपना शासन स्थापित कर सकते हैं। मुग़लों के राज्य काल में प्रायः समस्त देश में मुसलमानों का शासन था। राजपूतों ने यह प्रयत्न किया कि देश में राजपूती राज्य बना रहे। इसी प्रकार सिखों के अंदर यह इच्छा उत्पन्न हुई कि पंजाब और उसके बाहर खालसा का राज्य हो। इनमें से किसी के अंदर यह विचार न था कि हिंदुस्तान का शासन न मुसलमानों का होना चाहिए, न राजपूतों का और न सिखों का वरन् आदर्श

शासन वह होगा जिसमें हिंदुस्थान के अधिवासी हिंदुओं का राज्य-प्रबंध स्वयं हिंदुओं के हाथ में होगा। (हिंदू का अर्थ 'हिंदुस्थान का रहनेवाला' है, चाहे उसका मजहब कुछ ही हो।)

भंगी मिसल—अमृतसर से आठ मील पर पंचवार का एक जाट छज्जासिंह वीर बैरागी का शिष्य बन गया। उसने आगे भीमसिंह, मालासिंह और जगतसिंह को सिख बनाया। तीनों ने मिलकर लूटमार आरंभ कर दी। बाद में कई एक जाट उनमें सम्मिलित हो गये। इन्होंने गाँव-गाँव में छापा मारकर माल एकत्र करना आरंभ कर दिया। उनकी संख्या बहुत बढ़ गई। ये सब लोग भंग बहुत पिया करते थे। इसी कारण इनकी मिसल का नाम भंगी पड़ गया।

छज्जासिंह के बाद भीमसिंह ने इस मिसल को बाक़ायदा तरतीब दी और अब्दाली के चले जाने के पश्चात् अपने आपको सरदार बना लिया। भीमसिंह के मर जाने के बाद उसका भतीजा हरिसिंह उसकी जगह बैठा। उसके पास इतने डाकू इकट्ठे हो गये कि उसकी मिसल सबसे ज्यादा धनवान् बन गई और उसके सदस्यों की संख्या बीस हज़ार तक जा पहुँची। उनका डेरा गलवाली में था। हरिसिंह के समय में इस मिसल की सीमाएँ बहुत बढ़ गईं। एक ओर सियालकोट, कुनाल और मीरोवाल इसमें सम्मिलित कर लिये गये, दूसरी ओर मामा और मालवा भी। इधर चनपोट तथा झंग तक और उधर रावलपिंडी, डेरा इस्माईलखाँ तथा डेरा गाज़ीखाँ तक हमले करके इसके सरदार लूटमार करते रहे। जम्मू के अतिरिक्त काश्मीर में

भी ये बारह हजार सवार लेकर जा घुसे। परंतु इस मुहिम में सफलता न हुई। १७६२ में लाहौर से दो मील पर कोट खोजासैयद में बहुत-सा बारूद और सामान इनके हाथ आया। अगले वर्ष हरिसिंह ने कन्हैया और रामगढ़िया मिसलों के साथ मिलकर क़सूर में लूटमार की। इसके पश्चात् वह अमरसिंह के साथ लड़ता हुआ मारा गया।

सन् १७६४ में झंडासिंह सरदार बना। उसने तीन बार मुलतान पर चढ़ाई की। १७६६ और १७६७ में उसे साफल्य प्राप्त न हुआ, परंतु १७७२ में अन्य सरदारों तथा लहनासिंह की सहायता से इसने मुलतान जीत लिया और अपने एक सरदार दीवानसिंह को वहाँ का क़िलेदार बना दिया। मुलतान से वापस आते हुए उसने झंग, मानखेड़ा और कालाबाग जीते। इससे पूर्व उसके अधिकार में क़सूर भी आ गया था। उसने अमृतसर में ईंटों का एक किला बनवाया जिसके खँडहर अब भी लूनमंडी के पीछे पाये जाते हैं। इसके बाद रामनगर पर आक्रमण करके दमदमा तोप प्राप्त की जो 'भंगियों की तोप' कहलाती है।

इतने में जम्मू के राजा रणजीतदेव और उसके बेटे व्रजराजदेव में झगड़ा हो गया। कन्हैया मिसल के सरदार जयसिंह और सुखरचकिया मिसल के सरदार चढ़तसिंह व्रजराज की सहायता को गये। झंडासिंह इनके विरुद्ध था। कई दिन तक लड़ाई होती रही। चढ़तसिंह अपनी बंदूक के फटने से मर गया। झंडासिंह को एक मजहबी सिख ने गोली का निशाना बना दिया। इस कारण जयसिंह स्वाभाविकतया जीत गया।

झंडासिंह के बाद उसका भाई गंडासिंह सरदार बना।

उसने अमृतसर के बाजारों को खूब सजाया और क़िले की दीवारों को मजबूत किया। उसके मन में जयसिंह से बदला लेने का विचार था। उसको कन्हैया मिसल के साथ लड़ाई करने का एक और कारण मिल गया। उसका एक सरदार, जो पठानकोट का अफ़सर था, मर गया। उसकी स्त्री ने अपनी लड़की और पठानकोट कन्हैयासिंह को दे दिया। गंडासिंह ने पठानकोट वापस माँगा और इनकार होने पर चढ़ाई कर दी। दीनानगर में कई दिन तक लड़ाई हुई जिसमें गंडासिंह बीमार होकर मर गया।

उसके स्थान में उसका भतीजा चढ़तसिंह सरदार बना। वह भी एक लड़ाई में मारा गया। उसके साथी पठानकोट छोड़ कर भाग गये और उन्होंने गंडासिंह के बेटे देसासिंह को अपना नेता बनाया। इसके समय में तैमूरशाह ने पंजाब वापस लेने का निश्चय किया। उसने फ़ैजुल्लाखाँ को सेना एकत्र करने के लिए भेजा। फ़ैज ने खैबर में पठान एकत्र किये। परन्तु पेशावर पहुँच कर वह तैमूरशाह के विरुद्ध हो गया और उसे क़त्ल करने के लिए षड्यंत्र रचा। इस पर वह और उसका बेटा, दोनों, पकड़ कर क़त्ल कर दिये गये। तैमूरशाह ने मुलतान पर चढ़ाई करने के लिए फ़ौज भेजी जिसे सिखों ने वापस भगा दिया। १७७८ में तैमूरशाह खुद ही मुलतान पर चढ़ आया। एक लड़ाई में बहुत से सिख मारे गये और उनकी हार हुई। तैमूरशाह ने शुजाखाँ को मुलतान का शासक नियुक्त किया और बहावलपुर तथा सिंध जीत कर लौट गया। १७८२ में देसासिंह ने चनयोट पर चढ़ाई की और चढ़तसिंह के बेटे महासिंह के साथ लड़ाई में मारा गया।

सरदार हरिसिंह का एक सेनानायक गुरबख़शसिंह था। इसने लहनासिंह सिंधियावालिया को अपना दत्तक पुत्र बनाया। गुरुबख़श की मृत्यु पर लहनासिंह और गुरुबख़शसिंह के दोहते में झगड़ा हुआ, परंतु आधी बाँट पर सुलह हो गई। इन दोनों में सरदार सोभासिंह ने कन्हैया के साथ मिल कर १७६५ में काबुलीमल के भाग जाने पर लाहौर को अपने अधिकार में ले लिया था. परंतु अब्दाली के आने पर तीनों सरदार लाहौर खाली कर गये और उसके चले जाने पर लौट आये। ये तीस बरस तक लाहौर पर राज्य करते रहे।

सन् १७९३ में शाहज़मान फ़ौज लेकर पंजाब की ओर आया, परंतु उसके भाई महमूद ने हरात में विद्रोह कर दिया और उसे वापस लौटना पड़ा। उसके सेनानायक अहमदख़ाँ को सिखों ने हराकर भगा दिया। १७९५ में शाहज़मान दूसरी बार आया। हसनअब्दाल में उसे ईरान की ओर से हमले की खबर मिली और उसे फिर वापस जाना पड़ा। अगले वर्ष वह तीसरी बार आया। अब की मुसलमान राजकुमारों ने सिखों से तंग आकर उसके पास सँदेसे भेजे कि वह आक्रमण कर उन्हें मुक्त करे। चनाब पार कर एमनाबाद के रास्ते वह रावी के किनारे शाहदरा पहुँचा। यहाँ से उसने अपना एक सेनानायक लाहौर भेजा। सिख सरदार लाहौर के क़िले की चाबियाँ मियाँ शाहचिराग़ के हवाले करके बाहर चले गये।

ज़मान लाहौर में प्रविष्ट हुआ। तीन रात शहर में दीये जलाये गये। जिन हिन्दुओं ने ऐसा न किया उन पर दंड-स्वरूप जज़िया लगाया गया। ज़मान ने सिखों के विरुद्ध सब ओर सैनिक भेजे। अब उसने उनको राज़ी करने का

निश्चय किया। कई सिखों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। वह सींधिया, टीपू और रुहेले पठानों से लिखा-पढ़ी कर रहा था कि उसे हरात में अपने भाई महमूद के विद्रोह का समाचार मिला और वह वापस चला गया।

लहनासिंह और शोभासिंह ने लाहौर पर फिर क़ब्ज़ा कर लिया। परन्तु उसी वर्ष वे दोनों मर गये। उनके बेटे चेतसिंह और मोहरसिंह लाहौर के शासक तो बने, पर वे बहुत कमज़ोर थे। सुकरचकिया सरदार रणजीतसिंह ने दूसरे भंगी सरदारों से गुप्त मंत्रणा कर के लाहौर लेने का निश्चय किया। नवांकोट के चौधरी मोहकमदीन, ने जो चेतसिंह का बड़ा मरजीदान था, उसे रणजीतसिंह के मुक़ाबले पर जाने से रोका। रणजीतसिंह अनारकली तक आ गया। लाहौरी दरवाज़ा उसके लिए खोल दिया गया। चेतसिंह और मोहरसिंह लाहौर छोड़ कर भाग गये। १७९९ में रणजीतसिंह लाहौर का स्वामी बन गया।

देसासिंह के मरने पर उसका बेटा गुलाबसिंह सरदार बना। वह पहले कुछ समय तक क़सूर के खानों के साथ लड़ाई करता रहा, फिर उनको साथ मिलाकर उसने रणजीतसिंह के विरुद्ध षड्यंत्र रचा। भसीन में एक लड़ाई हुई जिसमें रणजीतसिंह ने सब पर विजय पाई। गुलाबसिंह के बाद उसका दस बरस का बेटा गुरुदत्तसिंह सरदार बना। रणजीतसिंह ने उससे तोप माँगी। उसके इनकार करने पर रणजीतसिंह ने उस पर हमला कर दिया। गुरुदत्तसिंह और उसकी मा रामगढ़ को भाग गये। रणजीतसिंह ने उनके सारे माल-असबाब पर क़ब्ज़ा कर लिया।

लाहौर लेने के पश्चात् गूजरसिंह ने उत्तर की ओर का

इलाक़ा जीतना शुरू कर दिया। उस समय गुजरात मुबारिकखाँ गक्खड़ के पास था। गूजरसिंह ने पहले गुजरात लिया। अगले बरस जम्मू और कई अन्य क़स्बे जीते। अब्दाली के आने पर वह फ़ीरोज़पुर को चला गया। जब अब्दाली चला गया तो उसने फिर जाकर गक्खड़ों से रोहतास जीता। इस विजय में सुखरचकिया सरदार चढ़तसिंह उसके साथ था। चढ़तसिंह ने अपनी लड़की का ब्याह उसके बेटे साहबसिंह से कर दिया। उसके दो और बेटे थे। उनमें झगड़ा हो जाने पर वह लाहौर आया जहाँ १७८८ में मर गया।

अगले वर्ष साहबसिंह और उसका साला महासिंह आपस में लड़ पड़े। सोहदरा की लड़ाई में महासिंह बीमार हो गया। उसका महावत हाथी को मैदान से हटा लाया। महासिंह गुजरांवाला में पहुँच कर तीसरे दिन मर गया। १७९८ में जब शाहजमान चौथी बार लाहौर आया तब साहबसिंह लाहौर से बाहर चला गया। अबकी ज़मान की नीति बहुत नरम थी। लौटते हुए वह शाहंचीखाँ को लाहौर में अपना प्रतिनिधि बना कर छोड़ गया। उसने सुना कि बहुत-से सिख रामनगर में एकत्र हुए हैं। वह वहाँ पहुँचा, परंतु उसे पीछे हटना पड़ा। गुजरात में एक लड़ाई हुई जिसमें वह मारा गया।

यह समाचार पा कर ज़मान पंजाब को आ रहा था कि उसे पेशावर से वापस जाना पड़ा। इससे पूर्व लौटते समय झेलमनदी में बाढ़ आने के कारण ज़मान का तोपख़ाना नदी में बह गया था। उसने रणजीतसिंह से कहला भेजा कि वे उसे निकलवा कर काबुल भिजवा दें। रणजीतसिंह ने बारह में से आठ डूबी हुई तोपें निकलवा कर काबुल पहुँचा

दीं। ज़मान ने काबुल पहुँच कर पञ्जाब का राज रणजीतसिंह के नाम लिख दिया। बाक़ी चार तोपें रणजीतसिंह ने १८२३ में निकलवा कर लाहौर रख लीं। भंगी सरदार साहबसिंह, जो गुजरात में रहता था, बदमाशी में पड़ गया। रणजीतसिंह ने उसके सारे प्रदेश पर अधिकार कर लिया। १८११ में साहबसिंह के मर जाने पर रणजीतसिंह ने उसकी दोनों विधवाओं से ब्याह कर लिया। इनमें से दयाकौर का बेटा पेशावरासिंह था और रत्नकौर का मुलतानसिंह।

रामगढ़िया मिसल—गोगा का एक जाट खुशहालसिंह वीर वैरागी का शिष्य बन गया। बाद में उसने डाके डालने शुरू कर दिये। उसकी प्रसिद्धि बहुत बढ़ गई और उसके साथियों की संख्या इतनी हो गई कि उसने रामगढ़िया नाम से एक मिसल खड़ी कर ली। उसकी मृत्यु पर नोदसिंह उत्तराधिकारी बना। उसके तीन साथी जस्सासिंह, मालासिंह और तारासिंह बड़े साहसी तथा पराक्रमी थे। तीनों भाई थे और जात के तरखान।

जस्सासिंह बड़ा बहादुर सिक्ख अफ़सर हुआ। अब्दाली के विरुद्ध उसने अदीनाबेग की सहायता की। जब अदीना भाग गया तब जस्सा कन्हैया मिसल के साथ मिल गया। अब्दाली के चले जाने पर १७५७ में अदीना आया और उसने सिखों को नष्ट करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। इस समय मराठों ने पञ्जाब पर आक्रमण करके अदीना को यहाँ का शासक बनाया था। उसने मीर अज़ीज़बख़्श को चार हज़ार सवार दे कर जंगलों में छिपे हुए सिखों के विरुद्ध भेजा। सिख रामरौनी के क़िले के अन्दर एकत्र हो गये। रात को छापा मार कर वे दुश्मन को निर्बल करते थे।

एक रात वे क़िले से निकल कर भाग गये। तब जस्सासिंह ने अमृतसर और गुरुदासपुर के ज़िलों के सभी देहात से लगान वसूल करना शुरू किया।

नोदसिंह की मृत्यु पर जस्सासिंह इस मिसल का सरदार बन गया और कन्हैया मिसल के साथ मिल कर ख्वाजा उबैद का मुक़ाबला करता रहा। अहमदशाह अब्दाली के आने पर वे छिप गये। उसके चले जाने पर बटाला और कलानौर पर क़ब्ज़ा कर के जस्सासिंह ने इन्हें अपने दो भाइयों को दे दिया। परंतु जयसिंह और जस्सासिंह में लगान के बँटवारे के संबंध में झगड़ा हो पड़ा। इससे बटाला और कलानौर उसके हाथों से निकल गये। लड़ाई शुरू हो गई। जस्सासिंह ने बटाला तो ले लिया, परंतु कलानौर में उसको ऐसी हार हुई कि वह सतलज के पार भाग गया और हिसार में डेरा जमा कर देहली तक लूटमार मचा दी। जब बाद में कन्हैया और सुकरचकिया मिसलों में लड़ाई हुई तो सुकरचकिया सरदारों ने जस्सासिंह को सहायता के लिए बुला भेजा। उसने आकर अपना सारा इलाक़ा कन्हैया मिसल से वापस ले लिया। १८०८ में महाराज रणजीतसिंह ने उसका सारा प्रदेश लेकर जस्सासिंह को पेंशन दे दी। १८१६ में वह मर गया।

कन्हैया मिसल—लाहौर से पंद्रह मील पर काहना काछा के रहनेवाले जयसिंह ने कपूरसिंह फ़ैज़लपुरिया से 'अमृत' चखा था। परंतु जल्द ही उसे छोड़ कर वह अमरसिंह डाकू के साथ जा मिला। वह और उसके साथी लूटमार में इतने मशहूर हो गये कि उसने एक नई मिसल कन्हैया खड़ी कर ली। १७६३ में अहमदशाह अब्दाली के चले जाने पर उसने

कसूर को लूटा और वहाँ से बहुत-सा सोना तथा जवाहरात प्राप्त किये।

पहले पहल जयसिंह, जस्सासिंह रामगढ़िया के साथ, मिल कर काम करता था। परंतु बाद में वह जस्सासिंह कलाल के साथ मिल गया। दोनों ने मिल कर रामगढ़िया को भगा दिया। जयसिंह ने सरहिंद पर आक्रमण करके नूरपुर, मुकेरियाँ और अन्य कई कस्बे जीते। कटोच का राजा संसारचंद काँगड़ा लेना चाहता था। उसने जयसिंह को सहायता के लिए बुला भेजा। जयसिंह ने काँगड़ा का क़िला जीत कर अपने अधिकार में कर लिया और वह इर्दगिर्द के राजाओं से राजस्व वसूल करने लगा। उसका एक सहायक जैमलसिंह कलानौर में बहुत प्रसिद्ध हो गया। इसने अपनी लड़की चंदकौर का ब्याह महाराज रणजीतसिंह के लड़के खड़गसिंह के साथ किया।

पंजाब में जयसिंह का बड़ा रोब था। पहले पहल वह सुखरचकिया सरदार महासिंह को मदद देता रहा। लेकिन जम्मू की लूट के हिस्से पर उससे रुष्ट हो गया। जब महासिंह को जयसिंह से मुक़ाबला करना पड़ा तो इधर उसने जस्सासिंह रामगढ़िया को बुला भेजा और उधर राजा संसारचंद से सहायता माँगी। बटाला के पास अचल में एक लड़ाई हुई जिसमें जयसिंह के बेटे गुरुबख्शसिंह ने बहुत वीरता प्रदर्शित की, परन्तु एक तीर ऐसा लगा कि वह मर गया और उसकी पत्नी को नंगे पाँव भागना पड़ा। महासिंह और जस्सासिंह की विजय हुई। जस्सासिंह रामगढ़िया ने अपना सारा इलाक़ा वापस ले लिया। जयसिंह पठानकोट भाग गया। राजा संसारचंद ने जयसिंह के पहाड़ी इलाक़े पर हमला किया।

अटलगढ़ के क़िले में जयसिंह की गुलाम लड़की दासेग ने बड़ी बहादुरी से मुक़ाबला किया और क़िले को बचा रखा। तीन बरस तक लड़ाई होती रही, तब सदाकौर ने इसका अंत करने की एक तरकीब निकाली। वह ज्वालामुखी गई। वहाँ महासिंह की स्त्री राजकौर थी। सदाकौर ने अपनी लड़की की मँगनी महासिंह के लड़के रणजीतसिंह से कर दी। इसके पश्चात् फ़ैसला हुआ कि जयसिंह कोट काँगड़ा और संसारचन्द हाजीपुर तथा मुकेरियाँ खाली कर दें।

सन् १७९६ में बटाला में रणजीतसिंह के साथ जयसिंह की पोती महताबकौर का ब्याह बड़ी धूम-धाम से हुआ। जयसिंह अगले बरस मर गया। उसके दो बेटे निधानसिंह और भागसिंह किसी काम के न थे। इस कारण सदाकौर बटाला में राज करती रही। १८०० में उसकी मृत्यु पर रणजीतसिंह ने कन्हैया मिसल को अपने अधिकार में करके कन्हैया सरदारों को कुछ जागीरें दे दीं।

निकी मिसल—निकी मिसल का संस्थापक हीरासिंह जाट था, जो मौजा भरवाल के जाट चौधरी हेमराज का लड़का था। उसका इलाक़ा लाहौर के दक्षिण-पश्चिम में 'निक्का' (छोटा) कहलाता था। हीरा और उसका परिवार इतने निर्धन थे कि उन्हें कई कई दिन भूखा रहना पड़ता। सिखों की उन्नति देखकर हीरासिंह ने भी 'अमृत' चखा और डाके मारने शुरू कर दिये। उसके साथी बढ़ने लगे और उसने देहात से लूट तथा कर प्राप्त करना आरम्भ किया। उसे समाचार मिला कि पाक पटन में गौ-हत्या की जाती है। यह

सुनते ही उसने पाकपटन पर हमला कर दिया। लड़ाई में उसे गोली लगी और वह मर गया।

उसका भतीजा नहरसिंह उसके स्थान पर सरदार बना। नौ बरस के बाद कोट कमालिया की लड़ाई में वह भी मारा गया। उसकी जगह उसके भाई रणसिंह ने ली। वह बहुत बलवान् था। उसके अधीन चूनियाँ, शरक़पुर, सिंटगुमरी, गोगेरा आदि नौ लाख का इलाक़ा था। उसने सैयदवाला के कुमारसिंह पर विजय पाई, परन्तु १७८१ में मर गया। अब भगवानसिंह उत्तराधिकारी बना। इसने अपनी बहन राजकौर का ब्याह रणजीतसिंह से कर दिया। वह भी सैयदवाला की लड़ाई में मारा गया। उसका भाई ज्ञानसिंह उसके स्थान में सरदार बना, परन्तु १८०४ में मर गया। रणजीतसिंह ने उसके बेटे काहनसिंह को पंद्रह हजार रुपये की जागीर देकर सिसल को अपने क़ब्ज़े में कर लिया।

आहलूवालिया मिसल—लाहौर से पाँच कोस पर आहलू-गाँव में सदाऊसिंह कलाल रहता था। उसके तीन बेटे थे। बड़े लड़के के भी तीन पुत्र हुए। उनमें से बदरसिंह का ब्याह भागू की बहन से हुआ था। भागू बहुत ग़रीब था। अपना कारोबार वह लाहौर के पास मुग़लपुरा मुहल्ले में ले आया। वहाँ से वह फ़ैज़पुर गया जहाँ कपूरसिंह ने उसे 'अमृत' चखाया। वह डाकुओं का मशहूर सरदार बन गया। १७१८ में उसकी बहन का लड़का जस्सासिंह उत्पन्न हुआ। जब उसका पिता मर गया तो वह और उसकी माता भागू के पास रहने लगे। एक बार जब कपूरसिंह वहाँ गया तो लड़के को देख कर इतना प्रसन्न हुआ कि उसे अपना बेटा बना लिया। भागू एक लड़ाई में मारा गया। जस्सासिंह उसकी

जगह सरदार बन गया और उसकी प्रसिद्धि बढ़ने लगी। वह अपने आप को जैसलमीर के राजपूत वंश से बताता था यद्यपि उसका घराना कलाल का काम करता था। यह आदमी रियासत कपूरथला का संस्थापक बना।

नादिरशाह के चले जाने पर जस्सासिंह ने रावी के किनारे डालीवाल में एक क़िला बनाया और १७४३ में दीवान लखपतराय को, जो ऐमनाबाद से खजाना ले जा रहा था, क़त्ल करके खज़ाना लूट लिया। लाहौर के सूबेदार ने जालंधर में अदीनाबेग को लिखा कि वह सिखों को सजा दे। अदीना ने सैकड़ों सिखों को पकड़ कर लाहौर भेजा जो सबके सब नक्काशखाना (शहीदगंज) में क़त्ल किये गये।

जस्सासिंह ने सतलज से वापस आकर लूटमार शुरू कर दी। १७४७ में अहमदशाह अब्दाली ने सरहिंद के पास सिखों को पराजित किया। अब्दाली के चले जाने पर जस्सासिंह ने होशियारपुर में मीर मन्नू के नायब गुरदत्तमल पर आक्रमण किया, परन्तु उसे कुछ सफलता न मिली। जब शाहनिवाज देहली की ओर से शासक नियुक्त होकर मुलतान आया तब जस्सासिंह ने मीर मन्नू के दीवान कूड़ामल को मुलतान जीतने में सहायता दी। उस लड़ाई में शाहनिवाज मारा गया। जस्सासिंह को भी लूट का हिस्सा मिला।

१७५३ में जस्सासिंह ने लाहौर के फ़ौजी अफ़सर अजीजुद्दीन को और दो बरस बाद अदीनाबेग को पराजित किया। पानीपत की मशहूर लड़ाई के समय जस्सासिंह सरहिंद, दयालपुर, जगराँव आदि कसबों को लूटता रहा। उसने लाहौर जीतकर वहाँ अपना सिक्का चलाया। १७७२ में अब्दाली ने जस्सासिंह और उसके साथियों को पराजित

किया।' तब वह कांगड़ा को भाग गया, परन्तु अब्दाली के लौट जाने पर भंगी सरदारों से मिलकर उसने कसूर लूटा और तब भंगियों ने कसूर पर अधिकार कर लिया।

१७७४ में विभिन्न सिख सरदारों ने मिलकर सरहिन्द को नष्ट किया। वहाँ से वापस आकर जस्सासिंह ने अमृतसर में कटरा आहलूवालिया बनाया। रामगढ़िया जस्सासिंह को उस ने पंजाब से बाहर भगा दिया। १७८३ में वह अमृतसर में मरा। उसके अनुयायी उसे बादशाह कहा करते थे। जस्सासिंह बहुत बहादुर और सुन्दर जवान था। धार्मिक जीवन होने के कारण उसका बड़ा मान था। एक बार अब्दाली पंजाब से दो हजार हिन्दू स्त्रियों को दासियाँ बनाने के लिए काबुल ले जा रहा था। जस्सासिंह रात को उस पर जा पड़ा। उसने सब स्त्रियों को छुड़ा लिया और उन्हें अपने पास से रुपया देकर अपने-अपने घर सुरक्षित लौटा दिया। इससे उसका यश बहुत फैल गया।

जस्सासिंह की मृत्यु पर उसके स्थान में उसका चचेरा भाई भागसिंह सरदार बना। भागसिंह अधिकतर रामगढ़िया सरदारों से लड़ाई करता रहा। १८०१ में बीमार होकर वह कपूरथला में मर गया। उसकी जगह उसका बेटा फतहसिंह सरदार बना। उसने रणजीतसिंह से पगड़ी बदल कर मित्रता कर ली और रणजीतसिंह को, लड़ाइयों में, सदा सहायता करता रहा।

१८०५ में जसवंतराव होल्कर भाग कर पंजाब आया। जनवरी १८०६ में रणजीतसिंह और फतहसिंह दोनों ने अँगरेज़ों से संधि की और जसवंतराव को अमृतसर से तीस कोस पर भगा देने का वचन दिया। फतहसिंह ने रणजीतसिंह

से मिल कर झंग के इलाके पर चढ़ाई की और अहमदखाँ सियाल पर विजय पाई। मेटकाफ ने फतहसिंह के संबंध में लिखा—"वह एक बड़ी सीढ़ी था जिसकी सहायता से रणजीतसिंह इतना ऊँचा चढ़ा।" १८०६ में वह महाराज रणजीतसिंह के साथ काँगड़ा गया। अगले वर्ष दीवान मोहकमचंद ने उसकी सहायता से जालंधर के सरदार बुद्धसिंह पर विजय पाई।

इन सेवाओं के बावजूद रणजीतसिंह उसका सारा प्रदेश भी लेना चाहता था। उसने फ़क़ीर अजीजुद्दीन और आनंदराम को सेना दे कर उसके विरुद्ध भेजा। फतहसिंह जगराँव को भाग गया। उसने अँगरेजी सरकार से सहायता माँगी। अँगरेज सतलज से इस पार किसी मामले में दखल न दे सकते थे। परंतु फगवाड़ा लिये जाने पर उन्होंने हस्तक्षेप किया और सुलह-सफ़ाई करवा कर फतहसिंह को कपूरथला का प्रदेश दिला दिया। इसके पश्चात् वह कपूरथला में ही रहा।

१८३७ में उसका बेटा निहालसिंह गद्दी पर बैठा। इसने काबुल की लड़ाई में अँगरेजी सरकार की सहायता की। परंतु सिख-युद्ध के अवसर पर संधि की परवाह न करके वह खालसा के साथ मिल गया। इसलिए सतलज के दक्षिण में उसका सारा प्रदेश अँगरेजों ने जब्त कर लिया। १८५२ में रणधीरसिंह गद्दी पर बैठा। उसने अपने भाई बिक्रमसिंह के साथ ग़दर के समय अँगरेजी सरकार की सहायता की और जालंधर में ग़दर करनेवालों को नष्ट किया। इसके बदले में दोनों भाइयों को अवध के प्रदेश में एक लाख मालियत की दो रियासतें, बूँदी और बथोली, दी गईं।

डालीवालिया मिसल—डेरा बाबा नानक के पास डाली-वाला गाँव के गुलाबा खत्री ने लूटमार शुरू करके डालीवालिया मिसल की नींव रखी। उसके मरने पर उसका उत्तराधिकारी तारासिंह नाम का गड़रिया था जिसने सरहिंद और फतहाबाद को लूटा। रणजीतसिंह ने फतहसिंह आहलूवा-लिया को इस मिसल के विरुद्ध भेजा और इसे जीत कर अंत कर दिया।

निशानवाला मिसल—संगतसिंह और मोहरसिंह, दो जाट निशान अर्थात् झंडा उठाया करते थे। इन्होंने निशान-वाला मिसल बना कर लूटमार आरम्भ कर दी। एक बार इनका साहस इतना बढ़ा कि इन्होंने मेरठ जा लूटा। मोहरसिंह के मर जाने पर रणजीतसिंह ने दीवान मोहकमचंद को इस मिसल के खिलाफ भेजा। उसने इसका अंत कर सारा माल-असबाब जब्त कर लिया।

फ़ैज़लपुरिया मिसल—अमृतसर के पास फ़ैज़लपुर गाँव में कपूरसिंह जाट ने यह मिसलस्थापित की। कपूरसिंह को फ़र्रुख़सियर के समय नवाब की उपाधि मिली थी। तब वह खालसा का एक नेता बन गया। उसके धार्मिक जोश के कारण अगणित जाट, जुलाहे और भीवर सिख पंथ में सम्मिलित हुए। १७५३ में उसकी मृत्यु हुई। मरते समय उस ने जस्सासिंह को बुलाया और गुरु गोविंदसिंह का लोहे का गुर्ज या गदा देकर उसे खालसा का नेता नियुक्त किया। उसके स्थान में उसका भतीजा खुशहालसिंह सरदार नियुक्त किया गया जिसका राज जालंधर, शापुर, बहरामपुर, भरतगढ़ और पट्टी तक फैला हुआ था। उसने पटियाला के राजा आलासिंह को सिख बनाया। १७९५ में उसका बेटा

बुधसिंह मिसल का सरदार बना जिसे रणजीतसिंह ने पराजित करके अपने साथ सम्मिलित कर लिया।

करोड़ासिंह मिसल—करोड़ामल जाट ने करोड़ासिंह मिसल की नीव रखी। उसने जगाधरी के निकट चलौंदी को राजधानी बना कर लूटमार शुरू कर दी। उसने सरहिंद पर भी अधिकार कर लिया था। उसके स्थान में बघेलसिंह सरदार बना। जब १७७८ में सिखों ने सरहिंद पर अधिकार किया तब शाह आलम ने देहली से उनके विरुद्ध शाही सेना भेजी। बघेलसिंह उस समय सेना के साथ मिल गया। परंतु फुलकियाँ सरदारों ने करनाल के निकट शाही फौज को भी पराजित किया और समस्त प्रदेश को खूब लूटा। बघेलसिंह के बाद उसके एक मित्र का बेटा जोधसिंह सरदार निश्चित हुआ। वह १८४५ तक राज करता रहा जब यह इलाक़ा अँगरेजी सरकार ने ले लिया।

शहीद या निहंग मिसल—अकाली संप्रदाय की नीव गुरु गोबिन्दसिंह ने रखी। अकाली वीर बैरागी के कट्टर शत्रु थे। ये अमृतसर के पुजारी बन गये। परंतु इन्हें दूसरों की संपत्ति छीनने की आदत थी। अपने आप को ये दमदम के शहीदों की संतति में बतलाते और शहीद या निहंग मिसल कहलाते। कर्मसिंह और गुरुबख्श इनके नेता थे। इनके अधीन दो हज़ार सवार थे। इनका इलाक़ा सतलज के पूर्व को था।

फुलकियाँ मिसल—फुलकियाँ मिसल का श्रीगणेश जैसल से हुआ जिसने जैसलमीर आबाद किया। वह भट्टी राजपूत था। भट्टी लोग इधर आकर भट्ट कहलाने लगे। जैसल की तीसवीं पीढ़ी में मौजा बद्दोवाली (महराज)

रूपचन्द के घर १६१६ में फूल नाम का लड़का पैदा हुआ। बड़े होकर उसने महराज से पाँच मील की दूरी पर अपना गाँव फूल बसाया। वह बादशाही सूबेदारों से मुक़ाबला करता रहा। उसकी शक्ति इतनी बढ़ गई कि एक मौक़े पर उसने जगराँव के सूबेदार को क़ैद कर लिया। फूल के सात बेटे थे जिनमें से तीन पटियाला, नाभा और जींद के शासक हुए। भदौर, मलोद आदि घराने भी इन्हीं में से थे। अंत में सरहिन्द के नाजिम ने फूल को पकड़ लिया। १६५२ में वह सरसाम के कारण मर गया।

उसके स्थान में उसका बेटा रामचन्द सरदार बना। उसने मुसलमानों के साथ बहुत-सी लड़ाइयाँ कीं। १७१४ में उसे अपने ही एक नायक ने क़त्ल कर डाला। रामचन्द का तीसरा बेटा आलासिंह उसके स्थान पर बैठा। बरनाला को उसने अपनी राजधानी बनाया। १७३१ में उसने शाही सेना पर एक बड़ी विजय प्राप्त की जिससे उसका मान बहुत बढ़ गया और उसके पास बहुत-से सिख एकत्र होने लगे। उसने राजपूतों और भट्टी मुसलमानों से बहुत-सी लड़ाइयाँ लड़ीं। १७४७ में उसने उनको एक बड़ी हार दी। मुहम्मदशाह ने उसे इस आशय का पत्र लिखा कि वह सरहिन्द के नवाब की सहायता करे। १७६२ में अब्दाली ने बरनाला पर चढ़ाई की जिसमें आलासिंह पकड़ा गया और बीस हज़ार सिख मारे गये। उसकी रानी फत्तो ने चार लाख रुपया देकर अब्दाली से मुक्ति दिलवाई।

आलासिंह ने पटियाला में एक क़िला बनाना शुरू किया। अब्दाली ने उसे राजा की उपाधि दी और साढ़े तीन लाख रुपया राजस्व-स्वरूप लेकर सरहिंद का प्रबंध उसके सुपुर्द

कर लिया । १७६५ में आलासिंह अब्दाली के साथ लाहौर गया, परन्तु वापस आने पर मर गया । उसका स्थान उसके पोता अमरसिंह को मिला । अब्दाली ने उसे 'राजा-ए-राजगान' की उपाधि दी । उसने मालेरकोटला के पठानों पर चढ़ाई की और भटिंडा को जीता । १७८४ में वह मर गया ।

अब अमरसिंह का बेटा साहबसिंह राजा बना । उसके स्थान में कर्मसिंह राजा हुआ । कई वर्ष तक पटियाला में बड़ी योग्य स्त्रियों का ज़ोर रहा । इनमें से एक साहबसिंह की बहन रानी साहबकौर थी जिसने मराठों को पराजित करके पटियाला की रक्षा की ।

१८०१ में जार्ज थामस ने पटियाला लूटा और वापस हाँसी चला गया । १८४५ में कर्मसिंह के स्थान में उसका बेटा नरेंद्रसिंह गद्दी पर बैठा । उसने सिख-युद्ध में अँगरेजी सरकार की सहायता करके सनद प्राप्त की । १८५७ में उसने वैसी ही राजभक्ति से अँगरेजी सरकार का साथ देते हुए अपना सर्वस्व उसके हवाले कर दिया । जो पत्र देहली के बादशाह ने उसे लिखा वह उसने अँगरेजी सरकार को पहुँचा दिया । उसने न केवल अपनी फ़ौज सरकार को दी वरन् डकशाई, कसौली और सपाटू से गोरी सेना को अंबाला पहुँचाने के लिए हाथी, घोड़े और खच्चर प्रस्तुत किये । उसकी सेना ने रोहतक, हिसार और हाँसी में गड़बड़ न होने दी और फ़ीरोज़पुर, सहारनपुर और जगाधरी में ग़दरवालों का मुक़ाबिला किया । उसने सरकार को पाँच लाख क़र्ज़ के रूप में दिया । साथ ही उसकी सेना झज्जर, अवध और ग्वालियर में काम करती रही । इतनी बड़ी सेवाओं के बदले उसे नारनौल का इलाक़ा दिया गया । जहाँ का नवाब सरकार के विरुद्ध लड़ा था । उसे जो उपाधियाँ मिलीं उनका तो कोई ठिकाना ही नहीं । उदाहरणार्थ उसे

दौलते इँगिलशिया का खास बेटा, मंजूरे जनाँ और महाराज-अधिराज बताया गया। उसे यह अधिकार दिया गया कि वह पटियाला, नाभा, जींद आदि के फूल-वंश में से किसी को अपना दत्तक-पुत्र बना सकता है। १८२२ में उसके मरने पर उसका लड़का महेन्द्रसिंह, दस बरस की आयु में, गद्दी पर बिठलाया गया।

जींद—फूल का एक बेटा तिलोका था। इसके पोते गजपतसिंह ने १७६३ में पानीपत करनाल तक जींद के इलाके पर अधिकार कर लिया। एक बार उसे कैद करके देहली भेजा गया। तीन वर्ष के बाद उसे वहाँ से मुक्ति मिली। १७७२ में वह स्वतंत्र राजा बन गया। इसकी संतति में राजा सरूपसिंह ने सिख-युद्ध में अँगरेजी सरकार की सहायता की और गदर के समय वह स्वयं फौज लेकर देहली में उपस्थित था। अलीपुर में भी जींद की सेना सहायता करती रही। इसके बदले दोदरी के नवाब की एक लाख की रियासत इसे दी गई।

नाभा—तिलोका के पोते हमीरसिंह ने १७५५ में नाभा-नाम का नगर आबाद किया। आलासिंह के साथ उसने सरहिंद पर चढ़ाई की। तब उसे अमलोह का इलाका मिला। १७७६ में हाँसी के सूबेदार से रोरी जीत कर वह वहाँ का राजा बन गया। गजपतसिंह ने इससे १७७४ में संगरूर (जींद) छीन लिया था। हमीरसिंह १७८३ में मर गया। इसका बेटा जसवंतसिंह आठ वर्ष की आयु में गद्दी पर बैठा। परन्तु शासन १७९० तक इसकी माता के हाथ में रहा।

१८०६ में जसवंतसिंह ने अँगरेजों की शरण ली और नेपाल तथा काबुल के युद्धों में अँगरेजी सरकार की सहायता

की। हुल्कर को उसने सहायता देने से इनकार किया। १८४० में उसकी मृत्यु पर उसका बेटा देवेंद्रसिंह गद्दी पर बैठा। उसे पंजाब पर राज करने का बड़ा शौक था। प्रतिदिन शाम को ब्राह्मण उसे श्लोक सुनाया करते कि अँगरेजी शासन का थोड़े दिन बाद अंत हो जायगा। सिख-युद्ध में वह सरकार के विरुद्ध था। इस कारण उस युद्ध के अंत में लुधियाना में दरबार करके उसे गद्दी से उतार मथुरा में क़ैद कर दिया गया। वहाँ उसने अशांति फैलाई, तब उसे लाहौर रखा गया जहाँ वह मर गया। उसके बेटे भरपूरसिंह ने ग़दर के समय सरकार की पूरी सहायता की। उसने ढाई लाख रुपया क़र्ज़ दिया और उसके सैनिकों ने जालंधर तथा लुधियाना में गड़बड़ न होने दी। इसके बदले में उसका छिना हुआ इलाक़ा भज्जर वापस दिया गया।

सुखरचकिया मिसल—सब मिसलों में से सुखरचकिया ज्यादा प्रसिद्ध और शक्तिशाली हो गई। इसी मिसल में सरदार रणजीतसिंह हुए जिन्हों ने लाहौर पर अधिकार कर के पंजाब में सिख राज्य की नींव डाली।

१४७० में पिंडी भट्टियाँ में कालू-नाम का जाट रहता था। घरवालों से लड़कर वह बाहर चला गया और अमृतसर के इलाक़े में राजा सांहसी के पास साँसरीगाँव में रहने लगा। १४८८ में वह मर गया। उसका बेटा ईदीमान सांहसी जाटों के साथ रहता और लूटमार करता। वह १५१५ में मरा। उसका बेटा गलेब सांहसियों का सरदार बन बैठा और माल-मवेशी की चोरी करने लगा। १५४६ में उसकी मृत्यु पर उसका लड़का किद्दो गुजराँवाला से डेढ़ कोस पर सुखरचक में जा आबाद हुआ। पिता के जमा किये हुए बहुत-से पशु

उसके पास थे। जमीन खरीद कर वह शांति-पूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा। १५७८ में वह मर गया।

उसके दो बेटे थे—राजा दाब और प्रेमू। पहले ने 'लंडे' सीख कर दूकान खोल ली। १६२० में वह तीन बेटे छोड़कर मर गया। तीलू और नीलू तो जल्दी ही मर गये, परन्तु तीसरा तखतमल बड़ा साहूकार बन गया। उसके दो बेटे थे—बालू और बारा। बालू लूटमार करते मारा गया। बारा की धार्मिक प्रवृत्ति थी। वह गुजराँवाला के एक भक्त का चेला बन गया और 'ग्रंथ' पढ़ना सीख गया। वह हर समय सिखमत का प्रचार करता रहता था। १६७९ में मरते समय उसने अपने बेटे बुड्ढा को सिख बनने की आज्ञा दी। बुड्ढा ने १६६२ में अमृतसर जाकर 'अमृत' चखा और सिख लुटेरों और साहसियों के साथ मिल गया। अपनी दिलेरी और बहादुरी के कारण उसने बड़ा नाम पाया। अपने लिए उसने एक मकान भी बनवाया। उसके पास एक घोड़ी थी जिस पर चढ़कर उसने पचासों बार झेलम, चनाब और रावी को पार किया और वहाँ से माल चुरा कर अमृतसर आ बेचा। १७१६ में उसकी मृत्यु पर उसकी स्त्री ने अपने कलेजे में तलवार भोंक ली।

नोधसिंह और चंदासिंह उसके दो बेटे थे। चंदासिंह संधियावाला शाखा का प्रवर्तक हुआ। उस जमाने में लूटमार बड़ा माननीय कार्य समझा जाता था। नोधसिंह इस काम में इतना प्रसिद्ध हुआ कि रावलपिंडी से सतलज तक उसका भय छा गया। मजीठ के साहसी जाट गुलाबसिंह ने १७३० में अपनी बेटी का ब्याह उससे कर दिया। साथ ही वह और उसका भाई मारधाड़ के लिए नोधसिंह के साथ मिल गये।

अब्दाली के पहले आक्रमण के समय नौधसिंह ने नवाब कपूरसिंह के साथ मिलकर अब्दाली का माल-असबाब लूटा। वह इतना धनवान हो गया कि सुखरचक का सरदार कहलाने लगा। १७४७ में उसे एक गोली लगी जिसके कारण वह पाँच बरस के बाद मर गया। उसके चार बेटे थे जिनमें से एक चढ़तसिंह सुखरचक मिसल का प्रवर्तक हुआ। १७५४ में उसने कुछ साहसी और अन्य लुटेरों का एक समूह बना कर लूटमार आरम्भ कर दी। उसका भय इतना बढ़ा कि अकाली के सरदार मुहम्मदयार ने अपनी रियासत का प्रबंध उसके सुपुर्द कर दिया और स्वयं पंद्रह सवार लेकर उसके समूह में सम्मिलित हो गया।

चढ़तसिंह के पास कुल डेढ़ सौ सवार थे जिनकी सहायता से उसने गुजराँवाला के गिर्द के इलाक़े पर अधिकार कर लिया। गुजराँवाला में अमीरसिंह एक बड़ा साहसी सरदार था जिसने देहली से लेकर झेलम तक लूटमार की थी। चढ़तसिंह ने उसकी लड़की से ब्याह कर लिया, इससे उसकी शक्ति बढ़ गई। दोनों सरदारों ने मिलकर ऐमनाबाद पर हमला किया और वहाँ के मुग़ल फ़ौजदार को क़त्ल कर डाला। १७५७ में लाहौर के मुसलमान सरदारों ने उनका उत्कर्ष देखकर उनपर चढ़ाई कर दी, परन्तु मुसलमानों की हार हुई और उनका बहुत-सा फ़ौजी सामान चढ़तसिंह के हाथ आया।

सन् १७६२ में अब्दाली के हमले के समय चढ़तसिंह ने अपनी स्त्री और मा को जम्मू भेज दिया और स्वयं पठानों को तंग करने लगा। अब्दाली के चले जाने पर उसने वज़ीराबाद और अहमदाबाद पर क़ब्ज़ा किया। वहाँ उसे

समाचार मिला कि रोहतास का हाकिम नूरुद्दीन हिंदुओं को बहुत तंग कर रहा है। इससे वह झट वहाँ पहुँचा और नूरुद्दीन को खूब लूटा। चकवाल और पिंडदादनखान को उसने जीता। पिंडदादनखान के मुसलमानों से बहुत-सा जुर्माना लेकर उसने उन्हें प्राण-दान दिया। इसके पश्चात् कोट साहबखान और राजा का कोट जीत कर वह गुजराँवाला वापस आ गया।

उसके इन विजय-कार्यों से अन्य सिख सरदार डरने लगे। जम्मू जाने पर उसने देखा कि वहाँ का राजा रणजीतदेव अपने लड़के ब्रजराजदेव से नाराज़ है। ब्रजराज ने वार्षिक राजस्व देने का वचन देकर चढ़तसिंह से सहायता माँगी। उसने १७७४ में जम्मू पर हमला कर दिया। यह पहला अवसर था कि एक हिंदू राजा के साथ उसका झगड़ा हुआ। काँगड़ा, नूरपुर और बुशहर के राजा जम्मू-नरेश की सहायता को आये। भंगी मिसल के सरदार भी चढ़तसिंह से ईर्ष्या करते थे। वे राजा की मदद पर थे। कई छोटी-छोटी लड़ाइयाँ हुईं जिनमें से एक में अपनी ही बन्दूक की नाली फट जाने पर चढ़तसिंह मर गया।

उसका बेटा महासिंह इस समय दस बरस का था। वह तीन लाख रुपये के प्रदेश का स्वामी बना। महासिंह की माँ देसां ने शासन-सूत्र सँभाले। एक ब्राह्मण जयराम मिश्र से उसका संबंध हो गया। उसके सरदार विद्रोही हो गये, परंतु उन्हें कोई सफलता न मिली। महासिंह का ब्याह जींद के राजा गजपतसिंह की लड़की से हुआ। १७७८ में उसने कन्हैया राजा जयसिंह के साथ मिल कर रामनगर (रसूलनगर) पर हमला किया। रामनगर में छत्ता मुसलमान राज करते थे।

इनका सरदार पीरमुहम्मद था। भंगी सरदार झंडासिंह ने अब्दाली की तोप जमजमा छीन कर पीरमुहम्मद के पास थाती रखी जिसे उसने बाद में देने से इनकार कर दिया। इस पर महासिंह ने सारा इलाक़ा लूटा और लोगों के पास खाने को एक दाना भी न छोड़ा। पीरमुहम्मद ने संधि के लिए प्रार्थना की। महासिंह ने उसे धोखे से पहले ही क़त्ल कर डाला और उसके बेटों को तोपों के मुँह से बाँध कर उड़ा दिया। उसकी प्रसिद्धि भंगी सरदारों से भी बढ़ गई। रसूलनगर का नाम रामनगर और अलीपुर का अकालगढ़ रखा गया।

२ नवंबर, १७८० को उसके यहाँ रणजीतसिंह पैदा हुआ। उसने हज़ारों रुपये दान में दिये। सभी सिख सरदारों को भोज में बुलाया गया। बचपन में रणजीतसिंह को चेचक निकली। उसकी जान तो बच गई, परंतु एक आँख जाती रही और चेहरे पर निशान भी रह गये। बेटे के बचने की खुशी में पिता ने कांगड़ा और ज्वालाजी को उपहार भेजे और ब्राह्मणों को दान दिया।

इस समय तैमूरशाह ने आक्रमण करके भंगी सरदारों को मुलतान और बहावलपुर से निकाल दिया। उनकी निर्बलता से लाभ उठा कर महासिंह ने ईसाखेल और मूसाखेल को जीतने के पश्चात् झंग पर हमला किया। ये सभी स्थान भंगी मिसल के अधीन थे। भंगी सरदार इस समय पारस्परिक झगड़े में लगे थे।

इसके पश्चात् महासिंह ने सियालकोट के निकट लोहारों की कोटली पर हमला किया। यह स्थान बंदूकें बनाने के लिए प्रसिद्ध था। यहाँ पर उसने कई सरदारों को बुला भेजा और धोखे से क़ैद कर लिया। बहुत-सा जुर्माना प्राप्त

करने के बाद उन्हें मुक्ति दी। इतने में उसे समाचार मिला कि जम्मू का राजा ब्रजराजदेव विलास में पड़ गया है और उसकी प्रजा उससे कष्ट है। इससे भंगी सरदारों ने जम्मू पर आक्रमण करने का निश्चय किया। जम्मू के राजा ने महासिंह को सहायता के लिए बुला भेजा। राजा की हार हो जाने पर उसने तीस हजार रुपया हक़ीक़तसिंह को देने का वचन दिया। महासिंह हक़ीक़तसिंह के साथ मिल गया। दोनों ने जम्मू लूटने का निश्चय किया। जम्मू तब बहुत सम्पन्न नगर था। अशांति एवं अराजकता के कारण पंजाब के सभी बड़े-बड़े व्यापारी वहाँ जा आबाद हुए थे। राजा डर के मारे भाग गया। शहर के धनवान लोग उपहार लेकर महासिंह के पास आये। परन्तु उसने इसकी परवाह न की और शहर को ख़ूब लूटा, यहाँ तक कि इससे जम्मू के इलाक़े में अकाल पड़ गया।

सन् १७८४ में, दीवाली के अवसर पर, महासिंह स्नान के लिए अमृतसर गया। कन्हैया सरदार जयसिंह उससे बड़ी ईर्ष्या करने लगा। महासिंह ने उसकी बड़ी खुशामद की, परंतु वह राजी न हुआ बल्कि उसे यहाँ तक कह दिया—"जा नाचनेवाले लड़के, यहाँ से चला जा।" महासिंह इसे सहन न कर सका। कुछ सवार लेकर वह अमृतसर से बाहर निकल आया और जस्सासिंह रामगढ़िया को जो कन्हैया सरदार से लड़कर हाँसी भाग गया था, सहायता के लिए बुलाया। जस्सासिंह अपने साथियों को लेकर वापस आया। बटाला में दोनों दलों में सख़्त लड़ाई हुई जिसमें कन्हैया सरदार हार गये। जयसिंह का बेटा गुरुबख़्शसिंह मारा गया। जयसिंह ने बाक़ी सेना लेकर नौशहरा में महासिंह पर फिर हमला किया; परन्तु हार कर उसे नूरपुर को भागना पड़ा।

गुरुबख्शसिंह की स्त्री सदाकौर ने अपनी बेटी महताबकौर की सगाई रणजीतसिंह के साथ करके दोनों मिसलों में एकता कर दी। १७८६ में यह ब्याह बटाला में बड़ी धूमधाम से हुआ।

सन् १७८८ में भंगी सरदार गूजरसिंह मर गया। उसके दो बेटों—फतहसिंह और साहबसिंह—में झगड़ा हो गया। महांसिंह ने साहबसिंह से राजस्व माँगा और उसके इनकार करने पर गुजरात पर हमला कर दिया। साहबसिंह सोहदरा के किले में जा कर बंद हो गया। महांसिंह तीन मास तक उसे घेरे रहा; परन्तु बीमारी के कारण उसे गुजराँवाला लौटना पड़ा। यहाँ आकर वह मर गया।

चढ़तसिंह और महांसिंह, दोनों, बड़े वीर और विजेता थे। उनके काल में सुखरचकिया मिसल का अभ्युत्थान बढ़ता गया और वह सभी मिसलों में बड़ी मानी जाने लगी। महांसिंह ने जलालपुर के सरदार खुदादादखाँ को अपने यहाँ रखा। उसने केवल संदेह पर अपनी मां का वध कर डाला था। महांसिंह ने एक बार उससे इसका हाल पूछा। उसने कहा—"मैंने तो संदेह पर अपनी मां की जान ले ली। तुम अपनी मां को खराबियाँ करते देखते हो और कुछ नहीं करते।" महांसिंह चुप हो गया। एक दिन मौक़ा पाकर उसने मां को गोली मार दी। उसकी स्त्री भी मां से कुछ अच्छी न थी। रणजीत सिंह को भी, अपने पिता के उदाहरण पर चलते हुए, अपनी मां का वध करना पड़ा।

पिता की मृत्यु पर रणजीतसिंह की आयु बारह वर्ष की थी। उनकी माता, माई मलावां, उनकी रक्षक बनी। नौशहरा का खत्री दीवान लखपतराय उनका बड़ा परामर्श-दाता था।

रणजीतसिंह की सास सदाकौर उसकी हर प्रकार से सहायता करती थी। यह स्त्री बहुत समझदार और साहस-वाली थी। १७९३ में जयसिंह के मर जाने पर कन्हैया मिसल पर इसी का अधिकार हुआ।

रणजीतसिंह को किसी प्रकार की शिक्षा नहीं दी गई। उन्हें लिखना-पढ़ना न आता था। कुछ वर्ष के पश्चात् उन्होंने निक्की सरदार रामसिंह की लड़की राजकौर से दूसरा ब्याह किया। जब वे सत्रह वर्ष के हुए तो उन्होंने मां और सास से शासन-सूत्र छीन कर अपने हाथ में ले लिये। इस समय अब्दाली के पोते शाहजमाँ ने पंजाब पर हमला किया। दो बार उसने लाहौर पर अधिकार किया, परन्तु घरेलू झगड़ों के कारण उसे वापस जाना पड़ा। सिख लोग पठानों के आने पर पहाड़ों या जंगलों में छिप जाते और उनके चले जाने पर वापस लौट आते। एक बार शाहजमाँ लाहौर में था जब रणजीतसिंह ने सतलज पार हो कर इलाक़े को जीतना और लोगों से राजस्व प्राप्त करना आरंभ कर दिया। उसके चले जाने पर रणजीतसिंह अपने स्थान में लौट आये। छत्ता के सरदार हशमतख़ाँ ने छिप कर उन्हें क़त्ल करने का निश्चय किया। रणजीतसिंह शिकार से वापस आ रहे थे जब हशमत ने उन पर हमला किया। तलवार से घोड़े की लगाम के दो टुकड़े हो गये। रणजीतसिंह ने एक झटके से उसका सिर क़लम कर दिया और उसके सारे प्रदेश के मालिक बन गये।

अब रणजीतसिंह ने लाहौर लेने का निश्चय किया। इस समय लाहौर में चेतसिंह, मोहरसिंह और साहबसिंह राज्य करते थे। चेतसिंह क़िले में रहा करता था। लाहौर के मुसल-मानों में मियाँ आशिक़मुहम्मद और मोहकमुद्दीन दो बड़े

चौधरी थे। आशिक़मुहम्मद की बेटी मियाँ बद्रुद्दीन से ब्याही हुई थी। कुछ खत्री बद्रुद्दीन से नाराज़ थे। उन्होंने चेतसिंह से शिकायत की कि बद्रुद्दीन शाहज़माँ के साथ षड्यंत्र में लगा है। इस पर चेतसिंह ने उसे गिरफ्तार कर लिया। मुसलमान चौधरी चेतसिंह के पास गये परन्तु उसने एक न सुनी। डेढ़ मास गुज़र गया। इन चौधरियों ने हकीम हाकिमराय और भाई गुरुबख्शसिंह को अपने साथ मिला कर एक दिन रणजीतसिंह को कहला भेजा कि शहर में अत्याचार हो रहा है और लोग शासक से तंग हैं।

रणजीतसिंह ने अपने प्रतिनिधि क़ाज़ी अब्दुर्रहमान को भेज कर सारा हाल मालूम किया। विश्वास हो जाने पर वे फ़ौज ले कर बटाला आ गये। अमृतसर से पाँच हज़ार सेना लेकर लाहौर को चल पड़े और वज़ीरखाँ की बारहदरी में (जहाँ आज कल पब्लिक लायब्रेरी है) आ डेरे लगाये। १७९९ में एक दिन आठ बजे सबेरे लाहौरी दरवाज़े से उनकी सेना नगर में प्रविष्ट हुई। चेतसिंह ने अपने आपको क़िले में बन्द कर लिया। दूसरे दो सरदार लाहौर से भाग गये। रणजीतसिंह ने क़िले का घेरा डाल दिया। अगले दिन सबेरे चेतसिंह ने अपने आपको रणजीतसिंह को अर्पण करके अधीनता स्वीकार कर ली। रणजीतसिंह ने लोगों को पूर्ण रक्षा का विश्वास दिला कर उन्हें दूकानें खोलने का आदेश दिया। लोग उनके नरम सलूक से प्रसन्न हो गये। लाहौर पर रणजीतसिंह का अधिकार हो जाने से पञ्जाब में एक नया युग शुरू होता है।

आठवाँ प्रकरण

महाराज रणजीतसिंह

पंजाब की राजनीतिक अवस्था—कसूर में इस समय पठान नज़ामुद्दीन का राज था। चक गुरु (अमृतसर) भंगी सरदार गुलाबसिंह के अधिकार में था। मुलतान में मुज़फ्फ़रखाँ का शासन था। यह अब्दाली घराने का था। दायरा पर अब्दुस्समदखाँ राज करता था। मंकेरिया, होती और बन्नू का हाकिम मुहम्मद शाहनिवाज़ था। ये सभी काबुल-नरेश के नियुक्त किये गये सूबेदार थे, परन्तु अब स्वायत्त हो गये थे। बहावलपुर पर दाऊदपोत्रा बहावलखाँ राज करता था। झंग पर अहमदखाँ सियाल, पेशावर पर फ़तहखाँ बरकज़ई, काश्मीर पर उसका भाई अज़ीमखाँ, अटक के क़िले पर बज़ीरखेल जहाँदादखाँ, काँगड़ा में राजा संसारचन्द, चंबा में राजा चढ़तसिंह, होशियारपुर से कपूरथला तक के प्रदेश पर आहलूवालिया सरदार फ़तहसिंह और बज़ीराबाद, धन, खुशाब तथा पाकपटन पर सिख सरदार।

ईर्ष्या और षड्यंत्र—रणजीतसिंह का लाहौर पर क़ब्ज़ा हो जाने से सभी सरदार उनसे ईर्ष्या करने लगे। जस्सासिंह रामगढ़िया, भंगी गुलाबसिंह (अमृतसर), भंगी साहबसिंह (गुजरात), जोधसिंह (बज़ीराबाद) और नज़ामुद्दीन ने मिल कर एक षड्यंत्र रचा और अमृतसर से चल कर १८०० में सबने लाहौर पर आक्रमण कर दिया। रणजीतसिंह

उनके मुक़ाबले पर मैदान में आये। भसीन में दो मास तक सेनाएँ आमने-सामने पड़ी रहीं। भंगी सरदार सब कुछ भूल कर शराब पीने में लग गये। यहाँ तक कि गुलाबसिंह मद्यपान के कारण वहीं मर गया। उनके अंदर हलचल मच गई और वे सब मैदान छोड़ कर वापस चले गये। रणजीतसिंह विजयी बनकर लाहौर में प्रविष्ट हुए और लोगों से उन्होंने उपहार लिये।

उसी वर्ष नारोवाल, मीरोवाल, जस्सरवाल आदि होते हुए उन्होंने जम्मू से चार मील की दूरी पर जा डेरे डाले। राजा ने बीस हज़ार रुपये और हाथी भेंट किया। वापसी पर सियालकोट पर क़ब्ज़ा करके सोढी केसरसिंह से दिलावरगढ़ जीता। लाहौर पहुँचकर १८०१ में उन्होंने महाराज की उपाधि धारण की। दरबार में सभी सरदार उपस्थित हुए। पुरोहित ने तिलक लगा कर यह कार्य विधिपूर्वक किया। कवियों ने कविताएँ पढ़ीं, सरदारों और विद्वानों ने बधाई दी। आज्ञा हुई कि अब महाराज को सदा सरकार लिखा जाय। लाहौर में टकसाल लगा कर महाराज ने अपने नाम का सिक्का जारी किया। पहले रुपयों का निरीक्षण करके महाराज ने वे सब दान में दे दिये। मुक़द्दमों के फ़ैसले क़ाज़ी नज़ामुद्दीन करने लगा। अज़ीज़ुद्दीन का भाई नूरुद्दीन राज-हकीम नियुक्त हुआ। अमामबख़्श घुड़सवार लाहौर का कोतवाल बनाया गया। दीवान मोतीराम को एक लाख रुपया, लाहौर की दीवार पक्की करने के लिए, दिया गया।

भंगी साहबसिंह और कसूर के पठान फिर षड्यंत्र रचने लगे। इस पर महाराज ने गुजरात पर हमला करके साहबसिंह की ख़बर ली और कसूर पर चढ़ाई करके पठान

को अधीनता स्वीकार करने पर बाध्य किया। साथ ही पठान से सरकार की सहायता करने के लिए एक सेना रखने की प्रतिज्ञा करवाई। अब महाराज को पता चला कि भंगी साहबसिंह के कहने पर अकालगढ़ का सरदार दलसिंह सेना एकत्र कर रहा है। महाराज ने उसे मित्रवत् पत्र लिखकर लाहौर बुला भेजा। धोखे में वह लाहौर चला आया। पहले तो उसका बड़ा मान किया गया, परन्तु बाद में उसके मकान के गिर्द सैनिक बिठला कर उसे क़ैद कर लिया गया। स्वयं महाराज ने अकालगढ़ पर चढ़ाई कर दी। दलसिंह की रानी तेजो ने सेना लेकर ऐसा मुक़ाबला किया कि महाराज को असफल लौटना पड़ा।

साहबसिंह ने वजीराबाद के सरदार जोधसिंह को भी अपने साथ मिला लिया था। महाराज ने जोधसिंह को मैत्री का पत्र लिखकर राजी कर लिया और स्वयं साहबसिंह पर आक्रमण कर दिया। कुछ दिन के घेरे के बाद साहबसिंह ने संधि के लिए प्रार्थना की। परस्पर राजीनामा हो गया जिस पर महाराज ने दलसिंह को छोड़ दिया। दलसिंह अकालगढ़ पहुँचते ही मर गया जिस पर खुद महाराज अकालगढ़ चले गये और रानी को समवेदना का पत्र लिखा। रानी ने उन्हें अपने घर बुला भेजा। महाराज ने शहर में प्रविष्ट हो कर रानी और उसके बच्चों को क़ैद कर लिया और उसे केवल दो गाँव देकर अकालगढ़ पर अधिकार कर लिया।

अगले वर्ष महाराज ने कसका का क़िला जीता। सन् १८०१ में वे तरनतारन स्नान को गये। वहाँ पर आहलूवालिया फतहसिंह से पगड़ी बदल कर मित्रता की। एक बरस बाद रानी राजकौर ने खड़गसिंह को जन्म दिया। इस मौक़े पर

बड़ी खुशियाँ मनाई गईं। कई दिन तक लाहौर में उत्सव हुए और ग़रीबों को दान दिया गया।

भंगी सरदार गुलाबसिंह के मर जाने के बाद उसकी विधवा रानी सुक्खां अपने छोटे बेटे के नाम पर अमृतसर में राज करती थी। महाराज ने अमृतसर लेने का निश्चय किया और फतहसिंह आहलूवालिया को वहाँ बुला भेजा। रानी सभी दरवाज़े बन्द करके दीवार के ऊपर चढ़ गई। महाराज ने लोहगढ़ दरवाज़े से और फतहसिंह ने हाल दरवाज़े से हमले शुरू किये। लोहगढ़ महाराज के हाथ में आ गया और नगर पर महाराज का अधिकार हो गया। शहर में किसी प्रकार की लूटमार नहीं हुई। महाराज ने हर-मंदिर जाकर बहुत सा दान-पुण्य किया।

पहाड़ी राजाओं से राजस्व—पहाड़ी राजाओं में से इस समय कटोच के राजा संसारचंद ही में कुछ हिम्मत थी। महाराज रणजीतसिंह को उसके साथ टक्कर खानी पड़ी। अभी महाराज गद्दी पर बैठे ही थे कि उन्हें खबर मिली कि राजा संसारचंद ने उनकी सास सदाकौर के इलाक़े पर आक्रमण किया है। महाराज ने पहले सेना भेजी और फिर स्वयं आ पहुँचे। राजा से न केवल सारा प्रदेश वापस लिया वरन् नूरपुर पर अपना क़ब्ज़ा कर लिया और लौटते हुए सुजानपुर का क़िला गिरा कर वहाँ से चार तोपें ले लीं और धर्मकोट, शंकरगढ़ तथा बहरामपुर पर अपना अधिकार कर लिया। लाहौर पहुँचकर महाराज ने पिंडी भट्टियाँ, धन और पुठहार का दौरा किया। उन्हें अपने क़ब्ज़े में कर के वहाँ से चार सौ उत्तम घोड़े लाहौर लाये।

अगले वर्ष महाराज को समाचार मिला कि खत्री

चूहड़मल की विधवा फगवाड़ा में स्वायत्त शासन स्थापित करना चाहती है। महाराज ने फगवाड़ा पर अधिकार करके विधवा को हरद्वार भिजवा दिया। इस समय संसारचंद ने होशियारपुर और बजवाड़ा पर चढ़ाई कर दी। महाराज सेना लेकर उधर गये, परन्तु संसारचन्द काँगड़ा को वापस लौट गया। दूसरे वर्ष उस ने फिर होशियारपुर पर चढ़ाई की; परन्तु उसके अपने प्रदेश में गोरखा सेनाएँ आ पहुँचीं जिनका निश्चय इस समय भारत में राज्य स्थापित करने का था। इस कारण संसारचन्द को लौटना पड़ा।

सन् १८०६ में पटियाला और नाभा का परस्पर झगड़ा हो रहा था। दोनों ने महाराज को अपना पंच बनाया। महाराज सेना लेकर उधर गये और कुछ लड़ाई-झगड़े के बाद उनकी आपस में सुलह करवा दी। परन्तु इसके साथ ही जंडियाला, रायकोट, जगराँव, तलवंडी और लुधियाना अपने सरदारों में बाँट दिये। लुधियाना इस समय रायकोट के एक मुसलमान राजपूत की दो विधवाओं के अधीन था। महाराज ने दोनों को निकाल कर लुधियाना पर क़ब्जा कर लिया।

अब महाराज को पता लगा कि गोरखा सेना-नायक अमरसिंह ने काँगड़ा आ घेरा है। वह गढ़वाल का इलाक़ा जीतकर सरमोर, बसी आदि से होता हुआ आया था। जब महाराज कोट काँगड़े के निकट जा पहुँचे तब अमरसिंह का वकील जोरावरसिंह उपहार लेकर आया। महाराज ने यह कहकर उसे लेने से इनकार कर दिया कि उन्होंने संसारचन्द को सहायता देने का वचन दे रखा है। वास्तव में बात यह थी कि वे गोरखों को परकीय राजा के सैनिक समझ कर मदद नहीं देना चाहते थे। राजा संसारचंद ने

तंग आकर अपने भाई फतहचंद को महाराज के पास भेजा। पर महाराज तो स्वयं काँगड़ा लेना चाहते थे। संसारचंद कभी अमरसिंह और कभी महाराज से संबन्ध बनाने का यत्न करता। महाराज ने दोनों को चकमा देकर २४ अगस्त, १८०९, को किले में प्रवेश किया। इसपर लड़ाई हुई जिसमें बहुत-से गोरखे और सिख मारे गये। अमरसिंह ने अँगरेजों से कहा कि वे उसके साथ मिलकर पंजाब पर आक्रमण करें, परन्तु अँगरेज न माने। गोरखा सेना में एक बीमारी फैल गई और उसे वापस जाना पड़ा।

सन् १८१५ में गोरखा सरदार अमरसिंह अँगरेजों के साथ लड़ रहा था। उसने सतलज और यमुना का पहाड़ी इलाका अपने क़ब्जे में कर लिया। उस समय भी उसने अपना प्रतिनिधि पृथीविलास लाहौर भेजा। परन्तु महाराज ने उसकी कोई सहायता न की और गोरखों के बजाय अँगरेजों की सहायता करने पर तैयार हो गये।

सन् १८११ में महाराज ने दीनानगर जा कर पहाड़ी राजाओं से राजस्व प्राप्त किया। नूरपुर के राजा से चालीस हजार रुपये की भेंट ली गई। उनके सेनानायक मोहकमचन्द और सौता डोगरा ने सुकेत, मंडी और कुल्लू से कर लिया। कुछ देर बाद नूरपुर के राजा बीरसिं॰ को सियालकोट बुलाया गया; परन्तु वह उपस्थित न हुआ। इस कारण उस पर इतना जुर्माना किया गया कि जिसे वह चुका न सकता था। इस पर उसकी सारी सम्पत्ति ज़ब्त कर ली गई। वह अँगरेजों के पास उनकी शरण लेने भागा। इस क़सूर के बदले उसके ससुर उम्मीदसिंह (राजा जसवाँ) की बहुत-सी जागीर भी ज़ब्त कर ली गई।

दशहरा के लिए महाराज अमृतसर आ गये। माधोपुर से हरमंदिर तक एक नहर बनवाने की आज्ञा दी गई। वहाँ से फिर दीनानगर जा कर उन्होंने पहाड़ी राजाओं से उपहार प्राप्त किये। काँगड़ा में राजा चंबा, राजा सुकेत, राजा मंडी ईश्वरी सेन और कुल्लू-नरेश ठाकुरदास से उपहार लिये।

सन् १८१४ में गोरखों और अँगरेजों में लड़ाई हुई जिसमें गोरखों के भाग्य का अंतिम निर्णय हो गया। वे सदा के लिए अपने पहाड़ी प्रदेश में बंद हो गये।

महाराज ने देसासिंह मजीठिया को काँगड़ा का सेनानायक और सभी पहाड़ी रियासतों का नाजिम नियुक्त कर दिया। स्वयं ज्वालामुखी में दान-पुण्य करने के पश्चात् मंडी, सुकेत और कुल्लू के नरेशों से उपहार लिये और जालंधर चले आये। रास्ते में हरियाना पड़ता था। उसके सरदार के मर जाने पर उसकी विधवा से हरियाना का क़ब्ज़ा ले लिया। साथ ही भूपसिंह फ़ैज़लपुरिया को गिरफ़्तार करके उसका इलाक़ा ले लिया।

कसूर—सन् १८०१ में नज़ामुद्दीन कसूर में विद्रोही हो गया। महाराज सेना लेकर स्वयं वहाँ पहुँचे। बड़ी सख्त लड़ाई हुई। मुक़ाबले में पठान हार गये। शहर में खूब लूटमार की गई और पठान स्त्रियाँ, बच्चे तथा पुरुष क़ैद कर लिये गये। नज़ामुद्दीन महाराज के समक्ष पेश किया गया। उसने इतनी विनम्रता प्रदर्शित की कि महाराज ने उसे क्षमा करके बहाल कर दिया।

कुछ मास के पश्चात् समाचार आया कि नज़ामुद्दीन को उसके साले कुतबुद्दीन ने क़त्ल कर डाला है। महाराज

ने कसूर पर चढ़ाई कर दी और शहर को घेर लिया। जब कुतबुद्दीन भूखा मरने लगा तब उसने बहुत-सा रुपया देकर आधीनता स्वीकार कर ली।

सन् १८०७ में महाराज को मालूम हुआ कि कुतबुद्दीन कसूर में अपनी शक्ति बढ़ा रहा है। महाराज ने बहुत-सी सेना एकत्र करके कसूर पर हमला किया और एक मास तक उसे घेरे रक्खा। जब शहर में खाने के लिए कुछ न रहा तब कुतबुद्दीन को झुकना पड़ा। सिख सेना ने कसूर को खूब लूटा और उसे अपने क़ब्जे में ले लिया। इस विजय के उपलक्ष में लाहौर और अमृतसर में दीपमाला की गई।

गुजरात और वजीराबाद—सन् १८०६ में वजीराबाद का सरदार मर गया। महाराज उस पर अधिकार करने के लिए स्वयं वजीराबाद जा पहुँचे। परन्तु जोधसिंह के बेटे गंगासिंह ने एक लाख रुपया उपहार देकर अधीनता स्वीकार कर ली।

साहबसिंह और उसके बेटे में झगड़ा चल रहा था। अगले वर्ष महाराज गुजरात गये। साहबसिंह ने जलालपुर के क़िले का आश्रय लिया। महाराज ने जाकर जलालपुर नगर पर क़ब्ज़ा कर लिया। साहबसिंह क़िले से मँगलामाई को भाग गया। फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन ने गुजरात पर अधिकार करके साहबसिंह की सारी धन-संपत्ति ज़ब्त कर ली। तब महाराज ने नूरुद्दीन को गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया। इसी प्रकार उपहार लेने के बाद भी महाराज ने वजीराबाद को सेना भेजकर उसपर अधिकार कर लिया।

इसके पश्चात् स्वयं रामनगर जा कर निधानसिंह को बुलाया। उसने उत्तर दिया कि जब तक कोई बेदी-बाबा

जामिन न हो तब तक मैं नहीं आ सकता। यह कहकर वह उस के क़िले में चला गया। महाराज ने एक मास तक क़िले को घेर रखा, परन्तु वह सर न हुआ। अब मुल्कराज और जमियतसिंह नाम के दो बाबे प्रतिभू बने। इस पर निधानसिंह आ गया। महाराज ने उसे क़ैद कर लिया। दोनों प्रतिभू धरना मार कर बैठ गये। इस सत्याग्रह के कारण महाराज ने निधानसिंह को छोड़ दिया।

बटाला—विभिन्न नगरों पर अधिकार करने के ये ढंग कुछ विचित्र-से थे। वास्तव में महाराज को जो उचित दिखाई देता उसे ही वे प्रयोग में ले आते। बटाला में उनकी अपनी सास सदाकौर राज्य करती थी। यद्यपि वह बूढ़ी हो रही थी तो भी महाराज में उससे बटाला लेने की इच्छा बनी हुई थी। १८१६ में वे एक मास तक बटाला ठहरे रहे। महाराज चाहते थे कि सदाकौर अपनी संपत्ति में से कुछ हिस्सा अपने दोहते (और महाराज के बेटे) शेरसिंह को दे दे। परन्तु सदाकौर उसे महाराज से अलग जागीर दिलवाना चाहती थी। महाराज ने शेरसिंह और उसकी मा महताबकौर में झगड़ा डलवा दिया और फिर आज्ञा दी कि शेरसिंह तथा तारासिंह दोनों भाइयों के लिए जागीरें अलग कर दी जायँ।

सदाकौर इससे नाराज़ हुई। वह अँगरेज़ों के पास चली जाना चाहती थी। महाराज ने उसे शाहदरा बुलाया। पीछे से महाराज के आदेश पर मिश्र दीवानचंद ने जा कर उसकी सारी संपत्ति पर अधिकार कर लिया। मिश्र ने मुकेरियाँ में रत्नगढ़ को जा घेरा। वहाँ पर रानी सदाकौर की एक दासी ने बहुत सख्त मुक़ाबला किया। रानी से पत्र लिखवा

कर मिश्र दासी से अधीनता स्वीकार करवाना चाहता था। परन्तु रानी सदाकौर ने उस पत्र पर अपनी मोहर लगाने से इनकार कर दिया। इस पर उसे दो दिन भूखा रखा गया। तीसरे दिन उसने मोहर लगा दी तब मिश्र ने मुकेरियाँ से सारा माल और जवाहरात लेकर लाहौर भेज दिये। अब बटाला शेरसिंह के नाम जागीर कर दिया गया। रानी सदाकौर को मरते दम तक क़ैद में रखा गया। वह बहुत बेचैन रहती, छाती पीटती और जँवाई को गालियाँ देती रहती।

निक्की तथा फ़ैज़लपुरिया मिसलें—सन् १८१० में महाराज को सूचना मिली कि काहनसिंह निक्की गुलतान और माझा के बीच के प्रदेश पर बहुत अत्याचार कर रहा है। महाराज ने दीवान मोहकमचंद को सेना दे कर उस तरफ़ भेजा। उसने सारा इलाक़ा जीत लिया। सरदार काहनसिंह को भैरोवाल में जागीर दे दी गई।

फ़ैज़लपुरिया सरदार बुद्धसिंह, जिसका इलाक़ा सतलज के दोनों किनारों पर था, दरबार में आने से इनकार करता था। दीवान मोहकमचंद फ़ौज ले कर जालंधर पहुँचा। बुद्धसिंह अँगरेज़ों के पास लुधियाना भाग गया। मोहकमचंद ने जालंधर, फिलौर, पट्टी और महतपुर पर अधिकार कर लिया जिससे तीन लाख का प्रदेश लाहौर के साथ मिल गया। अब मोहकमचंद को विधिपूर्वक दीवान अर्थात् मंत्री बनाया गया और एक हाथी, सोने का हौदा और जड़ी हुई तलवार पुरस्कार स्वरूप दी गई।

झंग—अमृतसर पर अधिकार करने के पश्चात् महाराज ने अहमदख़ाँ सियाल से राजस्व माँगा और साथ

ही चढ़ाई भी कर दी। वे जिधर से गुजरते, लूटमार करते जाते। अहमदखाँ ने सियाल, भरवाल तथा भरवाने लोगों को एकत्र किया। झंग के मैदान में दिन भर लड़ाई होती रही। इसके बाद तीन दिन तक उसके गिर्द घेरा रहा। नवाब के नौकर उसे छोड़ कर भाग गये। स्वयं अहमदखाँ ने मुलतान की शरण ली। उसकी सारी धन-संपत्ति महाराज के हाथ लगी। हिंदू चौधरियों ने उपस्थित हो कर प्राण-दान की भिक्षा माँगी, इस कारण कोई लूटमार न हुई। बाद में अहमदखाँ ने साठ हजार रुपया वार्षिक देने की प्रतिज्ञा की और उसे राज्य वापस मिल गया। तत्पश्चात् महाराज ने उच्च, साहीवाल तथा गढ़महाराजा के मुसलमान नवाबों से बहुत-सा रुपया वसूल किया।

सन् १८१५ में मुलतान और भक्खर होते हुए महाराज फिर झंग पहुँचे और अहमदखाँ से राजस्व तलब किया। वह प्राप्त न हुआ, इसलिए अहमदखाँ और उसके मंत्री जवायाराय को क़ैद करके लाहौर भेज दिया। चार लाख का यह प्रदेश एक लाख, साठ हज़ार पर सुखदयाल को ठेके पर दे दिया गया। फ़तहसिंह आहलूवालिया ने इस बीच में उच्च के सैयद को निकालकर उसका इलाक़ा ले लिया और कोट महाराजा पर अधिकार कर लिया।

मुलतान—लाहौर के अतिरिक्त पंजाब का दूसरा सूबा मुलतान था। १८०२ में कसूर की लड़ाई के बाद थके हुए सैनिक लौट ही रहे थे कि महाराज ने मुलतान पर चढ़ाई की आज्ञा दे दी। सभी दरबारी इसके विरुद्ध मंत्रणा देते रहे। परन्तु महाराज ने एक न सुनी। मुलतान में धन बहुत था और महाराज उसे हस्तगत करना चाहते

थे। अभी वे शहर से तीस मील पर ही थे कि नवाब मुजफ्फरखाँ बहुत-से उपहार लेकर आगे से आ मिला। महाराज उन्हें स्वीकार कर लौट आये।

साहीवाल के हाकिम फतहखाँ ने कई बरस से राजस्व देना बंद कर रक्खा था। १८१० में महाराज उस तरफ गये। खुशाब से वे अचानक रात को ही साहीवाल जा पहुँचे। फतहखाँ को जंजीरों में जकड़ कर लाहौर भेजा गया।

वहाँ से महाराज ने मुलतान पर चढ़ाई कर दी। मुजफ्फरखाँ क़िला में जा छिपा। महाराज मुलतान शहर में प्रविष्ट हुए। इर्दगिर्द के सभी सरदार डर गये। लैय्या और भक्खर के सरदार मुहम्मदखाँ ने एक लाख, बीस हजार रुपया भेंट किया। बहावलपुर का सरदार सदीक़ मुहम्मद एक लाख रुपया देना चाहता था, परन्तु महाराज ने उसे स्वीकार न किया। अन्त में उसने पाँच सौ सवार, मुलतान की लड़ाई में सहायता देने के लिए, भेजे। कई दिन तक मुलतान के क़िले पर गोलाबारी होती रही। पठानों ने बड़ी वीरता से मुक़ाबला किया। जमजमा तोप मुलतान लाई गई। लेकिन इसका चलाना बहुत कठिन सिद्ध हुआ; इससे कुछ लाभ न हुआ। दो मास तक घेरा रखने पर भी सिख कुछ न कर सके। दीवान मोहकमचन्द को शुजाबाद भेजा गया था। उसे भी वहाँ का क़िला लेने में असफलता हुई। इससे महाराज बहुत निराश हुए।

महाराज ने लाहौर आते ही अपनी सेना को अँगरेजी ढंग पर सैनिक शिक्षण देना आरंभ किया।

मुज़फ्फ़रखाँ और महाराज, दोनों ने अँगरेज़ों को सहायता के लिए लिखा। परन्तु उन्होंने किसी का साथ देना उचित न समझा। अगले वर्ष सरदार दलसिंह मिट्ठा-टिवाना और उच्च के नवाबों से राजस्व प्राप्त करता हुआ मुलतान पहुँचा। मुज़फ्फ़रखाँ के प्रतिनिधि देहली में गहने बेच कर नक़द रुपया लाये थे। उसने पचास हज़ार रुपया भेंट किया। तत्पश्चात् दलसिंह ने कोट कमालिया को जीता।*

सन् १८१५ में स्वयं महाराज पाकपटन से होकर बहावलपुर गये। वहाँ के नवाब ने अस्सी हज़ार रुपया उपहार और अस्सी हज़ार वार्षिक राजस्व देना मंज़ूर किया। वहाँ से महाराज हड़प्पा पहुँचे। मिश्र दीवानचंद के तोपखाने की मदद से अहमदाबाद का क़िला लिया गया। सिखों की सेना का एक दस्ता मुलतान जा पहुँचा। अकाली फूलासिंह के दल ने भंग के नशे में मस्त होकर ऐसा हमला किया कि क़िले के बाहर के हिस्से पर सिखों का अधिकार हो गया। मुज़फ्फ़रखाँ ने अस्सी हज़ार रुपया महाराज की भेंट किया और शेष शीघ्र ही चुकाने की प्रतिज्ञा की।

वहाँ से महाराज भक्खर आये। यहाँ के नवाब के मर जाने पर उसकी जगह शेरमुहम्मद बैठा था। महाराज ने उससे सवा लाख रुपया तलब किया। नवाब ने केवल बीस हज़ार रुपये भेंट दिये। इस कारण गुस्से में आकर महाराज ने मनकीरा का इलाक़ा लूटने का आदेश दिया। अकाली फूलासिंह ने

* परिशिष्ट क देखिये।

मुसलमान आबादी को घेर लिया। अंत में राय पिंडीदास के द्वारा पचास हज़ार रुपया अदा होने पर लूटमार बन्द हुई।

महाराज का ध्यान मुलतान की तरफ लगा हुआ था। सन् १८१७ के आरंभ में दीवान मोतीराम, भवानीदास, हरिसिंह नलवा और मिश्र दीवानचंद मुलतान भेजे गये। मुज़फ्फ़र ख़ाँ ने ऐसा मुक़ाबला किया कि उनके प्रयत्न विफल सिद्ध हुए। वापस आने पर भवानीदास को क़ैद कर दिया गया।

अगले वर्ष के शुरू में पचीस हज़ार सिख जमजमा तोप लेकर मिश्र दीवानचंद के अधीन मुलतान के लिए निकले। रसद का सामान रावी और चनाब के द्वारा ले जाने का प्रबंध किया गया। महाराज ने मिश्र दीवानचंद को 'ज़फ़रजंग' अर्थात् युद्धवीर, की उपाधि दी। महाराज को भय था कि कहीं सभी मुसलमान उनके मुक़ाबले पर एकत्र न हो जायँ। इस कारण उन्होंने अहमदख़ाँ सियाल को मुक्त करके ज़िला अमृतसर में जागीर दे दी। अब मुज़फ्फ़रख़ाँ से इतना रुपया तलब किया गया कि इसका देना उसके सामर्थ्य से बाहर था। मुज़फ्फ़रख़ाँ ने मुसलमानों को इसलाम के नाम पर मज़हबी युद्ध में मदद देने के लिए एकत्र किया। दीवान मोतीराम ने शहर को घेर लिया। सिख तोपों ने क़िले में सूराख कर दिये। जमजमा से भी अब का काम लिया गया।

मुज़फ्फ़रख़ाँ ने जान तोड़ कर कोशिश की, परन्तु तंग आ कर उसके साथी भागने लगे। कुछ चले गये, कुछ मर गये। दो हज़ार में से केवल दो सौ बचे। अचानक अकाली साधुसिंह ने कुछ साथियों को ले कर जुम्मे के दिन पठानों पर धावा बोल दिया और हाथों हाथ लड़ाई में बहुतों को क़त्ल कर डाला। अब मुज़फ्फ़रख़ाँ ने हरे कपड़े स्वयं पहने और अपने बेटों को

पहनाये। वह मुक़ाबले के लिए खिज़री दरवाज़े पर आया। बढ़ते-बढ़ते बा०वलहक़ की क़ब्र तक आ पहुँचा। यहाँ पर वह मरने के लिए तैयार खड़ा हो गया। उसका साहस देख सिखों ने पीछे हट कर बंदूकें चलानी शुरू कीं जिनसे मुज़फ़्फ़रखाँ और उसके पांचों बेटे मारे गये।

नवाब का सारा माल-असबाब, शाल, जवाहरात आदि लूट लिये गये। सिखों ने शहर में लूट मचा दी। क़िले के अन्दर पाँच सौ मकान गिरा दिये गये। बहुत-सी मुसलमान स्त्रियाँ वहाँ हमले के भय से डूब कर मर गईं।

मुलतान को जीतने के पश्चात् शुजाबाद का क़िला लूटा गया। लाहौर में जब यह शुभसमाचार पहुँचा तो लगातार आठ दिन तक उत्सव होते रहे। अमृतसर में भी दीपमाला की गई। स्वयं महाराज गलियों में घूमते और रुपये फेंकते जाते।

मुलतान की लूट महाराज को बहुत थोड़ी मालूम दी। उन्होंने आदेश दिया कि सारी सेना लाहौर वापस आवे और जो कुछ सरदारों ने लिया है वह सरकार के ख़ज़ाने में दाखिल कराया जाय। फिर भी कुल पाँच लाख रुपया वसूल हुआ। महाराज ने सुखदयाल को मुलतान का सूबेदार नियुक्त किया।

रियासत बहावलपुर में उच्च नाम का एक स्थान है। यहाँ के गैलानी और बुखारी सैयद, इलाक़े के हिंदुओं पर बहुत अत्याचार करते थे। ये गैलानी और सैयद, मुग़लों के राज्य-काल से ही स्वाधीन चले आ रहे थे। इनके पास बड़ी-बड़ी जागीरें थीं। हिंदुओं से ये इतनी घृणा करते थे कि यदि रास्ते में कोई हिंदू इनके सामने आ जाता तो ये अपने मुँह पर कपड़ा डाल लेते या हिंदू के मुँह पर थूक देते। यह जैसा भी चाहते, अत्याचार करते—किसी को इनका विरोध करने का साहस न होता था।

महाराज ने हरिसिंह और दलसिंह को आज्ञा दी कि इन सैयदों को सीधे रास्ते पर लाया जाय। दोनों सरदार सेना ले कर उधर जा पहुँचे। सैयद भी युद्ध की तैयारी करके आ डटे। सिखों की धुआँधार गोलाबारी से सैयदों के पक्के क़िले की ईंट से ईंट बज गई। अब ये पीर बहुत घबराये। इनके अहंकार के साथ मतांधता चूर-चूर हो गई। जब अपनी प्राण-रक्षा का कोई उपाय दिखाई न दिया, तो ये लोग अपने आपको निर्बुद्धि पशु प्रकट करने के लिए प्रायश्चित्त-स्वरूप मुँह में घास के तिनके ले कर बड़े नम्र भाव से हरिसिंह के सामने उपस्थित हुए। अधीनता स्वीकार करते हुए इन्होंने भविष्य में उपद्रव न करने की प्रतिज्ञा की। तब इन पर केवल पचीस हज़ार रुपया जुर्माना किया गया।

वीरता से प्रसन्न हो कर महाराज ने मिट्ठा-टिवाना का सारा प्रदेश हरिसिंह को जागीर-स्वरूप दे दिया।

डेरा इस्माईलखाँ, डेरा ग़ाज़ीखाँ और हज़ारा—सन् १८१७ में शेरसिंह तथा तारासिंह, दोनों राजकुमारों, को हज़ारा की मुहिम पर भेजा गया। मुहम्मदखाँ के गिर्द हज़ारों मुसलमान एकत्र हो गये, परन्तु वह लड़ाई में मारा गया और उसके बेटे ने पचहत्तर हज़ार रुपया भेंट किया।

सन् १८१९ में महाराज सिंध के अमीरों से राजस्व लेने के लिए मुलतान की तरफ़ से जा रहे थे कि उन्हें दो रानियों से दो बेटे पैदा होने का समाचार मिला। वास्तव में ये महाराज के लड़के नहीं थे; परन्तु महाराज ने उन्हें अपना मान लिया। काश्मीर और मुलतान की विजय की स्मृति में एक का नाम काश्मीरासिंह और दूसरे का मुलतानासिंह रखा गया। एक

को सियालकोट में और दूसरे का मुलतान में जागीर दी गई।

मुलतान में महाराज को मालूम हुआ कि श्यामसिंह पेशावरिया ने, जिसे मुलतान साढ़े छः लाख में ठेके पर दिया गया था, बहुत अत्याचार किये हैं। इस पर श्यामसिंह को क़ैद करके भाई बदनहज़ारी को नया सूबेदार नियुक्त किया गया। इसके साथ ही अकालगढ़ के चोपड़ा खत्री सावनमल को ढाई सौ रुपये पर अफ़सर-माल लगाया गया।

इसी वर्ष जमादार ख़ुशहालसिंह ने डेरा ग़ाज़ीख़ाँ जीता। इससे पूर्व यह काबुल-राज का एक भाग था। इतने में समाचार प्राप्त हुआ कि हज़ारा, पखली, धमतौड़ और तरबेला के मुसलमानों ने भाई मक्खनसिंह का वध करके विद्रोह कर दिया है और उसका स्थान लेनेवाले हुक्मसिंह ने मामले को और भी बिगाड़ दिया है। महाराज ने राजकुमार शेरसिंह के साथ दीवान रामदयाल और शामसिंह अटारीवाला को हज़ारा के लिए भेजा। उनके साथ आहलूवालिया फ़तहसिंह और रानी सदाकौर भी थी। फ़तहसिंह तो नरमी करना चाहता था, परंतु रानी सदाकौर ने इन क़बीलों को नष्ट कर देने की आज्ञा दी। इस पर हज़ारों विद्रोही मुसलमान क़त्ल कर दिये गये। इन बातों को देख कर तरबेला, युसुफ़ज़ई आदि कबीलों के मुसलमान एकत्र हुए। उन्होंने सरदार इलाहीबख्श को घेर लिया। दीवान रामदयाल उसकी सहायता को पहुँचा। दिन भर लड़ाई होती रही जिसमें दोनों ओर बहुत-से आदमी मरे। शाम को दोनों फ़ौजें हट गईं। दीवान रामदयाल ने सबसे अंत में मैदान छोड़ा। यह बात पठानों को मालूम हो गई। वे उसपर टूट पड़े। वीरता से लड़ते हुए नवयुवक दीवान ने अपने प्राण दे दिये। महाराज को इस खबर से बहुत बड़ा आघात

हुआ। उन्हें रामदयाल से बहुत आशा थी। दीवान मोतीराम ने अपने बेटे की मृत्यु का समाचार सुना तो काश्मीर छोड़ कर बनारस जाने का निश्चय किया। हज़ारा के मुसलमान नवाबों ने बाद में धीरे-धीरे राजस्व देना स्वीकार कर लिया।

सन् १८२० में महाराज झेलम पार करके रावलपिंडी गये और वहाँ के सरदार नंदसिंह को निकाल कर रावलपिंडी शहर अपने राज्य के साथ मिला लिया। नानकचंद दफ्तरी को उन्होंने वहाँ अफ़सर नियुक्त किया। फ़रवरी १८२१ में खड़गसिंह के यहाँ नौनिहालसिंह ने जन्म लिया जिसके कारण बड़ी खुशियाँ मनाई गईं। इस समय किश्तवाड़ और फ़तहकोट जीतकर पंजाब के साथ मिलाये गये। हिन्दू फ़ौजें हरिसिंह नलवा, मिश्र दीवान-चंद और दीवान कृपाराम के अधीन भक्खर को गईं। भक्खर लेने के बाद सरदार दलसिंह और जमादार खुशहालसिंह डेरा इसमाईलखाँ की ओर गये। वहाँ के अफ़सर मानिकराय ने मुक़ाबला किया, परन्तु वह पकड़ा गया। तत्पश्चात् खानगिरान, लैय्या और मंझगढ़ पर अधिकार करके हिन्दू सेना ने मनकीरा पर हमला किया। वहाँ के नवाब हाफ़िज़ रहमतखाँ ने प्रति-रोध का निश्चय किया। उसे पानी की बड़ी दिक़्क़त थी, क्योंकि वह बहुत दूर से ऊँटों पर लाया जाता था। चौबीस दिन तक मनकीरा का घेरा रहा। ख़ुद महाराज वहाँ विद्यमान थे। नवाब के आदमी उसका साथ छोड़ने लगे और उसने तंग आकर संधि के लिए प्रार्थना की। चौबीस तोपें स्वयं उसने महाराज के अर्पण कर दीं। दस लाख का प्रदेश इनके हाथ आया। हाफ़िज़ को डेरा शासन के लिए दे दिया गया।

सन् १८२३ में पखली और धमतौड़ के मुसलमान कबीलों ने विद्रोह कर दिया। महाराज ने हरिसिंह को उन्हें शांत करने

के लिए भेजा। नलवा ने गाँव के गाँव उजाड़ दिये। इस व्यवहार को वे लोग अभी तक नहीं भूले।

सन् १८२६ में हज़ारा के जमीदारों ने विद्रोह करके महाराज के क़िलेदार अब्बासखाँ खटक को क़ैद कर लिया। हरिसिंह नलवा ने गंदगढ़ के मैदान में पराजित करके सबको भगा दिया। अब्बासखाँ को अपने स्थान में पुनः नियुक्त कर दिया गया। इसी वर्ष बहावलपुर और मनकीरा के नवाब मर गये। महाराज ने उनके बेटों से पचीस-पचीस हज़ार रुपया उपहार-स्वरूप लेकर उन्हें उत्तराधिकारी बना दिया।

सन् १८३४ में कुँवर नौनिहालसिंह ने शाहनिवाज को निकालकर डेरा इसमाईलखाँ पर अपना क़ब्ज़ा कर लिया और इसके पश्चात् टाँक को भी अपने इलाक़े के साथ मिला लिया। अगले वर्ष युसुफज़ाई और अफरीदी क़बीलों पर विजय प्राप्त करके उनके यहाँ लूटमार की गई। दूसरी ओर हरिसिंह नलवा ने जमरोद में अफ़रीदियों को बुरी तरह से परास्त किया।*

काश्मीर—काश्मीर काबुल के अधीन था। इस समय अतामुहम्मद उसका सूबेदार था। उसने १८१० में शुजा की सहायता करके उसके भाई महमूद को हराया। उस वर्ष दीवान मोहकमचन्द ने भिम्बर और राजौरी पर आक्रमण किया। भिम्बर के सुलतानखाँ ने मुक़ाबला किया। परन्तु क़िला छिन जाने पर चालीस हज़ार रुपया राजस्व देना स्वीकार किया।

स्वयं महाराज कटास में गंगा का क़िला सर कर चुके थे कि खबर आई कि शाहमहमूद सिंध-नदी के इस पार

---

* देखिये परिशिष्ट ख।

आ गया है। महाराज ख्यूड़ा से चल कर रावलपिंडी जा पहुँचे। यहाँ पर उन्हें पता लगा कि शाहमहमूद काश्मीर के सूबेदार अतामुहम्मद और उसके भाई जहाँदाद को, जो अटक का क़िलेदार था, सज़ा देना चाहता है। महाराज ने उससे मैत्री कर ली और वापस चले आये।

सुलतानख़ाँ ने इसमाईलख़ाँ को, जिसे मोहकमचन्द भिम्बर का इलाक़ा दे आया था, निकाल दिया। इस पर भाई रामसिंह को राजकुमार खड़गसिंह के साथ सेना देकर भेजा गया। लड़ाई में सुलतानख़ाँ ने सिखों को परास्त किया। तब मोहकमचन्द वहाँ जा पहुँचा। उसने सुलतानख़ाँ को सुलह पर राज़ी कर लिया। वह उसे लाहौर ले आया। महाराज ने उसे क़ैद करके उसका इलाक़ा ज़ब्त कर लिया।

सन् १८१२ में इसमाईलख़ाँ ने राजौरी के अज़ीज़ख़ाँ के साथ मिलकर अतामुहम्मद की सहायता से विद्रोह खड़ा कर दिया। स्वयं महाराज ने वहाँ जा कर इसे दबाया। इतने में शाहज़मा और शुजा के परिवार लाहौर में आये। महाराज ने उनका हर प्रकार से आदर-सत्कार किया। इसमें उनका उद्देश्य यह था कि शुजा लाहौर में रह कर उनके क़ाबू में आ जाय। इसके साथ ही महाराज ने काश्मीर के मामले में भी तदबीर लड़ानी शुरू की। उन्हें अवसर भी मिल गया। वज़ीर फ़तहख़ाँ काश्मीर को जा रहा था ताकि अतामुहम्मद और उसके भाई जहाँदाद (क़िलेदार अटक) को सज़ा दे। उसे ख़याल आया कि महाराज की सेना पहाड़ से ही आई है, इसलिए उनके साथ मिलकर यह मुहिम अख़्तियार करनी चाहिए।

महाराज पहली दिसम्बर को झेलम के किनारे वज़ीर से मिले। निर्णय हुआ कि लूट का तीसरा भाग सिखों को दिया जायगा। महाराज ने दीवान मोहकमचन्द को बारह हज़ार सेना देकर भेजा। वज़ीर हिन्दू सेना को अपने साथ न ले जाना चाहता था। वह इसको सिर्फ निष्पक्ष रखना चाहता था। पीरपंजाल के पास बर्फ पड़ने लगी जिससे पंजाबी घबरा गये। परन्तु वज़ीर अपने पठानों को लेता हुआ आगे बढ़ गया। दीवान मोहकमचन्द ने राजौरी के सरदार को पचीस हज़ार रुपये का वचन देकर ऐसा मार्ग ग्रहण किया कि वह भी वज़ीर के साथ ही श्रीनगर जा पहुँचा। परन्तु पंजाबी सेना इतनी थकी हुई थी कि वह शेरगढ़ और हरिपर्वत के घेरे में कुछ सहायता न दे सकी। अतामुहम्मद भाग गया और वज़ीर ने शाहमहमूद के नाम पर काश्मीर पर क़ब्ज़ा कर लिया। महाराज को उसने कुछ न दिया।

मोहकमचन्द को खाली हाथ लाहौर लौटना पड़ा। इससे महाराज को बड़ी निराशा हुई और उन्होंने जहाँदाद से पत्र व्यवहार किया कि अटक को वह उनके हवाले कर दे। जहाँदाद अपने भाई की हालत देखकर राज़ी हो गया और उसने क़िले में सिखों को दाखिल कर लिया। फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन और दीवान देवीदास अटक भेजे गये। उधर से वज़ीर फ़तहख़ाँ अपने भाई अज़ीमख़ाँ को श्रीनगर छोड़कर अटक आ पहुँचा। दीवान मोहकमचन्द भी सेना लेकर वहाँ जा पहुँचा। दीवान मोहकमचन्द ने जान-बूझ कर देर की ताकि गरमी आ जावे और पठानों के पास रसद की सामग्री कम हो जाय। हज़रो में लड़ाई हुई। इसमें वज़ीर का भाई दोस्तमुहम्मदख़ाँ

भी सम्मिलित था। दीवान मोहकमचन्द की वीरता से पठान पराजित होकर भाग निकले। १३ जुलाई, १८१३, को पठानों पर पंजाबियों को पहली विजय प्राप्त हुई जिससे लाहौर में आनंद मनाया गया। लाहौर, अमृतसर और बटाला में दीपमाला की गई। दो मास तक उत्सव होते रहे जिसके पश्चात् महाराज ने अपने प्रांत अटक का निरीक्षण किया।

अक्टूबर में पहाड़ी राजाओं से राजस्व प्राप्त करके महाराज ने फिर काश्मीर पर चढ़ाई करने का प्रबंध किया। गुजरात से वे भिम्बर, राजौरी और ठट्ठा पहुँचे। इससे आगे बहरामगला के पास पुल नष्ट कर दिया गया था। राजौरी के सरदार ने एक और रास्ता बता दिया जिससे पंजाबी सेना ने दर्रा बहरामगला पर क़ब्ज़ा कर लिया। परन्तु वर्षा बहुत सख्त आ गई और महाराज को वापस लाहौर लौटना पड़ा।

सन् १८१४ में एक बार फिर काश्मीर-विजय का निश्चय किया गया। सियालकोट में सरदारों के अतिरिक्त सेना एकत्र की गई। दीवान मोहकमचन्द कहता रहा कि पहले भिम्बर और राजौरी में बहुत-सी खाद्य सामग्री जमा कर लेनी चाहिए, परन्तु इस ओर ध्यान न दिया गया। बीमारी के कारण दीवान मोहकमचन्द तो लाहौर में ही रहा। उसका चौबीस बरस का पोता रामदयाल महाराज के साथ गया। राजौरी के राजा अगरखाँ ने महाराज को पुणछ के गलत रास्ते पर डाल दिया। सेना का एक भाग रामदयाल और अन्य सरदारों के अधीन था जिनमें हरिसिंह नलवा तथा हरनामसिंह अटारीवाला भी थे। ये आगे-आगे चले। पीरपंजाल का पहाड़ गुज़र कर यह फ़ौज मेहरपुर जा पहुँची जहाँ

२२ जुलाई को अज़ीमख़ाँ की बड़ी भारी हार हुई; परन्तु अगले स्थान शोपैयां में पंजाबी सेना परास्त हो गई। रामदयाल श्रीनगर के पास एक गाँव में हट आया और सहायता के लिए प्रतीक्षा करने लगा। उधर महाराज और उनकी सेना पुणछ जा पहुँची। सेना ने सारा इलाक़ा उजाड़ दिया। बरसात आ जाने से सैनिक बेकार पड़े रहे। अंत में तोशो के मैदान में हार होने से महाराज को वापस लाहौर लौटना पड़ा। उन्होंने भाई कर्मसिंह को कुछ सेना देकर रामदयाल की सहायता के लिए भेजा, परन्तु वह बहरामगला में पड़ी रही। रामदयाल थोड़ी-सी सेना के साथ ऐसी वीरता से लड़ा कि उसके मुक़ाबले में दो हज़ार पठान मारे गये और अज़ीमख़ाँ को उससे संधि करनी पड़ी। रामदयाल अज़ीमख़ाँ से महाराज के लिए अनेक उपहार लेकर वापस आया।

अब महाराज को मोहकमचन्द की बात याद आई और अपनी भूल पर वे खेद प्रकट करने लगे। इस बीच में राजौरी और भिम्बर के सरदार विद्रोह करने लगे। दीवान रामदयाल और दलसिंह ने वहाँ जाकर उसे दबाया। ख़ुद महाराज ने नादौन जाकर रामगढ़िया के सारे इलाक़े पर क़ब्ज़ा कर लिया। इसके पश्चात् राजौरी और कोटली को सर किया गया।

अगले वर्ष महाराज को सूचना मिली कि वज़ीर फ़तहख़ाँ सिंध पार करके काश्मीर की ओर आ रहा है। उन्होंने दीवान रामदयाल को सरायकाला में नियुक्त कर आज्ञा दी कि वह वहीं ठहरे जब तक कि वज़ीर फ़तहख़ाँ काश्मीर से वापस न चला जाय।

तीन वर्ष बीत गये। १८१८ में काश्मीर के सूबेदार जब्बरखाँ का मंत्री बीरधर रुष्ट होकर महाराज के पास आ पहुँचा। उसने उन्हें वहाँ का सारा हाल बता कर काश्मीर पर आक्रमण करने की प्रार्थना की। महाराज ने अब की मिश्र दीवानचन्द को सेना देकर भेजा। दूसरी सेना राजकुमार खड़गसिंह के अधीन कर दी और तीसरा भाग स्वयं लेकर चल पड़े। मार्च १८१९ में मिश्र दीवानचन्द राजौरी पहुँचा। राजा अज़ीज़खाँ को पकड़ने का आदेश किया गया। अज़ीज़ तो भागा, परन्तु उसका बेटा रहीमुल्लाखाँ मिश्र के पास आ गया। उसने राजौरी का राज्य दे दिया। इसके पश्चात् पुणछ के राजा जबरदस्त का क़िला लेकर उसे अधीनता स्वीकार करने पर बाध्य किया गया। पीरपंजाल गुजर कर उसने अपनी सेना के तीन हिस्से किये। १६ जून को बारह हज़ार पंजाबी सैनिक सरायअली में आ ठहरे। ५ जुलाई को शोपैयां में पठानों और हिंदुओं में एक बड़ी लड़ाई हुई जिसमें स्वयं पठान सेनानायक तो मारा गया और शेष मैदान छोड़ कर भाग गये।

अब काश्मीर पर महाराज रणजीतसिंह का अधिकार हो गया। मिश्र दीवानचंद ने बड़ी मुश्किल से इलाक़े को लूटे जाने से बचाया।

महाराज यह सुखद समाचार सुन कर वापस चले आये। लाहौर में उत्सव किया गया। लाहौर और अमृतसर में तीन दिन तक रोशनी होती रही। दीवान मोहकमचंद के बेटे दीवान मोतीराम को काश्मीर का पहला सूबेदार नियुक्त कर के उधर भेजा गया। काश्मीर का ठेका तिरपन लाख रुपये में पंडित बीरधर को दिया गया और शाल बनाने का ठेका दस लाख में जवाहरलाल को।

अगले वर्ष दीवान मोतीराम के बेटे रामदयाल की मृत्यु हो गई। इससे पिता को इतना दुःख हुआ कि वह बनारस जाने को तैयार हो गया। महाराज ने इसे लाहौर बुला कर उसके स्थान में सरदार हरिसिंह नलवा को, जिन्होंने पिछले वर्ष दरबंद का क़िला जीता था, सूबेदार नियुक्त किया। हरिसिंह साहस तथा वीरता के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। उन्होंने घोड़े पर सवार हो कर अकेले ही एक शहर को जीता था।

काश्मीर का पहला प्रांतपति दीवान मोतीराम बहुत नरम शासक था। चिर काल की पराधीनता के कारण काश्मीर के लोगों के चरित्र में छल, कपट, विश्वासघात, झूठ, चापलूसी आदि कई प्रकार के दुर्गुण घुस गये थे। इस कारण वे दीवान मोतीराम की नरमी से अनुचित लाभ उठा कर उपद्रव करने लगे। उनसे कर प्राप्त करना कठिन हो गया।

हरिसिंह ने राज्य का प्रबंध हाथ में लेते ही उन भारी टैक्सों को बहुत घटा दिया जो अफ़गानों ने प्रजा पर लगा रखे थे। सेना को वेतन नियमपूर्वक मिलने लगा। अफ़गानों के राज्य-काल में खेती और उद्योग-धंधे लगभग नष्ट ही हो चुके थे। नलवा ने इनको नये सिरे से जारी करवाया। इसके साथ ही शरारतियों को ज़ोर से दबा दिया गया। विद्रोहियों के बड़े-बड़े नेताओं को गिरफ्तार कर के उन्हें ऐसा शिक्षाप्रद दंड दिया गया कि शेष प्रजा आपसे आप ठीक मार्ग पर आ गई। वीर हरिसिंह के प्रयत्न से काश्मीर में पूर्ण शांति हो गई। महाराज रणजीतसिंह उनके सुप्रबंध की बात सुनकर इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने नलवा को काश्मीर में अपने नाम से सिक्का चलाने का अधिकार दे दिया। तब का रुपया आजकल के सिक्कों के हिसाब से आठ

आने मोल का था। इसके एक तरफ़ 'श्री अकाल सहाय, संवत १८८६' खुदा हुआ था और दूसरी तरफ़ 'हरिसिंह' के नीचे 'एक रुपया' लिखा था।

एक दिन वीर हरिसिंह अपने बहुत-से कर्मचारियों तथा प्रतिष्ठित नगर-निवासियों को साथ ले कर श्रीनगर में घूम रहे थे। वे जहाँ भी कोई सुंदर स्थान देखते, उन्हें पूछने पर पता लगता कि यहाँ पर पहले कोई मंदिर या देवस्थान था; परन्तु मुसलमानों के राज्य-काल में उस जगह मस्जिद या ज़ियारत बना दी गई। श्रीनगर के तीसरे पुल पर पहुँच कर हरिसिंह की नज़र नरेन्द्र स्वामी के मन्दिर पर पड़ी जिसे महाराज नरेंद्र द्वितीय ने सन् १८१ में बनवाया था। परन्तु इस मंदिर को मुसलमानों ने नरेपर की ज़ियारतगाह में बदल दिया था। इसी प्रकार चौथे पुल के निकट नदी के दायें किनारे पर पाँच गुंबद्वाला मन्दिर महाश्री के नाम से प्रसिद्ध था। इसे महाराज सेन द्वितीय ने बहुत-सा रुपया लगा कर बनवाया था। जब १४०४ में काश्मीर के शासक शाह सिकंदर की स्त्री मरी तो इस मंदिर को बहुत सुन्दर देखकर उसने स्त्री की लाश को इसके आँगन में गाड़ दिया और उस पर पक्की क़ब्र बना दी। उस दिन से यह सुन्दर मन्दिर मक़बरे में बदल गया। काश्मीर का हाकिम जैनुलाबदीन भी इसी अहाते में दबा दिया गया था। तब से यह स्थान मक़बरा शाही के नाम से मशहूर हुआ।

तत्पश्चात् छठे पुल के पास झेलम नदी के दायें किनारे एक और मन्दिर दिखाई दिया। कहते हैं, इसे महाराज युधिष्ठिर के मन्त्री स्कंदगुप्त ने बनवाया था। अब इसे पीर मुहम्मद-बाशू की ज़ियारत का रूप दे दिया गया था। इसके निकट ही त्रिभुवन-स्वामी के नाम से एक प्राचीन देवस्थान प्रसिद्ध

था। इसे ६६३ में महाराज चन्द्रपीड ने बनवाया था। इस पर एक मुसलमान पीर ने जबरदस्ती कब्जा करके इसको अपना निवास-स्थान बना लिया था। मुसलमान इसको टाँगा बाबा कहते थे। मरने के बाद वह वहीं गाड़ दिया गया।

श्रीनगर की जामा मसजिद बनवाते समय १४०४ में शाह सिकंदर ने महाराज तारापद के ६९७ में बनाये गये एक मंदिर को तोड़ कर उसकी सारी सामग्री इस मसजिद में लगा दी थी। शंकराचार्य के ऊँचे पर्वत की सबसे ऊँची चोटी पर महाराज सिद्धिमान का बनाया हुआ शंकराचार्य का एक बहुत ही सुन्दर मंदिर था। उसकी चौड़ी-चौड़ी सीढ़ियाँ पर्वत की चोटी से लेकर नीचे बहती हुई झेलम-नदी के तट तक पहुँचती थीं। इनको बहुत बढ़िया पत्थर घड़ कर लगाया गया था। १६२३ में जब नूरजहाँ जहाँगीर के साथ श्रीनगर आई तो उसने मंदिर की सीढ़ियों से बहुमूल्य पत्थर उखड़वा कर श्रीनगर में अपनी स्मृति में एक मसजिद बनवा दी। इसका नाम पत्थरवाली मसजिद पड़ गया। कहा जाता है कि यदि खोज की जाय तो काश्मीर में कोई मसजिद, जियारत, मक़बरा या तकिया ऐसा न मिलेगा जो मंदिर को बदल कर, या उसकी सामग्री से, न बनाया गया हो।

इन दुःखदायी दृश्यों को देख कर वीर हरिसिंह के मन में विचार आया कि जब तक मन्दिरों को तोड़ कर बनवाई गई मसजिदें आदि वर्तमान रूप में रहेंगी तब तक हिंदू और मुसलमानों में सच्चा प्रेम न हो सकेगा। हिन्दू जब भी इनको इस रूप में देखेंगे तभी उनके हृदय में अपने पड़ोसी मुसलमान भाइयों के लिए घृणा उत्पन्न होगी और सदा दंगे होते रहेंगे। दोनों का परस्पर प्रेम तथा सच्ची शांति तभी होगी जब

हरएक के पूजा-स्थान उसी के अधिकार में रहेंगे। इस मामले पर विचार करने के लिए वीर हरिसिंह ने प्रसिद्ध पंडितों और मौलवियों की एक सभा बुलाई। परन्तु बड़े अचरज की बात यह है कि अपने छिने हुए देवस्थानों को वापस लेने के बजाय पंडितों ने कहा कि इन मन्दिरों से बनाई हुई मसजिदों को इसी प्रकार रहने दीजिए। इनको फिर अपने अधिकार में लेने से मुसलमान हमारे शत्रु बन जायँगे और हमारा यहाँ जीना कठिन हो जायगा।

वीर हरिसिंह ने उनको बहुत समझाया कि यह पग तो मैं विरोध को सदा के लिए मिटाने के विचार से उठाना चाहता हूँ। इसके साथ ही तुम्हारे धर्म-स्थानों की रक्षा करना राज्य का कर्त्तव्य है। परन्तु वे किसी तरह न माने। उनकी इस शोचनीय मनोवृत्ति को देख कर वीर हरिसिंह को अपना विचार बदलना पड़ा।

काश्मीर में अफ़गानों के राज्य में हिन्दुओं को सिर पर पगड़ी और पाँव में जूता पहनने की इजाज़त नहीं थी। जब कोई हिंदू विद्वान् नंगे सिर हरिसिंह को मिलने आता तो उसे इस दशा में देखकर नलवा को बहुत दुःख होता। इसलिए उन्होंने घोषित कर दिया कि हिन्दू राज्य में जो हिन्दू जैसा कपड़ा चाहे, पहने और जो चाहे घोड़े की सवारी करे। किसी को किसी प्रकार की मनाही नहीं है। तत्पश्चात् हिन्दू पगड़ी और जूता पहनने और घोड़े की सवारी करने लगे।

आज-कल काश्मीर में ९३ प्रतिशत मुसलमान और केवल ७ प्रतिशत हिंदू हैं। परन्तु प्राचीन इतिहास से पता चलता है कि पहले सभी काश्मीरवासी हिंदू थे। वहाँ के हिंदुओं और मुसलमानों में सप्रू, किचलू, पंडित, बट्ट आदि पारिवारिक नाम एक-जैसे हैं। वीर हरिसिंह को कुछ ऐसे प्रसिद्ध परिवारों

का पता चला जो अफ़गानों के राज्य-काल में जबरदस्ती मुसलमान बनाये गये थे। वे दिल से मुसलमान नहीं बने थे। अब हिंदूत्व का सुख-शांति-पूर्ण राज्य पाकर वे फिर से हिंदू धर्म में आना चाहते थे। परन्तु उनको बिरादरी मुसलमानों के डर से उनको अपने में मिलाने के लिए तैयार न थी। यह समाचार सुनकर वीर हरिसिंह ने तुरंत ढिंढोरा पिटवाया कि जो मनुष्य हिंदू धर्म में वापस आना चाहे उसके रास्ते में कोई रुकावट न खड़ी की जाय। यदि किसी बिरादरी ने इस कार्य में संकीर्णता प्रकट की तो उसे दंड दिया जायगा।

इस घोषणा का फल यह हुआ कि जो काश्मीरी पंडित हज़ारों की संख्या में मुसलमान हो गये थे वे फिर हिंदू धर्म में मिला लिये गये। हरिसिंह के राज्य-काल में पचास हज़ार मुसलमान शुद्ध होकर फिर हिंदू धर्म में लौट आये। हरिसिंह के बाद महाराज ने एक बार फिर दीवान मोतीराम को श्रीनगर भेजा। वह १८२६ तक वहाँ रहा। जब दीवान मोतीराम काश्मीर में था तब उसका एक बेटा कृपाराम जालंधर दोआब का शासक था और दूसरा शिवदयाल जिला गुजरात में जागीर का प्रबंध करता था। ध्यानसिंह उस समय महाराज का बड़ा मरजीदान बन गया था। वह रामदयाल आदि से ईर्ष्या करने लगा। फिल़ौर मोहकमचंद की जागीर थी। वह ध्यानसिंह ने अपने साले रामसिंह को दे दी। इससे कृपाराम जल गया। जब महाराज ने उसे दरबंध की मुहिम के लिए बुला भेजा तब वह सेना लाने के बजाय केवल पंद्रह सवार लेकर उपस्थित हुआ। महाराज ने उसे क़ैद कर दिया और मोतीराम को भी काश्मीर से वापस बुला लिया। सत्रह हज़ार रुपया उनपर जुर्माना किया गया। मोतीराम के स्थान में पहले

भीमसिंह और बाद में दीवान चुन्नीलाल काश्मीर भेजा गया। परन्तु दोनों शासन के अयोग्य सिद्ध हुए।

डेढ़ बरस के बाद मोतीराम के घराने पर महाराज की फिर कृपा-दृष्टि हुई। अब दीवान कृपाराम को काश्मीर का शासक बना कर भेजा गया। वह बहुत योग्य और सर्वप्रिय था। १८३३ में काश्मीर से समाचार मिला कि बैसाखासिंह के अधीन, जो दीवान कृपाराम के स्थान में काश्मीर भेजा गया था, सारा प्रबन्ध चौपट हो रहा है; लोगों पर बड़े अत्याचार किये जा रहे हैं; शेरसिंह शराब पीकर विलास में पड़ा रहता है और बैसाखासिंह अंधाधुंध जुल्म करता है। शाल का उद्योग नष्ट हो गया। बड़े-बड़े व्यापारी दिवालिये हो गये। परिणाम-स्वरूप दुर्भिक्ष पड़ा जिससे लोग मरने लगे।

अब बैसाखासिंह को गिरफ्तार करके लाहौर लाया गया। उस पर पाँच लाख रुपया जुर्माना किया गया। उसके स्थान में जमादार खुशहालसिंह, भाई गुरुमुखसिंह और गुलाम मुहैयुद्दीन को शेरसिंह की सहायता के लिए भेजा गया। खुशहालसिंह ने मामला और भी बिगाड़ दिया। अब दुर्भिक्ष के कारण हजारों लोग काश्मीर छोड़ कर भाग गये। कई हजार वहीं भूख से मर गये। लाहौर आकर काश्मीरी गलियों में रोटी के लिए चिल्लाते थे। प्रतिदिन कोतवाल भूख से मरने-वालों का हाल बताता था। महाराज ने गोविंदगढ़ का अन्न-कोष खोल दिया। लाहौर और अमृतसर के मंदिरों तथा मसजिदों में सबको आटा बटने लगा। आजकल जितने काश्मीरी पंजाब के बड़े बड़े शहरों में पाये जाते हैं वे सब प्रायः उनकी संतति हैं जो उस समय काश्मीर छोड़ कर इधर आये।

महाराज ने खुशहालसिंह और गुलाममुहैयुद्दीन को वापस

बुला लिया। पहले की जागीदार ज़ब्त कर ली गई और दूसरे को एक साल तक अपने सामने न आने दिया। अब महांसिंह को उधर भेजा गया। १८३४ में लदाख के राजवंश में झगड़े होने लगे। राजा गुलाबसिंह के सेनानायक जोरावरसिंह ने लदाख के राजा को गद्दी से उतार कर उसके मंत्री को बिठा दिया और तीस हज़ार रुपया राजस्व निश्चित करके पंजाबी सेना वहाँ रख दी।

सतलज पार की सिख रियासतें और अँगरेज़—महाराज रणजीतसिंह की नीति स्पष्ट थी। राज्य को सुदृढ़ बनाने के लिए यह आवश्यक था कि पंजाब में कोई आदमी इतना बलवान् न रहे कि उनके साथ बराबरी का दावा कर सके। मिसलों के जितने सरदार थे वे या तो उनके झंडे तले आ गये, या उनके राज्य का हिस्सा बन गये, या फिर सतलज के पार चले गये। १८०७ में पटियाला में राजा साहबसिंह और उसकी रानी में झगड़ा हो गया। महाराज को वहाँ बुलाया गया। उन्होंने जाकर सुलह करवाई। इसके पश्चात् उन्होंने सरहिंद के सरदारों से राजस्व प्राप्त किया। नारायणगढ़ का क़िला जीत कर उन्होंने फ़तहसिंह आहलूवालिया के सुपुर्द कर दिया। राहों का सरदार नारायणगढ़ के घेरे में मारा गया था। महाराज ने राहों पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। बहलोलपुर और भरतगढ़ उन्होंने सरदार बहाबलसिंह की विधवा से छीन लिये। दीवान मोहकमचंद दादनी का प्रदेश जीत कर सतलज की बाईं ओर के इलाक़े में जा घुसा।

इसी वर्ष रानी महताबकौर के दो लड़के उत्पन्न हुए। एक का नाम शेरसिंह और दूसरे का तारासिंह रखा गया। वास्तव में ये दोनों लड़के अन्य स्त्रियों से लेकर रानी के

मशहूर किये गये थे। शेरसिंह मुकेरियाँ के निहाला-नाम के जुलाहे का लड़का था और तारासिंह मानकी नाम की मुसलमान दासी की लड़की का।

"सतलज पार की सिख रियासतों को डर हुआ कि रणजीतसिंह हम को भी अपने अंदर जज्ब न कर लें। इससे १८०८ में इन रियासतों ने समाना (पटियाला) में एक सभा की कि उन्हें रणजीतसिंह के साथ मिलना चाहिए या अँगरेजी सरकार के साथ। जींद का राजा भागमल, कैथल का भाई लालसिंह, पटियाला का दीवान चाननसिंह, नाभा का प्रतिनिधि मीर ग़ुलामहुसेन—ये सब एक शिष्टमण्डल के रूप में देहली गये और एप्रिल में लिखित प्रार्थना दी, परन्तु अँगरेजी सरकार की ओर से उन्हें कोई निर्णायक उत्तर न मिला। जब महाराज रणजीतसिंह को यह समाचार मिला तो उन्होंने इन सब को अमृतसर बुलाकर इनका संतोष किया।

अँगरेजों से महाराज रणजीतसिंह का वास्ता पहले पहल उस समय पड़ा जब महाराज ने चनाब और सिंध के बीच के इलाक़े के मुसलमानों पर हमला किया था। उनका राजस्व महाराज ने एक लाख, बीस हज़ार रुपया कर दिया। मुलतान के नवाब ने सत्तर हज़ार रुपया देकर अपनी जान छुड़ाई। होल्कर के आने का समाचार सुनकर महाराज को लाहौर आना पड़ा। अँगरेज़ी सेना उसका पीछा कर रही थी। अँगरेज सेनानायक एक गोरा फ़ौज के साथ व्यास से पार हुआ। उसकी सेना का गोरा रंग, गण-वेष, सैनिक शिक्षण तथा अनुशासन देखकर सर्वसाधारण चकित रह गये। उन सैनिकों ने न किसी आदमी को कष्ट दिया, न किसी के अनाज का एक दाना तक छूआ। जिस चीज़ की उन्हें ज़रूरत होती

उसे वह मोल देकर खरीदते। इससे लोग उनकी प्रशंसा करने लगे।

होल्कर अँगरेज़ों के विरुद्ध महाराज से सहायता चाहता था, नहीं तो काबुल जाने के लिए रास्ता। महाराज के मंत्रियों ने दोनों पक्षों में सुलह कराने का फैसला दिया। महाराज ने अपना वकील अँगरेज़ सेनानायक के पास भेजा। इसके फलस्वरूप महाराज ने अँगरेज़ों से संधि कर ली और होल्कर को पंजाब से चले जाने के लिए कह दिया। सम्भवतः महाराज के साथ मैत्री के कारण ही देहली के अँगरेज़ सिख रियासतों को कोई उचित उत्तर न दे सके। इसका एक और कारण यह था: नेपोलियन ने रूस के ज़ार (बादशाह) के साथ संधि करके तुर्कों तथा ईरानियों की सहायता से भारत पर आक्रमण करने की योजना बनाई थी। इँग्लैंड को इससे बहुत चिंता हुई। इसलिए अँगरेज़ों ने यह आवश्यक समझा कि ईरान, काबुल और पंजाब से मैत्री का सम्बन्ध जोड़ा जाय। इस उद्देश्य से उन्होंने एलफ़िस्टन को काबुल, मेलकाल्म को ईरान और मैटकाफ़ को महाराज रणजीतसिंह के पास भेजा। तब रियासतों के दूत भी महाराज के दरबार में थे। रणजीतसिंह की शक्ति सभी को बढ़ी हुई नज़र आती थी। उन्होंने पंजाब को अपने अधिकार में कर रखा था। सभी मुसलमान सरदार उनसे डरते और राजस्व देते थे। रणजीत-सिंह ही सिख रियासतों को एक कर सकते थे। महाराज का निश्चय भी यही था कि यमुना तक हिंदुओं का शासन स्थापित कर दिया जाय।

ज्योंही मैटकाफ़ लाहौर पहुँचा त्योंही महाराज लाहौर से कसूर चले गये। मैटकाफ़ ने समझा कि महाराज उसका लाहौर या अमृतसर में रहना अच्छा नहीं समझते। परन्तु

वास्तविक कारण यह था : दीवान मोहकमचन्द ने महाराज को बताया कि दोनों शक्तियों में संधि की शर्त यह होगी कि दोनों की जो सीमाएँ हैं वे बनी रहें। इसलिए बेहतर यह है कि महाराज मैटकाफ से मिलने में विलम्ब करें और इस बीच में वे सतलज पार हो कर अपनी सीमा यमुना तक बढ़ा लें।

मैटकाफ ११ सितंबर को कसूर पहुँचा। अपने साथ वह घोड़ों की जोड़ी, एक अँगरेजी गाड़ी, तीन हाथी, सुनहले हौदे और ऐसा ही अन्य सामान लाया। दीवान मोहकमचंद ने उसका स्वागत किया। महाराज ने फ्रांस के भारत पर आक्रमण की समस्या की ओर कुछ ध्यान ही न दिया। अँगरेजों के साथ मित्रता करने पर वे राजी थे। परंतु यह शर्त मानने से बिल्कुल इन्कार कर दिया कि सतलज नदी उनकी सीमा समझी जाय। इसके साथ ही मैटकाफ को अजीजुद्दीन के सुपुर्द कर वे स्वयं सतलज पार हो गये। पहली अक्तूबर को कर्मचंद बाबल ने फरीदकोट पर क़ब्ज़ा कर लिया। मालेरकोटला पहुँच कर अताउल्लाखाँ से एक लाख रुपया भेंट के रूप में लिया गया। मैटकाफ ने, जो महाराज के साथ था, कहा कि यह सब कार्यवाही मित्रता के विरुद्ध है। महाराज ने इस पर आश्चर्य प्रकट किया—"अँगरेजी सरकार को इससे क्या वास्ता है? हमें अपने सिखों पर पूरा अधिकार है। हम उनसे उचित व्यवहार कर सकते हैं।" मैटकाफ फतहबाद ठहर गया।

महाराज अंबाला जा पहुँचे और गुरबख्शसिंह की विधवा से सारा इलाक़ा ले कर नाभा और कैथल के हवाले कर दिया और उसकी धन-संपत्ति स्वयं सँभाल ली। गंडासिंह अंबाला का शासक नियुक्त किया गया। साहनेवाल, चाँदपुर, झंडूर, धारी

और बहरामपुर पर क़ब्ज़ा करके ये प्रदेश दीवान मोहकमचंद को प्रदान कर दिये गये। रहीमाबाद, काना, तरकोट, माछीवाड़ा आदि अन्य सरदारों को दे दिये गये। शाहाबाद के सरदार कर्मसिंह के अतिरिक्त थानेसर के सरदार से भी महाराज ने राजस्व प्राप्त किया। अखनूर में उन्होंने पटियाला के राजा साहबसिंह को बुला कर भेंट की और उसकी पगड़ी अपने सिर पर और अपनी उसके सिर पर रख कर मैत्री पक्की कर ली। २ दिसम्बर को उन्होंने सतलज पार किया और ४ को अमृतसर पहुँचे जहाँ मैटकाफ़ भी आ गया।

मैटकाफ़ ने महाराज को अँगरेज़ी सरकार का अंतिम उत्तर बताया : सतलज पार की रियासतें अँगरेज़ी सरकार के आश्रय में समझी जानी चाहिएँ। महाराज उनसे कोई सम्बन्ध न रखें सरकार ने उनसे वह राजस्व लेना बन्द कर दिया है जो वे मराठों को दिया करती थीं। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि कोई दूसरा उनको तंग करे। महाराज को चाहिए कि सतलज पार का जो प्रदेश उन्होंने अभी-अभी लिया है वह वापस कर दिया जाय।

महाराज यह बात मानने पर तैयार न थे। वे विलंब करके युद्ध के लिए तैयार हो गये। गवर्नर-जनरल लार्ड मिंटो ने भी डेविड आक्टरलानी के अधीन फ़ौज का एक दस्ता भेज दिया। सरहिंद के सभी सरदारों ने इसका स्वागत किया। बोरिया, पटियाला और नाभा होकर वह जनवरी १८०९ में लुधियाना पहुँचा। अंबाला उसने रानी दयाकौर के हवाले कर दिया जिससे राजा साहबसिंह और जसवंतसिंह बहुत प्रसन्न हुए। मालेरकोटला में पठान शासक को उसने अपनी जगह पर बहाल कर दिया।

ये समाचार महाराज को पहुँच रहे थे कि इतने में

अमृतसर में एक छोटी-सी घटना हो गई जिसका प्रभाव महाराज के मन पर बहुत ज्यादा हुआ। अमृतसर में मैटकाफ के साथ कुछ मुसलमान सैनिक थे। मुहर्रम के आ जाने पर उन्होंने ताजिया बना कर नगर में घुमाना आरंभ किया। जब वे अकालियों के पास से गुजरे तो फूलासिंह अकाली ने उन पर हमला कर दिया। यद्यपि इन मुसलमान सैनिकों की संख्या बहुत थोड़ी थी तो भी अपने सैनिक शिक्षण एवं अनुशासन के कारण उन्होंने ऐसी वीरता दिखलाई कि अकालियों को पीछे हटना पड़ा। महाराज ने गोविंदगढ़ में यह खबर सुनी। घटना-स्थल पर पहुँच कर उन्होंने अपना रूमाल हिलाया जिस से लड़ाई बंद हो गई। मैटकाफ से उन्होंने खेद प्रकट किया और सैनिकों को हरजाना दिया। इससे उनको खयाल हो गया कि अँगरेजी सेना लड़ने में बहादुर है, उनके अपने राज्य की नींव अभी कच्ची है और अँगरेजों का मुकाबिला करना उचित नहीं। इस कारण २५ एप्रिल, १८०६, को संधि-पत्र स्वीकार करके उन्होंने उसपर हस्ताक्षर कर दिये।

इस संधि के अनुसार महाराज ने सतलज पार की सभी रियासतों पर से अपना अधिकार हटा लिया। इसके साथ ही अँगरेजी सरकार का सतलज से उत्तर की ओर के प्रदेश से कोई संबंध न रहा। दोनों पक्षों में मित्रता हो गई। जब तक महाराज जीवित रहे तब तक ये शर्तें पूरी की गईं। सतलज पार की रियासतों से अँगरेजी सरकार ने जो संधि ६ मई १८०६ को की उसे 'इत्तिलानामा' कहा गया। इसके अनुसार जरूरत के समय ब्रिटिश गवर्नमेंट की फौज को अपने यहाँ ठहराना प्रत्येक रियासत का कर्तव्य हो गया।

कुछ समय तक महाराज रणजीतसिंह और अँगरेजी सरकार को एक दूसरे के सम्बन्ध में सन्देह बना रहा।

ग्वालियर के सेंधिया, होल्कर और अमीरखाँ रुहेला अपने प्रतिनिधि भेज कर इस बात का यत्न करते रहे कि अँगरेज़ों के विरुद्ध षड्यंत्र में महाराज उनके साथ मिल कर काम करें। परन्तु धीरे-धीरे सभी संदेह दूर हो गये। महाराज ने गोविंदगढ़ का क़िला दुरुस्त किया और फिलौर का क़िला मज़बूत करके दीवान मोहकमचंद को क़िलादार नियुक्त किया।

सतलज पार की रियासतों के पारस्परिक सम्बन्ध किसी नियम के अनुसार न थे। जो बलवान् होता वह निर्बल को दबा लेना चाहता। इस कारण अगस्त १८११ में अँगरेज़ी सरकार ने यह घोषित किया कि कोई रईस किसी दूसरे की जायदाद पर अधिकार न करे, और यदि कोई ऐसा करेगा तो अँगरेज़ी सरकार को उस मामले में दखल देना होगा; तब सारा खर्च क़सूरवार के सिर पड़ेगा। सरकार ने लुधियाना में एक छावनी बना ली जहाँ पर महाराज की ओर से बटाला का बख्शी नन्दसिंह प्रतिनिधि नियुक्त हुआ और अँगरेज़ी सरकार ने कायस्थ खुशवक्तराय को लाहौर में सन्देश-वाहक के रूप में बिठा दिया।

सन् १८१४ में राजकुमार खड्गसिंह का ब्याह फ़तहगढ़ के सरदार जयमलसिंह की इकलौती बेटी चंदकौर के साथ हुआ। इसमें नाभा, जींद आदि के सब रईस तथा आक्टरलानी को भी निमंत्रित किया गया। यद्यपि दीवान मोहकमचंद इस बात के विरुद्ध था तो भी महाराज ने आक्टरलानी को लाहौर का क़िला आदि सब कुछ दिखलाया।

काबुल और पेशावर—जब एलफ़िंस्टन काबुल पहुँचा तब शाहशुजा वहाँ का शासक था। अँगरेज़ प्रतिनिधि ने उसके साथ मित्रता कर ली। परन्तु कुछ ही दिन बाद १८१० के

आरंभ में उसके भाई महमूद ने क़ैद से निकल कर फ़तहख़ाँ बरकज़ई की सहायता से शुजा को हरा कर भगा दिया। शाह शुजा खुशाब में महाराज रणजीतसिंह से मिला। उसका बड़ा आदर-सत्कार किया गया। परन्तु वह रावलपिंडी चलागया। फिर उसने महमूद को परास्त करके पेशावर पर अधिकार कर लिया। अगले वर्ष उसकी फिर हार हुई और उसे वहाँ सेभागना पड़ा। जब शाहमहमूद काश्मीर के सूबेदार अतामुहम्मद के विरुद्ध आया था तब महाराज ने रावलपिंडी में उसके साथ मित्रता कर ली।

सन् १८११ में शाहशुजा लुधियाना में अँगरेज़ों से निराश हो कर लाहौर आया। महाराज उसे अपने यहाँ रख कर अपने क़ाबू में करना चाहते थे। उसे बड़े मान-पूर्वक मुबारक हवेली में रक्खा गया। तत्काल ही महाराज ने उससे कोहनूर हीरा देने के लिए कहा। शुजा ने उत्तर दिया—"हीरा मेरे पास नहीं है।" उसकी स्त्री ने बहाना किया कि वह हीरा तो काबुल में रेहन रख दिया गया था। इसपर महाराज ने हवेली के गिर्द एक मज़बूत गारद बिठला दी। जब इस तरह काम न बना तब उन्हें भोजन से वंचित कर दिया गया। शुजा और उसके परिवार वाले दो दिन भूखे रहे। उसे अपने परिवार से पृथक् कर देने की धमकी भी दी गई। अब शुजा ने दो मास की मोहलत माँगी। अंत में अपमान से तंग आकर शुजा ने कोहनूर देने का वचन दे दिया। स्वयं महाराज उस हवेली में गये और एक घण्टे तक प्रतीक्षा करते रहे। तत्पश्चात् महाराज ने एक नौकर को संकेत किया कि शुजा को उसकी प्रतिज्ञा की याद दिलावे। इस पर ख़ाजा-सराय अन्दर जा कर एक रूमाल ले आया। महाराज ने भवानीदास को उसे खोलने की आज्ञा दी। उसमें से एक

चमकता हुआ हीरा निकला। महाराज ने उसे अपने जेब में डाल लिया।

अब शुजा पर से सभी पाबन्दियाँ हटा ली गईं। काबुल वापस दिलाने के लिए उसे सहायता का वचन दिया गया। साथ ही एक जागीर उसके नाम लगा दी गई। परन्तु कुछ दिन बाद स्वयं उसके नौकर अबूहसन ने बताया कि शुजा के पास अभी और बहुत-से जवाहरात हैं। इस कारण उस पर फिर पाबन्दियाँ लगा दी गईं। इनसे तंग आकर उसने पहले अपनी स्त्रियों को हिंदुओं की बैलगाड़ी के द्वारा लुधियाना भेजा और फिर ख़ुद भेस बदल कर रात को लाहौरी दरवाज़े की नाली से निकला और भाटी दरवाज़े के बाहर गंजबख़्श की क़ब्र पर जा पहुँचा। रावी को उसने तैर कर पार किया। वह गुजरांवाला से जम्मू और जम्मू से किश्तवाड़ पहुँचा। वहाँ से कुछ सैनिक एकत्र करके उसने काश्मीर लेने का यत्न किया। परन्तु इसमें उसे साफल्य प्राप्त न हुआ। कुल्लू के पहाड़ों के रास्ते वापस आकर वह सितम्बर १८१६ में लुधियाना पहुँचा और यहाँ उसने अँगरेज़ों का आश्रय लिया।

वज़ीर फ़तहख़ाँ ने काबुल में महमूद का राज्य बनाये रखा। महमूद का बेटा कामरान इससे ईर्ष्या करने लगा। १८१८ में कामरान ने उसे ईरान पर आक्रमण करने के लिए भेजा ताकि किसी प्रकार उसका अंत हो जाय। परन्तु फ़तहख़ाँ को इस आक्रमण में बड़ी सफलता मिली। वापसी पर उसे धोखा दिया गया और षड्यंत्र के द्वारा गिरफ्तार करके उसका वध कर दिया गया। परिणाम-स्वरूप वज़ीर का क़बीला बरकज़ई लड़ाई के लिए तैयार हो गया। उसका भाई अज़ीमख़ाँ

काश्मीर से पहुँचा। उसने कामरान को परास्त करके तैमूर के बेटे अयूबशाह को काबुल की गद्दी पर बिठलाया।

जब काबुल में हलचल हो रही थी तब महाराज रणजीत-सिंह को पेशावर पर अधिकार करने का खयाल हुआ। लाहौर के बाहर लगातार पन्द्रह दिन महाराज सेना का निरीक्षण करते रहे। फूलासिंह अकाली और दो अन्य सरदारों को आगे भेजा। उन्होंने खटक पठानों को पराजित किया और खैराबाद, नौशहरा तथा पेशावर पर अधिकार कर लिया। पेशावर का सूबेदार यारमुहम्मद भाग गया। महाराज तीन दिन तक पेशावर में रहे। उन्होंने पचीस हजार रुपया और चौदह तोपें लेकर जहाँदादखाँ को पेशावर का सूबेदार नियुक्त किया और लौट आये।

अटक के निकट दोस्त मुहम्मदखाँ ने अपने प्रतिनिधि दामोदरमल और हाफ़िज़ रूहुल्ला को महाराज के पास भेजा। उन्होंने एक लाख रुपया भेंट किया ताकि उसे पेशावर दिया जाय। महाराज ने यह बात मान ली। बरकजई पठानों ने जहाँदाद को पेशावर से निकाल दिया। यह सुनकर महाराज को गुस्सा आया और उन्होंने सरदार दलसिंह को बारह हज़ार सेना देकर पेशावर भेजा। इतने में ही काबुल के प्रतिनिधि पचास हज़ार रुपया और कुछ घोड़े लेकर आ पहुँचे। इस पर पंजाबी सेना वापस बुला ली गई। महाराज कटास में स्नान करके लाहौर आ गये। १८१८ में शाहशुजा ने पेशावर लेने का यत्न किया परन्तु वह सफल न हुआ। तत्पश्चात् उसने सिंध के अमीरों की सहायता से दायरा दीनपनाह में अपना शासन स्थापित करना चाहा। दलसिंह सेना लेकर वहाँ पहुँचा और शुजा को उसने सिंध की ओर भगा दिया।

एप्रिल, १८२४, में खबर आई कि मुहम्मद अज़ीमखाँ पेशावर से चलकर ख़ैराबाद तक आ पहुँचा है। तब मिश्र दीवानचंद को उसके विरुद्ध भेजा गया। कुछ लड़ाइयों के बाद ख़ुद महाराज वहाँ जा पहुँचे। लेकिन अज़ीमखाँ अपने घरेलू झगड़ों के कारण काबुल को वापस चला गया।

अक्तूबर, १८२३, में महाराज ने रोहतास में अपनी सारी सेना एकत्र की और वहाँ से रावलपिंडी को कूच किया। फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन को पेशावर के मुहम्मद यारखाँ से उपहार लेने के लिए आगे भेज दिया गया। मुहम्मद यारखाँ ने बहुत-से घोड़े भी उपहार-स्वरूप दिये। मुहम्मद अज़ीमखाँ को अपने भाई की यह बात पसंद न आई और वह काबुल से पेशावर आया। महाराज ने शेरसिंह को दीवान कृपाराम और हरिसिंह नलवा के साथ सेना देकर भेजा। उन्होंने जाकर जहाँगीराबाद पर अधिकार कर लिया।

इस से जोश में आकर पठानों की एक बड़ी संख्या जिहाद करने के लिए नौशहरा में इकट्ठी हो गई। स्वात और बुनेर के अफ़रीदी, खटक आदि सभी एकत्र हो गये। महाराज ने खड्गसिंह और मिश्र दीवानचंद को सेना देकर भेजा और बाद में स्वयं भी चल पड़े। उधर मुहम्मद अज़ीमखाँ भी नौशहरा पहुँचा। दोस्तमुहम्मद और सरदार जब्बरखाँ भी मुकाबले के लिए तैयार थे। घोड़े पर सवार महाराज ने पंद्रह हज़ार सवारों के साथ १२ मार्च को सिंध-नदी पार की। इनमें से लगभग एक हज़ार सैनिक डूब गये। तोपें हाथियों पर रख कर पार की गईं। पठानों की तरफ़ से बीस हज़ार से ज्यादा जिहादी आ पहुँचे थे।

नौशहरा की लड़ाई इस कारण बहुत प्रसिद्ध है कि इसमें चिर काल बाद पंजाबियों ने एकत्र हो कर पठानों की सामूहिक शक्ति का प्रतिरोध किया। लड़ाई शुरू हुई। पठानों ने हिंदू

सेनानायक सतगुरुसहाय और महांसिंह को गोली का निशाना बनाया और सैनिकों को पहाड़ी से नीचे हटा दिया। इतने में फूलासिंह अकाली अपने साथियों को लेकर उनपर टूट पड़ा। परंतु ग़ाज़ियों ने इनका ऐसा उत्तर दिया कि फूलासिंह रणभूमि में मारा गया। अब खुद महाराज ने हमला किया। मिश्र दीवानचंद अपना तोपखाना लिये आ पहुँचा ! शाम तक ग़ाज़ियों की आधी संख्या क़त्ल कर दी गई, फिर भी वे अपने स्थान पर डटे रहे।

इसके बाद गोरखों को लड़ने की आज्ञा दी गई। उनका एक दस्ता पीछे खड़ा कर दिया गया ताकि यदि कोई भागे तो उसे गोली का निशाना बना दिया जाय। पठान सभी ओर से घिर गये और घबरा कर मैदान से भाग निकले। मुहम्मद अज़ीम अपने अंतःपुर को संकट से बचाने के लिए पहले ही मैदान से चल दिया था। वह मामंद की पहाड़ियों के रास्ते निकल गया। महाराज ने आगे बढ़कर हश्तनगर पर अधिकार किया और १७ मार्च को पेशावर जा लिया। सिखों ने खैबर तक सारे प्रदेश को अच्छी तरह लूटा।

मुसलमान आबादी अपने नये विजेताओं के सख्त विरुद्ध थी। इस कारण महाराज ने पेशावर अपने हाथ में रखना उचित न समझा। यारमुहम्मद और दोस्तमुहम्मद को बुलाया गया। उपहार-स्वरूप घोड़े ले कर ये उपस्थित हुए। महाराज ने नया प्रदेश इन दोनों में बाँट दिया। २६ एप्रिल को वे लाहौर पहुँचे। लाहौर और अमृतसर में आनन्द मनाया गया और दीपमाला की गई। इन्हीं दिनों तैमूरशाह का बेटा इब्राहीम लाहौर आया। महाराज ने उसका स्वागत किया और उसके लिए गंजबख्श की क़ब्र के पास तंबू लगवा दिये।

सन् १८२७ के आरंभ में युसुफ़ज़ई की पहाड़ियों में एक सैयद अहमद ने अपने आपको पैग़ंबर मशहूर किया। हिंदुओं के विरुद्ध उसने जिहाद की घोषणा की। यह आदमी वास्तव में बरेली का एक सैयद था। अमीरख़ाँ के पास सैनिक के रूप में नौकर रहा था। कुछ समय देहली रहने के पश्चात् कलकत्ता गया। अपने मज़हबी जोश और बातचीत के द्वारा उसने बहुत-से अनुयायी बना लिये। तत्पश्चात् वह हज को गया। वहाँ से लौटने पर उसने पञ्जाब के साम्राज्य के विरुद्ध युद्ध करने की योजना बनाई। वह अँगरेज़ी राज्य में शांति-भंग नहीं करना चाहता था। लगभग पाँच सौ साथी लेकर टांक और वहाँ से कंधार चला गया। वहाँ उसे बहुत साफल्य न मिला, इस कारण युसुफ़ज़ई की पहाड़ियों में चला आया। यहाँ उसने हरा झंडा बुलंद किया। युसुफ़ज़ई लोग सैयद अहमद के साथ हो गये। वे यारमुहम्मद के विरुद्ध थे, क्योंकि उसे महाराज ने नियुक्त किया था। अकोड़े में महाराज के भेजे एक सिंधियावालिया सरदार से परास्त होकर सैयद अहमद और उसके साथी पहाड़ों में भाग गये।

यारमुहम्मद के पास लैली नाम की एक विख्यात घोड़ी थी। इसे लेने के लिए ईरान के बादशाह ने उसे पचास हज़ार रुपया नक़द और पचास हज़ार की जागीर पेश की। महाराज रणजीतसिंह को घोड़ों का बहुत शौक था। उन्हें यह लैली लेने का ख़याल हुआ। यारमुहम्मद देर तक इनकार करता रहा। अंत में वह देने के लिए बाध्य हो गया। राजकुमार खड्गसिंह उसे लेने के लिए भेजा गया। अब यारमुहम्मद सैयद अहमद के साथ एक षड्यंत्र में सम्मिलित हो गया। महाराज ने घोड़ी ले लेने के पश्चात् उसके भाई सुलतान मुहम्मद को पेशावर का शासक नियुक्त कर दिया। सन् १८२६

में सैयद अहमद को ज़हर दिया गया। उसने इसका संदेह यारमुहम्मद पर करके पठानों को उत्तेजित किया। एक लड़ाई में यारमुहम्मद मारा गया।

सैयद अहमद की ख्याति काश्मीर तक जा पहुँची। उसने काश्मीर पर आक्रमण करने की ठानी। १८३० में उसने अटक पार किया। परंतु हरिसिंह नलवा ने उसे वहीं रोक दिया। कुछ मास के पश्चात् सैयद अहमद ने पेशावर पर हमला किया। सुल्तान मुहम्मद की हार हुई और पेशावर सैयद अहमद के हाथ आया। घमंड में उसने अपने आप को खलीफ़ा प्रसिद्ध किया। अबस्वयं महाराज ने उसपर चढ़ाई की। इनका इतना भय था कि पंजाब की सेना के आते ही सैयद पेशावर छोड़ गया। महाराज ने सुल्तान मुहम्मद को पुनः सिंहासनारूढ़ किया और लौट आये।

अब सैयद एक बार फिर पेशावर का स्वामी बन बैठा। तीन हज़ार रुपये की मासिक वृत्ति और पेशावर की अदालतें उसके मौलवियों के सुपुर्द करके सुलतान मुहम्मद ने उससे संधि कर ली। सैयद अहमद के चले जाने पर उसके कुछ क़ाज़ी और मौलवी क़त्ल कर दिये गये। अंत में स्वयं पठान ही सैयद से बहुत तंग आ गये। वे उसे अपनी आय का दसवाँ भाग देने पर राज़ी हो गये। परन्तु उसने साथ ही यह आज्ञा भी दी कि विवाह-योग्य सभी पठान लड़कियाँ हिंदुस्थान से आये हुए उसके साथियों को दी जायँ। पठान मुल्ला पहले ही उससे रुष्ट थे, क्योंकि वह वहाबी मत का प्रचार करता था। अब उन्होंने उसे कपटी बताना आरम्भ किया जिसके कारण उसे युसुफ़ज़ई प्रदेश छोड़ना पड़ा। जब वह उधर से आया तो सिख सैनिकों ने पकड़ कर उसका वध डाला।

काबुल-राज्य—जब कामरान ने वजीर फतह का वध करवाया तब वजीर का भाई मुहम्मद अजीमखां उसके विरुद्ध हो गया। उसने शुजा को गद्दी पर बिठला दिया। एक बार एक अमीर शहर में पालकी पर बैठा जा रहा था। शुजा ने उसे नीचे उतरवा कर उसका अपमान किया। इससे पठान शुजा के विरुद्ध खड़े हो गये। उसका भाई अयूब अब मुहम्मद-अजीम के पाँव पर जा गिरा—"मुझे केवल नाम का बादशाह बना दें और सारा अधिकार आप अपने हाथ में रखें।" मुहम्मद अजीम ने अयूब को काबुल का बादशाह बना दिया। इस पर शुजा शिकारपुर को भाग गया।

सन् १८२३ में नौशहरा की लड़ाई से मुहम्मद अजीम की शक्ति का अन्त हो गया। सिखों ने सभी जगह प्रभुत्व जमा लिया। मुहम्मद अजीम इस आघात से काबुल जाकर मर गया। उसका बेटा हबीबुल्ला उत्तराधिकारी बना। अजीम चार-पाँच करोड़ रुपया छोड़ गया था। उसके भाई हबीबुल्ला के विरुद्ध हो गये। उसकी माँ को क़त्ल की धमकियाँ देकर शेरदिल ने रुपये का छठा भाग ले लिया और कंधार में अपना शासन खड़ा कर लिया। सुलतान मुहम्मद पेशावर में था। तीसरा भाई दोस्तमुहम्मदखां गजनी, जलालाबाद और काबुल का शासक बन गया। काबुल के इन झगड़ों के कारण सिंध के अमीर स्वायत्त बन बैठे और अयूब भाग कर लाहौर चला आया। इस प्रकार अहमदशाह के घराने का अंत हो गया।

दोस्तमुहम्मद बड़ा परिश्रमी तथा समझदार था। प्रतिदिन क़ाज़ियों की अदालत में जाता। उसका राज्य अठारह लाख की मालियत का था। हरात, जहाँ कामरान शासक था, ईरान का भाग बन गया था। १८३२ में ईरान के बादशाह ने उससे राजस्व

माँगा और साथ ही यह कहा कि उसके नाम का सिक्का चलाया जाय।

काबुल-राज्य की यह अवस्था थी जब १८३३ में शाहशुजा लुधियाना से छः सौ सैनिक लेकर चला। वह एक मास मालेर-कोटला ठहरा। ईद के दिन वहाँ के नवाब ने पाँच हज़ार रुपया और दो घोड़े उसकी भेंट किये। जगराँव में फ़तह-मुहम्मद ने उसे दो हज़ार रुपया और कुछ तलवारें दीं। दो सप्ताह बाद नवाब-बहावलपुर से उसे पाँच हज़ार रुपया, कुछ बैल, ऊँट और तोपें मिलीं। शिकारपुर में हैदराबाद के वकील ने पचास हज़ार रुपया, कुछ तलवारें और दो तंबू भेंट किये।

दस मास तक शिकारपुर ठहर कर उसने महाराज रणजीतसिंह से पत्र-व्यवहार किया। महाराज ने एक लाख, पचीस हज़ार रुपया और कुछ तोपें इस शर्त पर भेजीं कि शुजा काश्मीर, अटक, पेशावर, बन्नू और दोनों डेरों पर अधिकार का दावा सदा के लिए छोड़ देगा। हैदराबाद का अमीर उससे ईर्ष्या करने लगा और कुछ सिंधी उसके विरुद्ध हो गये। शिकारपुर के समीप एक लड़ाई हुई जिसमें शुजा की जीत हुई। पाँच लाख रुपया और बहुत-सा सामान उसके हाथ आया। आगे चल कर उसे कुलात के खान से भी एक लाख रुपया और कुछ दूसरी सहायता मिली। शुजा ने अंत में कंधार को घेरा। दोस्तमुहम्मद काबुल से अपने भाई की सहायता के लिए वहाँ आ पहुँचा। परंतु काबुल के लोगों की सहानुभूति शुजा के साथ थी। दोस्तमुहम्मद के कई सरदार उसकी ख़ातिर विद्रोह करने पर तैयार हो गये।

दोस्तमुहम्मद बड़ा चालाक था। उसने शुजा को पत्र लिखा कि वह उसके स्वागत के लिए आ रहा है। शुजा कंधार के इर्द-गिर्द खाइयों में पड़ा था। उसकी स्थिति बहुत दृढ़ थी।

परन्तु उसे अपने प्राण बचाने की बड़ी चिंता थी। किसी की बात न मान कर उसने कायरता-वश अपना स्थान छोड़ दिया और एक बाग में जा डेरे लगाये। पहले दिन, ८ जुलाई, १८३४, को अँगरेज अफ़सर कैंबल ने पठानों को पराजित किया। दूसरे दिन दोस्तमुहम्मद ने जब बारह हज़ार सेना सजाई तो शुजा की फ़ौज में कोई अनुशासन न पाया गया। शुजा ने एक ओर तो हमले का आदेश दे दिया और दूसरी ओर अपने महावत से हाथी का मुँह मोड़ने को कहा। उसकी फ़ौज में घबराहट फैल गई। हिंदुस्थान से लाये गये तीन सौ सैनिक वीरता से लड़े, परन्तु कुछ कर न सके। कैंबल को गिरफ्तार कर लिया गया।

शुजा वहाँ से भाग गया। कामरान ने उसके साथ मान-पूर्वक व्यवहार किया। वह सीसतान होता हुआ कुलात जा पहुँचा। वहाँ से हैदराबाद और हैदराबाद से लुधियाना आया। कैंबल को दोस्तमुहम्मद अपने साथ ले गया। चार सौ रुपया मासिक पर उसे तोपख़ाने का अफ़सर बना दिया गया।

दोस्तमुहम्मद इधर तो शुजा से काबुल के राज्य के लिए झगड़ रहा था उधर उसे पेशावर को काबुल के अधीन रखने के लिए महाराज से युद्ध करना पड़ा। १८३४ में दिलासाख़ाँ ने बन्नू में विद्रोह खड़ा कर दिया। इस पर बख्शी ताराचंद और सरदार श्यामसिंह सेना लेकर गये और उसे गढ़ी ही में जा घेरा। परन्तु रात को पठानों ने छापा मारकर कई सौ सिखों को क़त्ल कर दिया। इसलिए घेरा उठाना पड़ा। राजा सुचेतसिंह उनकी सहायता को जा पहुँचा जिससे वहाँ शांति हो गई।

महाराज रणजीतसिंह ने अब दृढ़ निश्चय कर लिया कि

पेशावर को सिख-राज्य में सम्मिलित कर लिया जाय ताकि उसके काबुल के साथ मिल जाने का संकट दूर हो जाय। महाराज ने अपने पोते नौनिहालसिंह को फ़ौज देकर लाहौर से भेजा और उधर सरदार हरिसिंह नलवा को आज्ञा दी कि वे युसुफ़ज़ई से पेशावर को कूच कर दें। नौनिहालसिंह ने एप्रिल में सिंध नदी पार करके पेशावर से बहुत-सा राजस्व और घोड़े माँगे। जो घोड़े भेंट-स्वरूप भेजे गये उन्हें नौनिहाल ने पसंद न किया। बरकज़ई सरदारों ने इसका आशय समझ लिया। उन्होंने अपने परिवार और सामान काबुल से पार मिचनी भेज दिया। शीया .ग़ुलामहुसेन की संतति और हिन्दू मंत्री ने सरदार हरिसिंह से पत्र-व्यवहार शुरू कर दिया। हरिसिंह ने सुलतानमुहम्मद और अन्य सरदारों को लिख भेजा कि "राजकुमार नौनिहालसिंह शहर देखना चाहते हैं। इसलिए आप लोग अलीमरदानख़ान के बाग़ में चले जायँ।" सुलतानमुहम्मद ने शीशे के द्वारा पंजाबी सेना को तैयार होते देख लिया। राजकुमार हाथी पर सवार हो कर अपने सरदारों-सहित शहर में प्रविष्ट हुआ। ६ मई, १८३४, को पेशावर शहर और बालाहिसार पर अधिकार कर लिया गया।

महाराज को संतोष न हुआ। वे न केवल सेनाएँ पेशावर भेजते गये वरन् .ख़ुद भी उधर को चल पड़े। पेशावर हाथ से निकल जाने पर दोस्तमुहम्मद को बड़ी चिंता लगी। पहले तो उसने अँगरेज़ी सरकार को सहायता के लिए लिखा कि वे रणजीतसिंह को पेशावर से बुला लें। अँगरेज़ी सरकार ने हस्तक्षेप करने से इनकार कर दिया। तत्पश्चात् उसने नवाब जब्बरख़ाँ के द्वारा ईरान से सहायता के लिए याचना की और स्वयं जलालाबाद से सेना लेकर चला। अलीबाग़ान में उसने ईद की क़ुरबानी दी और बड़े ज़ोर से अपने ख़ुदा से

प्रार्थना की—"अल्लाह, मैं एक कमजोर मक्खी हूँ। एक बड़े हाथी से मक्खी का मुक़ाबला है। तेरी शक्ति बड़ी है। यह मक्खी तेरी ही शक्ति पर भरोसा रखती है। तुझसे ही मैं विजय के लिए प्रार्थना करता हूँ।"

इलाक़े के बहुत-से ग़ाज़ी पठान दोस्तमुहम्मद के साथ मिल गये। खैबर के सरदार भी सिखों का साथ छोड़ कर उससे जा मिले। खैबर गुजर कर वह शेखान में आ पहुँचा। महाराज भी जल्दी-जल्दी कूच करके पेशावर जा पहुँचे। दोस्तमुहम्मद के साथ उन्होंने इसलिए बातचीत शुरू कर दी कि सेना को एकत्र करने तथा अनुशासन-पूर्वक विशेष क्रम से खड़ा करने का समय मिल जाय। गोलार्द्ध की शकल में सेना को पाँच भागों में बाँटा गया। सामने रसाला था, पीछे पचीस पल्टनें और फिर रसाला।

महाराज ने अजीज़ुद्दीन और अमेरिकन कर्मचारी हारलान को दोस्तमुहम्मद के पास भेजा ताकि उसे पीछे हट जाने का परामर्श दें। वे अभी उसके पास ही थे कि दोस्तमुहम्मद को पता लगा कि पंजाबी सेना ने उसे घेर लिया है और भागने के सिवाय उसके पास कोई चारा नहीं। उसे यह बात सूझी कि अजीज़ुद्दीन और हारलान को गिरफ्तार कर लिया जाय। अजीज़ुद्दीन के बग़ैर रणजीतसिंह एक क्षण भी नहीं रह सकता। कहा जाता है कि महाराज के लिए पक्षाघात का औषधि प्रतिदिन अजीज़ुद्दीन ही तैयार किया करता था। ऐसी दशा में जो कुछ उससे माँगा जायगा वह उसे देना पड़ेगा। यह बात उसने अपने भाई सुलतानमुहम्मद को बताई और उससे इन दोनों को अपने पास रखने को कहा। वह मान गया। जब अजीज़ुद्दीन और उसका साथी दोस्तमुहम्मद के पास आये तब वह कहने लगा—"मैं तो केवल इसलिए आया

हूँ कि मुझे मेरे भाई का आधा प्रदेश दे दिया जाय।" उन्होंने जवाब दिया—"अच्छा, इसके लिए हमें महाराज के पास चलना चाहिए।" दोस्तमुहम्मद बोला—"रणजीतसिंह को इस आशय का पत्र लिख दिया जायगा।" यह कह कर उसने दोनों को सुलतानमुहम्मद के सुपुर्द कर दिया। इसपर अज़ीज़ुद्दीन ने कहा—"यह तो आचार-नीति और रिवाज के सर्वथा विरुद्ध है। इसे पठान भी बुरा कहेंगे।" दोस्तमुहम्मद ने उत्तर दिया—"हिंदू काफ़िर हैं। उनके साथ वचन-भंग करना कोई बुराई नहीं।" सुलतानमुहम्मद ने उनको मिचनी के क़िले में भेज दिया।

अब दोस्तमुहम्मद बड़े संतोष से पीछे कूच करने लगा। जब वह शेखान पहुँचा तो उसे मालूम हुआ कि अज़ीज़ुद्दीन और हारलान तो रणजीतसिंह के पास पहुँच गये हैं। इस अपमान से दोस्तमुहम्मद घबरा गया। कई दिन तक वह मकान में बंद होकर पड़ा रहा। इसका मन्त्री समीख़ाँ गुस्से में क़लमदान तोड़ता और दोस्तमुहम्मद को गालियाँ देता था।

महाराज के लिए यह बड़ी भारी विजय थी। दोस्तमुहम्मद के चले जाने पर महाराज ने एक क़िला बनवाया और कुछ सप्ताह पेशावर ठहर वापस चले आये।

सन् १८३७ की सरदियों में सरदार हरिसिंह नलवा ने पेशावर से आगे बढ़ कर जमरोद पर अधिकार कर लिया। दोस्तमुहम्मद को बड़ा डर लगा। उसने अपने मन्त्री समीख़ाँ और पाँच बेटों को ख़ैबर के मलिकों के साथ भेजा और सेना भी दी। बाजौर और मोमंद के लोगों ने भी इस समय बड़ी सहायता की। पठानों ने जमरोद के क़िले पर हमला किया और दो दिन के अंदर उसके बाहर के भाग पर क़ब्ज़ा कर

लिया। इससे वे बहुत प्रसन्न हो रहे थे कि ३० एप्रिल, १८३७, को हरिसिंह नलवा ने उन पर ऐसा आक्रमण किया कि सारे पठान सिर पर पाँव रख कर भागे। वीर नलवा ने मुहम्मद अफ़ज़ल और दोस्तमुहम्मद के बेटों को ख़ैबर के पास पहुँच कर परास्त किया और उनसे चौदह तोपें प्राप्त कीं। हिन्दू सेना पठानों का पीछा कर रही थी कि काबुल से शम्सुद्दीन सहायता लिए आ पहुँचा। अब भागते हुए पठान वापस हो पड़े और उन्होंने दो तोपें वापस ले लीं।

इस लड़ाई में नलवा को एक मर्मभेदी घाव लगा जिससे सिख सेना में खलबली मच गई। सारे सैनिक जमरोद के क़िले में लौट आये। यद्यपि जमरोद हिन्दुओं के पास ही रहा तो भी हरिसिंह नलवा की मृत्यु उनके लिए पराजय से अधिक हानिकारक सिद्ध हुई। नलवा के निधन से महाराज को बहुत दुःख हुआ और वे पेशावर की तरफ़ चल पड़े।* राजा ध्यानसिंह ने जाकर जमरोद के क़िले का पुनर्निर्माण किया। अपने हाथों से काम करके उसने सैनिकों के सामने एक आदर्श खड़ा कर दिया। पेशावर में इस समय चालीस हज़ार हिन्दू सेना थी। हाजीखां ने हश्तनगर पर हमला किया, परन्तु उसे नाकाम वापस लौटना पड़ा।

काबुल और अँगरेज़—सन् १८३७ में ईरान का बादशाह अब्बासमिर्ज़ा मर गया। उसके बाद वहाँ गड़बड़ फैल गई। कामरान ने ईरान को न केवल राजस्व देना बंद कर दिया वरन् ख़ुरासान पर हमला करके वहाँ से बारह हज़ार क़ैदी ग़ुलाम बना लाया। इसके बदले में ईरान के नये बादशाह मुहम्मदशाह ने हरात पर चढ़ाई कर दी और काबुल तथा

---

*देखिये परिशिष्ट ग।

ग़ज़नी पर भी धावा किया। उस समय ब्रिटिश दूत मेलिस ईरान की राजधानी तेहरान में था। उसने देखा कि इस गड़बड़ के अंतस्तल में रूसी काम कर रहे हैं। वही ईरान के बादशाह को आगे बढ़ा रहे हैं ताकि रूसियों का दबदबा बढ़े और वे हिन्दुस्तान के समीप आ सकें।

इस समय लार्ड आकलेंड ने कप्तान बरनेस को, जो मध्य एशिया में घूम कर आया था, दोस्तमुहम्मद के पास भेजा। इसका उद्देश व्यापारिक सम्बन्ध कायम करना था ताकि सिंध-नदी के द्वारा मध्य एशिया तक व्यापार किया जाय। बरनेस सितम्बर, १८३७, में काबुल पहुँचा। बड़े आदर से उसका सत्कार किया गया। परन्तु दोस्तमुहम्मद ने कहा—"मुझे व्यापारिक संधियों की आवश्यकता नहीं; मैं तो सिखों को पेशावर से निकालना चाहता हूँ।" इसके साथ ही उसने अँगरेज़ के दिल में रूस के ख़तरे को ज़्यादा बढ़ा दिया। क्योंकि दोस्तमुहम्मद के साथ लड़ाई नहीं की जा सकती थी इसलिए उससे कहा गया कि यदि वह चाहे तो महाराज रणजीतसिंह के साथ उसकी संधि करवा दी जाय।

इस मामले पर विचार हो रहा था कि एक रूसी दूत कप्तान विनकाविच के आने से बरनेस चकित हो गया। यह तेहरान-स्थित रूसी दूत सिमानिच से दोस्तमुहम्मद के नाम पत्र लाया था जिसमें यह भी लिखा था—"पत्र-वाहक को मेरे स्थान में समझिए और सब भेद बता दीजिए।" इसपर बरनेस ने लार्ड आकलेंड को लिखा—"काबुल की तरफ़ हमें सख़्त नीति का अवलंबन करना पड़ेगा।" बड़े लाट ने दोस्त-मुहम्मद को कहला भेजा कि वह रूसियों को अपने दरबार से हटा दे और उनसे कोई संधि न करे। परन्तु दोस्तमुहम्मद

ने इसकी कुछ परवाह न की और अपने आप को रूसियों के हाथों में डाल दिया।

लार्ड आकलेंड ने १८३८ में बरनेस को वापस बुला लिया और महाराज से भेंट करके यह फैसला किया कि दोस्तमुहम्मद और महाराज का राजीनामा नहीं हो सकता और दोस्तमुहम्मद का काबुल में रहना हिन्दुस्थान के लिए संकट का कारण होगा। काबुल में ऐसी गवर्नमेंट होनी चाहिए जो अँगरेजी सरकार की मित्र हो और किसी परकीय सरकार से सम्बन्ध न रखे। इसलिए शाहशुजा को काबुल की गद्दी पर बिठाने का निश्चय किया गया। देश में रूस के आगमन के सम्बन्ध में जगह-जगह चर्चा थी। कई लोग इस विषय में महाराज की नीति के विरुद्ध थे। परन्तु उस समय इसी को उचित समझा गया।

शिमला से महाराज के पास एक अँगरेज शिष्ट-मंडल भेजा गया ताकि उनसे मंत्रणा की जाय और सारा काम महाराज की सहायता से हो। मेक्नाटेन और उसके चार साथी दीनानगर पहुँचे जहाँ महाराज गरमी के दिन बिताने के लिए आ जाते थे। तंबू लगा रहता। वे खुले मैदान में ढाल-तलवार सिरहाने और घोड़ा पास बाँध कर सोया करते।

शेरसिंह के बेटे प्रतापसिंह ने, जो अभी सात वर्ष का था, अँगरेजों का स्वागत किया। २६ मई की सुबह को महाराज से इनकी पहली भेंट हुई और उपहार प्रस्तुत किये गये। अगले दिन कार्रवाई आरंभ हुई। महाराज पलथी मार कर चाँदी की कुरसी पर बैठे थे। हीरासिंह उनके सामने था। उसका पिता ध्यानसिंह पास खड़ा था। राय गोविंदजस, अजीजुद्दीन और लहणासिंह मजीठिया फर्श पर बैठे थे। मेक्नाटेन ने अपनी सरकार की नीति बताई। महाराज से कहा गया

कि यदि वे स्वयं इस मुहिम को अपने हाथ में लें तो अच्छा होगा। यदि वे ऐसा न करें तो अँगरेजी सरकार उनकी सहायता करेगी।

ध्यानसिंह की मुख-मुद्रा तथा संकेत प्रकट करते थे कि वह इन बातों के विरुद्ध है। महाराज को दूसरी तजवीज़ पसन्द आई। उन्होंने इसे मान लिया। दरबारी कहते रहे कि अकेले मुहिम अख्तियार करना अच्छा नहीं। महाराज ने उत्तर दिया कि उन्होंने निश्चय कर लिया है और वे इस विषय में कुछ सुनना नहीं चाहते। दूत उठ कर चले गये। १३ जुलाई को अंतिम भेंट हुई। महाराज ने खुला दरबार किया। हर एक अँगरेज अफ़सर को महाराज ने खिलअत दिया और छाती से लगाया।

तत्पश्चात् दूत लुधियाना आ गये और शुजा को सारा हाल बताया। तीनों पक्षों में यह संधि हुई कि शुजा अपनी सेना लेकर काबुल में प्रविष्ठ हो और अँगरेज तथा महाराज उसकी सहायता करें। महाराज इसके बदले में कुछ लाभ की आशा रखते थे। अंगरेजों का विचार तो जलालाबाद देने का था, परंतु शुजा ने दो लाख रुपया वार्षिक तथा पचास घोड़े देना स्वीकार किया।

नवम्बर के अंत में अँगरेजी सेना फ़ीरोज़पुर में एकत्र हुई। यहाँ पर महाराज और आकलेंड की भेंट हुई। अँगरेज़ अफ़सरों के अधीन दस हज़ार भारतीय सैनिक और हिन्दू अफ़सरों के अधीन छः हज़ार सिख सेना दिसम्बर के आरंभ में काबुल की तरफ़ चल पड़ी। शुजा शिकारपुर के रास्ते कंधार पहुँचा। बरकज़ई सरदार वहाँ से भाग गया। खास तख्त बनाया गया और ८ मई, १८३९ को शुजा को उस पर बिठलाया गया।

तोपों की सलामी के साथ शुजा शहर से चला। उसे उपहार दिये गये और सभी सेना उसके सामने से गुज़ारी गई।

महाराज की मुलाक़ातें—सन् १८३० में महाराज का उत्कर्ष अपने शिखर पर पहुँच गया था। समस्त पंजाब उनके अधीन था। उनके मन में सिंध प्रदेश जीतने का विचार काम कर रहा था। हरात के शासक कामरान ने अपना दूत उनके पास भेजा। हैदराबाद के निज़ाम ने उनके दरबार में उपहार भेजे। बलूचिस्तान से मित्रता की इच्छा के पत्र आये। महाराज ने काश्मीर के शाल इँगलैंड के बादशाह विलियम को भेजे जिस के बदले में उसने पाँच उत्तम घोड़े भेजे। बरनेस ये घोड़े ले कर सिंध के रास्ते आया। ईरान में रूस का रोब बढ़ने के कारण उसका उद्देश सिंध की कई अन्य बातें मालूम करना भी था। सिंध के अमीर बड़ी मुश्किल से रास्ता देने पर राज़ी हुए। बहावलपुर में बरनेस बहावलखाँ से मिला जिसके सौजन्य की उसने बड़ी प्रशंसा की है। बहावलखाँ ने उसे अपने दादा के नाम एलफिंस्टन का दिया हुआ प्रशंसा-पत्र दिखलाया। उसे एक घड़ी और एक पिस्तौल उपहार-स्वरूप दिये गये जिन्हें देख कर वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने अँगरेज़ दूत को छाती से लगाया।

जब बरनेस पंजाब में प्रविष्ट हुआ तब सिख सरदार उसकी आवभगत के लिए उपस्थित थे। लाहौर से पचीस मील पर छाँगामाँगा में उसका स्वागत किया गया। हाथियों पर भेंट हुई। महाराज ने इँगलैंड के बादशाह का कुशल-क्षेम पूछा। हर एक सरदार ने अशरफ़ियों की एक-एक थैली उसे दी। फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन ने स्वागत करते हुए कहा—"आप इसे अपना घर समझें। यह एक बाग़ है जिसके आप फूल हैं।

आपकी और हमारी सरकार की मैत्री ऐसी हो जायगी कि ईरान और रोम में इसकी चर्चा सुनाई देगी ।"

लाहौर में १८ जून को बरनेस का सार्वजनिक प्रवेश हुआ। फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन और राजा गुलाबसिंह साथ थे। सभी गलियाँ सवारों और प्यादों से सजी हुई थीं। हर जगह दर्शकों की भीड़ थी। राजा ध्यानसिंह क़िले के द्वार पर स्वागत के लिए उपस्थित था। जब बरनेस अपने बूट खोलने लगा तब अपने आप को उसने एक छोटे-से क़द वाले महामानव को बग़ल में पाया। महाराज के दोनों बेटों ने बरनेस के साथियों को छाती से लगाया। महाराज ने माला के अतिरिक्त बाज़ूबंद पहन रखा था। सरदारों ने जवाहरात। महाराज का रंग पीला था। बरनेस ने बादशाह के पत्र के अतिरिक्त घोड़े और गवर्नर-जनरल की ओर से एक गाड़ी पेश की। पत्र सुनहले थैले में था जिसके ऊपर मोहर लगी हुई थी। महाराज ने मोहर को हाथ लगा कर चुंबन किया और अज़ीज़ुद्दीन को फ़ारसी में पढ़ने की आज्ञा दी। आदर के लिए उस समय तोपों की सलामी दी गई। घोड़ों को देख कर महाराज बहुत प्रसन्न हुए; कहने लगे—"ये तो छोटे हाथी हैं!"

डेढ़ घंटे तक महाराज ने बातचीत की। इसमें उन्होंने सिंध-प्रदेश के भूगोल, सिंध-नदी की गहराई, इँग्लैंड के धन तथा शक्ति के संबन्ध में बहुत-से प्रश्न किये। इस प्रकार यह मुलाक़ात ख़तम हुई। एक दिन बरनेस शाहदरा जा रहा था। रास्ते में उसने महाराज को मैदान में बैठे हुए पाया। महाराज ने उसे बुला कर उससे देर तक बातें कीं। उसे यह भी बताया गया कि जहाँ पर वह बैठा है वहाँ अफ़ग़ानों ने एक समय अपना शिविर लगाया था।

२५ जुलाई को महाराज से बरनेस की एकांत में भेंट हुई।

तत्पश्चात् महाराज ने तीस-चालीस काश्मीरी तथा पहाड़ी लड़कियों के दल को बुलाया। ये सब नाचनेवाली थीं। इन्होंने लड़कों के कपड़े पहन रखे थे। सभी सुन्दर थीं। हर एक के पास तीर-कमान था। महाराज ने कहा—"यह भी मेरी एक रजमेंट है, परन्तु यह क़वायद नहीं करती।" दो लड़कियाँ उनकी अफ़सर थीं। एक को दस रुपये, दूसरी को पाँच रुपये दैनिक वेतन मिलता था। उनका तमाशा खतम हो जाने पर उन्हें हाथियों पर उनके घर भेज दिया गया। तत्पश्चात् महाराज ने अपने सैनिकों के संबन्ध में बातचीत शुरू की। उसे बताया गया कि हर एक सैनिक आठ दिन की खान-पान की सामग्री अपने कंधे पर ले जा सकता है और वे सड़कें, क़िले और पुल बनाना जानते हैं। फिर शराबों की प्रशंसा करने लगे कि वे मोतियों तथा हीरों से बनाई जाती हैं।

अगले दिन महाराज ने तोपखाने का निरीक्षण करवाया। इक्यावन तोपें थीं। हर एक पर पाँच हज़ार रुपया खर्च हुआ था। बरनेस की प्रार्थना पर अंतिम दिन, १६ अगस्त को, उसे कोहनूर हीरा दिखलाया गया। यह मुरग़ी के अंडे के आधे हिस्से के बराबर था। तत्पश्चात् औरंगज़ेब तथा अहमदशाह के हीरे दिखाये गये।

बिदा होते समय महाराज ने उसके गले में मोतियों की एक माला और उँगली में हीरे की अँगूठी पहनाई, शाल और काश्मीरी कपड़े खिलअत के रूप में दिये। एक तलवार उसकी कमर से बाँधी और बादशाह के नाम फ़ारसी में एक पत्र दिया। इसमें बरनेस को वक्तृत्व के बाग़ की बुलबुल बताया गया और घोड़े की नाल की प्रशंसा इस प्रकार की गई—"इसे देख कर पूर्णचन्द्र ने शरम के मारे अपना मुँह छिपा लिया।"

जानवरों में से चार घोड़ियाँ थीं, एक घोड़ा। उस घोड़े से, जो सन्तान-वृद्धि में सहायता देने के लिए भेजा गया था, कोई काम न लिया गया। उसे सुनहली जीन से सजा कर महल में खड़ा रखा जाता ताकि लोग आकर तमाशा देखा करें। घोड़ियों से भी कोई काम न लिया गया। गाड़ी भी निरर्थक समझ कर फेंक दी गई।

मार्च, १८३१, में एक फ्रांसीसी यात्री जैकमां अपने संग्रहालय के वास्ते भारत से सामग्री एकत्र करने के लिए लाहौर आया। उसे शालामार में रखा गया। उसने इसकी नहरों और फुहारों की बड़ी प्रशंसा की है। महाराज उससे घंटों बातें करते रहे। वह लिखता है—"महाराज हर एक बात जानना चाहते हैं। उनकी जिज्ञासा इतनी बढ़ी हुई है कि वह अन्य लोगों की उपेक्षा-वृत्ति को पूरा कर देती है। उन्होंने मुझसे हिंदुस्थान, इँग्लेंड, फ्रांस, नेपोलियन, बोनापार्ट, इहलोक, परलोक, ईश्वर, आत्मा, शैतान, स्वर्ग आदि के संबन्ध में हज़ारों प्रश्न किये।" यात्री की राय में रणजीतसिंह और नेपोलियन में बहुत साम्य पाया जाता था।

एप्रिल, १८३१, में दीवान मोतीराम, फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन और सरदार हरिसिंह का एक शिष्ट-मंडल बड़े लाट, गवर्नर-जनरल, के पास गया। वह भी मिलने के लिए बड़ा इच्छुक था। इसका कारण यह था कि रूस की आँखें ईरान पर लगी थीं। कमान वैड पञ्जाब में आया। भेंट के लिए रोपड़ निश्चित किया गया। महाराज सेना लेकर वहाँ पहुँच गये और सतलज के इस पार अपना शिविर लगाया। कई अँगरेज़ अफ़सर आये जिनको दस हज़ार रुपया और खिलअत दिया गया। सिख सरदार गवर्नरजनरल के पास गये। २६ अक्तूबर का दिन भेंट के लिए निश्चित हुआ। अचानक महाराज के मन

में विचार उत्पन्न हुआ कि पराये के इलाक़े में जाकर भेंट करना संकटपूर्ण है। उन्होंने बहुत रात गये ऐलार्ड को बुला कर कहा कि वे भेंट न करेंगे। ऐलार्ड ने बहुत समझाया; उनका संदेह दूर करने के लिए वह अपना सिर कटवाने के लिए तैयार हो गया। तत्पश्चात् महाराज ने जोतिषियों को बुलाया। उन्होंने अपनी पुस्तकों की सहायता से बताया कि महाराज अपने दोनों हाथों में एक-एक सेब रखें और विदेशी को मिलने पर पहले एक सेब दें। यदि वह उसे तुरंत ले लें तो भेंट से बहुत लाभ होगा।

सवेरे महाराज ने ऐलार्ड के साथ आठ सौ सैनिक पुल पार भेजे। उनके पीछे तीन हज़ार सवार निकले। अंत में बड़े-बड़े सरदारों के साथ वे स्वयं निकले। बसंती कपड़े पहन महाराज हाथी पर सवार थे। अँगरेज़ी शिविर के दोनों ओर अँगरेज़ सैनिक खड़े थे। उनमें से गुज़रते हुए महाराज हर उस चीज के संबन्ध में, जो उन्हें असाधारण दिखलाई देती, प्रश्न करते। गवर्नर-जनरल से मिलते ही उन्होंने सेब आगे किया जो उसने ले लिया। सारी पार्टी तंबुओं में प्रविष्ट हुई। स्वयं महाराज ने अपने हर एक सरदार को नाम लेकर बुलाया और उनको कुरसियों पर बिठलाने के बाद स्वयं स्थान ग्रहण किया। इसके बाद उपहार लाये गये। कलकत्ता, ढाका तथा बनारस के बने हुए सुंदर कपड़े, मोतियों की माला, जवाहरात से भरी थाली, बरमा के हाथी, हिसार के घोड़े—इन सब को महाराज ने ध्यान-पूर्वक देखा और लानेवालों को दो हज़ार की थैली इनाम दी। महाराज बहुत प्रसन्न हुए। अपने डेरे को लौटने लगे, परंतु घोड़ों के विषय में गवर्नर-जनरल से बातें किये बग़ैर न रह सके। वापस आकर महाराज ने तीन जड़ाऊ

कश्मीरदान भेजे! एक गवर्नर-जनरल, दूसरा उसकी मेम और तीसरा उसके मंत्री के लिए।

अगले दिन गवर्नर-जनरल ने जवाबी मुलाकात की। बड़ी शान से इसका प्रबंध किया गया। काश्मीर की चित्रकारीवाले तंबू सजाये गये। खड्गसिंह और शेरसिंह लेने के लिए आगे गये। पुल पर स्वयं महाराज मौजूद थे। गवर्नर-जनरल बैंटिंक को उन्होंने अपने साथ हाथी पर बिठला लिया। उसी समय तोपों की सलामी हुई। सैनिकों ने हथियारों से सलामी दी। महाराज को अँगरेजी बाजा बहुत पसन्द आया। उनका शामियाना मोतियों और हीरों से जड़ा था। फर्श रेशमी था। उस पर सोने-चाँदी का काम किया हुआ था। गवर्नर-जनरल को गद्दी पर बिठा कर महाराज दाईं ओर कुरसी पर बैठ गये। सरदारों ने अशर्फियों की भेंट चढ़ाई। स्वयं महाराज हर एक का परिचय कराते जाते थे। एक घंटा बाद नाचनेवाली लड़कियाँ लाई गईं। चलते समय उपहार प्रस्तुत किये गये। गवर्नर-जनरल के लिए एक सौ एक थालियों में काश्मीर तथा पंजाब के जवाहरात रखे थे। दस बंदूकें, एक तलवार, एक जड़ाऊ तीरकमान, सोने और चाँदी के बरतन, एक छपरखट, दो सुन्दर घोड़े और एक हाथी पेश किया गया। अत्तर तथा पान बाँटने के बाद काम समाप्त हुआ।

अगले दिन शाम को खेल, तमाशा और सेना का प्रदर्शन हुआ। ३१ अक्तूबर को तोपखाने के खेल हुए। तोप से एक छत्री पर गोला फेंका गया। ध्यानसिंह, सुचेतसिंह और गुलाबसिंह ने गेसबारी और तलवारबाजी के खेल किये। सरदार हरिसिंह नलवा, सेनानायक इलाहीबख्श, एलार्ड और वेंदुरा ने अपने-अपने करतब दिखलाये। अंत में महाराज की बारी आई। मैदान में पीतल का एक बरतन रखा गया। महाराज

ने अपना घोड़ा पूरी तेज़ी से दौड़ाते हुए तीन बार उसे अपनी तलवार की नोक से उठाया। बेंटिंक ने घोड़ा और सामान के साथ दो पाँच-पौंडर तोपें भेंट कीं। शाम को विदा होते समय लोहे का लटकने वाला पुल पेश किया गया जो इसी उद्देश से कलकत्ता में बनवाया गया था।

रात को मित्रता की संधि की गई। इसमें पुरानी शर्तों के साथ सिंध-नदी में जहाज़ चलाने की बात बढ़ा दी गई। महाराज ने अपनी इच्छा यह कह कर प्रकट कर दी कि सिंध-प्रदेश में बड़ा रुपया है, परन्तु वहाँ कुप्रबन्ध है और सेना के बग़ैर वह बड़ी आसानी से जीता जा सकता है। उन्होंने सम्मिलित विजय की तजवीज़ की। बेंटिंक ने महाराज से यह बात छिपा रखी कि उसने सिंध के अमीरों के पास अपना दूत भेजा है ताकि वे सिंध-नदी का निचला हिस्सा उन्हें जहाज़ चलाने को दें।

मुलाक़ात ख़तम हुई। दोनों पक्ष लौट गये। महाराज पहले कपूरथला ठहरे और वहाँ से १६ को लाहौर पहुँचे। दिसम्बर में कर्नल वेड लाहौर आया। उसने महाराज को सिंध के मिशन की सूचना दी और साथ ही सतलज में किश्तियाँ चलाने की अनुज्ञा माँगी। महाराज समझ गये कि अँगरेज़ सिंध-प्रदेश लेना चाहते हैं। उन्होंने वेड से कहा:—"सिंध पर हमारा बहुत ज्यादा अधिकार है।" फिर भी उन्होंने नदियों में किश्तियाँ चलाने की इजाज़त दे दी। एप्रिल, १८३८, में सिंध के अमीरों ने भी सिंध को किश्तियों के लिए खोल दिया।

कुँअर नौनिहालसिंह का ब्याह—सन् १८३५ में महाराज को अर्द्धांग हो गया। प्रतिदिन दो हज़ार रुपया महाराज

के सिरहाने रखा जाता। सबेरे वह गरीबों में बाँट दिया जाता। गौएँ, घोड़े, और कपड़े ब्राह्मणों को दान दिये गये। ज्वालामुखी और काँगड़ा के मंदिरों को बहुत-सा रुपया भेजा गया। कुछ दिनों के अन्दर वे बिलकुल चंगे हो गये। मुलतान से भजन गानेवाले बुलाये गये। वे महाराज को सदा प्रसन्न रखते।

इस वर्ष प्रसिद्ध अमेरिकन मेक्रेगर, जर्मन डाक्टर हांग-बरगर और बेगम समरू का नौकर वेंटन लाहौर आये। नैपाल के महाराज का वकील किशन पंडित, बीकानेर का वकील सरजू और तिब्बत के राजा का भाई भीमकाल भी लाहौर पहुँचे। फिर फ्रांस के बादशाह से उपहार लेकर ऐलार्ड लाहौर आया और फ़ारसी में एक कविता पढ़ी जिससे महाराज बहुत प्रसन्न हुए।

सन् १८३७ में श्यामसिंह अटारीवाला की लड़की के साथ कुँअर नौनिहालसिंह का ब्याह निश्चित हुआ। ब्याह का प्रबंध अमृतसर में किया गया, सिंध के कारण अँगरेजों से महाराज का संबंध अच्छा न था। फिर भी उन्होंने बड़े लाट को ब्याह पर आने का निमंत्रण भेजा और उसमें यह भी लिख दिया कि सिन्ध-विजय के लिए उनकी आँख इसी नौनिहाल पर लगी थी।

दीवान सावनमल ने १८३६ में लिख भेजा कि सिन्धियों के हमलों से तंग आकर उसने कोहजान पर क़ब्जा कर लिया है। अगले वर्ष मजारियों से कान का क़िला भी ले लिया गया। अँगरेज़ी सरकार को यह बुरा मालूम दिया। कप्तान वेड इसी उद्देश्य से महाराज के पास भेजा गया। महाराज ने कान का क़िला गिरा दिया, परंतु मजारियों को दबाये रखा। इस कारण अँगरेज़ी सरकार रुष्ट हो गई। फिर भी जंगी लाट, कमांडर

इन-चीफ़, सर हेनरी फ़ेन विवाह में सम्मिलित हुआ। हरी का पत्तन पर ज़री के कपड़े पहने राजा ध्यानसिंह उसके स्वागत के लिए उपस्थित था। गोबिन्दगढ़ से आगे मौज़ा कथानी में जंगी लाट के लिए तंबू गाड़े गये थे। मिश्र रामकिशन ने इक्कीस सौ मोहरें और मिठाई की पाँच सौ थालियाँ भेंट कीं।

६ मार्च को सवेरे रामबाग़ में महाराज से लाट की भेंट हुई। महाराज और अन्य सरदार बसंती कपड़े पहने हुए थे। महाराज की पगड़ी काश्मीरी थी। कोट में बटनों की एक क़तार थी। गला और बाज़ू मोतियों से सजे थे। प्रधान मंत्री ध्यानसिंह का लड़का हीरासिंह सबसे ज़्यादा सजा हुआ था। वह मूर्तिमान जवाहरात नज़र आता था।

महाराज ने जंगी लाट से कई विभिन्न प्रश्न पूछे—ब्रिटिश रजमेंटें कितनी हैं? हर एक रजमेंट में कितने अफ़सर हैं? कंपनी की कुल फ़ौज कितनी है? तोपें किस तरह बनाई जाती हैं? स्वयं लाट कितनी लड़ाइयों में सम्मिलित हुआ है? जंगी लाट को अन्य उपहारों के अतिरिक्त पाँच उत्तम घोड़े दिये गये। नाभा, जींद, पटियाला, और मालेरकोटला के नरेशों के अतिरिक्त पहाड़ी राजा भी इस अवसर पर बुलाये गये थे।

महाराज इस ब्याह को अद्वितीय बनाना चाहते थे। उसी दिन दोपहर को तमोल की रस्म हुई। नाचनेवाली अस्सी लड़कियाँ थीं। वे तीन-तीन, चार-चार मिलकर गाती थीं। महाराज और दुलहा एक वृक्ष के नीचे बैठे थे जिसमें बनावटी संतरे लगे हुए थे। सभी सरदारों ने अपनी-अपनी भेंट पेश की। सरदार ध्यानसिंह ने सवा लाख और सर हेनरी फ़ेन ने ग्यारह हज़ार रुपया पेश किया। दो घंटे तक यह रस्म जारी रही। पचास लाख रुपया तमोल में एकत्र हुआ।

७ मार्च को हरमंदिर में वर को सेहरा पहनाया गया।

पाँच सौ रुपया 'ग्रंथ' पर और सवा सौ अकालबुंगा पर चढ़ाया गया। ३ बजे अटारी का ओर बरात का प्रस्थान हुआ। महाराज दोनों ओर रुपये फेंकते जाते थे। लगभग छः लाख आदमी चारों ओर एकत्र हो गये थे। हाथी घोड़ों का ठिकाना नहीं था। बाजे बजते जाते और तोपें चलती जातीं। जब बरात शाम को अपने स्थान पर पहुँची तब सरदार श्यामसिंह ने महाराज को एक सौ एक, कुँअर खड़गसिंह को इक्यावन और हर एक सरदार को ग्यारह-ग्यारह मोहरें पेश कीं। नौ बजे रस्म समाप्त हुई। सारी रात नृत्य, गीत और आतिशबाज़ी होती रही। शराब का दौर शुरू हुआ। स्वयं महाराज गिलास को देखते और लाट को पिलाते।

८ मार्च को पाँच मील के अहाते में एक बाड़ा तैयार किया गया। उसके अस्सी दरवाज़े थे। इसके इर्द-गिर्द सैनिक खड़े थे। इसका प्रबंधक मिश्र बेलीराम था। फाटक पर खड़ा अफ़सर हर एक आने-जाने वाले को एक रुपया देता। सैनिक किसी मनुष्य को ख़ाली हाथ बाहर न जाने देते।

दायज में एक सौ एक घोड़े, एक सौ भैंसें, दस ऊँट, ग्यारह हाथी, सोने के गहने, जवाहरात, सोने-चाँदी के बर्तन, मुलतान का रेशमी कपड़ा, बनारस के कमख़ाब और पाँच सौ शाल दिये गये। एक एकड़ ज़मीन में स्त्रियों के कपड़े रखे थे।

लाहौर वापस आकर १२ मार्च की रात को शालामार बाग़ में एक बड़ा भोज किया गया। बाग़ को बड़ी सुन्दरता से प्रकाशित किया गया। हर दस-बारह गज़ के फ़ासले पर भिन्न-भिन्न रंगों के लैंप रखे थे जिनका प्रतिबिंब पानी में पड़ता। वृक्षों के साथ भी लैंप लटकाये गये। दूर से ये फूल मालूम देते। कभी इस बाग़ में मुग़ल बादशाह मौज किया

करते थे। अब हिंदू महाराज की बारी थी। अभी और समय आना था।

अगले दिन महाराज अपने सफरी मकान दिखाने के लिए अतिथियों को शहर ले गये। सड़क के किनारे कई कमरे बने हुए थे। इनके बाहर बेल, बूटे और फूल लगे हुए थे। महाराज कभी एक मकान में न रहते। सदा उसको बदलते रहते। उन का जीवन सैनिकों-जैसा था। कभी वे मुहिम पर होते, कभी दौरे पर। कूच के समय वे घोड़े पर बैठे-बैठे ही भोजन करते। घोड़े उन्हें बहुत प्यारे थे।

१४ मार्च को सर हेनरी फ़ेन महाराज से भेंट करने गया। दरबार में प्रवेश करने पर महाराज ने उससे प्रश्न शुरू किये—"ब्रिटिश सेना कितनी है? इँगलैंड की शक्ति कितनी है? क्या उसका रोब ईरान पर बढ़ रहा है? क्या ईरान से अँगरेजों को खतरा है?" उसने सब का उत्तर दिया। अंत में महाराज को एक पिस्तौल और एक तोप उपहार-स्वरूप भेंट की गई।

१६ मार्च को सिख सेना का निरीक्षण हुआ जिसमें कुल अठारह हजार सैनिक थे। अगले दिन अँगरेजी सेना का चौथा तथा सोलहवाँ रसाला और सत्रहवीं, अठारहवीं तथा बीसवीं रजमेंटों की आठ कंपनियों का निरीक्षण हुआ। अँगरेजी सेना का शिक्षण एवं अनुशासन देखकर महाराज हैरान रह गये; कहने लगे—"मेरे फ़्रांसीसी अफ़सर कितने झूठे हैं जो मुझे बताते हैं कि अँगरेज़ी सैनिक-शिक्षण कुछ नहीं, दिखलावा-मात्र है। आपने मुझे दिखलाया है कि कंपनियाँ कैसे बढ़ती और शत्रु पर आक्रमण करती हैं। कोई अचरज नहीं जो अँगरेज हर लड़ाई में विजय प्राप्त करते रहे हैं।"

एक घटना से उनको विशेष आश्चर्य हुआ। जब तोप-

खानेवालों ने अपने अभ्यास का प्रदर्शन किया तब एक छः पौंडर तोप गाड़ी से उतार कर जमीन पर फेंक दी गई। उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये। फिर इन टुकड़ों को एकत्र करके तरतीब में रख दिया गया। अब कुछ आदमी और घोड़े उसे दौड़ाने लगे। यह सब कुछ पाँच मिनट में किया गया। पहली बार तो महाराज को इस बात पर विश्वास न हुआ कि यह तोप खोलने के बाद गाड़ी पर चढ़ाई गई है। इस कारण उनके सामने दोबारा वही प्रदर्शन किया गया। अब महाराज को विश्वास हुआ। वे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने सैनिकों में बाँटने के लिए ग्यारह हजार रुपया प्रदान किया।

१६ मार्च को महाराज ने अँगरेजी महिलाओं को भोज दिया। २० को वे महाराज की रानियों से मिलने गईं। महाराज के सिवाय वहाँ कोई पुरुष न था। उस दिन सारा बुर्ज फूलों से सजाया गया।

२२ मार्च को महाराज ने होली का त्योहार मनाया और सर हेनरी फ़ेन पर केसर और रंग डाला। सभी सरदार गुलाल से रँगे गये। कंधार का अफ़गान संदेश-वाहक गुलमुहम्मदखाँ संयोग से वहाँ आ गया। उसके सभी कपड़े और चेहरा रँग दिया गया। वह लाज के मारे भाग निकला। इस पर सभी हँसने लगे।

२७ मार्च को सर हेनरी फ़ेन महाराज से उनके उद्यान-गृह में मिला। उपहार देकर वह महाराज से विदा हुआ। उसी समय बारह सौ पठानों को साथ लेकर पीरमुहम्मदखाँ महाराज को प्रणाम करने के लिए आया। उसने दो घोड़े महाराज की भेंट किये। सभी पठान कवच और बूट पहने ए थे हु।

जन तथा धन—संसार में कोई भी मजहबी या राजनीतिक कार्य करने के लिए दो साधनों की आवश्यकता हुआ करती है—योग्य मनुष्य और धन। योग्य मनुष्य धन-प्राप्ति का कोई न कोई ढंग निकाल ही लिया करते हैं। इन दोनों साधनों के बग़ैर कोई कार्य पूरा नहीं किया जा सकता। महाराज रणजीतसिंह इस सिद्धान्त को समझते थे। धन के सम्बन्ध में कुछ इतिहास-लेखकों की राय है कि महाराज को इसका बहुत ज्यादा लोभ था। लोभ का अर्थ यह है कि धन-प्राप्ति के लिए वे कभी-कभी ऐसे ढंग काम में लाते जिन्हें जनसाधारण उचित न समझते। परंतु महाराज जानते थे कि रुपये के बग़ैर वे साम्राज्य के भवन का निर्माण नहीं कर सकते। इस कारण जहाँ कहीं उन्हें अवसर मिला, उन्होंने रुपया प्राप्त करने में दरेग़ नहीं किया। आरम्भ से अन्त तक उनका जीवन देखने पर ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जिनमें महाराज ने धन-प्राप्ति के लिए जबरदस्ती की। परन्तु यह जबरदस्ती तो उस युग में एक साधारण रिवाज था। यदि महाराज ऐसा न करते तो विभिन्न मिसलों को मिला कर एक साम्राज्य की नींव न रख सकते। मिसलों का नियंत्रण करने के लिए उन्होंने साधनों के औचित्य पर कभी बहुत ध्यान न दिया। यही बात हम उन कुछ उदाहरणों में देखते हैं जिनमें महाराज ने विशेष व्यक्तियों से रुपया प्राप्त किया।

यदि नैतिक दृष्टि से देखा जाय तो भी इस नीति में इतनी बुराई नहीं मालूम देती। जो आदमी अपने लिए या अपनी संतति के लिए बहुत रुपया एकत्र करते हैं उनके साधन नैतिक नियम के अनुसार प्रायः ठीक नहीं होते। असाधारण धन या संपत्ति किसी न किसी अधर्म, या दूसरों का अधिकार दबाये, बग़ैर एकत्र नहीं होता। यह सम्भव है कि जो मनुष्य

एक समय रुपये का स्वामी हो उसने बेईमानी न की हो। परन्तु धन के एकत्रीकरण के इतिहास पर विचार करने से प्राय: यही मालूम होता है कि उसके पिता, दादा या अन्य किसी पुरखे ने नैतिक नियम को भंग करके ही उसकी नींव रखी थी। इस कारण यदि व्यक्ति को अनुचित साधनों की सहायता से धन एकत्र करने का अधिकार है तो समाज को भी अधिकार है कि आवश्यकता होने पर उस रुपये को सब के हित के लिए उनसे छीन ले। महाराज रणजीतसिंह ने इस कारण ऐसे धन की जब्ती में कोई नैतिक बुराई न देखी। इसमें संदेह नहीं कि यदि वे प्रजा में राष्ट्र-भक्ति की भावना का विकास करके धनवानों को अपना रुपया राष्ट्र-हित के लिए देने के लिए प्रेरित करते तो उन्हें अवश्य इसमें सफलता मिलती।

सन् १८१२ में एक बुड्ढा सेना-नायक जयमलसिंह मर गया। महाराज ने उसकी सारी सम्पत्ति जब्त कर ली। उसका बहुत-सा रुपया अमृतसर के कुछ महाजनों के पास जमा था। महाराज ने उन्हें आज्ञा दी कि वे उस रुपये का हिसाब देकर सरकारी कोष में जमा करा दें। १८२२ में अमृतसर का प्रसिद्ध सराफ़ रामानन्द मर गया। महाराज ने उसे नमक की खान का ठेका दे रखा था। मरने पर वह तिरसठ लाख रुपया छोड़ गया। महाराज ने इसे जब्त कर इसकी सहायता से लाहौर के गिर्द दीवारें बनाने का आदेश दिया। १८३३ में उनकी सास रानी सदाकौर, जो अमृतसर में नजरबंद थी, मर गई। महाराज ने तोशाखाना के अफ़सर बेलीराम को आदेश किया कि अमृतसर जाकर उसकी सारी सम्पत्ति सँभाल ली जाय। १८३४ में अमृतसर के खत्री शिवदयाल की मृत्यु हो गई। उसने बहुत-सा रुपया जमा कर रखा था। महाराज ने उसके बेटे को गिरफ्तार करके इससे एक लाख रुपया प्राप्त किया। ग़ुलाम

मुहैनुद्दीन काश्मीर के सूबेदार का सहायक रहा था। इसने अत्याचार करके बहुत-सा रुपया इकट्ठा किया। महाराज ने उसे हटाकर उसकी सारी सम्पत्ति जब्त कर ली। महाराज को मालूम हुआ कि उसने होशियारपुर में एक पीर की क़ब्र के नीचे लाखों रुपये गाड़ रखे हैं। इस क़ब्र पर क़ुरान पढ़ने के लिए उसने खास मुल्ला नियुक्त कर रखे थे। मिश्र रूपलाल ने क़ब्र खोद कर नौ लाख रुपया निकाला जिसपर महाराज ने शेख से कहा—"तुम्हारा पीर सचमुच बड़ा वली है। उसकी तो सारी हड्डियाँ सोना बन गई हैं।" १८३४ में सुजानपुर के एक कारदार रामसिंह की मृत्यु हुई। उसका बीस हजार रुपया जमा था। महाराज ने उसकी जब्ती का हुक्म दिया। इसी प्रकार १८३५ में आनन्दपुर के सोढी अतरसिंह की जायदाद ज़ब्त कर ली गई। इसी वर्ष सिंधियाँ-वालिया सरदार वैसाखासिंह के मर जाने पर उसके बेटे अतरसिंह से पचास हजार रुपया वसूल किया गया।

योग्य मनुष्यों के निर्वाचन में महाराज बड़े सिद्धहस्त थे। ऐसा मालूम देता है कि उनके अंदर एक विशेष शक्ति पाई जाती थी जिससे वे मानव के अंदर उसकी विशेषता, योग्यता और गुण को तुरन्त पहचान लेते थे। जितने आदमी महाराज के निकट हो गये वे सबके सब उनके जीवन के अंत तक दिल से उनके भक्त और साम्राज्य के हितैषी रहे। कहते हैं, रेत में पड़ कर पारा सोने के कणों को अपनी ओर खींच लेता है। इसी प्रकार पद-दलित और पतन की दलदल में फँसे हुए पंजाब में से विशेष योग्यता के मानव महाराज के आकर्षण से उनकी ओर खिंच आये। लुहार लोहे और सुनार सोने को परखना जानता है। जौहरी बहुमूल्य पत्थरों और काँच के टुकड़ों में से हीरे और मोती चुन लेता है। मानवी गुणों का मालिक ही

मनुष्यों के गंदे ढेर में से योग्य मनुष्य चुन सकता है। महाराज ने भी अपने लिए ऐसे मनुष्य चुन लिये।

विचित्र बात यह है कि जिन बड़े आदमियों ने पंजाब का हिन्दू साम्राज्य बनाने में महाराज रणजीतसिंह का साथ दिया वे प्रायः सिख नहीं थे। उन्हें सिखों में से ऐसा कोई योग्य आदमी न मिल सका। जितने सिख सरदार खालसा फ़ौज के अफ़सर थे उनमें कोई भी, सिवाय हरिसिंह नलवा के, पहले दर्जे का आदमी न था। सरदार हरिसिंह भी खत्री थे। अमृतसर ले लेने के पश्चात् महाराज ने सरदारों में पद तथा उपाधियाँ बाँटीं। कई एक सिख सरदारों को भी उनके लिए चुना गया। उनमें दलसिंह मजीठिया, निहालसिंह अटारीवाला, बाजसिंह और हरिसिंह नलवा थे। अकाली फूलासिंह बड़ा बहादुर और अकालियों का नेता था। परन्तु महाराज को इस बात पर कभी विश्वास न हुआ कि वह अनुशासन में रहकर आज्ञा-पालन करेगा। एक बार उसने निहालसिंह अटारीवाला को साथ लेकर मालवा में विद्रोह कर दिया। महाराज ने दीवान मोतीराम को सेना देकर भेजा। वह उन दोनों को कोटकपूरा से गिरफ्तार करके लाहौर लाया। सिख सरदारों में से मजीठा के देसासिंह को निहालसिंह के साथ पाँच सौ का नायक बनाया गया। उसने महाराज की पर्याप्त सेवा की। महाराज ने उसे कई मुहिमों पर भेजा। इनमें से एक का सम्बन्ध १८१६ में पहाड़ी राजाओं से राजस्व-प्राप्ति से था। कलौर के राजा ने, जिसकी राजधानी बिलासपुर अँगरेज़ों की ओर थी, राजस्व देने से इनकार किया। देसासिंह ने उसके तीन बड़े क़िले-अकालगढ़, अचरौटा आदि-ले लिये। राजा सतलज पार भाग गया। देसासिंह ने बिलासपुर गिर्द घेरा डाल दिया। अँगरेज़ी सरकार के हस्तक्षेप करने

पर महाराज ने देसासिंह को वापस बुला लिया। एप्रिल १८३२ में यह वृद्ध सरदार मर गया। उसके स्थान में उसका बेटा लहणासिंह सरदार नियुक्त हुआ। १८४४ तक यही रावी और सतलज के बीच के प्रदेश का अफ़सर और अमृतसर के हर-मंदिर का निरीक्षक था।

महाराज रणजीतसिंह ने अपना साम्राज्य बनाने में मजहब का विचार बिलकुल उड़ा दिया। उन्हें जहाँ कहीं योग्यता नजर आई उसे वहीं से ले लिया। उनके लिए काम करनेवाले अधिकतर हिंदू थे। अपने मुसलमान कर्मचारियों पर भी महाराज को भरोसा था। जीवन के पिछले भाग में जब उन्हें सेना को विशेष शिक्षण देने की आवश्यकता हुई तब योरपीय अफ़सरों को भी महाराज ने अपने यहाँ नौकर रखा।

कुंजाह के दिवान—सबसे अधिक उल्लेखनीय कुंजाह (जिला गुजरात) का दीवान-घराना है। महाराज रणजीतसिंह के वंश से उतर कर इसी घराने ने पंजाब का राज्य बनाने में भाग लिया। दीवान मोहकमचंद का बेटा दीवान मोतीराम, जिसे महाराज ने लाहौर-नगर की दीवारें सुदृढ़ बनाने के लिए एक लाख रुपया दिया। स्वयं दीवान मोहकमचंद अपने युग का सर्वश्रेष्ठ राजनीतिज्ञ तथा सेनानायक था। वह कुंजाह के एक खत्री दूकानदार बैसाखाराय नव्वड़ का लड़का था। गुजरात के सिख शासक साहबसिंह का वह परामर्श-दाता बन गया। एक बार रुष्ट होकर साहबसिंह ने उसे रामनगर के क़िले की खाई में डालने को आज्ञा दे दी। सिख सैनिक उसे पकड़कर खाई की ओर ले जा रहे थे, जब कुंजाह के पास के एक मुसलमान चौधरी ने उसे छुड़वाकर साहबसिंह के इलाक़े से बाहर कर दिया।

महांसिंह के पास सुखजीवन का बेटा भोले रहा करता था। सुखजीवन का घराना जब क़त्ल कर दिया गया तब सुखजीवन जिला गुजरात के एक गाँव में रहने लगा। मियाँसिंह ने उसके धन की ख्याति सुनकर उसका सारा माल-असबाब जा लूटा और भोले को अपने साथ कर लिया। मोहकमचंद का हाल सुनकर भोले ने मियांसिंह के पास उसकी सिफ़ारिश की। धीरे-धीरे मोहकमचंद मिश्रांसिंह का दीवान बन गया। रणजीतसिंह के राज्य-काल में उसने बहुत उन्नति की। १८०८ में जब मेटकाफ़ अँगरेजी सरकार का प्रतिनिधि बनकर पंजाब आया तब मोहकमचंद महाराज का बड़ा परामर्शदाता था। इसी ने महाराज को यह मंत्रणा दी कि संधि करने से पूर्व यमुना का इलाक़ा अपने क़ब्ज़े में ले लेना चाहिए। इसी के अनुसार महाराज ने साईंवाल, चाँदपुर, झंडा, धारो, बहरामपुर आदि जीत कर मोहकमचंद के नाम जागीर कर दिये। १८१० में मोहकमचंद ने भिंबर और राजोरी जीते। उसी वर्ष जालंधर, फिलौर, पट्टी आदि पर अधिकार करके उसने तीन लाख का प्रदेश महाराज के राज्य के साथ मिलाया। इसपर मोहकमचंद को दीवान की उपाधि, फिलौर बतौर जागीर, एक हाथी, सुनहला हौदा, एक सुनहली ज़ीन और तलवार पुरस्कार के रूप में दिये गये।

सन् १८११ में दीवान मोहकमचंद ने राजौरी पर हमला किया और सुलतानखाँ को क़ैद करके वह लाहौर ले आया। तत्पश्चात् वज़ीर फ़तहखाँ के साथ सेना लेकर उसने काश्मीर पर चढ़ाई की। फ़तहखाँ ने काश्मीर जीत लिया और सिख सेना को खाली हाथ लाहौर लौटना पड़ा। इसका बदला लेने के लिए महाराज ने अटक पर अधिकार करने का निश्चय किया और दीवान मोहकमचंद को सेना दे कर भेजा। उसने हज़ारो

में १३ जुलाई, १८१३, को पठानों पर बड़ी विजय प्राप्त की और अटक के प्रदेश को महाराज के राज्य में सम्मिलित कर दिया।

जब १८१४ में महाराज ने काश्मीर को सेनाएँ भेजीं तब दीवान मोहकमचंद बीमार था। इस कारण उसका पोता दीवान रामदयाल उसके स्थान में काश्मीर भेजा गया। दीवान मोहकमचंद उसी वर्ष अक्तूबर में रोग के कारण फिल्लौर में परलोक सिधार गया। इससे महाराज के राज्य का एक बड़ा भारी स्तंभ गिर गया। उसकी बुद्धिमत्ता, वीरता, सच्चरित्रता आदि गुण इतने उच्चकोटि के थे कि सभी सरदार उसका मान करते थे।

दीवान मोहकमचंद के स्थान में उसका बेटा मोतीराम दीवान नियुक्त हुआ। उसे जालंधर का सूबेदार बना कर फिल्लौर का किला उसके हवाले किया गया। दीवान रामदयाल तब फौज का सबसे बड़ा सेनापति नियुक्त किया गया। काश्मीर की विजय में दीवान रामदयाल की वीरता सबसे बाजी ले गई। और दीवान मोतीराम को काश्मीर का पहला सूबेदार बनाया गया। इसके पश्चात् दीवान रामदयाल और श्यामसिंह अटारीवाला हजारा की मुहिम पर भेजे गये।

दीवान मोतीराम का दूसरा बेटा कृपाराम, हरिसिंह नलवा और मिश्र दीवानचंद के साथ पेशावर, की मुहिम पर भेजा गया। नौशहरा की लड़ाई में उसने बड़ा काम किया। तत्पश्चात् दीवान उसे जालंधर का शासक बना दिया गया। काश्मीर में पहले भीमसिंह और फिर चुन्नीलाल भेजे गये। दोनों के असफल रहने पर महाराज ने दीवान कृपाराम को काश्मीर का शासक नियुक्त किया। वह वहाँ बहुत योग्य एवं सर्वप्रिय सिद्ध हुआ। उसने अमृतसर रामबाग की नींव रखी।

सन् १८२७ में दीवान मोतीराम और फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन उपहारों के साथ लार्ड ऐमहर्स्ट के पास शिमला भेजे गये। इनके बदले में बड़े लाट ने महाराज को उपहार भेजे जो अमृतसर के रामबाग़ में एक बड़ा दरबार करके लिये गये। तब महाराज की सेना बसंती गण-वेष पहने खड़ी थी। एप्रिल, १८३१, में दीवान मोतीराम, फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन और सरदार हरिसिंह का शिष्ट-मंडल लाट के पास भेजा गया।

डोगरा घराना—सन् १८११ में ख़ुशहाला नाम का एक गौड़ ब्राह्मण लाहौर आकर सेना में सैनिक के रूप में भर्ती हो गया। कुछ दिन बाद वह शरीर-रक्षकों में चला गया। महाराज ने उसे एक बार गाते हुए सुन लिया। उससे इतने प्रसन्न हुए कि उसे ड्योढ़ीबान नियुक्त कर दिया। १८१२ में वह ख़ुशहाला से ख़ुशहालसिंह बन गया। अपने भतीजे तेजराम को बुला कर उसने अपना नायब बनवा लिया। इसका नाम भी बाद में तेजसिंह हो गया। ख़ुशहालसिंह का भाई रामलाल महाराज की नज़र में बहुत चढ़ गया। महाराज उसे सिख बनाना चाहते थे, परंतु वह रात को पंजाब से भाग गया। इससे महाराज ख़ुशहालसिंह से नाराज़ हो गये। उसे ड्योढ़ी से हटाकर ध्यानसिंह नाम के डोगरा राजपूत को ड्योढ़ीबान बना दिया।

ध्यानसिंह के दो और भाई थे—गुलाबसिंह और सुचेतसिंह। ये सब बतौर अरदली भरती हुए और धीरे-धीरे उन्नति करने लगे। ध्यानसिंह महाराज का बड़ा मरजीदान बन गया। गुलाबसिंह को जम्मू-काश्मीर में विद्रोह दबाने के बदले जम्मू बतौर जागीर प्रदान किया गया। सुचेतसिंह दरबारी ही रहा। तीनों भाइयों को क्रमशः राजा की उपाधि दी गई।

ध्यानसिंह का बेटा हीरासिंह अभी छोटा ही था कि महाराज उससे पुत्रवत् प्रेम करने लगे। उसकी आयु बारह वर्ष की थी जब राजा ध्यानसिंह की इच्छा हुई कि उसका ब्याह राजा संसारचंद की बेटी से कर दिया जाय। राजा संसारचंद का बेटा अनुरुद्धचंद लाहौर आया। उसकी दो बहनें साथ थीं। अनुरुद्धचंद पहले नहीं मानता था। दबाव डालने पर वह राजी हो गया, लेकिन उसकी माता लड़कियाँ लेकर सतलज पार चली गई। थोड़ी देर बाद अनुरुद्धचंद और उसकी माँ, दोनों, मर गये। तब महाराज ने नादौन जाकर उनकी संपत्ति पर अधिकार कर लिया।

डोगरा सरदार कुंजाह के दीवानों से बहुत ईर्ष्या करते थे। ज्यों-ज्यों दीवानों के घराने का अपकर्ष होता गया, डोगरा सरदार पंजाब का शासन सँभालने लगे। महाराज के जीवन के अंतिम भाग में राजा ध्यानसिंह को ही दरबार में सारा अधिकार था। इस घराने का बाक़ी हाल हमारे सामने महाराज की मृत्यु के बाद आयगा।

मिश्र दीवानचंद—युद्ध के द्वारा जिस मनुष्य ने महाराज की सबसे अधिक सेवा की वह मिश्र दीवानचद था। वह ज़िला गुजराँवाला का ग़रीब ब्राह्मण था। उसने कोई शिक्षा न प्राप्त की थी। प्रकृति ने उसे शारीरिक बल का मॉडल बनाया था। कहते हैं, अपने गाँव में दीवानचन्द ने एक साधु की सेवा की जिसपर उसने धनुर्विद्या सिखलाई। दीवानचन्द का निशाना कभी न खाली गया था। वह तोपख़ाने में भरती हुआ। महाराज ने उसकी योग्यता पहचान कर उसे तोपख़ाने का सबसे बड़ा अफ़सर बना दिया। १८१७ में उसे दीवान मोतीराम, भवानीदास और हरिसिंह नलवा के साथ मुलतान भेजा गया, परन्तु सब को असफल लौटना पड़ा।

सन् १८१८ में महाराज ने मिश्र को ज़फ़रजंग, अर्थात् 'युद्धवीर' की उपाधि देकर पचीस हज़ार सेना के साथ मुलतान भेजा। मिश्र ही ने मुलतान को जीता। मार्च १८१९ में वह सेना लेकर काश्मीर की ओर गया। पहले उसने पुणछ के राजा को परास्त किया। जुलाई में पठानों को पराजित करके काश्मीर पर अधिकार कर लिया। १८२० में मिश्र को बटाला भेजा गया जहाँ उसने रानी सदाकौर से बटाला का क़ब्ज़ा लिया।

कहा जाता है कि अन्य सरदारों की ईर्ष्या के कारण मिश्र दीवानचन्द को नौशहरा की लड़ाई में पीछे रखा गया। परन्तु इस लड़ाई की सफलता का बड़ा कारण उसका तोपखाना था। १८२४ के अंत में मिश्र लाहौर में पक्षाघात से मरा। सारा दरबार उसकी अरथी के साथ गया। उसे चन्दन से जलाया गया। अरथी के लिए स्वयं महाराज ने अपना शाल दिया। उसकी मृत्यु पंजाब के राज्य के लिए शोक का कारण थी। मिश्र ने महाराज के लिए मुलतान, काश्मीर और मनकीरा जीता था। मिश्र दीवानचन्द को ही महाराज के दरबार में हुक्का पीने की छुट्टी थी। स्वयं महाराज ने उसे एक सुनहला हुक्का बनवा कर प्रदान किया था

वीर हरिसिंह नलवा—हरिसिंह नलवा गुजराँवाला में जन्मे। लड़कपन में स्वयं रणजीतसिंह के साथ खेला करते थे। महाराज को उनसे बहुत प्रेम था। १८०५ में वे साधारण सैनिक से आठ सौ प्यादों के सवार बना दिये गये। सारा जीवन वे लड़ाइयाँ लड़ते रहे। वे बिलकुल ही जंगी आदमी थे। एक बार उन्हें काश्मीर का सूबेदार बनाकर भेजा गया। उन्होंने युसुफ़-ज़ई के पठानों को क़ाबू में किया, दरबंद तथा जहाँगीरा के पास उनके साथ लड़ाइयाँ कीं और अटक के युद्ध-क्षेत्र में

पठानों को बुरी तरह हराया। उनका समय अधिकतर पठानों को परास्त करने में व्यतीत हुआ। अफ़रीदियों को उन्होंने अनेक बार पराजित किया। हज़ारा के क़बीलों की उद्दंडता को उन्होंने ही कुचला। कुँअर नौनिहालसिंह के साथ पेशावर पर हमला करके उन्होंने नगर पर अधिकार किया। उन्होंने जमरोद के क़िले पर क़ब्ज़ा किया और पठानों को बड़ी भारी हार दी। खैबर के समीप लड़ाई करके उन्होंने पठानों को भगा दिया। परन्तु १८३७ की इस लड़ाई में उन्हें मर्मभेदी ज़ख़्म लगा जिससे वे बच न सके।

उनकी मृत्यु का कारण उनकी वीरता थी। उनमें अद्वितीय साहस था और वे उसका शिकार हुए। वे पठानों के घोर शत्रु थे। उनको वे कायर और घृणास्पद समझते थे। पठान उनके नाम से डरते थे। पेशावर, काबुल आदि में अभी तक हौआ की जगह 'हरिया' (हरिसिंह) का नाम लेकर माताएँ बच्चों को डराती हैं।

नलवा के समय में गुरु गोविंदसिंह की यह भविष्यवाणी पूर्ण हुई—

चिड़ियों से मैं बाज मराऊँ,
तभी नाम गोविंदसिंह पाऊँ।

हिन्दू चिड़ियों के समान मरने और मारने से डरते थे। गुरु गोविंदसिंह ने उनको मरने की शिक्षा दी और उनके मन से मृत्यु का भय दूर किया। जब हिन्दू कायर थे तब पठान शेर थे। जब मृत्यु से लापरवाह होकर हिन्दू शेर बने तब पठान कायरों की तरह उनके आगे-आगे भागने लगे। गुरु गोविन्दसिंह ने हिन्दुओं को मरना सिखलाया। वीर वैरागी और उनके पश्चात्

हरिसिंह नलवा, रणजीतसिंह आदि ने उनको मारने की शिक्षा दी।

फ़क़ीर भाई—फ़क़ीर नूरुद्दीन और अज़ीज़ुद्दीन, दोनों मुसलमान भाई, महाराज के विश्वास-पात्र थे। लाहौर लेते ही महाराज ने उनको अपने दरबार में ले लिया और मरते दम तक उन्होंने महाराज का साथ नहीं छोड़ा। नूरुद्दीन हकीम था। रोग-ग्रस्त होने पर महाराज का इलाज वही करता। १८०४ में उसे गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया गया।

अज़ीज़ुद्दीन प्रबन्ध के हर मामले में महाराज को परामर्श देता और महाराज प्रायः उसकी सलाह पर चलते। दूत के रूप में अज़ीज़ुद्दीन कई बार अँगरेज़ लाट के पास गया।

दोनों भाइयों ने लड़ाइयों में कम भाग नहीं लिया था। जहाँ कहीं ज़रूरत होती, अज़ीज़ुद्दीन सेना के साथ जाता और अफ़सर के रूप में अन्य सरदारों की तरह अपने कर्त्तव्य का पालन करता। १८१२ में उसे अटक का क़िला सर करने के लिए भेजा गया। पेशावर की मुहिम में वह महाराज के साथ था। दोस्तमुहम्मद ने अज़ीज़ुद्दीन को क़ैद कर लिया, क्योंकि उसे ख़याल था कि उसे छुड़ाने के लिए महाराज कड़ी से कड़ी शर्तें स्वीकार कर लेंगे। अज़ीज़ुद्दीन ने मज़हबी पक्षपात का कभी विचार न किया और महाराज का पूर्णतया राजभक्त बना रहा। दोनों भाई राजनीतिक दृष्टि से पंजाब के हितैषी थे।

भवानीदास आदि—सन् १८०८ में भवानीदास शाहशुजा का अफ़सर-माल था। वह अहमदशाह के परामर्श-दाता ठाकुरदास के साथ काबुल से लाहौर आया। महाराज ने भवानीदास को अपने यहाँ माल का बड़ा अफ़सर नियुक्त कर दिया।

उसके आने से पूर्व हिसाब नियमपूर्वक न रखा जाता था। सारा हिसाब अमृतसर के सराफ़ रामानन्द के सुपुर्द था। इसी वर्ष महाराज ने कर्मचन्द को मोहर का अफ़सर नियुक्त किया। लाहौर का रत्नचन्द दाढ़ीवाला इसका बेटा था।

सन् १८१३ में महाराज ने सुना कि देहली में एक पंडित गंगाराम बड़ा राजनीतिज्ञ है और वह सेंधिया के पास भी नौकर रह चुका है। महाराज ने उसे बुलाकर सरकारी मोहर उसके हवाले कर दी। गंगाराम ने आबकारी का प्रबन्ध बहुत अच्छा किया। १८२६ में उसके मर जाने पर उसका स्थान पंडित दीनानाथ को मिला। १८३४ में भवानीदास की मृत्यु पर उसका पद भी दीनानाथ को दिया गया।

योरपीय अफ़सर—मार्च १८२२ में दो योरपीय यात्री ईरान से होते हुए लाहौर आये। इनमें से एक इटली का वेंटुरा था और दूसरा फ्रांस का एलार्ड। उन्होंने मुसलमानी वेष पहन रखा था। पहले उन्होंने अपनी बातें फ़ारसी भाषा में बताईं। महाराज ने आज्ञा दी—"तुम अपनी-अपनी भाषा में सब बातें लिख कर दो।" वे कागज़ लुधियाना में अँगरेज़ एजेंट के पास भेजे गये। वे अनुवाद और उनकी बातें परस्पर मिलती थीं। महाराज को संतोष हो गया। उन्होंने दोनों को सेना में सैनिक-शिक्षण देने पर लगा दिया। थोड़े ही समय में उन्होंने फ़ौज को योरपीय ढंग पर ऐसा ढाल दिया कि महाराज उनसे प्रसन्न हो गये। अब उन्हें अनारकली की क़ब्र के पास रहने के लिए स्थान दिया गया।

चार वर्ष के पश्चात् दो अन्य योरपीय, कोर्ट और ऑवी-ताबील लाहौर आये। इनमें से पहला फ्रांसीसी था। इसे कोर्ट कहा जाता। दूसरा इटली का रहनेवाला था। इसे लोग आवी-

सवेला पुकारते। धीरे-धीरे उन्नति करते हुए ये सेना-नायक बन गये। महाराज के सैनिक नया वेष पहनने और नये तरीक़े अख्तियार करने से झिझकते थे। इस पर स्वयं महाराज ने सैनिक गण-वेष पहना और क़वायद शुरू की ताकि सारे सैनिक अनुकरण करें। एक और अफ़सर एलेक्ज़ांडर गार्डिनर था।

विभिन्न अफ़सरों की सहायता से महाराज के पास पचास हज़ार शिक्षण-प्राप्त सेना और एक लाख अन्य सैनिक तैयार हो गये। लाहौर और अमृतसर में तोपें ढालने और बारूद को मेगज़ीन बनाने का प्रबन्ध किया गया। वेंटुरा और एलार्ड रसाले के बड़े अफ़सर थे, आवीतबेला प्यादा फ़ौज और कोर्ट तोपखाने का। इनमें से हर एक का वेतन दो और तीन हज़ार रुपये के बीच में था। इनको नौकर रखते समय महाराज ने इनसे प्रतिज्ञा ली कि वे गोमांस नहीं खायँगे, दाढ़ी नहीं कट-वायेंगे और तंबाकू नहीं पियेंगे। पहली दो बातें मान लेने पर तीसरी माफ़ कर दी गई। एक मत यह भी है कि तीसरी शर्त विवाह के सम्बन्ध में थी। हर एक विदेशी कर्मचारी के लिए भारतीय स्त्री से ब्याह करना आवश्यक था। एलार्ड, ऑवीताबील और कोर्ट ने इस देश की स्त्रियों से ही ब्याह किये। अकेले वेंटुरा का विवाह योरपीय स्त्री से हुआ।

बीमारी और मृत्यु—अख़ीर नवंबर १८३८ में जब लार्ड आकलेंड ने महाराज से फ़ीरोज़पुर में भेंट की तब उनका स्वास्थ्य अच्छा न था। तत्पश्चात् उनका स्वास्थ्य बिगड़ता ही गया। इसका एक बड़ा कारण शराब पीने की आदत थी।

यों महाराज के शरीर में असाधारण सहन-शक्ति थी। पंजाब की अवस्था बिगड़ी हुई थी। इसमें से एक बड़े राज्य



महाराज रणजीतसिंह का एक सेनापति--एलेक्जान्डर गार्डिनर

को बनाने का काम महाराज के लिए इतना भारी सिद्ध हुआ कि उनका शरीर इसके नीचे दब गया। महाराज को बहुत-से सरदारों, खानों और नवाबों को सर करना पड़ा। उन्होंने अपने राज्य की अनेक त्रुटियों तथा निर्बलताओं को दूर किया। इन सब कामों के कारण उन्हें अपने जीवन के अल्प काल में भिन्न-भिन्न प्रकार की चिंताओं का सामना करना पड़ा। इनके चिंतन मात्र ही से आदमी महाराज की असाधारण शक्ति का अनुमान लगा सकता है।

रोग के निवारण के लिए सभी तरह के इलाज किये गये। लाहौर और अमृतसर के सारे हकीम और जोगी एक स्थान में बुलाये गये। इसी प्रकार ज्योतिषी भी आये ताकि किसी से कुछ लाभ हो जाय। मोतियों आदि से एक बड़ा उत्तम माजून तैयार किया गया। परंतु मृत्यु के सामने सभी प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए। दो सप्ताह तक महाराज ज्यादा बीमार रहे; उसके पश्चात् दुनिया से चल दिये।

मृत्यु से पूर्व महाराज ने खड़गसिंह को गद्दी देकर तिलक लगा दिया था। राजा ध्यानसिंह को प्रधान मन्त्री बना राजकुमार का हाथ उसके हाथों में देकर उन्होंने ध्यानसिंह को राज्य का संरक्षक नियुक्त किया। यह समाचार सभी सूबों में भेज दिया गया।

अंत समय में हजारों रुपया गरीबों में बाँटा गया। राजा ध्यानसिंह ने दस लाख रुपया खर्च करके एक चबूतरा तैयार करवाया। इस पर शाल बिछाये गये। उन पर लेटे-लेटे महाराज ने प्राण त्याग दिये। एक दृष्टि से पंजाब के अभ्युत्थान का सूर्य उस दिन डूब गया। पंजाब का कोई ऐसा बूढ़ा, नौजवान या बच्चा न था जिसे दुःख न हुआ। वही पंजाब के लोगों के

लिए स्वतन्त्रता का अंतिम दिन था। उसी दिन पंजाब में वह शोक आरंभ हुआ जिसका अंत अभी तक दिखाई नहीं देता।

महाराज की वसीयत के अनुसार कोहनूर-हीरा जगन्नाथपुरी को भेज देना चाहिए था। परन्तु तोशाखाने के प्रबन्धक मिश्र बेलीराम ने इसपर आपत्ति की कि यह हीरा राज्य की संपत्ति है; इसे दान में नहीं दिया जा सकता।

महाराज के शव को पहले अत्तर से स्नान कराया गया। तत्पश्चात् सुन्दर कपड़ों तथा जवाहरात से सजाया गया। चार रानियाँ और सात दासियाँ महाराज के साथ जलने पर तैयार हुईं। वे शव के सिरहाने खड़ी हो गईं। हिन्दू धर्म की पुनीत पुस्तक भगवद्गीता महाराज की छाती पर रखी गई। राजा ध्यानसिंह ने उस पर हाथ रख कर खड़गसिंह का भक्त रहने की शपथ ली। नाव-जैसा सोने का विमान तैयार किया गया। इसमें रेशमी पाल या बादबान लगाये गये। विमान पर महाराज का शव रखकर क़िले के अंदर से निकाला गया। अगणित मनुष्य महायात्रा के समय अरथी के साथ थे। पहली बार रानियाँ महलों से बाहर निकलीं। किसी के बदन पर कोई आभूषण न था। सभी के कपड़े सफ़ेद रेशम के थे। वे नंगे पैर अरथी के साथ चलने लगीं।

रानियों ने अपने सब आभूषण ग़रीबों को बाँट दिये। हज़ारों रुपये विमान के ऊपर से उछाले गये। हर एक रानी से दो-तीन क़दम आगे एक नौकर हाथ में आईना लिये, रानी की ओर मुँह करके, पीछे चलता था। दर्पण को वह रानी के सामने रखता था ताकि वह अपने चेहरे को देखती रहे कि कहीं उसमें परिवर्तन तो नहीं आ गया। इन रानियों में से एक राजा संसारचन्द की बेटी राजदेवी थी। इनके पीछे

सात दासियाँ जा रही थीं। जर्मन डाक्टर हांगबरगर लिखता है—"हमारे दिल बेचारी इन महिलाओं के लिए धड़कते थे, जिन्होंने अपने भाग्य का निर्णय स्वयं ही कर लिया था।"

नक्कारों की ध्वनि दुःखपूर्ण थी। रागी दुःख-जनित भजन गा रहे थे। इनके वाद्य शोक का प्रसार करते थे। लाखों आदमी, जो दिल से महाराज को पूजते थे और जिनको महा-राज दिल से प्रेम करते थे, ग़म में डूबे हुए थे।

एक चिता बनाई गई। यह छः फुट लंबी, छः फुट चौड़ी और छः फुट ही ऊँची थी। इसमें चंदन भर दिया गया। शव से गहने उतार कर ग़रीबों को बाँट दिये गये। गुरुओं और ब्राह्मणों ने पाठ किया। आध घंटे के बाद सरदारों और मंत्रियों ने शरीर को उठाकर चिता पर रख दिया। वे महिलाएँ, जो मृत्यु को धता बता चुकी थीं, सीढ़ी से चिता पर चढ़ कर बैठ गईं। महाराज का सिर उन्होंने अपने हाथों में ले लिया। अब सात दासियाँ चिता पर चढ़ीं। ये अपने स्वामी के पैरों में जा बैठीं। इन सब को बाँस की चटाइयों से ढाँप दिया गया। राजा ध्यानसिंह ने रानियों के पास जा कर कहा कि वे नये राजा के लिए प्रार्थना करें। वे महाराज के सिर पर हाथ फैलाये, आँखें बंद कर के, शान्ति से मृत्यु की प्रतीक्षा करने लगीं। राजा ध्यानसिंह चिता से नीचे उतर आया। उसे इतना दुःख था कि वह साथ ही जल जाना चाहता था। दो-तीन बार आगे बढ़ा, परंतु रोक लिया गया। सुगंधित तेल, घी और अत्तर डाला गया। खड़गसिंह ने चारों कोनों को आग लगा दी। थोड़ी ही देर में महाराज और सतियाँ ज्वालाओं में समा गईं। अब वहाँ न महाराज थे, न रानियाँ; केवल जलता हुआ ढेर था।

दो दिन तक चिता जलती रही। तीसरे रोज़ फूल चुन

लिये गये। इनको हरद्वार भेजने का प्रबन्ध किया गया। महाराज और रानियों के फूल और राख अलग-अलग पालकियों में रखकर क़िले से निकाले गये। पालकियों के साथ मंत्रियों तथा सरदारों के अतिरिक्त हाथी, घोड़े और जवाहरात थे। ब्राह्मणों को देने के लिए सोने-चाँदी के बरतन भी ले लिये गये। महाराज का यह अंतिम जलूस शहर के बड़े-बड़े बाजारों, गलियों और कूचों में घुमाया गया। दर्शकों के झुंड छतों, बारियों, छज्जों और बरामदों में एकत्र थे। इन पालकियों पर वे पुष्प-वर्षा करते थे। ध्यानसिंह महाराज की पालकी के साथ था। उसके हाथ में मोर का चँवर था। महाराज के सम्मानार्थ वह उसे डुला रहा था। देहली दरवाजे के बाहर तोपों की अंतिम सलामी दी गई। सभी मंत्री और सरदार वापस लौट आये। पुष्प उस गारद के हवाले कर दिये गये जो उसे हरद्वार ले जाने को था। जब यह जलूस अँगरेजी इलाक़े से गुजरा तब वहाँ भी इसका मान किया गया और सलामी दी गई। लाहौर में तेरह दिन तक शोक मनाया गया। तेरहवें दिन साधारण रस्म पूरी करके ब्राह्मणों और भिखारियों को दान दिया गया।

चरित्र—महाराज रणजीतसिंह लिख-पढ़ न सकते थे; परंतु विद्वानों का आदर करते थे। उनके सहायक और मंत्री प्रायः हर समय उनके पास उपस्थित रहते। वही फ़ारसी, हिंदी या पंजाबी में लिखे काग़ज़-पत्र पढ़कर सुनाते। अपनी आज्ञाओं को विधि-पूर्वक लिखाने के बाद महाराज उन्हें सुनते कि वे ठीक लिखी गई हैं या नहीं। कभी-कभी जब रात को कोई बात ध्यान में आती तो उसी समय सहायक को बुला कर वह नोट करवा देते।

महाराज का क़द छोटा था; दाढ़ी लंबी और सफ़ेद। कुरसी पर वे पालथी मार कर बैठते। जब बात करते तो प्रायः एक हाथ घुटने पर होता और दूसरे से दाढ़ी टटोल रहे होते। देखने में सुन्दर न थे। चेचक ने बाई आँख बिगाड़ कर चेहरे को कुरूप बना दिया था। उनकी दूसरी आँख बहुत तेज़ और चमकदार थी। चेहरा रोबवाला था। उससे प्रसन्नता एवं जीवन टपकता था। उनके तेज के संबंध में यह कहा जाता है कि जब एक बार फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन शिमला गया तब अँगरेज अफ़सरों ने उससे प्रश्न किया—"क्या आपका महाराज काना है?" उसने चकित होकर उत्तर दिया—"यह मैंने आज आप लोगों ही से सुना है। मेरे स्वामी के चेहरे पर ऐसा तेज रहता है कि मैं उनकी ओर आँख उठा कर कभी देख नहीं सका।"

महाराज में कल्पना-शक्ति बहुत थी। वे सदा हँसमुख रहते। उनकी आदतें साफ़ थीं। वे स्वयं कपड़े सादा पहनते, परंतु अपने सरदारों को अच्छे कपड़ों में देखना पसंद करते। उन्हें दिखावे और दिल्लगी का बहुत शौक़ था। पंजाब में महाराज के संबन्ध में कई दंतकथाएँ पाई जाती हैं। इनमें बताया गया है कि एक जगह लड़कियों ने उन्हें काना कहा। इसपर उन्होंने ख़ुश होकर उन्हें इनाम दिया। अन्यत्र किसी जाट ने उन्हें न पहचान कर महाराज को गाली दी। वे हँस पड़े और उसे इनाम दिया। उनके दरबार में दिल्लगी करनेवालों की क़द्र थी। उन्होंने एक ऐसा ब्राह्मण रखा हुआ था जिसका काम उनके साथ मखौल करना था। उसका नाम उन्होंने सनीचर रखा दिया था।

धार्मिक दृष्टि से प्रति दिन 'ग्रन्थ' सुना करते। गुरुओं, 'भाइयों', और साधुओं को वे दान देते और उनका मान

करते। जब १८३३ में वे बीमार हुए तो रावी के तट पर एक वैरागी के पास जाते, उसे भेंट देते और अपने आरोग्य के लिए प्रार्थना करवाते।

रुपये का लालच उनमें बहुत था, परंतु यह एक दृष्टि से उनके लिए आवश्यक एवं स्वाभाविक था। उनकी धन-लोलुपता के अंतस्तल में राज्य का कल्याण पाया जाता था। कूटनीतिज्ञ के समान उनमें बात छिपाने की शक्ति बहुत थी। अपने संकल्प की पूर्ति में वे अपने वचन, मैत्री या आत्मीयता का कोई खयाल न करते।

अपने विवाहों के संबंध में उन्होंने स्वतंत्रता से काम लिया। परन्तु उस युग के राजा के लिए इस प्रकार अनेक स्त्रियों से ब्याह कर लेना या उन्हें वैसे ही रख लेना साधारण बात थी। १८०१ में वे लाहौर की एक मुसलमान लड़की पर मुग्ध हो गये। उससे विवाह करके वे उसे तीर्थ-यात्रा के लिए हरद्वार ले गये और वहाँ एक लाख रुपया ग़रीबों तथा ब्राह्मणों में बाँटा। आयु में बड़े होकर भी उन्होंने एक बार ऐसा ही किया। १८३२ में नियमपूर्वक बरात ले जा कर उन्होंने एक मुसलमान स्त्री गुलबहार से अमृतसर में विवाह किया जिस पर लाहौर और अमृतसर में कई दिन तक उत्सव मनाया गया।

परन्तु उसके कुछ दिन बाद उन्होंने सपने में देखा कि काले कपड़े पहने एक सिख उन्हें धमकी दे रहा है। ब्राह्मणों से उन्होंने इस स्वप्न का अर्थ पूछा। उन्होंने बताया कि यह कोई निहंग है जो मुसलमान स्त्री से ब्याह करने पर खफ़ा है। महाराज ने नये सिर से 'अमृत' लिया और अपनी सोने की एक मूर्त्ति बनवा कर मथुरा के एक ब्राह्मण को भेंट चढ़ाई। इस

अवसर पर कई राजनीतिक क़ैदियों को मुक्त किया गया। इन में से एक जम्मू का राजा भूपदेव था जो पन्द्रह बरस से क़ैद काट रहा था। नूरपुर का राजा बीरसिंह और भिंबर का फ़ैज़तालिब भी इनमें से थे।

जवानी में महाराज बड़े खिलाड़ी और फ़ौजी परेड तथा करतबों के शौक़ीन थे। होलियों में सरदारों के साथ मिलकर ख़ूब मौज उड़ाते थे। प्राचीन प्रथा के अनुसार दशहरे के उत्सव को मनाने के पश्चात् सेना को प्रायः तैयारी का आदेश देते। युद्ध-क्षेत्र में जब कभी महाराज थक जाते तब पास की नदी में डुबकियाँ लगाया करते। इससे उनकी थकान दूर हो जाती। मनोरंजन के लिए महाराज प्रति वर्ष दाढ़ियों का मेला लगवाते। सारे प्रदेश में जिनकी दाढ़ियाँ लम्बी रहतीं वे इसमें सम्मिलित होते। प्रदर्शन के समय दाढ़ियाँ नापी जातीं। जिनकी दाढ़ियाँ सबसे अधिक लंबी होतीं उनको जागीरें और इनाम दिये जाते। दाढ़ी को प्रति दिन दही से धोने के लिए उन्हें आठ-आठ आने भी मिलते। लाहौर के रत्नचंद को दाढ़ी के कारण ही जागीर मिली थी। उसके वंशजों को अभी तक दाढ़ीवाले कहा जाता है।

एक बार महाराज बाजार से जा रहे थे। आस-पास बहुत भीड़ थी। दरबारी भी थे और दर्शक भी। पीछे से एक लंबा-चौड़ा जाट युवक भीड़ को चीरते हुए आगे आया। दरबारियों ने इसका कारण पूछा तो उसने बताया कि मैं महाराज की नाभि को अपनी उँगली से छूना चाहता हूँ। इसे महाराज का अपमान समझ जाट को धक्के देकर बाहर निकाल दिया गया। वह भी हिम्मत न हारनेवाला था। दूसरी बार फिर भीड़ को चीर कर उसने अपने लिए रास्ता बना लिया। अब की महाराज को भी यह मामला मालूम हो गया। उन्होंने जाट

से पूछा—"क्या चाहता है तू ?" उसने उत्तर दिया—"आप की नाभि को एक बार अपनी उँगली से छूना चाहता हूँ सरकार।" महाराज ने कहा—"तो ले," और पेट पर से कपड़े हटा दिये। जाट ने उनकी नाभि को छूने के पश्चात् बहुत आश्चर्य प्रकट किया। महाराज ने इसका कारण पूछा तो उसने कहा—"महाराज, मैंने सुना था कि जो आदमी आपकी नाभि को उँगली से छू लेता है उसकी उँगली सोने की हो जाती है। परंतु अंधेर है कि मेरी उँगली ज्यों की त्यों ही है।" महाराज जाट की चतुराई को समझ गये। उन्होंने आज्ञा दी कि जाट को पचास स्वर्ण-मुद्राएँ दे दी जायँ। उसकी उँगली सचमुच ही सोने की हो गई।

उनका सारा जीवन नये प्रदेश जीतने और वहाँ अपने शासन को पक्का करने में व्यतीत हुआ। राज्य के आंतरिक मामलों को ठीक करने के लिए उन्हें कोई अवसर न मिला। सेना का शिक्षण तथा अनुशासन अच्छा हो गया, परन्तु राजनीतिक प्रबन्ध का कोई उचित बंदोबस्त न हुआ। न सार्वजनिक शिक्षा का कोई प्रबन्ध था न न्याय या न्यायालयों का। यहाँ तक कि महाराज और उनके परामर्श-दाता इतना भी न समझ सके कि राज्य के सरकारी कार्यालयों में राज-भाषा के रूप में पंजाबी को उच्च पद दिया जाय। महाराज के कागज़-पत्र अधिकतर फारसी में, कभी-कभी हिन्दी या पंजाबी में, लिखे जाते थे। पंजाब की एक बड़ी समस्या हल हो जाती यदि महाराज अपने राज्य की भाषा पंजाबी कर देते।

"खालसा को हटाकर महाराज ने व्यक्तिगत राज्य स्थापित कर लिया। यह उन्होंने बुरा किया।"—यह बात कुछ सिख लेखकों की ओर से कही गई है। राजनीतिक दृष्टि से देखने पर मालूम होता है कि महाराज से पूर्व खालसा साधारण सिखों

की प्रतिनिधि सभा न थी। हर एक मिसल में कोई न कोई सिख सरदार खालसा के नाम पर लूटमार करता और व्यक्तिगत शक्ति को बढ़ाता था। यदि पंजाब में खालसा का वह रूप बना रहता तो लोगों के लिए शांतिप्रद तथा लाभकारी शासन कभी भी स्थापित न हो सकता तब वे सिख सरदार ईर्ष्या के कारण न केवल परस्पर लड़ते रहते वरन् उनका एक नेता न होने के कारण यह भी सम्भव था कि वे विदेशी आक्रमणकारियों से अपने आप को या स्वदेश को कभी बचा न सकते। ऐसी अवस्था में किसी भी मनुष्य के हृदय में यदि खालसा तथा स्वदेश की हितकामना होती तो वह रणजीतसिंह के ढंग को छोड़कर कोई और मार्ग ग्रहण न कर सकता था। उन सरदारों की तरह महाराज ने भी जो कुछ किया, खालसा के नाम पर किया। अमृतसर में वे दीवाली के दिन सिख सरदारों की सभा बुलाकर उनसे मशविरा किया करते। एक लेखक का मत है कि "महाराज के शासन में सभी लोगों के प्रतिनिधि थे। इस कारण अपने समय के अनुसार यह लोगों का प्रतिनिधि शासन था।"

यह भी कहा जाता है कि महाराज की मृत्यु के बाद सिखों से इतर लोग थे जिन्होंने उनके शासन को नष्ट किया या करवाया। किसी व्यक्ति-विशेष या संप्रदाय पर ऐसा दोष लगाना सर्वथा निराधार एवं अन्यायपूर्ण है। महाराज के निधन के पश्चात् जो अंधेर लाहौर में मचा उसके लिए महाराज के उत्तराधिकारी तथा सिख सरदार ही उत्तरदायी थे। राजा ध्यानसिंह और उसके बेटे हीरासिंह ने सच्चे दिल से, बल्कि अपनी जान पर खेल कर, महाराज के शासन की रक्षा की। परन्तु इसका प्रयत्न करते हुए वे अन्य लोगों की बद-नीयत और शरारत का शिकार बने। अँगरेज़ों के साथ सिखों के

युद्ध में तेजसिंह और लालसिंह ने जो काम किये उनका विचार करके हरएक राष्ट्रभक्त की आँखें शरम के मारे नीची हो जाती हैं। परंतु उनसे ये काम करवाने में किसका हाथ था? खालसा या सिख सेना को इसका ज्ञान शायद न हो, परन्तु इससे तो कोई इनकार नहीं कर सकता कि खालसा सेना को नष्ट करानेवाले तेजसिंह और लालसिंह न थे वरन् महाराज के ही उत्तराधिकारी और सधर्मी, जिनकी नजर में खालसा की शक्ति काँटे की तरह चुभती थी।

अँगरेजों के साथ महाराज का सम्बन्ध बहुत अच्छा था। मरते दम तक उनकी यह इच्छा रही कि यह सम्बन्ध अच्छा बना रहे। परन्तु किसी को यह न समझना चाहिए कि महाराज ने अपने आनेवाले संकट को समझा न था। एक बार एक अँगरेज कप्तान उन्हें भारत का मानचित्र दिखला रहा था। महाराज को बताया गया कि "नक़शे पर लाल रंग अँगरेजी शासन का निशान है।" तब महाराज ने एक लम्बी आह भरी और कहा—"यह शेष भी लाल हो जायगा।" महाराज समझते थे कि अँगरेजी सत्ता एक अजगर के समान है जो भारत में सब को निगलकर हज़म कर रहा है।

महाराज करते तो क्या करते? जब उन्होंने गुजराँवाला से चलकर लाहौर लिया तब उनसे ईर्ष्या एवं शत्रुता करनेवाले कितने ही आदमी विद्यमान थे। इसके मुक़ाबले पर अँगरेजों ने मद्रास और बंगाल पर अधिकार करके मराठों को पराजित किया और देहली में अपना राज्य आ जमाया। अपने ही घर के शत्रुओं से घिरे हुए रणजीतसिंह अँगरेजों के विरुद्ध क्या कर सकते थे? वे जानते थे कि जब जसवंतराव होल्कर भागकर पंजाब में उनके पास आया तो उसकी क्या दशा थी। वे देखते थे कि एक ओर पंजाब में

विदेशी सत्ता है और दूसरी ओर छोटी-छोटी रियासतें। वे अँगरेजी सत्ता के साथ लड़ाई करते या छोटी रियासतों को मिला कर पंजाब में एक सुदृढ़ शासन खड़ा करते? उन्हें दिखाई दे रहा था कि अँगरेजों के साथ लड़ाई करके उन्हें भी होल्कर की तरह आश्रय के लिए भागना पड़ेगा। १८१९ में मैटकाफ़ के आने पर उनकी स्थिति पहले से अच्छी न थी। फिर भी महाराज ने अपनी सीमा यमुना तक बढ़ाने का यत्न किया और इसी बात पर ज़ोर देते रहे कि यमुना को उनकी सीमा स्वीकार किया जाय। इस विषय में अँगरेजों की ओर से युद्ध की तैयारी भी हो गई। सतलज पार के जिन इलाक़ों को महाराजा ने अपने साथ सम्मिलित किया था, वे अँगरेजी सेना के आने पर, अँगरेजों के अधीन होने पर सहर्ष तैयार हो गये। जब पटियाला और जींद के सरदार अँगरेजों के साथ सम्बन्ध जोड़ने को अधिक पसन्द करने लगे तब महाराज दोनों की सम्मिलित शक्ति के मुक़ाबले पर युद्ध कैसे आरंभ कर देते? तत्पश्चात् जब सेंधिया या रुहेला अमीरखाँ उन्हें अँगरेजों के विरुद्ध षड्यंत्र में सम्मिलित होने के लिए कहते तो वे अपने मन में यही विचार करते कि जिन अँगरेजों ने मुग़ल बादशाही का अन्त कर दिया है, मराठों को निस्तेज बना दिया है और जिनकी दो लाख शिक्षण-प्राप्त सेना प्रतिक्षण तैयार रहती है उनको उखाड़ डालना इतना आसान काम नहीं।

सन् १८२० में मोदाजी भोंसला, जिसे अँगरेजों ने नागपुर की गद्दी पर पहले बिठला कर पीछे गिरफ्तार करना चाहा, साधु के वेष में भागकर अमृतसर आया। रणजीतसिंह ने उसे लौट जाने को कहा। वह लादौन जाकर शाहजमाँ के बेटे हैदर के साथ भारत को विदेशियों के हाथ से वापस लेने की तदबीरें करता रहा; परन्तु कोई फल न निकला।

सन् १८२२ के बाद महाराज की सेना योरपीय ढंग पर ढाली गई। धीरे-धीरे महाराज ने मुलतान, काश्मीर, पेशावर आदि जीत कर अपनी सत्ता को दृढ़ कर लिया। सिंध की विजय के सम्बन्ध में महाराज का अँगरेजों के साथ मतभेद हो गया। कप्तान बेड की भेंट के पश्चात् महाराज ने देख लिया कि अँगरेज सिंध को अपने अधिकार में करना चाहते हैं ताकि इस रास्ते से रूस की बढ़ती हुई शक्ति को रोक सकें। परन्तु सिंध को स्वयं महाराज अपने अधिकार में लाना चाहते थे। कुँवर नौनिहालसिंह के विवाह का निमंत्रण-पत्र बड़े लाट को भेजते समय उन्होंने यह भी लिख दिया कि सिंध की विजय के लिए उनकी आँखें अपने इसी पोते पर लगी हुई हैं। परंतु उस समय महाराज शारीरिक दृष्टि से निर्बल हो रहे थे और उनका रोग जोर पकड़ रहा था। उनको साहस न हुआ कि अँगरेजों के साथ झगड़ा छेड़ा जाय। मरते समय महाराज को इस बात का संतोष था कि उन्होंने अपने जीवन में अँगरेजों के साम्राज्य और अफ़गानिस्तान के बीच में एक ऐसा सुदृढ़ राज्य स्थापित कर दिया है जिसका उन्मूलन इन दोनों में से कोई न कर सकेगा और यदि उनके बाद कोई योग्य उत्तराधिकारी होगा, जैसा कि वे अपने पोते नौनिहालसिंह को समझते थे, तो वह अपने अस्तित्व एवं प्रसार के लिए उचित नीति का अवलंबन करेगा। महाराज के मन में एक बात थी। परंतु उन्हें क्या मालूम था कि काल ने उनके उत्तराधिकारियों के भाग्य में क्या लिख रखा है।

अंधेर—गद्दी पर बैठने के बाद खड़गसिंह का पहला काम चेतसिंह-नाम के एक आदमी को मंत्री बनाना था। इसने ध्यानसिंह और हीरासिंह का अंतःपुर में आना बन्द कर

दिया। चेतसिंह में एक ही विशेषता थी : वह बड़ा चाटुकार था। ध्यानसिंह को वह अपना बड़ा विरोधी समझता। ध्यानसिंह का वध करने के लिए षड्यंत्र रचा गया। परंतु उसे इसका पता लग गया। उसने कुँवर नौनिहालसिंह को अपने पक्ष में करके चेतसिंह को सज़ा देने का निश्चय किया।

लाहौर में अफ़वाह मशहूर की गई कि खड़गसिंह ने अँगरेज़ों से एक संधि कर ली है जिसके अनुसार आय का साढ़े सैंतीस प्रतिशत (रुपये में से छः आने) इनको दिया जायगा, सभी सिख सरदार हटा दिये जायँगे और उनके स्थान में अँगरेज़ अफ़सर नियुक्त किये जायँगे। रानी चंदकौर अपने पति खड़गसिंह के विरुद्ध हो गई। उसके बेटे नौनिहाल-सिंह को पेशावर से बुला लिया गया। एक षड्यंत्र रच कर ध्यानसिंह, गुलाबसिंह और संधियावालिया सरदार अत्तरसिंह, अजीतसिंह और लहणासिंह क़िले में प्रविष्ट हुए। नंगी तलवारें उनके हाथों में थीं। जो मिला उसे उन्होंने क़त्ल कर डाला। चेतसिंह शयनागार में जा छिपा। उसे ढूँढ़ कर उन्होंने जा पकड़ा। वह पहले तो बच्चों के समान रोने लगा, फिर क्षमा-याचना करने लगा। पर उसकी एक न सुनी गई और उसका वध कर दिया गया। खड़गसिंह को गिरफ़्तार करके क़ैद में डाल दिया गया।

नौनिहालसिंह—८ अक्तूबर, १८३९, को नौनिहालसिंह को सिंहासन पर बिठा दिया गया। यह नवयुवक अपने दादा के अनुरूप था। खालसा में वह बड़ा सर्वप्रिय था। उसकी वृत्ति सैनिक और आकांक्षाएँ बड़ी थीं। वह बड़ा समझदार और दूरदर्शी था। ब्राह्मणों का उसपर बहुत प्रभाव था। ब्राह्मण, संन्यासी या फ़क़ीर जो कुछ उसे कहते वह

मान लेता। उसके मन में यह खयाल बिठला दिया गया कि वह अफ़ग़ानिस्तान से लेकर बनारस तक सारे उत्तर भारत पर राज करेगा। उसे इस बात पर इतना विश्वास था कि उसने उत्तरी भारत को कई हिस्सों में बाँट कर अपने खास आदमियों को विभिन्न इलाक़ों की सनदें दे दीं।

अपने पिता के साथ नौनिहालसिंह को कोई सहानुभूति न थी। जब कभी वह उसके पास जाता, उसे गालियाँ देता। उसे लाहौरी दरवाज़े के अंदर एक मकान में रख कर मज़बूत गारद बिठा दी गई। खयाल किया जाता था कि वह यों ही बीमारी का बहाना करता है, वास्तव में अँगरेज़ी सरकार को लाना चाहता है। नौनिहालसिंह अँगरेज़ों से घृणा करता था और उनके साथ युद्ध करने के लिए सेना एकत्र कर रहा था। खड़गसिंह का दिमाग़ बदसलूकी के कारण खराब हो गया। नौ मास तक उसे जोड़ों में पीड़ा होती रही जिससे ५ नवम्बर, १८४०, को वह मर गया।

नौनिहालसिंह शाहबिलावल में शिकार खेल रहा था जब उसे पिता की मृत्यु का समाचार मिला। [यह स्थान वर्तमान भारतनगर (लाहौर) और वीर हक़ीक़तराय की समाधि के दरमियान है।] इसके बाद दो घंटे तक वह शिकार में मस्त रहा। खड़गसिंह की दो रानियाँ और ग्यारह दासियाँ उसके साथ जल कर मर गईं। महाराज रणजीतसिंह की समाधि के सामने अंतिम संस्कार किया गया। अभी शव आधा जला था कि नौनिहालसिंह अपने सरदारों के साथ वहाँ से चला गया। पास के नाले में स्नान करके वह लौट रहा था। जब हज़ूरीबाग़ के उत्तरी दरवाज़े के फाटक के निकट पहुँचा तो उसने गुलाब-सिंह के बड़े बेटे मियाँ ऊधमसिंह का हाथ पकड़ लिया। अब वे धीरे-धीरे चलने लगे। नौनिहालसिंह ऊधमसिंह से दिल्लगी

की बातें कर रहा था। ज्यों ही वे फाटक के नीचे पहुँचे त्यों ही गड़ गड़ की ऊँची आवाज हुई। मालूम हुआ कि दीवार का बड़ा-सा टुकड़ा गिरा है। दोनों नवयुवक कुचले गये। ऊधम-सिंह तो तत्काल ही मर गया। नौनिहालसिंह को ऐसा आघात लगा कि वह बेहोश हो गया।

नौनिहालसिंह को पालकी में डालकर ध्यानसिंह क़िले के अन्दर ले गया। लहणासिंह पीछे आने लगा तो ध्यानसिंह ने उसे वहीं ठहरा दिया। अन्य सरदारों को भी बाहर ही रोक दिया गया। खड़गसिंह की रानी चंदकौर दरवाजे पर सिर पटकती रही कि अपने बच्चे को देख सके, परन्तु किसी को भी अन्दर जाने की अनुज्ञा न दी गई। अन्दर केवल ध्यानसिंह, उसके दो नौकर और कुछ पहाड़ी आदमी थे। सरदारों को यह कह कर वहाँ से हटा दिया गया कि कोई संकट नहीं; राजा अच्छा हो जायगा, क्योंकि उसके दिमाग़ को ही चोट आई है और वह बेहोश है। दो घंटे बाद रानी चन्दकौर को सूचित किया गया कि राजपुत्र मर गया है और यदि वह शासन को अपने हाथ में लेना चाहती है तो उसे यह मामला गुप्त रखना चाहिए। जब तक ध्यानसिंह ने रानी से हाँ न करवा ली तब तक उसे छोड़ा न गया। तीन दिन तक राजा की मृत्यु को छिपा कर रखा गया।

रानी चंदकौर—इस बीच में ध्यानसिंह ने शेरसिंह को मुकेरियाँ से बुला भेजा, क्योंकि उसे वह गद्दी पर बिठाना चाहता था। शेरसिंह के आ जाने पर नौनिहालसिंह की मृत्यु की सूचना दी गई और उसे जलाने का प्रबन्ध किया गया।

कुछ लेखक इस घटना को षड्यंत्र का परिणाम समझते हैं। उनकी राय में ध्यानसिंह और उसके भाई ऐसा कर सकते

थे; परंतु प्रश्न होता है—उन्हें दीवार के गिरने का ठीक-ठीक समय पहले से कैसे मालूम हो सकता था ? दूसरा, ध्यानसिंह ऊधमसिंह से बड़ा प्रेम करता था। इसके बजाय उसने किसी दूसरे को नौनिहालसिंह के साथ क्यों न भेजा ? फिर डाक्टर हांगबरगर का कथन है कि ध्यानसिंह का अपना बाजू बहुत जख़मी हुआ जिसके कारण उसे पट्टी बँधवानी पड़ी। सबसे बड़ी बात यह है कि यदि यह ध्यानसिंह का षड्यंत्र होता तो उसे शेरसिंह को बाहर से बुलाने की आवश्यकता न होती। सम्भावना इस बात की है कि यह षड्यंत्र खड़गसिंह और चेतसिंह के सहायकों ने रचा हो।

रानी चंदकौर स्वयं गद्दी पर बैठना चाहती थी, परंतु वह और सँधियावालिया सरदार अतरसिंह, दोनों, ध्यानसिंह के शत्रु थे। इस कारण ध्यानसिंह ने शेरसिंह को गद्दी पर बिठाने का निश्चय किया। उसने सरदारों से कह दिया कि "स्त्री का राज अच्छा नहीं होता।" रानी ने अतरसिंह को हरद्वार से बुला भेजा। सभी सरदारों ने रानी की सहायता की। उसे पंजाब की महारानी बना दिया गया। रानी ने यह बात मशहूर की कि नौनिहालसिंह की पत्नी गर्भवती है। यदि उसके लड़की होगी तो रानी ध्यानसिंह के बेटे हीरासिंह को दत्तक बना लेगी, क्योंकि महाराज रणजीतसिंह उसे बेटे के समान समझते थे।

ध्यानसिंह प्रकट रूप से राजी हो गया। शेरसिंह प्रतिरोध पर तैयार था। परन्तु ध्यानसिंह के समझाने पर वह बटाला चला गया। स्वयं ध्यानसिंह बीमारी के बहाने जम्मू जा पहुँचा। रानी चन्दकौर अब 'माई' की उपाधि लेकर राज करने लगी। अतरसिंह को उसने अपना प्रधान मन्त्री नियुक्त किया। चार सरदारों की एक कौंसिल बनाई गई। राजा गुलाबसिंह

ने बुरी नियत से रानी का पक्ष ले लिया। ध्यानसिंह ने अँगरेजी सरकार को खबर पहुँचा दी कि महाराज रणजीतसिंह की रानी जिंदां ने दिलीपसिंह को जन्म दिया था और वही असली उत्तराधिकारी है। जिंदां मन्नासिंह की लड़की थी जो महाराज की फ़ौज में एक सवार था। दिलीपसिंह का जन्म फ़रवरी १८३७ में हुआ।

ध्यानसिंह के खास आदमी लाहौर में काम करते ही थे। उन्होंने सिख सेना और सरदारों से वचन लिया कि जब ध्यानसिंह और शेरसिंह लाहौर आयेंगे तो वे (सेना तथा सरदार) उनकी सहायता करेंगे। यह समाचार पाकर शेरसिंह तीन सौ साथी लेकर शालामार आ पहुँचा। उसे यह सुनकर अचरज हुआ कि ध्यानसिंह अभी जम्मू में ही है। शेरसिंह का परामर्श-दाता ज्वालासिंह था। इसने शेरसिंह के मन में यह बात बिठला दी कि ध्यानसिंह और गुलाबसिंह एक ही हैं और ध्यानसिंह उस (शेरसिंह) के साथ नहीं है।

शेरसिंह ने ज्वालासिंह को खालसा के साथ बातचीत करने पर नियुक्त किया। खालसा सेना शेरसिंह को शहर लाहौर से कुछ मील दूर बुद्धू के आँवे पर आकर मिलने के लिए तैयार हो गई। यहाँ ऑवीतबेला ने अपने लिए एक बारहदरी बनवाई थी। ४ जनवरी, १८४१, को यहाँ पर खालसा के पंच मियाँ-मीर से चलकर शेरसिंह से मिले। उन्होंने उसे राजा घोषित कर दिया। तोपें चला कर वे लाहौर की ओर चले। लाहौर के हज़ारों लोग उसकी ओर दौड़े गये। रानी ने कौंसिल बुला कर राजा गुलाबसिंह को रक्षा के लिए अफ़सर नियुक्त किया। गुलाबसिंह की डोगरा सेना शाहदरा से क़िले में लाई गई। ख़ुशहालसिंह और अतरसिंह भी सेना के साथ थे। सारी फ़ौज क़िले में जमा हो गई। गुलाबसिंह ने चार मास

का वेतन उनको अगाऊ दिया और उनसे राजभक्ति की शपथ ली।

ध्यानसिंह का भाई सुचेतसिंह और सेनानायक वेंदुरा शेरसिंह से जा मिले। उसकी फौज सत्तर हज़ार तक जा पहुँची। गुलाबसिंह के कई सैनिक, अधिक इनाम के लोभ में, शेरसिंह की तरफ़ चले आये। शेरसिंह की फ़ौज रात को देहली, पक्की और टकसाली दरवाज़ों से लाहौर शहर में प्रविष्ट हुई। प्रात: वह शहर की मालिक थी। गुलाबसिंह ने बादशाही मसजिद में बहुत-सा गोला-बारूद जमा कर लिया था। शेरसिंह ने हज़ूरी बाग़वालों को रिश्वत देकर महलों के बाग़ और गोला-बारूद पर क़ब्ज़ा कर लिया। सैनिकों ने दूकानों को लूटना शुरू कर दिया और छत्ता बाज़ार में आग लगा दी। सुबह सबेरे सैनिकों ने क़िले पर धावा बोल दिया। मक्खियों की तरह वे क़िले की दीवारों के नीचे एकत्र हो गये। क़िले के इर्द-गिर्द तोपें रख दी गईं। तोपें तेईस थीं। स्वयं शेरसिंह इनकी निगरानी कर रहा था। क़िले के अंदर गुलाबसिंह के डोगरे और बारह सौ सिख थे। तोपों से गोले छूटते तो अकबर के बनाये क़िले की दीवारें हिल जातीं। डोगरे ऐसी वीरता से लड़े कि महलों का बाग़ ख़ाली हो गया और सभी हमला करनेवाले इधर-उधर भाग निकले।

पूर्वी दरवाज़े पर भी ऐसा ही हुआ। मरे हुए घोड़े और बैल मैदान में छोड़कर खालसा के सैनिक लोगों के घरों में, आश्रय लेने के लिए, जा घुसे। अब खालसा ने बड़ी विचित्र ही नहीं अनुचित बात भी की। लगभग बारह सौ स्त्रियों को उन्होंने तोपों के मुँह के साथ बाँध दिया। परन्तु डोगरों ने ऐसी दक्षता का प्रदर्शन किया कि बारह सौ में से केवल उन्नीस को गोलियाँ लगीं, पर तोपची दो सौ मार गिराये।

लगातार तीन दिन-रात गोलाबारी करने पर क़िले की दीवारों में सूराख़ हो गये। शेरसिंह ने चालीस मोचियों से निशाने लगवाये। वे बड़े शिकारी और निशानाबाज़ थे। इनमें से हर एक को एक दिन के बीस रुपये भाड़ा दिया गया। पाँचवें दिन खबर आई कि ध्यानसिंह शाहदरा आ पहुँचा है। अब शेरसिंह ने गोलाबारी बंद कर दी और गुलाबसिंह के साथ सुलह की बातचीत शुरू की। उधर उसने पाँच सौ सवार ध्यानसिंह को लाहौर लाने के लिए भेजे। जब वह आया तो शहर के पास स्वयं शेरसिंह उसे आगे से लेने के लिए उपस्थित था।

लड़ाई बन्द कर दी गई। मृतकों का जलाना आरम्भ किया गया। खालसा के ४७८६ आदमी, ६१० घोड़े और २२० बैल मारे गये। क़िले के अंदर डोगरा-दल के केवल १३० मनुष्य मरे। शेरसिंह का चार-पाँच लाख रुपया पुरस्कार आदि में खर्च हुआ। डोगरों को केवल एक सौ रुपया इनाम दिया गया। इतनी लाशों को जलाने के लिए लकड़ी कहाँ से आये? सिखों ने लाहौर के आधे मकान लकड़ी की खातिर नष्ट कर दिये। उन्होंने नागरिकों पर कई अन्य अत्याचार भी किये। मुरदों का ढेर लगा कर आग दिखा दी जाती। जख़्मियों को भी उठा कर आग में डाल दिया गया। जब वे दया के लिए प्रार्थना करते तो उत्तर मिलता—"चढ़ जाओ भाई, चढ़ जाओ! खौफ़ कास गल दा?" (ढेर पर चढ़ जाओ भाई, चढ़ जाओ! डर किस बात का है?) यह वे इसलिए करते कि ज़ख्मियों के जेबों से उन्हें जो थोड़े-बहुत पैसे मिले हैं वे कहीं छिन न जायँ।

गुलाबसिंह ने हीरासिंह को सुलह के लिए नियुक्त किया। अंत में इन चार शर्तों पर संधि हुई—१ रानी चंदकौर क़िला

शेरसिंह के सुपुर्द कर दे और राज्य का स्वत्व छोड़ दे। २—रानी चंदकौर को जम्मू के पास नौ लाख की जागीर दी जाय जिसका प्रबंध गुलाबसिंह करे। ३—शेरसिंह रानी चंद-कौर से 'चादर डालने' (उसे रखैली बनाने) का विचार छोड़ दे। ४—इन शर्तों को पूरा करने की ज़मानत दी जाय।

इसके पश्चात् रात को गुलाबसिंह ने क़िला खाली कर दिया। महाराज रणजीतसिंह का ख़ज़ाना उसने सोलह छकड़ों पर लाद लिया। शेरसिंह को प्रणाम करके वह अपने इलाक़े जम्मू को चला गया।

शेरसिंह—१८ जनवरी, १८४१, को शेरसिंह महाराज बना। सँधियावालिया अतरसिंह को छोड़ कर शेष सब ने उसे प्रणाम किया। ध्यानसिंह को प्रधान मन्त्री बनाया गया। सँधियावालिया सरदारों की संपत्ति ज़ब्त की गई और उनकी गिरफ्तारी का आदेश दिया गया। इनमें से अतरसिंह और चेतसिंह अँगरेजों के पास भाग गये। लहणासिंह क़ैद करके लाहौर लाया गया।

खालसा अब बेक़ाबू हो गया। उसने अनुशासन एवं नियंत्रण को छुट्टी दे दी। खालसा के सैनिकों ने अपने उन अफ़सरों को लूटना तथा मारना आरम्भ किया जिन्होंने उनको इनाम पूरा नहीं दिया था। सेनानायक कोर्ट भाग गया। एक अँगरेज अफ़सर का वध कर दिया गया। वेतन देनेवाले अफ़सर आदि लूट लिये गये। काश्मीर में सेनानायक महांसिंह को लूट लिया गया। आवीतबेला ने पेशावर छोड़कर जलाला-बाद की शरण जा ली।

शेरसिंह बड़ा शराबी था। गद्दी पर बैठते ही उसने राज्य-कार्य ध्यानसिंह के हवाले करके स्वयं मद्यपान आरम्भ कर

दिया। बादशाही मसजिद के सामने संगमरमर की बारहदरी उनके बैठने का स्थान था। भूमि पर गुलाब और मुश्क छिड़क दिये जाते। वह स्वयं पुष्प-शय्या पर बैठता। गायक राग सुनाते। रागी तथा सुन्दर स्त्रियाँ हर समय उसके पास रहतीं।

ध्यानसिंह ज्वालासिंह से ईर्ष्या करता था। ध्यानसिंह के लाहौर पहुँच जाने के बाद बारह घंटे तक शेरसिंह की आज्ञा के विरुद्ध वह गोली चलाता रहा। स्वयं शेरसिंह ने जा कर उसके सैनिकों को समझाया, तब कहीं उन्होंने गोली चलाना बन्द किया।

ध्यानसिंह ने शेरसिंह के दिल में ज्वालासिंह के विरुद्ध ज़हर भर दिया। ज्वालासिंह अपने पाँच हज़ार सवारों के साथ शालामार में था। शेरसिंह ने उसे उपस्थित होने की आज्ञा दी। वह न आया। इस पर स्वयं शेरसिंह सेना लेकर उधर गया, तब ज्वालासिंह उसके पैरों पर आ गिरा। अब उसे क़ैद कर दिया गया और चालीस दिन तक यातनाएँ देकर उसकी जान ले ली गई।

शेरसिंह ने चंदकौर पर चादर डालने का निश्चय न छोड़ा। रानी भी मान जाती यदि गुलाबसिंह ने उसे यह न समझा दिया होता कि वह उसे बरबाद करने के लिए ही चादर डाल रहा है। रानी क़िला छोड़ कर अपने मकान में चली गई। शेरसिंह को बताया गया कि चंदकौर उसे महाराज रणजीतसिंह का लड़का न समझ कर उससे घृणा करती है। इससे शेरसिंह को आग लग गई। उसने कुछ दासियों को घूँस दी कि वे रानी का अंत कर दें। अब वह स्वयं वज़ीराबाद चला गया जिससे कोई उसपर तनिक भी सन्देह न करे। उन दासियों ने रानी के सिर पर ईंटें मार-मार कर उसका दिमाग़ बाहर निकाल दिया।

शेरसिंह की अनुपस्थिति में ध्यानसिंह ने उन दासियों के नाक, कान और हाथ—कोतवाली में लोगों के सामने—काटकर उन्हें रावी के पार निर्वासित कर दिया। शेरसिंह और गुलाबसिंह ने जब ये बातें सुनीं तो ये बहुत प्रसन्न हुए।

अफ़ग़ानिस्तान की मुहिम की सफलता पर लार्ड एलनबरो ने फ़ीरोज़पुर में राजकुमार प्रतापसिंह से भेंट की। फ़रवरी १८४३ में दोस्तमुहम्मद लाहौर आया। उसका आदरपूर्वक स्वागत किया गया। बाद में मैत्री का संधिपत्र लिखा गया।

दरबार में इस समय आध्यात्मिक नेताओं के एक घराने का जोर था। उन्हें 'भाई' कहा जाता। दो भाई इस समय बहुत प्रभावशाली थे: एक, रामसिंह; दूसरा, गुरुमुखसिंह। भाई रामसिंह तो डोगरा-दल और लालसिंह के पक्ष में था। भाई गुरुमुखसिंह और मिश्र बेलीराम उनके कट्टर शत्रु थे। शेरसिंह बड़ा उदारचित्त था। अपने शत्रुओं को वह क्षमा-दान देने पर तैयार रहता। भाई रामसिंह की सिफ़ारिश पर उसने सिंधियाँवालिया सरदारों को वापस बुला लिया। अतर-सिंह अपनी जागीर पर चला गया। लहणासिंह और अजीत-सिंह, चाचा और भतीजा, दरबार में रहने लगे।

सिंधियाँवाले सरदार—शेरसिंह सिंधियाँवालों से इतना प्रसन्न हुआ कि वे दिन-रात उसके पास रहने लगे। यह बात ध्यानसिंह सहन न कर सका। उसने गुलाबसिंह को उसकी जागीर से बुलाकर परामर्श किया। निर्णय हुआ कि दिलीप-सिंह को आगे लाया जाय। ज्यों-ज्यों ध्यानसिंह दिलीपसिंह का अधिक आदर-सत्कार करने लगा त्यों-त्यों शेरसिंह उससे अधिक जलने लगा। दिल से सिंधियाँवाले सरदार शेरसिंह और ध्यानसिंह, दोनों, से घृणा करते थे। ध्यानसिंह और

शेरसिंह में जब खटपट होती तो वे बहुत खुश होते। शेरसिंह को ये प्रायः दिल्लगी से प्रसन्न रखते। अजीतसिंह ने हँसी में कई बार शेरसिंह को मार देने की धमकी दी। उन्होंने एक कहानी बना कर शेरसिंह को बताया कि ध्यानसिंह उसकी जान लेना चाहता है और वह उन्हें (सिंधियाँवाले सरदारों को) साठ लाख रुपये की जागीर देने पर तैयार है यदि वे शेरसिंह का वध कर दें। उन्होंने शेरसिंह को विश्वास दिलाया कि ध्यानसिंह दिलीपसिंह को सिंहासन पर बिठाना चाहता है। शेरसिंह से उन्होंने प्रतिज्ञा करवाई कि वह इस भेद को किसी पर प्रकट न करेगा। शेरसिंह ने आवेश में आ कर कहा—"यह मेरी तलवार है और यह मेरा गला। उठाओ इसको और क़त्ल कर दो मुझे! पर याद रखो कि अगर आज तुम ऐसा करोगे तो वह दिन दूर नहीं जब तुम्हारे गले भी इसी प्रकार काटे जायँगे।" अजीतसिंह ने कृत्रिम आश्चर्य से कहा—"आप यह क्या कह रहे हैं! आप हमारे स्वामी हैं। हमारे सिर किसके लिए हैं? पहले इनकी बलि दी जायगी, बाद में हुजूर की तरफ़ कोई आँख उठाकर देख सकेगा।"

उन्होंने प्रस्ताव करके इस आशय के आज्ञा-पत्र पर शेरसिंह से हस्ताक्षर करवा लिये कि ध्यानसिंह को क़त्ल कर दिया जाय और क़त्ल करने की जिम्मेदारी ख़ुद अपने ऊपर ले ली। निश्चय हुआ कि सिंधियाँवाले सरदार कुछ दिनों के लिए अपनी जागीर, राजा सांहसी, को चले जायँ। वहाँ से सेना लेकर वे शाहबिलावल की बारहदरी में आवें। वहाँ महाराज शेरसिंह और मंत्री सेना का निरीक्षण करें। वहीं ध्यानसिंह को बुलाकर, उसके बेटे के साथ, उसे भी घेर लिया जाय।

सारा प्रबन्ध करके वे ध्यानसिंह के पास गये और उसे

मृत्यु का आज्ञा पत्र दिखलाया। ध्यानसिंह बड़ा चालाक और समझदार था। उसे इस बात पर विश्वास न हुआ कि शेर-सिंह ऐसा कृतघ्न हो सकता है। उसने कहा—"पहले इसपर महाराज से मोहर लगवाओ!" वे गये और तुरंत ही मोहर लगवा लाये। अब उन्होंने ध्यानसिंह से कहा—"देखिए, कैसा बदमाश और कृतघ्न है। उसे तो अवश्य ही क़त्ल कर देना चाहिए जो आप-जैसे मनुष्य का वध कराना चाहता है।"

इस प्रकार उन्होंने ध्यानसिंह को ऐसा बेवक़ूफ़ बनाया कि उससे शेरसिंह को क़त्ल कर देने का आज्ञा-पत्र लिखवा लिया। अब सिंधियाँवाले सरदारों ने अपने दो शत्रुओं, शेरसिंह और ध्यानसिंह, के वध का प्रबन्ध कर लिया। अचंभा यह है कि इनमें से हर एक उन्हें अपना हित-चिंतक समझता था।

शुक्र का दिन निश्चित था। शेरसिंह शहर से निकला। ध्यानसिंह बीमार था। दीनानाथ और शरीर-रक्षक बुद्धसिंह शेरसिंह के साथ थे। शाहबिलावल में सिंधियाँवाले सरदार लहणासिंह और अजीतसिंह आ गये। पचास सैनिक उनके साथ थे। शेरसिंह महल के अन्दर बारहदरी की छाया में बैठा था। कुश्तियाँ लड़नेवालों ने अपनी कला का प्रदर्शन किया। शेरसिंह अपने हाथ से उनको पुरस्कार देने लगा। वह अपनी कुरसी पर आराम से लेटा हुआ था कि अजीत-सिंह ने आकर एक दोनाली बंदूक़ निरीक्षण के लिए शेरसिंह को पेश की और कहा—"यह मैंने चौदह सौ को खरीदी है। अब मैं इसे तीन हज़ार पर भी बेचने को तैयार नहीं। आप भी देखिए न!" महाराज ने अपना हाथ बढ़ाया। अजीतसिंह ने दोनों घोड़े दबा दिये। दोनों गोलियाँ शेरसिंह की छाती को पार कर गईं। उसके मुँह से ये तीन ही शब्द निकले—



लहणा सिंह-द्वारा राजकुमार प्रतापसिंह का वध।

"एह की दगा !" (यह कैसा धोखा !) वह तुरन्त मर गया। उसका सिर उसी समय काट लिया गया। बुद्धसिंह आगे बढ़ा। उसने अजीतसिंह के दो साथियों का वध किया। उसकी तलवार टूट गयी। वह दूसरी लेने लगा तो उसका पैर फिसल गया, तब अजीतसिंह-दल ने उसे क़त्ल कर दिया। अजीतसिंह के सैनिकों ने एक साथ गोलियाँ चलाईं और शेरसिंह के नौकरों को मार डाला। क़ातिल पास ही बाग़ में गये। वहाँ शेरसिंह का बेटा राजकुमार प्रतापसिंह पूजा-पाठ करके ब्राह्मणों को दान दे रहा था। लहणासिंह नंगी तलवार लिये आगे बढ़ा। राजकुमार केवल बारह बरस का था। यह दृश्य देखकर वह घबरा गया। काँपते हुए उसके पाँव पर गिर पड़ा—"चाचा, मुझे जिन्दा रहने दो ! अपने जीवन में मैं तुम्हारे घोड़ों की लीद उठाया करूँगा।" "इस समय चाचा ?" तत्काल ही लहणासिंह ने बालक का सिर काट लिया। (जर्मन डाक्टर हॉगबरगर यह सब कुछ वहाँ खड़ा देख रहा था।)

शहर लाहौर में हलचल मच गई। लोगों ने डर के मारे दूकानें बंद कर दीं। सिंधियाँवाले सरदार अपने चार सैनिक साथ लेकर शहर को आये। आधे रास्ते में उनको ध्यानसिंह मिला। वह अपना पूजा-पाठ समाप्त करके धीरे-धीरे शाहबिलवाल जा रहा था। अजीतसिंह ने उसे बताया कि काम हो गया है। ध्यानसिंह सन्देह करने लगा। इसपर उसे दोनों सिर दिखलाये गये। ध्यानसिंह के मुँह से ये शब्द निकले—"बालक को मारना बड़ा पाप है !" अजीतसिंह ने उत्तर दिया —"जो कुछ हो गया, सो हो गया।"

अब ध्यानसिंह को बाध्य होकर अजीतसिंह के साथ क़िले की ओर जाना पड़ा। वे क़िले में प्रविष्ट हुए। जब वे अन्दर के दरवाज़े पर पहुँचे तो ध्यानसिंह को रोक लिया

गया। उसे सन्देह हो गया। उसने मुड़ कर देखा तो अपने साथी बहुत थोड़े पाये। उसने इतना ही पूछा—"क़िले के अन्दर कौन है ?" उत्तर मिला—"मित्र हैं !" अजीतसिंह ने पास आकर पूछा—"अब आप किसको राजा बनाना चाहते हैं ?" ध्यानसिंह ने उत्तर दिया—"दिलीपसिंह का अधिकार सबसे अधिक है।" इसपर अजीतसिंह झट से बोला—"अच्छा, वह राजा बन गया और तुम वजीर। परन्तु हमको इस काम से क्या मिला ?" उधर से भाई गुरुमुखसिंह ने कहा—"इसको भी रास्ते से हटाओ !" अजीतसिंह ने जरा सी गरदन मोड़ी और बाईं आँख से संकेत किया। पीछे से एक आवाज हुई। ध्यानसिंह ने मुड़कर देखा तो गोली ने उसका काम तमाम कर दिया। उसके एक मुसलमान अरदली ने मुक़ाबला करना चाहा, परन्तु उसे भी मार दिया गया। दोनों की लाशें तोपों के कारख़ाने में कूड़े के ढेर पर फेंक दी गईं।

अब लहणासिंह पहुँचा। वह अजीतसिंह से ग़ुस्सा होने लगा—"तुमने इतना जल्दी क्यों की है ?" अच्छा यह होता कि हीरासिंह, गुलाबसिंह और सुचेतसिंह को एक जगह बिठाकर निर्णय किया जाता। अब ध्यानसिंह का बेटा और भाई दोनों हमारे ख़िलाफ़ हैं। फिर ख़ालसा पर इनका बड़ा रोब है।"

हीरासिंह—सिंधियाँवाले सरदारों ने हीरासिंह और सुचेतसिंह को, ध्यानसिंह के नाम पर, क़िले में बुला भेजा। वे दोनों बुद्धू के आँवे में थे। वे धोखा न खाना चाहते थे। हीरासिंह ने संदेश-वाहक से कहा—"राजा ध्यानसिंह का लिखा हुआ हुक्म लाओ।" इसपर सिंधियाँवाले सरदारों ने

पाँच सौ सैनिक भेजे। उधर से हीरासिंह और सुचेतसिंह भी अपनी सेना के साथ तैयार थे। यह देखकर सिंधियाँवालों के सैनिक लौट आये।

हीरासिंह को अपने पिता की मृत्यु का कुछ पता न था। जब मिश्र लालसिंह ने उसके पास जाकर उसे क़िले में आने के लिए कहा तब वह अपने सैनिकों को प्रोत्साहन दे रहा था—"महाराज की मृत्यु की आप परवाह न करें। आप वीर हैं।" एक घंटा बाद उसे अपने पिता के निधन का समाचार मिला। यह उसके लिए आकाश से गोला गिरने के बराबर था। वह फूट-फूट कर रोने और ज़मीन पर लोटने लगा। भाई केसरीसिंह ने उसे समझाया—"ये कैसी बच्चों की सी बातें करते हो! नर बनो!" इससे उसका उत्साह बढ़ा। उसने उन हत्यारों के विरुद्ध सैनिकों को उभाड़ा जिन्होंने महाराज, निष्पाप राजकुमार और महामन्त्री के ख़ून से हाथ रँगे थे। वह आवीतबेला के मकान के ऊपर चढ़ गया। सभी सरदारों तथा सैनिकों को उसने बुलाया। वे बुढ्ढ़े के आँवे के नीचे एकत्र हो गये।

अपनी ढाल-तलवार खोल कर हीरासिंह ने सैनिकों से कहा—"क्या तुम जानते हो कि दग़ाबाज़ों ने महाराज, निर्दोष राजकुमार और मेरे पिता का वध किया है? राजा ध्यानसिंह आप सब से वैसा ही प्रेम करते थे जैसे मुझसे। हमारा राजा नहीं रहा; मेरा पिता भी नहीं रहा। तुम्हारी राजभक्ति, देशप्रेम और साहस तुमसे यह माँग करते हैं कि या तो तुम मेरे साथ रहो या मुझे तलवार से क़त्ल कर डालो! शत्रुओं के हाथ से मरने या उनके बीच में रहने में अपमान है। मित्रों के हाथ से क़त्ल होने में भी मान है। तुममें से कई एक

को मालूम ही है कि किस प्रकार बड़े महाराज तुमसे प्यार करते थे। ये कपटी मेरा गला काटना चाहते हैं। तुमको मालूम हो कि सिंधियाँवाले सरदारों का अँगरेज़ों के साथ मेल है और वे पञ्जाब को उनके हाथों में देना चाहते हैं। यदि पञ्जाब में अँगरेज़ी राज्य हो जायगा तो क्या सिखों का सारी वीरता तथा बड़प्पन मिट्टी में न मिल जायगी ?" इसके साथ ही उसने प्रतिज्ञा की कि हर प्यादे का वेतन बारह रुपये और हर घुड़चढ़े का तीस रुपये कर दिया जायगा।

हीरासिंह के सौंदर्य, शोक-पूर्ण चेहरे और भावना-आवेश का सैनिकों पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा। सबसे बढ़कर उन्हें वेतन में वृद्धि की आशा दिलाई गई। खालसा ने उसके प्रस्ताव को ध्यान से सुना और पसंद किया। वे मरने-मारने पर तैयार हो गये। क़िले पर आक्रमण करने का निश्चय किया गया। हीरासिंह ने इतना ही कहा कि वे आज्ञा के लिए तैयार रहें; तो भी खालसा क्रोधाग्नि में जलने लगा। जो सैनिक पहले सायं का भोजन बना रहे थे उन्होंने उसे ज्यों का त्यों छोड़ दिया। एक क्षण में चालीस हज़ार सैनिक आज्ञा के अनुसार कूच करने को तैयार हो गये।

इधर तो यह हो रहा था और उधर सिंधियाँवाले सरदारों ने अपने आपको क़िले में बन्द कर लिया। दिलीपसिंह को उन्होंने महाराज घोषित कर दिया और अजीतसिंह को प्रधान मंत्री। साथ ही सरदारों को वहाँ बुला कर उनसे नये शासक के प्रति भक्ति की प्रतिज्ञा ली गई। यदि वे साहस करके स्वयं सैनिकों से सम्बोधित होते तो सम्भवत: उनको साफल्य प्राप्त होता। परन्तु वे तो डर के मारे बाहर ही न निकले। वे असफल रहे।

हीरासिंह ने सायं को क़िले का घेरा डाल दिया। सारी रात क़िले पर गोले बरसाये गये। नगर में 'वाहे गुरुजी की फ़तह!' के नाद गूँजते थे। क़िले की दीवारों में कुछ सूराख़ भी हो गये, परन्तु ये पर्याप्त न थे। हीरासिंह ने सरदारों को बुला कर उनके सामने सौगंध खाई कि जब तक ध्यानसिंह के क़ातिलों के सिर उसके पाँव में न होंगे तब तक वह भोजन नहीं करेगा। उसने अपनी माता को पति के साथ जलने से रोक दिया। विधवा माता और सती होने के लिए तैयार दासियों को फ़ौज के सामने खड़ा कर दिया गया। तोपचियों ने उत्तेजित हो कर ऐसा ज़ोर मारा कि अगले दिन सवेरे नौ बजे दीवार में चीर पड़ गया। अब क़िले के ऊपर सबसे पहले चढ़नेवाला स्पेन का वासी हरमन था जो सेना में कर्नल था। तत्पश्चात् चालीस हज़ार सिपाही अन्दर चले गये।

सुचेतसिंह का परामर्श-दाता भाई केसरीसिंह सीढ़ियों से ऊपर चढ़ा। घेरा डालनेवालों ने प्रतिरोध किया, पर एक घंटे के अन्दर सारा काम समाप्त हो गया। अजीतसिंह दीवार से उतर कर भागा। परन्तु एक मुसलमान सैनिक ने उसे देख लिया। अजीतसिंह ने उसे लोभ में फँसाने के लिए अपना सोने का बाज़ूबन्द उसकी ओर फेंका, फिर भी उसका कटा हुआ सिर हीरासिंह के सामने पहुँच गया। खालसा ने सारा क़िला, तोपख़ाना और महल लूट लिया। नगर भी उसकी लूट से न बच सका। कुछ देर के बाद हीरासिंह ने लूटमार बन्द करवाई और अजीतसिंह का सिर लाकर अपनी सौतेली माँ के पैरों में रख दिया। वह बोली—"अब मुझे शांति हो गई है। चिता तैयार की जाय। हीरा, जब मैं तुम्हारे पिता से मिलूँगी तब उनसे कह दूँगी कि तू वीर और पितृभक्त लड़का सिद्ध हुआ है।"

चिता तैयार हो गई। शांत सती निर्धनों को रुपया तथा जवाहरात बाँटती जाती थी। अंत में उसने पति की कलगी हीरासिंह की पगड़ी में लगाई और प्रसन्न-वदन सीढ़ी से चढ़ गई। पति का सिर गोद में रख कर उसने आँखें बन्द कर लीं और हँसते हुए उच्च स्वर से यह आज्ञा दी—"आग लगा दी जाय!" रानी का दस बरस की एक दासी भी अपनी मालकिन के साथ जलना चाहती थी। तीन बार उसने अपने आप को चिता पर डाला, पर रोक ली गई। रानी ने उसे हीरासिंह के सुपुर्द किया—"इसका हर तरह से ख़्याल रखना।" दासी बोली—"अगर मुझे रानी के साथ जलने की इजाज़त न दी गई तो मैं इस शव की सौगंध खाती हूं कि किसी और ढंग से अपनी जान दे दूँगी।" रानी ने उसका दृढ़ संकल्प देख कर उसे आज्ञा दे दी। वह ख़ुशी-ख़ुशी चिता पर चढ़कर अपनी स्वामिनी के पैरों में बैठ गई। थोड़ी देर में ज्वालाओं ने सब कुछ स्वाहा कर दिया।

लहणासिंह का मृतक शरीर मुरदों में न मिला। उसके लिए कुछ आदमियों ने क़िले का कोना-कोना छान मारा अंत में वह एक तहख़ाने में छिपा हुआ पाया गया। उसके साथ एक अन्य आदमी राहसिंह भी था। लहणासिंह लँगड़ा हो चुका था। राहसिंह नंगी तलवार से उसकी रक्षा कर रहा था। सैनिक उस पर टूट पड़े। लहणासिंह ने मरने से पूर्व तेरह शत्रुओं को मारा। उसका सिर काटकर हीरासिंह के पास पहुँचाया गया। इस पर दस हज़ार रुपया बधिकों में बाँटा गया।

क़िला लेने के पश्चात् हीरासिंह ने दिलीपसिंह के पास जा कर उसका चरण-चुंबन किया। हज़ूरीबाग़ की बारहदरी में बैठकर दिलीपसिंह से यह आज्ञा निकलवाई गई कि

सिंधियांवाले सरदारों के सभी आदमियों को गिरफ़्तार कर लिया जाय। इन सब का प्राणांत कर दिया गया। इनमें भाई गुरमुखसिंह और मिश्र बेलीराम भी सम्मिलित थे। अजीतसिंह और लहणासिंह के शरीर लाहौर के विभिन्न बाज़ारों में घसीटे गये, उनकी जागीरें ज़ब्त की गईं और मकान गिरा दिये गये। अतरसिंह इनकी सहायता को लाहौर आ रहा था। सारा हाल सुनकर वह सतलज पार हो गया।

दिलीपसिंह—चौथे दिन (सितम्बर, १८४३ में) हज़ूरी बाग़ में सभी सरदारों को बुला कर एक सभा की गई। इसमें दिलीपसिंह महाराज बनाया गया और हीरासिंह प्रधान मंत्री। हीरासिंह ने कहा—"मैं प्रधान मंत्री नहीं बनता। मेरे और मेरे वंश के शत्रु यहाँ बहुत-से हैं। मैं यह काम नहीं कर सकता।" खालसा की ओर से आवाज़ें आईं—"आपका कोई शत्रु नहीं है। जो आपका शत्रु होगा वह महाराज का शत्रु समझा जायगा और उसे सज़ा दी जायगी।"

जो आदमी सिंधियांवालों से मिले हुए थे उनके सम्बन्ध में खालसा ने क़त्ल का हुक्म दे दिया। अब हीरासिंह प्रधान मंत्री बनने पर राज़ी हो गया। खालसा के हाथ में सारी शक्ति चली गई। महाराज रणजीतसिंह के घोड़े वह ले गया। सारा सामान उसके अधिकार में चला गया। राज-कोष से तीस-चालीस लाख रुपया निकल गया।

हीरासिंह को एक प्रकार से महाराज रणजीतसिंह ने शिक्षा दिलाई थी। इसके अतिरिक्त महाराज के पास रह कर उसने दरबारी मामलों की क्रियात्मक शिक्षा प्राप्त की थी। वह देश-काल को पहचानता था। उसकी आयु इस समय पैंतीस बरस की थी। उसके सामने बड़ा उज्ज्वल भविष्य था।

परन्तु वह जल्ला पंडित नाम के एक ब्राह्मण के रोब में आ गया। जल्ला को वह देवता समझ कर पूजता। वह हीरासिंह का मन भविष्यवाणियों तथा सपनों में देखी गई बातों से बहलाता रहता। हीरासिंह का चचा सुचेतसिंह उससे बड़ी ईर्ष्या करता था। रानी जिंदां सुचेतसिंह को अपना वजीर बनाना चाहती थी। जल्ला पंडित से सुचेतसिंह की शत्रुता हो गई। जिन्दां का भाई जवाहरसिंह बहन का बड़ा सहायक था। स्थिति विकट देखकर हीरासिंह ने सैनिकों के वेतन में ढाई-ढाई रुपये की वृद्धि कर दी। वे उसके साथ हो गये।

हीरासिंह ने गुलाबसिंह को जम्मू से बुलाया। वह १० नवम्बर को लाहौर पहुँचा। उसने इस बात की कुछ परवाह न की कि उसके सामने हीरासिंह खड़ा है या सुचेतसिंह। उधर से जवाहरसिंह दिलीपसिंह को हाथी पर चढ़ाकर खालसा के सामने ले गया। उसने निवेदन किया कि "महाराज और उसकी माता से प्रधान मंत्री का व्यवहार अच्छा नहीं। इसलिए यदि यह ऐसा ही रहेगा तो वे सतलज पार चले जायँगे।" उसका आशय यह था कि या तो सुचेतसिंह को वजीर बनाया जाय या स्वयं जवाहरसिंह को। इस भाषण का खालसा पर उलटा प्रभाव पड़ा। सैनिक जवाहरसिंह पर संदेह करने लगे। रात भर उन्होंने जवाहरसिंह के गिर्द गारद खड़ी रखी। खालसा का प्रधान सेनानायक मिश्र जोधाराम जल्ला का ससुर था। उसने जवाहरसिंह का अपमान किया और उसके मुँह पर मुक्का मारा। रात भर पंचायत होती रही जिसमें निर्णय हुआ कि जवाहरसिंह तथा सुचेतसिंह देश-घातक हैं।

अफवाह मशहूर हो गई कि दिलीपसिंह को जवाहरसिंह अँगरेजों के पास फ़ीरोजपुर ले जा रहा था। परन्तु हीरासिंह उसे हाथी पर बिठला कर वापस लाहौर ले आया है और

अब वह अपनी माँ के सुपुर्द कर दिया गया है। १०१ तोपें चलाई गईं। जवाहरसिंह को क़ैद कर दिया गया। सुचेतसिंह भी सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा। उसकी पलटनें क़िले से निकाल दी गईं और स्वयं उसका क़िले में प्रवेश बंद कर दिया गया। गुलाबसिंह जम्मू लौट गया। सुचेतसिंह भी उसके साथ था। वहाँ उसने गुलाबसिंह के छोटे बेटे को मुतबन्ना बना लिया।

पेशावरासिंह तथा काश्मीरासिंह——महाराज रणजीतसिंह के दो और लड़के थे। पेशावरासिंह पेशावर में था और काश्मीरासिंह सियालकोट में। कुछ लोग उस समय गद्दी पर दिलीपसिंह की अपेक्षा इनका अधिकार अधिक मानते थे। इन दोनों को फँसाने के लिए हीरासिंह ने सिंधियांवालों के षड्यंत्रों से इनका सम्बन्ध बताया। इनकी ओर से लिखी गई चिट्ठियाँ तैयार की गईं। गुलाबसिंह को आदेश मिला कि इनको क़ैद करके वह इनकी सम्पत्ति ज़ब्त कर ले। इनपर पचास लाख रुपया जुर्माना किया गया जिसमें से केवल बीस हज़ार प्राप्त हुआ। इसे ही पर्याप्त दंड समझ कर इनकी जागीरें इनको लौटा दी गईं। परन्तु इन्होंने उस नौकर कपूरसिंह को मरवा डाला जिसने इनके विरुद्ध मामला खड़ा किया था। इस पर लाहौर दरबार ने गुलाबसिंह को इनके खिलाफ़ फ़ौज ले जाने की आज्ञा दी। इन्होंने थोड़ी-सी सेना सेही गुलाबसिंह को परास्त कर दिया। गुलाबसिंह ने लाहौर से सहायता माँगी।

खालसा राजपुत्रों के विरुद्ध लड़ने पर तैयार न था। तब डोगरे और मुसलमान सेना भेजी गई। उन्होंने भी जाकर कुछ न किया। इस पर ध्यानसिंह की सेना प्रेषित की गई।

सियालकोट को घेर लिया गया। वह गुलाबसिंह के हाथ आ गया।

दोनों राजकुमार वहाँ से निकल कर इलाक़ा माझा में घूमने लगे। इस कारण खालसा हीरासिंह से रुष्ट हो गया। चार दिन तक हीरासिंह ने डर के मारे क़िले के बाहर पैर तक न रखा। जवाहरसिंह को मुक्त कर दिया गया, जल्ला को पद-च्युत और दोनों राजकुमारों के जीवन का संरक्षण आवश्यक ठहराया गया।

हीरासिंह की कठिनाई से सुचेतसिंह लाभ उठाना चाहता था। इन विभिन्न कठिनाइयों तथा झगड़ों के कारण लगान न प्राप्त हुआ था। उधर राजकोष दिन प्रतिदिन खाली हो रहा था। हीरासिंह ने जल्ला को माल के हिसाब की जाँच-पड़ताल करने के लिए नियुक्त किया। उसने देखा कि मूलराज, गुलाबसिंह आदि बहुत-से सरदारों ने एक समय से राजकोष में कुछ नहीं भेजा। उन सबसे माँग होने लगी। हीरासिंह और जल्ला इस कारण भी बदनाम होने लगे।

सुचेतसिंह—सुचेतसिंह के आदमियों ने उसे लाहौर बुला भेजा। २६ मार्च, १८४४ को वह शाहदरा आ पहुँचा, परंतु अब खालसा की सम्मति बदल गई। सुचेतसिंह इस विचार से रावी पार शहर को जाना चाहता था कि कुछ सेना तो उसके साथ हो जायगी। उसे वापस चले जाने को कहा गया; परन्तु वह लौटने का खयाल न करता था। रात को उसके बहुत-से साथी उसका साथ छोड़ गये; केवल ४५ रह गये। मियाँदाद में उसका डेरा था।

लाहौर में खालसा को बुलाकर हीरासिंह ने भाषण दिया—"सुचेतसिंह फरंगियों का मित्र है। यदि तुम मुझे मारना

चाहते हो तो यह मेरी तलवार मुझसे ही लो और मुझे मार दो; पर तुम्हें गुरु की सौगंद है, मुझे शरम की मौत न मरने दो।" सारा खालसा तैयार हो गया। पंद्रह-बीस हज़ार सेना सुचेतसिंह के मुक़ाबले पर गई। मुक़ाबला क्या होना था! उसे बहुत देर तक समझाया गया कि भाग जाओ। परन्तु वह राजपूती आन पर मरना चाहता था। खालसा सेना से उसने कहा—"तुमने मुझे बुलाया है। अब तुम्हीं मुझे मारने पर तैयार हो गये हो। आओ, मैदान में आओ! तलवार लिये एक-एक आओ!" बड़ी वीरता से वह और उसके साथी लड़कर मारे गये।

इनमें से एक राय केसरीसिंह था। वैसा वीर उस समय कोई न था। वह कई बार गिरा, परन्तु हर बार उठकर लड़ाई करने लगता। अकेले उसी ने बीस दुश्मनों का वध किया। जब उसका अंत निकट आ गया तब उसने हीरासिंह से 'जयदेवा!' कहा और पानी माँगा। उसे उत्तर मिला "पानी तो पहाड़ियों में बहुत था!" वह प्यासा ही मर गया। अपने चाचा सुचेतसिंह का मृतक ज़मीन पर देख कर हीरासिंह की आँखों में आँसू आ गये। उसके साथ अन्य सरदारों की लाशें आदर से जलाई गईं।

बाबा बीरसिंह—माझा में एक आदमी बाबा बीरसिंह रहता था। उसके पास पन्द्रह सौ सिपाही थे। उसने कहा—"पंजाब का राज्य गुरु गोबिन्दसिंह का है। दिलीपसिंह बालक है, हीरासिंह अयोग्य सिद्ध हुआ है, इसलिये अब खालसा को अपना ही कोई आदमी नियुक्त करना चाहिए।" उसने सिंधियांवाला-दल के पक्ष में प्रचार आरम्भ किया। इस उद्देश्य से सभी सरदारों को पत्र भी लिखे गये। काश्मीरासिंह

और पेशावरासिंह भी इस विद्रोह में सम्मिलित हो गये। लाहौर से सेना भेजी गई। एक शर्त यह थी कि बीरसिंह को सरदार कोई हानि न पहुँचायँगे। लड़ाई हुई तो वह पहले गोले से ही मारा गया। काश्मीरासिंह के अतिरिक्त सेनानायक गुलाबसिंह भी वहीं मारे गये। बीरसिंह ने बहुत-सा धन एकत्र कर रखा था। उसकी धार्मिकता तथा आचार-शुद्धता की परवाह न करके ख़ालसा ने उसकी सारी धन-संपत्ति लूट ली। पेशावरासिंह ने अधीनता स्वीकार कर ली। लाहौर आने पर उसकी जागीर लौटा दी गई। वह गुजरांवाला चला गया।

जल्ला पंडित—अब हीरासिंह अपने अभ्युत्थान के शिखर पर था। परन्तु उसने और जल्ला ने बहुत-से शत्रु बना लिये थे। जल्ला ध्यानसिंह के बेटों का शिक्षा-गुरु था। हीरासिंह उसके हाथ में कठपुतली था। जल्ला का घमण्ड इतना बढ़ गया कि सभी दरबारी उससे जलने लगे। वह जवाहरसिंह का शत्रु था। जवाहरसिंह ने अमृतसर में रह कर हीरासिंह आदि डोगरों के विरुद्ध अकालियों, 'भाइयों' और गुरुओं के दिल में जहर भर दिया। लालसिंह जल्ला का पगड़ीबंद मित्र था। (दोनों ने एक समय एक-दूसरे से पगड़ी बदली थी।) साथ ही रानी जिंदां का मरज़ीदान था।

रानी ने लालसिंह के साथ मिलकर जल्ला के विरुद्ध षड्यंत्र रचा। मास के पहले दिन रानी निर्धनों को धन बाँट रही थी। जल्ला ने एक कड़ा शब्द कह कर उसका अपमान किया। रानी ने खालसा से निवेदन किया। जवाहरसिंह ने हाथी पर सवार हो कुछ सेना साथ ले कर हीरासिंह से कहा—"जल्ला को मेरे सुपुर्द किया जाय।" हीरासिंह ने इससे

इनकार किया। परन्तु उसने देख लिया कि अब मेरा लाहौर रहना ठीक नहीं। अपनी धन-संपत्ति ले कर उसने जम्मू को भाग जाना ठीक समझा। २१ दिसम्बर, १८४४ को तीन-चार सौ घुड़चढ़ों के साथ उसका निश्चय अँधेरे में निकल जाने का था। परन्तु तैयारी में देर हो गई और सूर्य निकल आया। ज्योंही वे टकसाली दरवाजे से निकले, सिख-पलटनों ने बिगुल बजाने शुरू किये। जवाहरसिंह को प्रधान मंत्री बना दिया गया। हीरासिंह और उसके साथी रावी पार हो गये, परन्तु आगे वे केवल डोगरों को ही साथ ले गये। तारगर जाकर वे आराम के लिए घोड़ों से उतरे। किन्तु अपने पीछे उन्होंने कई सवारोंको आते देखा। इससे घोड़ों पर चढ़ वे तेजी से चल दिये। शाहदरा के मक़बरे में आश्रय लेने गये, पर पठानों ने वहाँ से निकाल दिया।

पीछे से शत्रु आ पहुँचे। हीरासिंह ने थैलियों से अशरफ़ियाँ निकालकर इधर-उधर फेंकीं। सैनिक उन्हें चुनने में लग गये। श्यामसिंह अटारीवाला ने उन्हें उत्तेजित करने के लिए कहा—"सूअरों को क़त्ल कर दो।" सेनानायक मेवासिंह बोला—"जाने मत दो!" उनके सैनिक आगे बढ़े। परन्तु हीरासिंह ने फिर अशरफ़ियाँ फेंकीं। इस प्रकार वे दस-बारह कोस निकल गये। जल्ला पंडित थक कर घोड़े से गिर पड़ा। उसे काट डाला गया। हीरासिंह पानी पीने के लिए एक गाँव में प्रविष्ट हुआ। जवाहरसिंह भी वहाँ पहुँच गया। उसने अपने सैनिकों को आदेश दिया कि सारे गाँव को आग लगा दो। हीरासिंह ने घोड़े पर चढ़ कर भागने का यत्न किया, पर काट दिया गया। उसके छः साथी ही तेज़ घोड़ों के कारण भाग सके।

जवाहरसिंह—खालसा सैनिकों के साथ जवाहरसिंह उधर से लौट कर दोपहर को शहर लाहौर में दाखिल हुआ। हीरासिंह और जल्ला पण्डित के सिर उन्होंने हाथों में ले रखे थे। सभी लोग भेंट लेकर आगे दौड़े। हीरासिंह का सिर लाहौरी दरवाज़े पर एक दिन तक लटकाया गया। अकालियों ने जल्ला का सिर उठा लिया और दूकान-दूकान पर कौड़ियाँ लेकर दिखाते रहे। साथ ही वे यह कहते—'यह वह बदमाश है जिसने हीरासिंह से अपने चचा को, पैंतालीस आदमियों के साथ, क़त्ल करवाया है।" जल्ला का सिर गन्दगी के ढेर पर फेंक दिया गया। कई सप्ताह तक वह वहीं पड़ा रहा। तत्पश्चात् जवाहरसिंह ने उसे कुत्तों के सामने डलवा दिया।

जवाहरसिंह का पहला काम यह था : तोशाखाने के सोने के बरतन पिघला कर कंठे बनवाये गये। ये सैनिकों को दिये गये। खालसा अब अमीर हो गया। अंधेरगर्दी से खालसा को बहुत लाभ हुआ। उसका लोभ बढ़ा। उसने जम्मू की ओर ध्यान फेरा। वे हीरासिंह और सुचेतसिंह की सम्पत्ति के अतिरिक्त गुलाबसिंह से तीन करोड़ रुपया माँगते थे।

खालसा सेना ने जम्मू पर चढ़ाई कर दी। लड़ाई में सरदार फतहसिंह मान मारा गया। गुलाबसिंह डर गया। उसने ख़ुद ही खालसा पंचायत के सामने आकर हाथ जोड़ दिये और कहा—"यह सब कुछ खालसा का है।" उसने सैनिकों में तीन लाख रुपये बाँट दिये। सैनिक उसे लाहौर ले आये। गुलाबसिंह ने रानी से मिलकर उसे ऐसा प्रसन्न किया कि वह उसे वज़ीर बनाने पर तैयार हो गई; परन्तु गुलाबसिंह ने लौटना चाहा। इसपर रानी ने उसपर छः लाख अस्सी हज़ार रुपया जुर्माना कर दिया। फिर भी गुलाबसिंह जम्मू

लौट गया। लाहौर के कीटाणु-पूर्ण वातावरण से वह दूर रहना चाहता था।

सितम्बर, १८४४ में दीवान सावनमल को एक बदमाश ने क़त्ल कर डाला। उसके स्थान में उसका बेटा मूलराज मुलतान का शासक बना। पहले तो उसने लाहौर को भेंट देने से इनकार किया। परन्तु जब उसपर चढ़ाई करने के लिए तैयारी हुई तब उसने एक लाख, अस्सी हज़ार रुपया भेंट-स्वरूप दिया।

गुलाबसिंह से बहुत-सी जागीर भी ले ली गई थी। उसने पेशावरासिंह को जवाहरसिंह के विरुद्ध उकसाया। पेशावरासिंह लाहौर गया। खालसा जवाहरसिंह से नाराज़ था। कारण : उसने कहा था कि वह महाराज को लेकर अँगरेज़ों के पास चला जायगा। खालसा सेना पेशावरासिंह को चाहने लगी। जवाहरसिंह ने अपनी बहन जिंदां से परामर्श करके खालसा को अपनी ओर लाने के लिए उससे बहुत-से इक़रार किये। इसपर खालसा ने पेशावरासिंह से कहा—"इस समय आप अपनी जागीर को चले जायँ। उचित अवसर की तलाश में रहिये।"

पेशावरासिंह अटक जा पहुँचा। पठानों की मदद से क़िला लेकर उसने अपने आपको महाराज घोषित कर दिया और दोस्तमुहम्मद से पत्र-व्यवहार करने लगा। इस दशा में खालसा सेना उसके विरुद्ध भेजी गई। परन्तु वह खालसा को इतना प्रिय था कि सैनिकों ने लड़ने से इनकार कर दिया। अब सरदार चतुरसिंह अटारीवाला लौशहरा से और फ़तहख़ाँ टिवाना डेरा इस्माईलख़ाँ से अटक भेजे गये। इन्होंने अपने अन्दर प्रतिरोध का सामर्थ्य न देख सुलह से काम लिया। कई दिन तक पत्र-

व्यवहार हुआ। अन्त में निर्णय यह हुआ कि पेशावरासिंह को महाराज रणजीतसिंह का बेटा मान लिया जाय, वह मान-पूर्वक अटक के क़िले को ख़ाली कर दे और उसे एक लाख की अन्य जागीर दी जाय। जब वह क़िले से बाहर आ गया तो उसे गिरफ़्तार करके क़ैदख़ाने में डाल दिया गया और गला घोंट कर उसे वहीं मार दिया गया। वधिक दो थे। वे लाहौर आने के बजाय अपने इलाक़ों को लौट गये।

यह समाचार लाहौर पहुँचा। जवाहरसिंह ने तोपों की सलामी ली और रात को शहर में प्रकाश करवाया। ख़ालसा को इस बात से आग लग गई। बहुत-सी सेना नाराज़ होकर लाहौर से बाहर चली गई। दूसरे दिन कुछ सैनिक देहली दरवाज़े आ पहुँचे। शेष ने क़िले पर हल्ला बोल दिया। अब जवाहरसिंह घबराया। उसने ख़ालसा से वेतन-वृद्धि के कई इक़रार किये, परन्तु उसकी एक न सुनी गई। उसने बहन से परामर्श किया। बहन, महाराज और एक हज़ार सवार साथ लेकर वह ख़ालसा की सेवा में उपस्थित हुआ। फ़ौज ने बिगुल बजाने शुरू किये। हाथी को ज़बरदस्ती बिठला कर दिलीपसिंह को उसकी माँ की गोद से छीन लिया गया। जवाहरसिंह ने हाथ जोड़े—"मेरी एक बात सुन लें।" उसे बाईं ओर संगीन लगी। जब वह दूसरी ओर झुका तो उधर से गोली लगी। वह वहीं ढेर हो गया। उसके परामर्श-दाता रतनसिंह और भाई जट्टू का भी वध कर दिया गया।

यह घटना २१ सितम्बर, १८४५ को हुई। रानी सोना और नक़दी साथ लाई थी। यह माल लूट लिया गया। रानी तम्बू में रखी गई जहाँ वह रात भर रोती और चिल्लाती रही। वह अपने बाल नोचती और कपड़े फाड़ती थी। मुश्किल से उसे वहाँ से हटाया गया। जवाहरसिंह की लाश को शहर ले

जाकर मस्ती दरवाजे के सामने जलाया गया। दो रानियाँ और तीन दासियाँ सती हुईं। चिता पर चढ़ते समय हर एक की नाक और कान से गहने उतार लिये गये। अब रानी जिंदाँ प्रतिदिन रोते हुए अपने भाई की समाधि पर जाया करती। इसपर खालसा ने उसे राजी करने का प्रयत्न किया। जिन आदमियों ने जवाहरसिंह को मारा था वे उसके हवाले कर दिये गये। रानी सन्तुष्ट हो गई।

नवाँ प्रकरण

पंजाब में अँगरेज़ी राज्य

अँगरेज़ों का आगमन तथा उन्नति—जिस युग में मुग़लों ने भारत पर आक्रमण करके यहाँ एक दृढ़ शासन की नींव डाली उसी में समुद्र की ओर से योरपीय जातियों के लोग व्यापार के उद्देश्य से भारत आये। उसी युग में हिन्दुस्थान में धार्मिक सुधार के आन्दोलन ने स्थान-स्थान के लोगों पर अपना प्रभाव डाला। फलस्वरूप महाराष्ट्र तथा पञ्जाब में दो बड़े हिन्दू साम्राज्य बने। योरपीय जातियों में से चार—पुर्तगीज़, फ्रांसीसी, डच, और अँगरेज़—के लोग इधर आये। इनमें से फ्रांसीसियों और अँगरेज़ों ने राजनीतिक कार्यक्रम को हाथ में लेकर देश के विभिन्न भागों को अपने अधीन करना आरंभ किया। दोनों में परस्पर मुक़ाबला हुआ। अंगरेज़ जीत गये और उनका राज्य धीरे-धीरे बढ़ने लगा। हिन्दुस्थान की राज-सत्ता के लिए अँगरेज़ों का सबसे बड़ा मुक़ाबला महाराष्ट्र तथा पञ्जाब के हिन्दुओं की ओर से हुआ।

संसार के इतिहास में गत चार शताब्दियाँ वह युग है जिसमें योरप के लोगों का शेष दुनिया पर प्रभुत्व पाया जाता है। इस प्रभुत्व का श्रीगणेश उन समुद्री यात्राओं के कारण हुआ जिनमें योरप के लोगों ने उत्तरी अमेरिका तथा दक्षिणी अमेरिका के भूखंड मालूम किये और साथ ही अफ़रीका तथा एशिया पहुँचने के समुद्री मार्ग भी। इन समुद्री खोजों के अन्तस्तल में व्यापारिक उन्नति का विचार काम कर रहा था।

परन्तु व्यापार के साथ-साथ राजनीतिक विजय पा देश को अपने अधीन करने का विचार भी पाया जाता था। यही कारण है कि आज-कल यह बात सर्वमान्य हो गई है कि योरप के लोग (बाद में जापानियों ने भी ऐसा ही किया) पहले अपने यात्रियों को सैर और शिकार के लिए अन्य देशों में भेजते हैं। इन यात्रियों के बाद ईसाई मत का प्रचार करनेवाले पादरी जाते हैं। पादरी अपने साथ व्यापारी ले जाते हैं। अंत में तलवारें लिये सैनिक पहुँच जाते हैं, जो देश को अपने अधीन करना आरंभ कर देते हैं।

ये समुद्री यात्राएँ व्यापार के उद्देश्य से हुईं। परन्तु ईसाइयों तथा मुसलमानों के परस्परिक वैर-विरोध के कारण उनको बड़ी सहायता मिली। नये समुद्री मार्गों पर चलने वाले सबसे पहले लोग स्पेन तथा पुर्तगाल के वासी थे। ये कई सदियों तक मूर मुसलमानों के अधीन रहे। परन्तु जब स्वतंत्रता की भावना ने इनमें बौद्धिक क्रांति उत्पन्न की तो इनके दिलों में अपने मुसलमान शासकों के विरुद्ध घृणा की अग्नि भड़क उठी। इसका फल यह निकला कि इन्होंने मूर मुसलमानों का पीछा कर के उनका अस्तित्व ही मिटा देने का निश्चय कर लिया।

प्राचीन काल में इटली के लोगों ने संसार के कई भागों में अपने उपनिवेश बनाये। आधुनिक काल में यह काम स्पेन तथा पुर्तगाल के लोगों ने किया है। स्पेनवालों के साथ अँगरेजों और डचों (हालैंडवासियों) की कट्टर शत्रुता थी। हालैंड स्पेन के राज्य का एक प्रांत था। स्पेन ने उनपर मजहबी तथा राजनीतिक अत्याचार करके उनको अपना शत्रु बना लिया। रोमन कैथलिक और प्राटेस्टेंट ईसाइयों के दो संप्रदाय हैं। इँगलैंड के प्राटेस्टेंट बन जाने पर स्पेन ने उसपर आक्र-

मण करके उसकी शक्ति को तोड़ना चाहा। इस पर हालेंड और इँगलेंड ने स्पेन के व्यापार तथा प्रभुत्व को कम करने के लिए संसार में अपने उपनिवेश बनाने एवं फैलाने का निश्चय किया। स्पेन के कई उपनिवेशों पर डचों ने क़ब्ज़ा कर लिया। अँगरेज़ों ने हिन्दुस्थान के व्यापार को अपने हाथ में लेने के लिये आन्दोलन शुरू किया। इँगलेंड की रानी इलिज़बेथ के राज्य-काल में ईस्ट इंडिया कम्पनी की नींव रखी गई ताकि वह इँगलेंड और भारत में व्यापार-संबन्ध बनाये।

इस कम्पनी ने भारत के पश्चिमी तथा पूर्वी तटों पर सूरत, मद्रास, कलकत्ता आदि में व्यापार की कोठियाँ बनाईं। उन दिनों इँगलेंड से चलकर जहाज आठ-दस महीने में भारत पहुँचता था। जहाज़ को अपना माल बेचने और भारत का ख़रीदने में जितना समय अधिक लगता उतना ही कम्पनी को नुक़सान का डर रहता। इसलिए ये कोठीदार जहाज़ के आने से पूर्व माल ख़रीद रखते और जहाज़ के चले जाने के बाद भी उसका लाया हुआ माल बेचते रहते। जब इन कोठीदारों के पास रुपया बहुत हो गया तो इन्होंने अच्छे-अच्छे मकान बनवाने शुरू किये और उनके लिए रक्षक रखे। रक्षकों की संख्या बढ़ जाने से एक छोटी-सी फ़ौज बन गई और मकानों को अधिक दृढ़ बना कर उन्हें धीरे-धीरे क़िलों का रूप दे दिया गया। क़िले, सैनिक और रुपया— ये सब राजनीतिक शक्ति बढ़ाने के ऐसे साधन थे जिन्हें मौक़ा पड़ने पर प्रयोग में लाना साधारण बात थी। अँगरेज़ों के अतिरिक्त फ़्रांसीसियों ने भी विभिन्न स्थानों पर अपनी कोठियाँ बना लीं।

भारत की राजनीतिक शक्ति औरंगज़ेब के राज्य-काल के पिछले हिस्से में बहुत कमज़ोर हो गई। औरंगज़ेब का मरना

था कि देहली में गद्दी के लिए किये गये झगड़ों ने मुग़ल-शासन का बचा-खुचा दबदबा भी उड़ा दिया। जितने सूबे देहली से कुछ दूर थे वे स्वायत्त बन बैठे। इनकी खु़दमुख्तारी का उद्देश कोई राजनीतिक या राष्ट्रीय हित न था। इसकी तह में उनका स्वार्थ था। इस व्यक्तिगत स्वार्थ का फल यह हुआ कि जहाँ कहीं किसी आदमी ने स्वायत्त शासन बनाया उसके मुक़ाबले पर कई प्रतिरोधी खड़े हो गये। जहाँ ऐसा न हुआ वहाँ उस शासक के मरने के पश्चात् गद्दी के लिए उसके लड़कों और रिश्तेदारों में झगड़े शुरू हो गये।

जहाँ राजनीतिक तथा राष्ट्रीय आचार का मापक आदर्श केवल स्वार्थ हो वहाँ ऐसे झगड़ों का पैदा होना स्वाभाविक ही होता है। ये झगड़े पहले-पहल कर्णाटक तथा हैदराबाद में आरम्भ हुए। दोनों जगह झगड़े करनेवालों को यह आवश्यकता हुई कि वे योरप के विदेशी व्यापारियों से सहायता प्राप्त करें। यह सहायता माँगना विदेशियों को भारत के राजनीतिक मामलों में दखल दिलाना और अपनी निर्बलताएँ जतलाना था। एक स्थान में सहायता देने के कारण इन विदेशियों को राज्य करने के लिए इलाक़ा मिल गया। अब स्वयं इन विदेशियों का इस बात की ओर से प्रयत्न होने लगा कि भारत के विभिन्न शासकों में दलबन्दियाँ और झगड़े पैदा करके उनके द्वारा अपनी राजनीतिक सत्ता बढ़ाई जाय।

हमें आज यह देख कर आश्चर्य होता है कि इतने हजार मील से चलकर एक छोटी-सी जाति के लोग भारत-जैसे बड़े देश, बल्कि भूखंड, पर किस प्रकार राज कर सकते हैं। परंतु जब हम अपने देशवासियों के मुक़ाबले में इन विदेशी व्यापारियों की योग्यता, दूरदर्शिता तथा राष्ट्रभक्ति देखते हैं तो सारा रहस्य हमारी समझ में आ जाता है। इन व्यापारियों ने

देखा कि उनकी आँखों के सामने कई साधारण व्यक्तियों ने शासन-सूत्र अपने हाथ में ले लिये और उन्हें कोई पूछनेवाला न था। इससे उन्हें यह ख़याल आया कि इस देश में शासन के लिए जब अन्य आदमी जूए के दाँव लगा रहे हैं तब हम भी अपना दाँव क्यों न लगा दें? वे अधिक बुद्धिमान् तथा दूरदर्शी थे, इसलिए उनका सफल होना निश्चित था। ये दाँव अँगरेज़ों और फ़्रांसीसियों, दोनों, की ओर से लगाये गये। पर अँगरेज़ों में अपने देश तथा जाति के प्रति भक्ति फ़्रांसीसियों की अपेक्षा अधिक थी। फिर उन्हें अपने देश से फ़्रांसीसियों की निस्बत अधिक सहायता मिलती रही। इस कारण अँगरेज़ों ने फ़्रांसीसियों को इस क्षेत्र में पछाड़ दिया और दक्षिण में अँगरेज़ों का प्रभुत्व बढ़ने लगा।

जो कुछ दक्षिण में हुआ वही कुछ वर्ष बाद बंगाल में हुआ। बंगाल के शासकों में गद्दी के सम्बन्ध में स्वार्थ के कारण झगड़े हो रहे थे। हर एक अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को देश-हित से बेहतर समझता था। उधर अँगरेज़ कम्पनी के अफ़सर वे आदमी थे जिनके दिलों में सर्वप्रथम देश-हित था। अपना व्यक्तिगत लाभ उनके लिए गौण बात थी। जहाँ कहीं व्यक्तियों का मुक़ाबला संगठित शक्ति से होता है वहीं व्यक्ति हार जाते हैं। व्यक्ति की आयु थोड़ी होती है, संगठित शक्ति का जीवन-काल लंबा होता है। अँगरेज़ों की कम्पनी एक संगठित संस्था थी। उसके सामने मुहम्मदअली या चंदासाहब, सिराजुद्दौला या मीर जाफ़र बहुत देर तक जीवित न रह सकता था।

मराठों का उत्कर्ष—जब बंगाल अँगरेज़ों के हाथ में आ गया तब उन्हें महाराष्ट्र से मुक़ाबला करना पड़ा।

महाराष्ट्र में हिन्दुओं की विशेष राजनीतिक सत्ता के संस्थापक महाराज शिवाजी थे। गुरु गोविन्दसिंह के समय वे भी भारत में हिन्दू साम्राज्य की स्थापना करना चाहते थे। यदि महाराज शिवाजी का उद्देश्य अपने व्यक्तिगत स्वार्थ या घराने तक ही सीमित होता तो यह सम्भव न था कि स्वतंत्रता का जो आन्दोलन महाराष्ट्र के हिन्दुओं ने चालीस बरस तक अँगरेजों के विरुद्ध चलाया वह महाराज शिवाजी के निधन के पश्चात् भी जारी रहता। उनके साम्राज्य का गौरव एक और बात से भी सिद्ध होता है। महाराष्ट्र के हर एक स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े और सरदार को हिन्दू-शासन से इतना प्रेम हो गया कि वह उसे अपना समझने लग गया। यही कारण था कि मराठा सरदार और सैनिक किसी नेता या राजा के बग़ैर लगातार कई वर्ष तक शाही फ़ौज से लड़ते रहे।

एक दृष्टि से चालीस बरस के इस सङ्घर्ष के कारण महाराष्ट्र के हिन्दुओं में धैर्य, सङ्कटों का मुक़ाबला करने की शक्ति, दूरदर्शिता आदि गुणों का विकास हो गया। इस तरह वे शासक बनने के योग्य हो गये। इसी संघर्ष ने बालाजी विश्वनाथ-जैसा नेता उत्पन्न किया जो साधारण पटवारी की हैसियत से उन्नति करते हुए अपनी योग्यता के कारण पेशवा या प्रधान मंत्री बन गया। इसके वंश में पेशवाई पैतृक हो गई और थोड़े ही समय में मराठा-शासन में पेशवा का पद प्रधान का हो गया।

बालाजी विश्वनाथ ने ही सभी हिन्दू सरदारों को, जिन्होंने विभिन्न प्रदेश जीत कर अपनी-अपनी रियासतें बना ली थीं, संघ-सूत्र (कानफ़ेडरेशन) में बाँध रखा। महाराज शिवाजी के घराने का कोई शक्तिशाली राजा न रहने के कारण मराठा सरदार सेंधिया, होल्कर, गायकवाड़ और भोंसला आदि अपने

आपको अपने राज्यों में खुदमुख्तार समझते थे। केंद्रीय शासन का उन पर केवल नैतिक दबाव था।

पेशवाओं के शासन की बड़ी कमजोरी यह थी कि उनके हाथ में इस नैतिक दबाव के अतिरिक्त कोई शक्ति न थी जिससे वे इन मराठा सरदारों को अपने नियंत्रण में रख सकते। यही निर्बलता अंत में उस हिन्दू-साम्राज्य के विनाश का कारण सिद्ध हुई।

पेशवाओं की स्थिति कई बातों में पंजाब के सिख गुरुओं से मिलती थी। पहले चार पेशवा वास्तव में ही अतिमानव थे। बालाजी विश्वनाथ महाराज शिवाजी के पश्चात् उस हिन्दू-साम्राज्य के सच्चे रक्षक थे। उनके बेटे बाजीराव (दूसरा पेशवा) के राज्य-काल मे महाराष्ट्र की हिन्दू सेनाएँ देहली जा पहुँचीं और उन्होंने समस्त भारत में हिन्दू शासन की स्थापना को अपना आदर्श बनाया। हम यह देख चुके हैं कि देहली से चलकर हिन्दू सरदार राघोबा लाहौर जा पहुँचा और थोड़े समय के लिए अटक तक महाराष्ट्र के हिन्दुओं का झंडा लहराता रहा।

एक ओर ये हिन्दू देहली और पंजाब तक अपना शासन फैला रहे थे। दूसरी ओर इन्हें बंगाल की भी चिन्ता लगी हुई थी। बंगाल जब अँगरेजों के हाथ में चला गया तब महाराष्ट्र की हिन्दू सेनाएँ उस प्रांत पर हमला करने की तैयारी करने लगीं। अचानक अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण ने उनका ध्यान बंगाल से हटा दिया। १७६१ में पानीपत की वह मशहूर लड़ाई हुई जिसमें मुसलमानों ने अहमदशाह की सहायता की और राजपूतों तथा जाटों ने मराठों की।

पानीपत भारत के लिए सदा ही घातक सिद्ध हुआ है। इस लड़ाई का परिणाम भी हिन्दुओं के लिए खराब निकला।

बड़े-बड़े मराठा सरदार रण-क्षेत्र में मारे गये और मराठा सेना नष्ट हो गई। इस हार का आघात तीसरे पेशवा बालाजी बाजीराव को ऐसा लगा कि उन्होंने प्राण दे दिये। उनके बेटे माधवराव उत्तराधिकारी बने। वे इतने बुद्धिमान्, योग्य तथा सर्वप्रिय थे कि राजसिंहासन पर बैठते ही महाराष्ट्र के हिंदुओं में नवजीवन का संचार हो गया और थोड़े ही वर्षों में मराठों ने देहली पर फिर जा अधिकार किया।

परन्तु इस बीच में अँगरेज़ों का दबदबा बंगाल में पहले से ज़्यादा बढ़ने लगा। एक लड़ाई में उन्होंने अवध में नवाब-वज़ीर और देहली के शासक शाहआलम को पराजित कर शाहआलम को कड़ा, प्रयाग आदि के चार ज़िले देकर अपना पेंशनख्वार बना लिया। मराठों ने देहली पहुँच कर नजीबुद्दौला को अपने हाथ में कर लिया और उसके द्वारा शाहआलम को अँगरेज़ों के पंजे से छुड़ा कर देहली आने की इजाज़त दी।

बंगाल के अँगरेज़ मराठों की इस चाल को समझते थे। वे जानते थे कि शाहआलम का मराठों के हाथ में चला जाना देहली में हिंदू राज्य को दृढ़ बना कर अपनी शक्ति को कम करना है। उन्होंने शाहआलम को समझा कर अपने पास रखने का प्रयत्न किया। परन्तु जब शाहआलम उनके हाथ से निकल गया तब उन्होंने समझ लिया कि अब महाराष्ट्र की हिन्दू-सत्ता से मुक़ाबला करना पड़ेगा।

इतने में वारन हेस्टिंग्ज़ गवर्नर बन कर कलकत्ता आया। वह मराठों के विरुद्ध चालें चलने लगा। सब से बढ़ कर यह थी : नागपुर के भोंसला राजा को पेशवा के विरुद्ध कर के अपने साथ मित्रता पर तैयार कर लिया गया। इन चालों

का फल निकलने में स्यात् देर लगती। परन्तु माधवराव की मृत्यु ने, जो इस समय अचानक हो गई, मराठा-शासन में ऐसी खलबली मचा दी कि इसमें राष्ट्र की सारी आशाओं पर पानी फिर गया। मराठों के हिन्दू साम्राज्य के लिए माधवराव का निधन पानीपत की हार से अधिक हानिकारक सिद्ध हुआ।

माधवराव का छोटा भाई नारायणराव गद्दी पर बैठा। उसका चचा राघोबा (रघुनाथराव) स्वयं गद्दी पर बैठना चाहता था। उसकी स्त्री आनंदीबाई ने नारायणराव का वध करवा दिया और राघोबा उसके स्थान में पेशवा बन बैठा। इस समय मराठा राजमन्त्रियों के नेता नाना फड़नवीस थे। वे राघोबा को हत्यारा समझ कर उससे घृणा करते थे। ज्योंही नारायणराव की स्त्री ने बालक को जन्म दिया त्योंही नाना ने उस बालक माधवराव नारायण को गद्दी पर बिठा कर पेशवा घोषित कर दिया।

राघोबा रुष्ट होकर बम्बई में अँगरेजों के पास चला गया और उनसे गद्दी प्राप्त करने के लिए सहायता माँगी। मद्रास और बंगाल में इसी नीति पर चल कर अँगरेजों ने अपने व्यापार के साथ-साथ राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर ली थी। यहाँ भी उन्हें वैसा ही अवसर मिला। वे इससे लाभ क्यों न उठाते? उन्होंने राघोबा की सहायता के लिए अपनी सेना पूना भेजी। परन्तु यह बम्बई के अँगरेजों के लिए, मद्रास और बंगाल की तरह, आसान शिकार न था। लगभग बारह बरस तक अँगरेजों का मराठों से युद्ध होता रहा। इसमें हैदरअली, निजाम और देहली का बादशाह—सब नाना फड़नवीस के साथ थे। इस अवसर पर अँगरेजों की शक्ति भारत में इस कारण बच रही कि इन सब के मुकाबले पर

बंगाल का विदेशी शासक वारन हेस्टिंग्ज बहुत चालाक और बुद्धिमान् था। इसने अपनी योग्यता तथा परिश्रम से अँगरेजी शासन को बचा लिया।

देहली में मराठों का शासन स्थापित हो गया था और यह समझा जाता था कि अब यही राजसत्ता सर्वश्रेष्ठ बनी रहेगी। परन्तु जहाँ हेस्टिंग्ज के चले जाने पर उसके उत्तराधिकारी उससे भी अधिक योग्य एवं दक्ष थे वहाँ नाना फड़नवीस, महादाजी शिन्दे, तुकोजी होल्कर आदि मराठा नेताओं के मर जाने पर मराठा रियासतें ऐसे अनुभव-रहित नवयुवकों के हाथों में चली गई जिनको एक-दूसरे के विरुद्ध ईर्ष्या के सिवाय कुछ काम ही न था।

पहला युद्ध १७८४ में समाप्त हुआ था। तत्पश्चात् वेलजली गवर्नर-जनरल बन कर आया। उसका भाई प्रधान सेनापति (कमांडर इन चीफ) था। इन दोनों ने पेशवा बाजीराव द्वितीय, दौलतराव शिन्दे और जसवंतराव होल्कर के बीच फूट पैदा करके एक-एक के साथ युद्ध किया और परास्त कर १८०३ में देहली का शासन अपने हाथ में ले लिया। अब भारत का शासन मराठों के बजाय अँगरेजों के पास चला गया।

अँगरेज और पंजाब का साम्राज्य—जब इधर भारत के शासन का निर्णय अँगरेजों के पक्ष में हो रहा था तब पंजाब में रणजीतसिंह सिख-मिसलों को जीतकर हिन्दू साम्राज्य की नींव डाल रहे थे। वे अँगरेज, जिन्होंने मद्रास और बंगाल से चलकर धीरे-धीरे देहली पर अपना अधिकार आ जमाया, पंजाब में हिंदुओं के उत्कर्ष की उपेक्षा न कर सकते थे। उस समय मुख्यतः तीन बातें हो सकती

थीं। पहली—तब तक अँगरेजों के मन में पंजाब को अपने अधीन करने की इच्छा न उत्पन्न हुई हो। उनका संकल्प अपना शासन देहली तक ही सीमित रखने का हो। दूसरी—अँगरेज उत्तर-पश्चिमी मुसलमान आक्रमणकारियों और अपने साम्राज्य के बीच एक अन्य शक्ति (बफ़र स्टेट) का रहना आवश्यक समझते हों ताकि वह आक्रमणकारियों के आक्रमण को रोक कर उनकी रक्षा कर सके। तीसरी—दक्षिण, बंगाल तथा महाराष्ट्र का अनुभव उन्हें था ही। वे जानते थे कि रणजीत-सिंह के साम्राज्य के द्वार पर (लुधियाना में) सशक्त होकर बैठने से रणजीतसिंह से असन्तुष्ट होनेवाले हमारे पास आयेंगे और उनके द्वारा राज्य-विस्तार का कार्य करना ठीक रहेगा।

जो भी हो, अँगरेज रणजीतसिंह की बढ़ती हुई शक्ति को चुपचाप देखते रहे। उन्हें चिन्ता तब हुई जब ईरान और अफग़ानिस्तान की ओर से भारत पर नेपोलियन के आक्रमण का भय उत्पन्न हुआ। उन्होंने अपने प्रतिनिधि ईरान में और महाराज रणजीतसिंह के पास भेजे। महाराज की राज्य-सीमा का निर्णय करके उनके साथ मित्रता की स्थायी सन्धि कर ली गई। इसी प्रकार का एक अन्य अवसर उस समय आया जब सतलज पार की सिख रियासतों को महाराज रणजीत-सिंह से भय हुआ कि कहीं अन्य मिसलों के समान उनको भी महाराज अपने साम्राज्य में सम्मिलित न कर लें। तब पटियाला, जींद और नाभा की रियासतों ने अपने सरदारों का सम्मेलन बुलाकर इस बात का निर्णय करना चाहा कि वे रणजीतसिंह के साथ एकता करें या अँगरेजों के साथ। इस समय उनके पास रणजीतसिंह के प्रतिनिधि पहुँचे और अँगरेजों के भी। कहा जाता है कि इस सम्मेलन में एक सरदार ने उठ कर यह कहा—"रणजीतसिंह हमारे लिए

हैजा है और अँगरेज तपेदिक। हमारे लिए तपेदिक अच्छा है। हम कुछ दिनों तक तो जीते रहेंगे।" उन्होंने अँगरेजों के साथ मित्रता करने का निश्चय कर लिया और अँगरेजों ने इन रियासतों को अपने आश्रय में ले लिया।

जब कभी महाराज रणजीतसिंह की सेना इन रियासतों में से किसी में अपना पाँव रखती तभी अँगरेज उसकी रक्षा के लिए तैयार रहते। जब अँगरेजों ने सिंध पर अपना अधिकार करने का निश्चय किया तब स्वयं रणजीतसिंह की इच्छा भी सिंध को लेने की थी। परन्तु अँगरेजों को इस पर अड़ा हुआ देखकर वे उनके साथ लड़ने पर तैयार न हुए। जब अँगरेजों को अफ़गानिस्तान पर आक्रमण करने की आवश्यकता हुई तब महाराज ने उनकी सेना को न केवल गुजरने की अनुज्ञा दी वरन् सहायता भी की।

अँगरेजों को यह विश्वास था कि व्यक्तिगत शासन विशेष व्यक्तियों की योग्यता एवं वीरता पर निर्भर होने के कारण चिरस्थायी नहीं हो सकता। इस कारण वे चुपके से पंजाब के हिन्दू साम्राज्य के अन्त की प्रतीक्षा करने लगे। वह अन्त महाराज की मृत्यु के पश्चात् निकट दिखाई देने लगा। जब खालसा-सेना ने लाहौर में अशांति और गड़बड़ पैदा कर दी तब कौन कह सकता है कि अँगरेजों के मन में पंजाब लेने की इच्छा न उत्पन्न हुई होगी। यद्यपि प्रकट रूप से सन्धि की शर्तों में लिखा हुआ था, और अँगरेज कहते भी यही रहे कि हम अपनी तरफ़ से सन्धि की शर्तों पर दृढ़ हैं, तथापि उनकी गति-विधि से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता था कि वे खालसा के साथ टक्कर लेने का अवसर हाथ से न जाने देंगे।

महाराज शेरसिंह के समय खालसा बहुत जोर में था। तब अँगरेजों ने शेरसिंह के सामने यह प्रस्ताव रखा कि हम

बारह हजार सेना लेकर आपके खालसा को सीधा कर सकते हैं यदि इसके बदले आप चालीस हजार रुपया और सतलज का दक्षिणी प्रदेश हमें दे दें। शेरसिंह इसे कैसे स्वीकार कर सकता था? यदि वह इसका खयाल भी करता तो उसे अपने प्राणों का भय था। इसी समय खालसा में यह बात फैल गई कि अँगरेज पंजाब पर अपना अधिकार जमाना चाहते हैं। इसका एक कारण यह भी था कि अफ़ग़ानिस्तान में अँगरेज प्रतिनिधि ने यह प्रकट किया कि पंजाब के साथ अँगरेजों की सन्धि खतम हो चुकी है और वे पेशावर को सिखों से छीन-कर अफ़ग़ानिस्तान के हवाले कर देंगे।

यद्यपि १८०९ की सन्धि में यह तय हुआ था कि अँगरेज महाराज रणजीतसिंह के राज्य के निकट कोई छावनी नहीं बनायेंगे तथापि थोड़े ही समय बाद उन्होंने लुधियाना में अपनी स्थायी छावनी बना ली। रणजीतसिंह के राज्यकाल में फ़ीरोज-पुर रानी लछमनकौर के अधीन था। लछमनकौर के मर जाने पर अँगरेजों ने फ़ीरोजपुर पर अपना अधिकार करना चाहा। उसके शासक से कहा गया—"यहाँ पर केवल एक बरस के लिए बारह हजार सेना रखी जायगी।" परन्तु अफ़-ग़ानिस्तान का युद्ध आरम्भ होने पर उन्होंने यहाँ भी स्थायी छावनी बना ली।

सन् १८३८ में पंजाब की सीमा पर अँगरेजों के पास पचीस सौ सैनिक और छः तोपें थीं। आकलैंड के समय इसे आठ हजार कर दिया गया। एलनबरो इसको बढ़ाकर चौदह हजार तक ले गया। हार्डिंग के आने पर यह बत्तीस हजार हो गई। तोपें भी छः से आठ हो गईं। इस सेना की वृद्धि से भी यह सन्देह बढ़ता जाता था कि कहीं इसका उद्देश पंजाब पर हमला न हो।

कई अन्य छोटी-छोटी घटनाएं भी हुईं। उदाहरणार्थ, सिन्ध की सीमा पर अँगरेज़ों का सिक्ख सरदारों से छेड़छाड़ और अंगरेज़ों का मुलतान के शासक मूलराज को लाहौर-दरबार के विरुद्ध भड़काना। सिखों को चिढ़ाने के लिए यह सामग्री ही पर्याप्त था। परन्तु इन्हीं से सन्तुष्ट न होकर मेजर ब्राडफुट ने लुधियाना के पास कुछ सिक्ख इलाक़ा इस बहाने से दबा लिया कि अँगरेज़ी इलाक़े के अपराधी वहाँ भाग जाते हैं और उन्हें दण्ड नहीं दिया जा सकता।

इधर ये बातें सुनकर खालसा का ख़ून खौल रहा था, उधर लाहौर दरबार में ऐसे सरदारों की कमी न थी जो खालसा से डरकर उसे नष्ट करने के बहाने ढूँढ़ रहे थे। रानी जिंदां की हालत नाज़ुक हो रही थी। राजकोष में रुपये का आना बन्द हो चुका था। वह खाली पड़ा था। फिर खालसा को क़ाबू में रखना उसके लिए असम्भव हो गया। इस कारण रानी को खालसा से बचने का यही उपाय सूझा कि उसे अंगरेज़ों के साथ युद्ध में भिड़ा दे।

इसलिए वे झूठी अफ़वाहें फैलानी शुरू कर दी गईं कि अँगरेज़ी सेना सतलज के दक्षिण तथा पूरब की ओर बढ़ रही है और उस तरफ़ के सिख सरदारों के कपट-पत्र या जाली चिट्ठियाँ बनाकर यह बताया गया कि अंगरेज़ अफ़सर उस इलाक़े की प्रजा को तंग कर रहे हैं। इन अफ़वाहों की चर्चा इतनी अधिक हुई कि शहर लाहौर में अँगरेज़ों के आ जाने का डर हर समय अनुभव होने लगा।

इन सब बातों को ध्यान में रखकर शालामार बाग़ में नवंबर १८४५ में खालसा सरदारों और पञ्चायतों का एक सम्मेलन बुलाया गया। उसमें दीवान दीनानाथ ने एक पत्र

पढ़कर सारा वृत्त सम्मेलन के सामने रखा। साथ ही उसने यह भी बताया कि महारानी जिंदाँ, वज़ीर लालसिंह और सेनानायक तेजसिंह का प्रस्ताव है कि अँगरेज़ों से युद्ध करना आवश्यक है। सभी सरदारों तथा पंचों ने इसे स्वीकार कर लिया।

विभिन्न सरदार और अन्य प्रमुख सिख महाराज रणजीतसिंह की समाधि पर एकत्र हुए। वहाँ राजा लालसिंह और सरदार तेजसिंह को इस युद्ध का सारा अधिकार मिल गया। दोनों सेनानायक नियुक्त किये गये। सभी सरदारों और पंचों ने महाराज रणजीतसिंह की समाधि के सामने प्रतिज्ञा ली कि "हम सब महाराज दिलीपसिंह के भक्त रहेंगे, राजा लालसिंह तथा सरदार तेजसिंह की आज्ञा का पालन करेंगे और महाराज के प्रदेश में अँगरेज़ों का क़दम आने से पहले ही उनके साथ युद्ध करेंगे।"

१७ नवम्बर, १८४५ को ये चार कारण लिखकर अँगरेज़ों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की गई—१—अँगरेज़ों ने पंजाब पर चढ़ाई करने की तजवीज़ की है और उनकी सेना सतलज की ओर बढ़ी है। २—फ़ीरोज़पुर के अँगरेज़ी कोष में राजा सुचेतसिंह का अठारह लाख रुपया जमा है परन्तु लाहौर-दरबार के माँगने पर भी अँगरेज़ अफ़सरों ने उसे देने से इनकार कर दिया है। ३—राजा सुचेतसिंह की सारी सम्पत्ति पर लाहौर-दरबार का अधिकार है। ४—सतलज के दक्षिण में जो इलाक़े लाहौर-दरबार के अधीन हैं उनमें अँगरेज़ी सरकार ने सिख सेना को आने-जाने से रोक दिया है।

खालसा के मन में एक समय से अँगरेज़ों के विरुद्ध घृणा की अग्नि सुलग रही थी। इस घोषणा ने चिनगारी का काम किया। इससे लड़ाई की ज्वालाएँ भड़क उठीं।

अँगरेज़ों से युद्ध—युद्ध आरम्भ करते हुए खालसा में असाधारण जोश पाया जाता था। खालसा सैनिकों ने मान-अपमान की परवाह न करके छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा काम स्वयं अपने हाथों से किया। उन्होंने गाड़ियों पर रसद लादी, घोड़ों के स्थान में ख़ुद ही तोपें खींचीं, सड़कें साफ़ कीं और नदियों पर पुल बाँधे। वे आप ही 'पायनियर' थे, आप ही कमसरेट और आप ही लड़नेवाले।

११ दिसम्बर को वे सतलज पार हो गये। १६ को उन्होंने अपने आने की सूचना अँगरेज़ों को दी। अँगरेज़ों ने जवाबी घोषणा में बताया—"सिखों ने अकारण ही अँगरेज़ी इलाक़े पर हमला किया है। अँगरेज़ी सरकार का मान इसी में है कि प्रतिज्ञा-भंग करनेवालों को अच्छी तरह से सज़ा दी जाय। सतलज की बाईं तरफ़ का जो इलाक़ा महाराज दिलीप-सिंह के अधीन समझा जाता था उसे अब अँगरेज़ी सरकार के अधीन समझा जायगा।"

घोषणा से पूर्व ही अँगरेज़ आनेवाले सङ्कट से परिचित थे। उन्होंने युद्ध की पूरी तैयारी कर रखी थी। अम्बाला से सतलज तक बत्तीस हज़ार सेना मौजूद थी। सिखों के सतलज पार उतरने का समाचार सुनकर अम्बाला, लुधियाना और फ़ीरोज़पुर के अँगरेज़ अफ़सरों ने अपनी-अपनी सेना भेज दी थी। परन्तु वे सिखों के मुक़ाबिले पर न आई थीं। अँगरेज़ समझते थे कि खालसा सिर्फ़ घमंडी हैं, लड़ने में बहादुर नहीं और अँगरेज़ों की थोड़ी सी शिक्षण-प्राप्त सेना उन्हें मार भगावेगी। पर दो दिन के अन्दर ही अँगरेज़ों को पता लग गया कि उनका ख़याल केवल भ्रम था। खालसा की वीरता में कोई अन्तर न आया था, फेर था तो उनके भाग्य में और इसका

कारण उनके नायकों का देशद्रोह था। यह बात उस समय के खालसा को मालूम न हो; पर आज यह बिलकुल स्पष्ट है कि यह लड़ाई लड़ा कर लालसिंह और तेजसिंह खालसा को विनष्ट करना चाहते थे। और, इस बात में कोई सन्देह नहीं कि रानी जिंदां उनकी इस मनोकामना तथा आचरण में सम्मिलित थी। जिस सेना के सेनानी उसके विनाश पर तुले हुए हों उसे किसी प्रकार की वीरता तथा त्याग बचा नहीं सकते।

फ़ीरोजपुर में अँगरेज अफ़सर लिटलर के अधीन आठ हजार अँगरेजी सेना थी। जब लालसिंह अपने सैनिकों को लेकर सतलज पार उतरा तो उसने अँगरेज प्रतिनिधि निकलसन को तुरन्त ही यह पत्र लिखा—"आप जानते हैं कि मैं अँगरेजों का मित्र हूँ। मैं सिख-सेना के साथ सतलज पार आ गया हूँ। अब मुझे क्या करना चाहिए?" इसका उत्तर निकलसन ने यह दिया—"यदि आप अँगरेजों के मित्र हैं तो फ़ीरोजपुर पर आक्रमण न करें। जितना विलंब हो सके उतना करके अपनी सेना को गवर्नर-जनरल के मुक़ाबले पर ले जायँ।"

राजभक्त कर्मचारी के समान लालसिंह ने इस निर्देश पर आचरण किया। खालसा फ़ीरोजपुर पर हमला करने के लिए बार-बार कहता रहा; परन्तु लालसिंह तथा तेजसिंह ने उनको यह कह कर टाल दिया—"अँगरेज गवर्नर-जनरल को क़ैद करके उसे मार डालने पर खालसा सेना की ख्याति चारों ओर फैल जायगी। अँगरेजों के प्रधान सेनानायक को छोड़ कर अन्य किसी से लड़ना हम अपना अपमान समझते हैं।" सरलस्वभाव खालसा कपट के इस प्रपंच को समझ न सका।

यदि लालसिंह और तेजसिंह अपनी सेना तथा राज्य से द्रोह न करते तो इस युद्ध का फल कुछ और ही होता। १८ दिसम्बर का दिन पंजाब के इतिहास में स्मरणीय रहेगा। फ़ीरोज़पुर से बीस मील की दूरी पर मुदकी के मैदान में अँगरेज़ी और पंजाबी सेनाओं में टक्कर हुई। दो हज़ार पंजाबी सवार और आठ नौ हज़ार प्यादा सेना को २२ तोपों के साथ अँगरेज़ी सेना के सामने खड़ा करने के पश्चात् स्वयं लालसिंह मैदान से पीछे हट गया। उसकी मनोकामना यह थी कि बग़ैर अफ़सर के पंजाबी सेना अँगरेज़ सैनिकों से लड़कर कट मरे। परन्तु सिख सेना ने बग़ैर अफ़सर के लड़ाई में ऐसी वीरता दिखलाई कि अँगरेज़ी सैन्य के छक्के छूट गये। अँगरेज़ अफ़सर हैरान थे कि बिना नेता के ये किस वीरता से लड़ रहे हैं। अँगरेज़ी सैनिकों को पीछे की तरफ़ भाग-भाग कर अपनी जान बचाना पड़ती थी।

अपने सैनिकों को आगे ले जाने में अँगरेज़ अफ़सर बड़ी कठिनाई अनुभव कर रहे थे। यहाँ तक कहा जाता है कि सिखों के शौर्य को देख कर अँगरेज़ी सेना में गड़बड़ मच गई और उन्होंने आपस में एक-दूसरे पर ही गोली चलानी शुरू कर दी। इस गड़बड़ में अँगरेज़ अफ़सर ने संगीनों के साथ धावा बोलने का आदेश दिया। अब पंजाबी सेना ने अद्वितीय पराक्रम का प्रमाण दिया। मैदान से पीछे हट कर वे इधर-उधर तितर-बितर नहीं हुए। ढाई कोस तक पीछे हटते हुए वे आक्रमणकारी शत्रु का मुक़ाबला करते रहे।

रात आ जाने पर दोनों पक्षों को लड़ाई बन्द करनी पड़ी। इसमें अँगरेज़ी सेना का बहुत ज़्यादा नुक़सान हुआ। जो गोरे

सिपाही या अफसर पंजाबी सेना के हाथ आये उन्हें मान-पूर्वक अँगरेजी फौज में पहुँचा दिया गया। इनमें से एक कैप्टन बिडल्फ था। वापस लौटने पर उसे भय मालूम हुआ कि उसे रास्ते में क़त्ल कर दिया जायगा। एक सिख सैनिक छावनी से पाँच कोस दूर तक उसे पहुँचाने गया। बिडल्फ ने आकर सिखों के सम्बन्ध में रहस्य की कई बातें बताईं। उदाहरणार्थ, सिख सैनिकों की मनःस्थिति कैसी है, उनकी तोपें कितनी हैं और उनके पास कौन-कौन हथियार कितनी संख्या में हैं। सिखों की इस सरलता से हार्डिंग बहुत प्रसन्न हुआ और उसने बिडल्फ को लड़ाई में भाग लेने से रोक दिया। एक बार कई गोरे रास्ता भूलकर पंजाबी सेना में आ पहुँचे। एक-एक रुपया मार्ग-व्यय देकर उन्हें लौटा दिया गया। बेचारे सिख यह क्या जानें कि शत्रु इस प्रकार गुप्तचर भी भेज सकता है। वे उन्नीसवीं शताब्दी में भी विदेशी आक्रमणकारियों के साथ धर्म-युद्ध लड़ रहे थे! जिनको मानव-धर्म, जाति-धर्म तथा राष्ट्र-धर्म का ज्ञान न हो वही ऐसा कर सकते हैं।

२१ दिसम्बर को अँगरेजी फौज के प्रधान सेनानायक (कमांडर-इन-चीफ) गफ ने अपनी सेना लिटलर के सैनिकों के साथ मिला दी। ये दोनों, शहर फेरू के निकट, एकत्र हुईं। (यह फीरोजपुर और मुदकी के दरमियान स्थित है।) गवर्नर-जनरल हार्डिंग ने अपने पद की परवाह न करते हुए अपने आप को गफ के अधीन काम करने के लिए पेश कर दिया। इस प्रकार वह अपनी सेना का उत्साह बढ़ाना चाहता था।

अँगरेजी सेना में अठारह हजार सैनिक तथा ६५ तोपें थीं। इनसे फेरू पर आक्रमण करने का निश्चय किया गया। इधर पंजाबी वीरों में भी एक ही लालसा काम कर रही थी: या तो विजय प्राप्त करें या देवी के सामने प्राणोत्सर्ग कर दें।

अँगरेज़ी हल्ले और तोपों की मार पंजाबी सेना का कुछ भी न बिगाड़ सके। जब पंजाबी तोप का निशाना लगना शुरू हुआ तब अँगरेज़ों की खाद्य-सामग्री से भरी गाड़ियाँ चकनाचूर हो गईं और बारूद के ढेर में आग लग जाने से बहुत-से सैनिक मारे गये। शाम तक घमसान की लड़ाई जारी रही। रात होते-होते अँगरेज़ों की सेना का बायाँ हिस्सा टूट गया और लिटलर को अपनी फ़ौज के साथ भागना पड़ा। गिल्बर्ट की सेना को भी अपनी जगह छोड़नी पड़ी।

हार्डिंग के लिए यह दशा असह्य थी। उसने अपनी घड़ी तथा पदक अपने बेटे के हाथ में देकर लड़ाई में प्राण देने का निश्चय कर लिया। उसने सोचा कि विजय के द्वारा ही अँगरेज़ जाति का मान हो सकता है। एक पंजाबी तोप प्रतिक्षण गोलों की वर्षा करके तबाही मचा रही थी। हार्डिंग कुछ साथियों को लेकर दौड़ता हुआ उस तोप के पास पहुँचा और कील से उसका मुँह बन्द कर दिया। एक ओर अँगरेज़ अफ़सर अपने राष्ट्र के लिए जानें हाथों में लिये युद्ध-क्षेत्र में आये हुए थे और दूसरी ओर सिखों के अफ़सरों के राष्ट्रघात का कुछ ठिकाना ही नहीं था। थोड़ी ही दूरी पर पंजाबी सेना की एक टुकड़ी खड़ी थी यदि वह इस समय लड़नेवाले सैनिकों के साथ मिल जाती तो अँगरेज़ी सेना का शायद एक आदमी भी न बच पाता, परंतु लालसिंह ने उसे लड़ने की इजाज़त न दी। जब लड़नेवालों ने उसे बुला भेजने के लिए बार-बार कहा तो लालसिंह ने यह बहाना बना दिया—"उसपर अँगरेज़ी फ़ौजों का हमला होनेवाला है!"

रात आने पर लड़ाई बन्द हो गई। परन्तु उस रात अँगरेज़ों के दिलों में कैसे विचार आये, यह बात उस पत्र से मालूम हो जाती है जो हेनरी हार्डिंग ने इँगलैंड के प्रधान मन्त्री पील को उसी रात लिखी। ये हार्डिंग ही के शब्द हैं—"२१

की रात मेरे जीवन में एक असाधारण रात थी। बग़ैर खाने-कपड़े के मैं अपने आदमियों के साथ लिपटा रहा। रातें बहुत ठंडी थीं। आग बरसानेवाला शत्रु हमारे सामने था। हमारे वीर सैनिक रात भर गोलाबारी के नीचे पड़े रहे। कभी-कभी सिखों की जय-ध्वनि की आवाज़ भी आती थी, या फिर मरते हुए आदमियों की चीख़-पुकार सुनाई देती थी। इस अवस्था में थोड़े-से आदमियों के साथ मैं सबेरे तक कभी-कभी थोड़ा-थोड़ा आराम करके वक्त काटता रहा। कभी एक पल्टन के पास जाता, कभी दूसरी के पास ताकि उनका साहस बना रहे। जो कोई मुझसे पूछता उसे मैं यही उत्तर देता—'प्रातः होते ही हमें शत्रु पर ऐसा आक्रमण करना चाहिए कि या तो हम शत्रु को पछाड़ दें या मैदान में प्राण देकर मान प्राप्त करें।' "सबेरा होने पर हमने ठीक अँगरेज़ी तरीक़े पर अपना कार्य आरम्भ किया।"

प्रातः ही लड़ाई छिड़ गई। अब अँगरेज़ी फ़ौज ने लालसिंह की सेना की बुरी गत बनाई। पास ही तेजसिंह सेना लिये खड़ा था, परन्तु उसने अपनी सेना को लड़ने की अनुज्ञा उस समय तक न दी जब तक कि अँगरेज़ी सैन्य का एक नया दल तैयार होकर सिखों पर टूट न पड़ा। तेजसिंह की फ़ौज के आते ही अँगरेज़ी सेना के दिल ऐसे घबराये कि उनके पाँव उखड़ गये। इस विषय में कनिंघम लिखता है—"उस घटना ने, जो सच्चे आदमी को लड़ाई जारी रखने के लिए उत्साह देती है, राष्ट्रघातक तेजसिंह पर उलटा प्रभाव डाला। उसने अचानक ही गोलाबारी बन्द करने की आज्ञा दी और स्वयं अपने घोड़े का मुँह मोड़ कर तेज़ी से भाग निकला। यह ऐसे समय में जब कि विजय उसके हाथ में थी, क्योंकि अँगरेज़ी सेना का एक हिस्सा भाग कर पीठ दिखा रहा था।"

तेजसिंह न केवल स्वयं भागा प्रत्युत अपनी सेना को अपने साथ ले गया। तेजसिंह सच्चे दिल से खालसा सेना का अन्त करवाने आया है—यह बात सभी अँगरेज अफसरों को मालूम हो गई। उन्होंने भागती हुई सिख फौज पर हमला करके उसे हरा दिया। शाहर फेरू में अंगरेजों को विजय प्राप्त हुई, परन्तु यह जीत उन्हें हार से भी महंगी पड़ी। उनकी सेना का सातवाँ हिस्सा रण-भूमि में मारा गया। अँगरेजों ने इसका बदला लेने के लिए और फौज बढ़ानी शुरू की, परन्तु गोली-बारूद न होने से कुछ दिनों तक लड़ाई स्थगित रही।

यह दशा देखकर सिख सेना फिर सतलज पार उतर आई। इन दिनों अँगरेजी सेना का एक ब्रिगेड धर्मकोट जा रहा था। सिखों की उससे मुठभेड़ हो गई। तत्पश्चात् दूसरी टक्कर अलीवाल में हुई। इस लड़ाई के बाद सिखों ने जम्मू के राजा गुलाबसिंह को दरबार का प्रधान मन्त्री नियुक्त किया। यद्यपि खालसा गुलाबसिंह से घृणा करता था तथापि वीरता एवं राजनीतिक दूरदर्शिता में उसके बराबर कोई आदमी दिखाई न देता था। गुलाबसिंह का वज़ीर होना डूबते सिखों को तिनके का सहारा मालूम दिया।

जब पंजाबी सेना सतलज पार हुई तब अंगरेजी फौज की स्थिति बहुत विकट थी। उसके पास न तो युद्ध-सामग्री थी और न खाद्य-पदार्थ। यदि इस समय पंजाबी अफसर देहली से आती हुई अँगरेजी रसद को लूट लेते तो इस युद्ध का फल कुछ और होता। परन्तु सिख अफसरों ने तो कुछ और ठान रखी थी। फिर यह भी कहा जाता है कि गुलाबसिंह के प्रधान मन्त्री बनते ही हार्डिंग ने उससे इस आशय की एक गुप्त संधि कर ली कि पंजाब में अँगरेजों के आने के रास्ते में कोई रुकावट न हो।

कई छोटी लड़ाइयों के पश्चात् सुबराओं में निर्णायक युद्ध हुआ। इसमें भी वही कुछ हुआ जो इससे पूर्व हुआ था। सिख अफ़सर अपनी पुरानी चाल पर तुले हुए थे। अँगरेज़ों के लिए देहली से लड़ाई का सामान और खाने-पीने की चीज़ें आ गईं। सिख सेना को प्रोत्साहन देने के लिए केवल एक वृद्ध वीर मैदान में निकला। यह रणजीतसिंह का बचपन का साथी और नौनिहालसिंह का ससुर श्यामसिंह अटारीवाला था। बुढ़ापे में भी इसकी खुश्क हड्डियों के अन्दर अपने धर्म तथा देश के लिए जोश लहरें मारने लगा। इसने बलपूर्वक कहा—"आओ, खालसा वीरो, देश-हित के लिए हम सब शत्रु के साथ लड़ कर मरें! मैं भी तुम्हारे साथ स्वर्ग जाऊँगा और अपने हृदय का रक्त बहा कर गुरु गोविन्दसिंह की आत्मा को प्रसन्न करूँगा। इससे ही खालसा का नाम उज्ज्वल होगा।" वह इतना ही कहकर चुप न हुआ; उसने 'ग्रन्थ' पर हाथ रख कर क़सम खाई कि वह युद्ध-क्षेत्र से पीछे कभी न हटेगा। सफ़ेद कपड़े पहन, सफ़ेद घोड़े पर सवार होकर, वह मैदान में कूद पड़ा। जाते हुए वह यह भी कहता गया—"आओ खालसा के पुत्रो! दासत्व की अपेक्षा मृत्यु को स्वीकार करने पर तैयार हो जाओ।"

बस, अब क्या था। 'सत श्री अकाल!' की जय-ध्वनि गुँजा कर सिख अँगरेज़ी सेना पर टूट पड़े। सफ़ेद घोड़े पर चढ़ा हुआ श्यामसिंह जगह-जगह सैनिकों का उत्साह बढ़ाता था। जब उसने देखा कि अब बहुत देर तक मुझसे काम न चलेगा तो हवा में तलवार घुमाते हुए अँगरेज़ी सेना की पचासवीं पल्टन पर हमला करने के लिए उसने घोड़े को एड़ी लगाई। उसके पचीस साथी भी उसके पीछे-पीछे थे। सरदार

श्यामसिंह के शरीर में सात गोलियाँ लगीं और उसकी आत्मा उसका नाम अमर करके शरीर छोड़ गई।

इस पराजय तथा विनाश का उत्तरदायित्व भी लालसिंह के सिर पर है। उसने अँगरेज़ों को पहले ही लिख भेजा—"इस लड़ाई का प्रधान सेनापति तेजसिंह बना है, परन्तु इससे स्थिति में कुछ अंतर न पड़ेगा। तेजसिंह इक़रार का पक्का है। जहाँ तक हो सकेगा, वह अँगरेज़ों के हित के लिए ही प्रयत्न-शील होगा। मैंने सवारों की ज़िम्मेदारी लेकर उनको इधर-उधर तितर-बितर कर रखा है। इसके अतिरिक्त मालूम हो कि सिख छावनी का दायाँ हिस्सा बहुत कमज़ोर है और उधर की दीवार भी मज़बूत नहीं बनाई गई।" वह शत्रु को यह सूचना देकर ही चुप नहीं रहा। उसने गोलंदाज़ों को बारूद देना बन्द कर दिया। यही क्यों, तेजसिंह बड़ी सेना को लेकर स्वयं भाग गया, फिर शेष सेना को भी भगा दिया। वह शत्रु पर हमला कैसे करती? वापस जाते हुए उसने सतलज का पुल तुड़वा दिया ताकि पंजाबी सेना का कोई सैनिक बचकर वापस न आ सके। उधर के सिखों के लिए अब लड़ना ही बाक़ी रह गया था। परन्तु लड़ें कैसे? लड़ने के लिए आज्ञा देनेवाला नेता तो वहाँ कोई था नहीं।

गोला-बारूद बग़ैर तोपों के बन्द पड़ा था। फिर भी सिख सेना निराश नहीं हुई। उन्होंने तलवारों की शरण ली और श्यामसिंह का साथ देने पर तैयार हो गये। लेकिन गोले और बारूद के सामने तलवार कैसे ठहर सकती थी? उस दिन आठ हज़ार पंजाबी वीरों ने स्वदेश के लिए प्राण दे दिये और अपने पीछे नाम छोड़ गये। शत्रु के घेरे में आकर भी उन्होंने प्राण-रक्षा के लिए शरण न माँगी। अँगरेज़ी सेना के दो हज़ार

अस्सी सैनिक मारे गये। इस लड़ाई के साथ पंजाब की स्वतन्त्रता का अध्याय समाप्त हुआ।

पंजाब का नवीन प्रबन्ध—कुछ दिन आराम करने के पश्चात् थोड़ी-सी अँगरेज़ी फौज सतलज पार हो गई। तीन दिन बाद २० फ़रवरी, १८४६ को लार्ड हार्डिंग कसूर पहुँचा। वहाँ उसने यह घोषणा की—"अँगरेज़ पंजाब को अपने राज्य के साथ नहीं मिलाना चाहते। परन्तु क्योंकि लाहौर-दरबार ने संधि को तोड़ा है इसलिए उसे सज़ा देने के लिए पंजाब को अपने हाथ में रखा जायगा। भविष्य में शांति बनाये रखने तथा लड़ाई का खर्च वसूल करने के लिए सिख राजा को अपना कुछ इलाक़ा अँगरेज़ी सरकार के हवाले करना पड़ेगा। यद्यपि लाहौर-दरबार को सन्धि तोड़ने की पूरी सज़ा मिलनी चाहिए तथापि हम दरबार तथा सरदारों को अपने राज-प्रबन्ध में सुधार करने का अवसर देना चाहते हैं। हमारी प्रबल इच्छा है कि दरबार तथा सरदारों की सहायता से अँगरेज़ों के मित्र महाराज रणजीतसिंह के बेटे के शासन को क़ायम रखा जाय। परंतु यदि सिख लोगों की कम-समझी के कारण कुप्रबन्ध रोकने के लिए खड़ा किया गया नया इंतज़ाम स्वीकार न किया गया और उन्होंने अँगरेज़ों के साथ लड़ने की ख़ातिर फिर तैयारी की तो अँगरेज़ जैसा उचित समझेंगे, पंजाब का राज-प्रबन्ध करेंगे।"

यह घोषणा क्या थी, पंजाब के लोगों के लिए आसमान का गिरना था। उन्हें यह खयाल भी न था कि सुबराओं की लड़ाई के बाद अँगरेज़ इतनी जल्दी पंजाब में घुस आयेंगे। अब वे सरदार भी हाथ मलने लगे जिन्होंने अपने राष्ट्र तथा जाति के साथ द्रोह करके विदेशियों की सहा-

पता की थी। वे सोचने लगे कि किसी प्रकार लाहौर में अँगरेज़ों का आना रोक दें। इन सरदारों में सबसे बड़ा जम्मू का गुलाबसिंह था। वह स्वयं कसूर जाकर हार्डिंग के सामने रोने लगा और उससे कसूर से आगे न बढ़ने के लिए बड़ी ख़ुशामद की। जब हार्डिंग ने उसकी एक न सुनी तब उसे यह बात सूझी कि यदि वह महाराज दिलीपसिंह को हार्डिंग के पास ले जाय तो सम्भवतः अँगरेज़ का दिल पिघल जाय।

यह सोचकर गुलाबसिंह तथा अन्य कई सरदार दिलीपसिंह को हार्डिंग के पास ले गये। उसने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया, परन्तु साथ ही यह कह दिया—"पंजाब को हम अँगरेज़ी राज्य के साथ नहीं मिलाना चाहते। दिलीपसिंह अपने पिता की गद्दी पर बैठे रहें। परन्तु व्यास और सतलज का प्रदेश अँगरेज़ी सरकार को ही देना होगा। इसके अतिरिक्त युद्ध-व्यय के रूप में डेढ़ करोड़ रुपया देना पड़ेगा। यह संधि लाहौर पहुँच कर ही की जायगी, अन्यत्र कहीं नहीं।" यह सुनकर सब सरदारों को अपना-सा मुँह लेकर वापस लौटना पड़ा।

लाहौर पहुँच कर अँगरेज़ों ने ऐसा रंग-ढंग दिखलाया कि जिससे सर्वसाधारण यह समझने लगें कि अँगरेज़ों ने बड़ी कृपा की है जो पंजाब को अपने राज्य के साथ नहीं मिलाया। जब हार्डिंग ने दिलीपसिंह को गद्दी पर बिठलाया तब यह प्रकट किया गया कि अँगरेज़ों ने बड़ा अनुग्रह करके उसे पंजाब का राज्य फ़िर प्रदान किया है।

जब हम इस युद्ध में भाग लेनेवाले पक्षों पर दृष्टि-क्षेप करते हैं, तो हमें चरम सीमा तक पहुँची हुई दूरदर्शिता और मूर्खता की पराकाष्ठा का संघर्ष दिखाई देता है। लार्ड हार्डिंग

ने आते ही पंजाब को अपने राज्य में सम्मिलित नहीं किया। इसका कारण यह न था कि वह महाराज दिलीपसिंह पर दया करना चाहता था। दया एक गुण है जिसके लिए राजनीति में शायद बिलकुल कोई स्थान नहीं। राजनीति में दया दिखलाना अपनी निर्बलता का प्रदर्शन करना है। हार्डिंग ने पंजाब को अपने राज्य के साथ इस कारण न मिलाया कि पिछले युद्ध में उसने पंजाबी सेना की शक्ति को अच्छी तरह जाँच लिया था। खालसा की शक्ति को कुचले बग़ैर पंजाब का शासन सँभालना असम्भव-सी बात थी। हार्डिंग जानता था कि यद्यपि खालसा फ़ौज हार गई है तो भी उस पर अँगरेज़ों का प्रभुत्व नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त यह समाचार भी सुनने में आ रहा था कि अमृतसर के निकट लगभग बीस हज़ार सिख सैनिक एकत्र हो चुके हैं।

ऐसी स्थिति में पंजाब के शासन को हाथ में लेना अपने सिर पर पहाड़ उठाने के बराबर था। जिन सिख सरदारों की सहायता से हार्डिंग ने खालसा फ़ौज को हराया था उन्हीं को अपना हथियार बना कर वह खालसा की राज्य करने की आंतरिक भावना को कुचलना चाहता था ताकि उसके पश्चात् पंजाब को अँगरेज़ी साम्राज्य में सम्मिलित करने में कोई कठिनाई न हो।

इतनी गहन बुद्धिमत्ता के मुक़ाबले पर हम सिख सरदारों में क्या देखते हैं? उन्हें राजनीति के सिद्धांतों का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं था। वे समझते थे कि खालसा फ़ौज हमारे नियंत्रण में नहीं रही। इस कारण यदि वे अँगरेज़ों के साथ युद्ध करके खालसा को कुचलवा देंगे तो पंजाब में शासन का सारा अधिकार हमारे हाथ में आ जायगा। खालसा की

सरलता तथा बेसमझी पर अचरज होता है कि उसने अपने सरदारों के देशद्रोह के सुस्पष्ट प्रमाण देख कर भी उनपर संदेह न किया और उनकी आज्ञाओं का पालन करता रहा। खालसा के अपराध तथा निर्बुद्धिता को क्षम्य समझा जा सकता है। परन्तु उन राष्ट्रघातकों की मूर्खता के विषय में क्या कहा जाय जो यह समझ रहे थे कि अँगरेज, उनके कहने के मुताबिक़, अपने आपको संकट में डाल कर खालसा की शक्ति को नष्ट कर देंगे और तत्पश्चात् राज्य का सारा प्रबन्ध उन सरदारों को सौंप देंगे ? अंगरेजों को ऐसा करने की क्या जरूरत पड़ी थी ? परन्तु बड़ी बात और थी। यह सरदार इतना भी न समझ सके कि दुनिया में राज सदा बाहु-बल से हुआ करता है। सेना भी बाहु के समान है। जिसके पास सैन्य-शक्ति नहीं रहती उसके बाहु कट जाते हैं। तब वह लूला राज्य को अपने हाथ में कैसे रख सकता है ? इस समय भी यदि सिख सरदार चाहते तो खालसा सैनिकों को एक बार फिर एकत्र करके विदेशियों का मुक़ाबला कर सकते थे। परन्तु उन सैनिकों को तो वे सरदार अपने शत्रु समझते थे। और, यह बात अँगरेजों से बढ़कर और कोई न जानता था।

९ मार्च तक सुलह की शर्तें तय हो गईं। इनके अनुसार लाहौर-दरबार को बारह हजार सवार और बीस हजार पैदल सेना रखने की इजाजत मिली। शेष खालसा को वेतन दे कर अलग कर दिया गया। तीस छोड़ कर बाक़ी सब तोपें लाहौर दरबार को अँगरेजों के हवाले करनी पड़ीं। व्यास और सतलज का दक्षिण प्रदेश अँगरेजी सरकार ने ले लिया। युद्ध-व्यय का डेढ़ करोड़ रुपया देने योग्य न होने के कारण एक करोड़ के बदले काश्मीर तथा हजारा-प्रदेश दे कर पचास लाख रुपया लाहौर-दरबार ने कुछ दिन बाद अदा करने का वचन

दिया। अंगरेजों ने पंजाब के आंतरिक राज्य-प्रबन्ध में हस्तक्षेप न करने की प्रतिज्ञा की, यद्यपि यह भी निश्चित हुआ कि समय-समय पर, जब कभी आवश्यकता होगी, गवर्नर-जनरल लाहौर-दरबार को इस विषय में सहायता करेगा। अपने पास से पचास लाख रुपया एकत्र करने के लिए विभिन्न सरदारों से कहा गया। परन्तु उन सबने अपनी असमर्थता प्रकट की, तब अटारी के चतुरसिंह ने यह धन अपने पास से, दे दिया।

रानी जिंदां को खालसा की पिछली गड़बड़ का हाल अच्छी तरह याद था। उसने बड़े लाट (गवर्नर-जनरल) से कहा—"मुझे और मेरे बेटे को सिखों के हाथों में रखने की अपेक्षा अँगरेजी राज्य में रखना या अपने साथ गवर्नमेंट हाउस में ले जाना हमारे लिए हितकर होगा।" थोड़ी देर बाद महाराज दिलीपसिंह के हस्ताक्षर के साथ एक पत्र राजा रामसिंह, राजा लालसिंह, सरदार तेजसिंह, दीवान दीनानाथ और फ़क़ीर अजीजुद्दीन के द्वारा गवर्नर-जनरल के पास पहुँचा। इसका आशय यह था कि अब ऐसा प्रबन्ध करना आवश्यक है जिससे पंजाब में फिर वही पुरानी गड़बड़ न हो। इसके लिए अच्छा होगा कि लाहौर-दरबार की रक्षा के लिए अँगरेजी सेना कुछ समय तक लाहौर में रहे।

अंधे को क्या चाहिए? दो आँखें! गवर्नर-जनरल ने रानी और सरदारों की इस तजवीज को प्रसन्नता-पूर्वक स्वीकार कर लिया। एक दरबार में सब को एकत्र करके उसने कहा—"लाहौर से मैं हर एक अंगरेजी सैनिक को हटाने के लिए तैयार था। परन्तु दरबार ने इसके लिए विशेष प्रार्थना की है, इस

कारण अब मैं यहाँ ब्रिटिश फौज रखने पर राजी हूँ। हमारे इस काम में सफलता-असफलता आप लोगों के हाथ में है। यदि आपने राज-प्रबन्ध के मामलों में किसी प्रकार असावधानी की तो ब्रिटिश गवर्नमेंट लाहौर-दरबार की रक्षा किसी तरह नहीं कर सकेगी। यदि दरबार अच्छी तरह से काम चलायेगा और शर्तों पर दृढ़ रहेगा तो उसकी स्वाधीनता की रक्षा की जायगी। चालीस बरस हुए, महाराज रणजीतसिंह के राज्य-काल में दोनों सरकारों मे मैत्री हुई थी। उन्होंने राज-प्रबन्ध की शक्ति का असाधारण प्रमाण दिया। इस कारण पंजाबी स्वतन्त्र एवं प्रसन्न रहे। उनका राज-प्रबन्ध तथा राजनीति आपके लिए आदर्श होना चाहिए।"

अगले दिन गवर्नर-जनरल और अँगरेज अफसरों ने महलों में जाकर महाराज दिलीपसिंह से भेंट की। इस अवसर पर दीवान दीनानाथ ने एक मान-पत्र पढ़ा। इसमें लिखा था—"लाट साहब ने पंजाब की स्वाधीनता बनाये रखने के लिए जो कुछ किया है उसके लिए धन्यवाद देने के वास्ते हमारे पास शब्द नहीं हैं। उन्होंने बाल महाराज की प्रार्थना पर लाहौर के लोगों के रक्षणार्थ यहाँ ब्रिटिश सेना रखना स्वीकार किया है। इसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं।"

विदेशी सेनानायक या राजनीतिज्ञ से कहा गया कि आप हमारे देश में अपनी सेना रखकर हमारी स्वाधीनता की रक्षा करें। यह बात वैसी ही है जैसा बिल्ली से कहना कि तुम इस दूध की रक्षा करो। ऐसा कहनेवाले के विषय में क्या कहा जाय?

अब लालसिंह को प्रधान मंत्री बनाकर सारा राज-प्रबन्ध उसके सुपुर्द किया गया। तेजसिंह को प्रधान सेनापति

नियुक्त किया गया। यह बात राजा गुलाबसिंह को, जो प्रधान मंत्री का काम कर रहा था, बहुत बुरी लगी। युद्ध के समय बड़े लाट ने गुलाबसिंह की योग्यता एवं शक्ति को पहचान लिया था। बड़े लाट को उसे संतुष्ट करने की चिंता हुई। उस से बहत्तर लाख रुपया लेकर काश्मीर उसके हाथ बेच दिया गया। साथ ही उसे वहाँ का स्वायत्त राजा स्वीकार किया गया। गुलाबसिंह लाहौर-दरबार के झगड़ों से मुक्त होकर बहुत ख़ुश हुआ।

लालसिंह बहुत दिन तक वज़ीर न रह सका। सिख उससे पहले ही नाराज़ थे। अँगरेज़ों को भी ऐसे राष्ट्रद्रोही पर विश्वास न था। गुलाबसिंह को काश्मीर का दिया जाना उसे बुरा मालूम दिया। अमामुद्दीन के साथ मिलकर उसने काश्मीर में गुलाबसिंह के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया। इसे दबा दिया गया। परन्तु अँगरेज़ अफ़सरों के एक कमीशन ने, जो खोज करने के लिए नियुक्त हुआ था, इसके अंतर-तल में लालसिंह का हाथ पाया। इस पर उसे दो हज़ार रुपया पेंशन देकर लाहौर से निकाल दिया गया। आगरा में कुछ बरस रहने के बाद वह देहरादून में जा मरा।

लालसिंह के निकाले जाने पर हार्डिंग पंजाब आया। १६ दिसम्बर, १८४६, को भैरोंवाल में एक नये संधि-पत्र पर हस्ताक्षर किये गये। इसके अनुसार लाहौर में अँगरेज़ों की ओर से एक रेजिडेण्ट रखा गया जिसे राज-प्रबन्ध में पूरा-पूरा अधिकार प्राप्त था। उसकी सहायता के लिए सरदारों की एक कौंसिल बनी जिसके सदस्य तेजसिंह, अटारी का शेरसिंह, दीवान दीनानाथ, फ़क़ीर नूरुद्दीन, रणजोधसिंह, भाई निधानसिंह, अतरसिंह और शमशेरसिंह नियुक्त हुए।

कौंसिल के सदस्यों में रेजिडेंट की स्वीकृति के बिना कोई परिवर्तन न होसकता था। बड़े लाट को अधिकार मिला कि शांति के लिए वह जितनी सेना चाहें, सेना रख लें। महाराज दिलीपसिंह की मां रानी जिंदां को अपने निजी खर्च के लिए डेढ़ लाख रुपया वार्षिक दिया जाने लगा। दिसम्बर १८५४, में दिलीपसिंह के सोलह वर्ष के हो जाने पर नई संधि करने का निश्चय किया गया।

मेजर हेनरी लारेंस को पंजाब का पहला रेजिडेएट बनाया गया। यों तो यह बड़ा दूरदर्शी था, परन्तु पंजाब की आत्मा को शांत न कर सका। ३ जुलाई, १८४७, को बड़े लाट ने अपने पत्र द्वारा रेजिडेएट को पंजाब पर पूर्ण अधिकार दे दिया। इस पत्र का आशय यह था कि भैरोंवाल को संधि में अनुसार रेजिडेएट को सभी मामलों में अपनी इच्छा से काम करने का पूरा अधिकार है। यदि वह पंजाबी सदस्यों के मत-ऐक्य से काम करे तो अच्छा होगा। रेजिडेएट चाहे तो किसी सदस्य को हटा कर उसके स्थान में किसी नये आदमी को सदस्य बना सकता है। वह जहाँ चाहे, सिख-सेना को हटा दे; वहाँ वह अँगरेजी फ़ौज रख सकता है।

राजनीति के दाँव-पेंच ऐसे थे कि पंजाब के सरदार कठपुतली की तरह रेजीडेंट के हाथ में नाचने लगे। यों तो वे बेचारे राजनीति-शास्त्र को समझते ही न थे। परन्तु यदि उन में से किसी को राजनीति का कुछ ज्ञान था भी तो वह उस पर आचरण न कर सकता था।

२३ अक्तूबर, १८४६, को बड़े लाट ने एक और पत्र लिखा। इसने रेजीडेंट के अधिकारों में और भी वृद्धि कर दी। इसमें लिखा था कि—"जब तक दिलीपसिंह प्राप्तवयस्क नहीं

होता तब तक हमें याद रखना चाहिए कि पहली संधि के अनुसार पंजाब स्वतंत्र नहीं है । कोई भी सरदार या अफ़सर किसी के साथ न सुलह कर सकता है, न लड़ाई और न उसे सरकारी ज़मीन बेचने या बदलने का अधिकार है । ऐसा कोई काम हमारी इजाज़त के बग़ैर नहीं हो सकता । बालिग़ होने तक स्वयं दिलीपसिंह हमारे अधिकार में हैं । उनको भी अपनी मरज़ी से कोई ऐसा काम करने का अधिकार नहीं है ।"

इधर तो बड़े लाट के पत्रों के कारण सरदारों में तरह-तरह की बातें होने लगीं और उधर रेज़ीडेंट को रानी जिंदां के हर काम के सम्बन्ध में संदेह होने लगा । मेजर लारेंस ने रानी को यह पत्र लिखा—"भैरोंवाल की संधि के अनुसार महारानी को राज्य-प्रबन्ध में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं । आप अपना जीवन सुख-पूर्वक व्यतीत कर सकती हैं । इसीलिए आप को डेढ़ लाख रुपया दिया जाता है । परन्तु अफ़वाह है कि आप कभी पंद्रह और कभी बीस सरदारों को अपने घर निमंत्रण देकर उनसे परामर्श करती हैं । फिर कई सरदार आप से गुप्त भेंट भी करते हैं । यह भी सुना है कि गत मास से आप प्रति दिन पचीस ब्राह्मणों को भोजन कराती हैं । उनके पाँव भी आप ही धोती हैं । इसके अतिरिक्त प्रमंडल में एक सौ ब्राह्मणों को भेजने की ख़बर सुनी गई है । महाराज रणजीतसिंह के परिवार के मान का उत्तरदायित्व मेरे सिर पर है, इसलिए मुझे यह कहना पड़ता है कि ये सब बातें आपके मान को बढ़ाती नहीं । आगे से आप अपनी सखी-सहेलियों और दास-दासियों के अतिरिक्त किसी से भेंट न किया करें । इसी में आपकी भलाई है । यदि आपको ग़रीब तथा धार्मिक मनुष्यों को भोजन

कराना हो तो प्रति मास को पहली तारीख या किसी अन्य निश्चित दिन यह कार्य करें। आपको महाराज रणजीतसिंह का अनुकरण करना चाहिए। यदि किसी सरदार को बुलाने या उसका आदर-सत्कार करने की आवश्यकता हो तो आप को, स्त्रियों की तरह, नरमी से व्यवहार करना चाहिए। इन सरदारों से मिलते समय आपको जोधपुर, जयपुर और नेपाल की रानियों के समान परदे में बैठ कर बात करनी चाहिए। यदि आप किसी अज्ञात को महलों में नहीं आने देंगी तो सरदारों तथा अन्य अफ़सरों की ओर से राज-प्रबन्ध के मामलों में बहुत कम बखेड़े होंगे।"

इसके उत्तर में रानी जिंदां ने ९ जून को यह पत्र लिखा--"आपने लिखा है कि मुझे राज-प्रबन्ध के मामले में कुछ भी दखल देने का अधिकार नहीं। ब्रिटिश तथा सिख सरदारों में एक समय से मित्रता होने के कारण महाराज दिलीपसिंह तथा लोगों की रक्षा के लिए मैंने लाहौर में अँगरेज़ी फ़ौज रखने के लिए कहा था। परन्तु उस समय यह निर्णय कहीं न हुआ था कि राज्य के प्रबन्ध के साथ मेरा कोई सम्बन्ध न रहेगा। हाँ, यह अवश्य निर्णय हुआ था कि जब तक बालक दिलीपसिंह पंजाब के राजा नहीं बनते तब तक कोई राज्य-कार्य मेरे अफ़सरों के परामर्श के बग़ैर नहीं किया जायगा। उतने दिनों तक मैं पंजाब की रानी हूँ। परन्तु यदि इसपर भी राज-हित के लिए नये संधि-पत्र के अनुसार अन्य कोई प्रबन्ध कर दिया गया है तो मैं इसमें भी राज़ी हूँ।

"आपने डेढ़ लाख वार्षिक ख़र्च के सम्बन्ध में मुझे यह कहना है कि अब इस विषय का उल्लेख करना व्यर्थ है। म : णाका नुष क जैसी परिस्थिति होती है उसी के अनुसार

वह अपने दिन काटता है। फिर यह बात जानने का मतलब ही क्या है कि उसका जीवन कैसे व्यतीत हो रहा है ? तो भी क्योंकि महाराज के प्राप्त वयस्क होने तक राजा के कल्याणार्थ नव प्रबन्ध किया गया है, इसलिए मैं इसमें भी राजी हूँ।

"सरदारों से अकेले मिलने तथा परामर्श करने के विषय में वास्तविक बात यह है। मैंने केवल दो बार सरदारों को बुलाकर बातचीत की। एक बार अमृतसर से लाहौर आते समय मैंने उनको यह राय दी थी कि परमा (यह तेजसिंह का बड़ा शत्रु था) के लाहौर आने में कोई भलाई नहीं। दूसरी बार महाराज के निजी खर्च के सम्बन्ध में कुछ सलाह करने के लिए सरदारों को बुलाया था। इसके अतिरिक्त मैं कभी-कभी सरदार तेजसिंह और दीवान दीनानाथ को बुला लेता हूँ। आगे को आपके कहने के अनुसार पाँच छः सरदारों को ही बुलाया करूँगी। मेरे पास चार-पाँच विश्वसनीय नौकर हैं जिनको मैं छोड़ नहीं सकती। भेंट करते समय मैंने आपसे यह भी कह दिया था कि सिवाय इन लोगों के मुझे अन्य किसी से मिलने की जरूरत नहीं।

"आपने पचास ब्राह्मणों को भोजन कराने तथा उनके पाद-प्रक्षालन के सम्बन्ध में लिखा है। हिन्दू शास्त्रों के विधान के अनुसार यह साधारण बात है। इस मास तथा गत मास मैंने ऐसा किया था। परन्तु आपका पत्र मिलने के बाद मैंने यह बन्द कर दिया है। आगे से आपके निश्चित किये समय पर ही मैं दान-पुण्य किया करूँगी। प्रमंडल के ब्रह्म-भोज की बाबत यही कहना है कि वह स्थान बहुत पवित्र कहा जाता है। इस कारण वहाँ ब्रह्म-भोज करवाया था।

"आप लिखते हैं कि आप पंजाब में अच्छा प्रबन्ध करते

हैं और महाराज रणजीतसिंह के घराने तथा मान की रक्षा के लिए जिम्मेदार हैं। हमारे सम्मान के लिए अँगरेज़ी सरकार जो कुछ करेगी उसके लिए हम सरकार के कृतज्ञ रहेंगे।

"आपने मुझे जयपुर, जोधपुर और नैपाल की रानियों के समान परदे में रहने के लिए कहा है। वे रानियाँ राज्य-कार्य में भाग नहीं लेती हैं। इसलिए उनका परदे में रहना आसान है। उनके राज्यों में योग्य, विश्वसनीय एवं राजभक्त अफसर अपने-अपने राजा के हित के लिए प्राणपण से यत्न करते हैं। परन्तु यहाँ जिस राजभक्ति से हमारे अफसर काम करते हैं वह आपसे छिपी हुई नहीं है।

"इस बात का आप विश्वास मानिये कि कोई अज्ञात मनुष्य हमारे अंतःपुर में नहीं आता और न कोई ऐसा आदमी आने पावेगा। फिर भी मेरी प्रार्थना है कि आप कोई ऐसा विश्वसनीय सरदार नियुक्त कर दें जो आपको मेरे संबंध में खबर देता रहे। परन्तु दरबार के किसी सरदार से यह काम न लिया जाय।

"यह बात बड़ी प्रसन्नता की है, कि महाराज रणजीतसिंह अँगरेज़ों से मित्रता कर गये। उसी का उत्तम फल मैं और बाल-महाराज, दोनों, भोग रहे हैं। जब कभी आप ज़रूरत समझें मुझे अच्छी सम्मति देने से न चूकें।"

इतना कुछ लिखने के बाद भी रेज़िडेण्ट का रानी के संबंध में सन्देह बढ़ता गया। यहाँ तक कि जब उसकी एक सहेली मुलतान से एक सफ़ेद गन्ना लाई तो रेज़िडेंट को इसमें भी षड्यंत्र का भूत दिखाई देने लगा और जब परमा ने तेजसिंह को क़त्ल करने का मनसूबा बाँधा तो उसमें भी रानी का हाथ समझा गया। अंत में उस पर यह दोषारोप किया गया कि

वह बाल-महाराज को बहकाती है। यह बात यों हुई। १७ अगस्त, १८४७, को दरबार करके कुछ सरदारों को उपाधियाँ दी गई। तेजसिंह को राजा की उपाधि मिली। पुराना नियम यह चला आता था कि जिसे राजा की उपाधि दी जाय उसे स्वयं महाराज अपने हाथ से टीका लगायें। परन्तु तेजसिंह और रानी जिंदां में अनबन थी। इसलिए रानी ने उस दिन दिलीपसिंह को बहुत देर के बाद दरबार में भेजा। तब हेनरी लारेंस ने महाराज से तेजसिंह को टीका देने के लिए कहा। परन्तु महाराज ने अपने छोटे-छोटे हाथ पीछे करके टीका देने से इनकार कर दिया। रात को उपाधि-वितरण-उत्सव था। आतिशबाजी का तमाशा हो रहा था। जिंदां ने दिलीपसिंह को वहाँ भी न आने दिया।

ये बातें रजिडेण्ट को बहुत बुरी मालूम दीं। उसे विश्वास हो गया कि यदि दिलीपसिंह बहुत दिन तक अपनी माँ के पास रहेगा तो वह अँगरेजों के विरुद्ध हो जायगा। इसलिए उसे रानी से जितनी दूर रखा जाय उतना ही अच्छा होगा।

हार्डिंग ने १६ अगस्त को हेनरी लारेंस को लिखा कि रानी को लाहौर से निकालने के बारे में दरबार से खुले तौर पर सम्मति ली जाय। कौंसिल के सभी सदस्यों ने हार्डिंग के प्रस्ताव का समर्थन किया। निश्चय हुआ कि जिंदां को लाहौर से सोलह मील पर शेखूपुरा में, चार हजार रुपया मासिक देकर, नजरबन्द कर दिया जाय।

रानी को जब यह समाचार मिला तो उसे इससे कोई खेद न हुआ। उसने बड़ी गम्भीरता से कहा—"जिसमें उन्हें भलाई मालूम दे उसे करने को मैं तैयार हूँ।" रानी को अपने सभी आभूषण तथा जवाहरात ले जाने की इजाजत दी गई। जब

उसने रेज़िडेण्ट से मिलने की प्रार्थना की तो रेज़िडेंट ने मिलने से इनकार कर दिया।

जिस दिन रानी को शेख़ूपुरा जाना था उससे पहली शाम को दिलीपसिंह को सैर के बहाने शालामार बाग़ ले जाया गया और वहीं उसके रहने का प्रबंध कर दिया गया। १९ अगस्त को रानी शेख़ूपुरा पहुँचा दी गई। अगले दिन बड़े लाट की घोषणा निकली कि लाहौर दरबार और अँगरेज़ी सरकार में मित्रता है। बालक दिलीपसिंह के शिक्षण के लिए प्रबन्ध किया जा रहा है। यह आवश्यक मालूम देता है कि उसे अपनी माता से अलग रखा जाय। इस कारण रानी लाहौर से शेख़ूपुरा भेजी गई है।

इस घटना के कुछ दिन बाद हेनरी लारेंस का स्वास्थ्य बिगड़ गया और वह डाक्टरों की सलाह से इँगलैंड चला गया। उसके स्थान में सर फ्रेड्रिक करी पंजाब का नया रेज़िडेंट नियुक्त हुआ। लार्ड हार्डिंग की अवधि भी समाप्त हो चुकी थी। उसके स्थान में डलहौज़ी बड़ा लाट बन कर आया।

मुलतान का विद्रोह—मुलतान लाहौर दरबार के अधीन एक सूबा या प्रांत था। इसका शासक पहले दीवान सावनमल था। अब इसका बेटा दीवान मूलराज प्रांतपति था। खालसा को कई बरस तक राजस्व न देकर मूलराज ने अपने आप को स्वायत्त बना लिया था। इसलिए १८४५ में खालसा ने उस पर चढ़ाई कर दी जिससे मूलराज ने लाहौर दरबार को अठारह लाख रुपया देना स्वीकार कर लिया। परन्तु जल्द ही सिखों और अँगरेज़ों में लड़ाई हो गई। इस कारण मुलतान का मामला ज्यों का त्यों पड़ा रहा।

युद्ध के समाप्त होने पर वज़ीर लालसिंह ने कुछ सेना दीवान मूलराज के विरुद्ध भेजी। परन्तु झंग के निकट मूलराज की सेना ने लाहौर की फ़ौज को परास्त कर दिया। हेनरी लारेंस ने दोनों के बीच में पड़ कर झगड़ा मिटा दिया। उसने फ़ैसला किया कि मूलराज झंग को छोड़ दे, शेष राजस्व वह लाहौर दरबार को अदा करे और राजस्व पूरा करने के लिए मालगुज़ारी और चुंगी को बढ़ा दिया जाय। इसके अनुसार मूलराज को पंद्रह लाख, सैंतालीस हज़ार रुपया वार्षिक के स्थान में सोलह लाख, अड़सठ हज़ार देना पड़ता था।

उस समय तो मूलराज मान गया, परन्तु बाद में उसके लिए इतना रुपया देना कठिन हो गया। इसलिए १८४७ में लाहौर आकर उसने रेज़िडेंट को अपना त्यागपत्र दे दिया। इसके दो कारण बताये। पहला—मालगुज़ारी अधिक होने से उसे वसूल करने में बहुत दिक़्क़त होती है। दूसरा—दीवानी और फ़ौजदारी मुक़द्दमों की अपील लाहौर दरबार के सामने हो सकती है जिस कारण मुलतान में दीवान का मान कम हो गया है। त्याग-पत्र के साथ यह भी लिखा कि गुज़ारे के लिए उसे जागीर दी जाय और इस त्याग-पत्र को लाहौर दरबार से छिपा कर रखा जाय।

दीवान मूलराज जब लाहौर गया तब हेनरी लारेंस इँगलेंड जा चुका था। उसके स्थान में उसका भाई, जान लारेंस, अस्थायी रूप से काम कर रहा था। नये रेज़िडेंट ने मूलराज को बहुत देर तक समझाया कि वह अपना त्याग-पत्र वापस ले ले; परन्तु मूलराज ने इसे मन्ज़ूर न किया। मुलतान लौटने पर जान लारेंस ने उसे फिर लिखा, परन्तु इसका भी कुछ प्रभाव न हुआ। फ्रेडरिक करी के लाहौर आ जाने पर मूलराज को फिर वैसा ही पत्र लिखा गया। लेकिन वह त्याग-पत्र

देने पर अड़ा रहा। इस पर रेजिडेंट ने कहा कि त्याग-पत्र मंजूर होने पर मूलराज को कोई जागीर आदि न दी जाय प्रत्युत उससे पिछले दस बरस का हिसाब माँगा जाय।

इसके उत्तर में मूलराज ने लिखा—"मैं अपने पिता के समय के काग़ज़-पत्र एकत्र करने पर तैयार हूँ; परन्तु उन सब काग़ज़ों को तो कीड़ा खा गया है।" इसपर रेजिडेंट ने सरदार काहनसिंह को सूबादार नियुक्त करके मुलतान भेज दिया। साथ ही वांस एग्न्यू और लेफ्टिनेंट ऐंडरसन के अधीन कुछ सेना तथा छः तोपें भेज दीं। मूलराज ने इनका बड़ा आदर-सत्कार किया। दूसरे दिन मूलराज और अँगरेजी अफ़सरों में हिसाब-किताब के सम्बन्ध में कुछ मतभेद हो गया। परन्तु अन्त में सब ठीक हो गया।

तीसरे दिन मूलराज ने काहनसिंह और अँगरेज अफ़सरों को क़िले के सभी स्थान दिखलाकर चाबियाँ उनके हवाले कर दीं। तत्काल दो गोरखा पलटनें क़िले में नियुक्त कर दी गईं। वहाँ जितने मुलाज़िम पहले थे उन्हें भी रहने दिया गया जिसके कारण सभी सन्तुष्ट हो गये। इसके पश्चात् काहनसिंह और दोनों अँगरेज अफ़सर अपने डेरे को जाने के लिए क़िले से बाहर निकले। दीवान मूलराज भी उनके साथ था। फाटक से बाहर निकलते ही एग्न्यू को बरछे और तलवार से घायल कर दिया गया। थोड़ी दूर जाकर ऐंडरसन पर भी ऐसा ही वार किया गया। आक्रमणकारी सैनिक कहीं भाग गये। घायल अँगरेजों को सरदार काहनसिंह तथा मूलराज के साले रंगाराम ने उनके डेरे पर पहुँचा दिया।

मूलराज इस विद्रोह में सम्मिलित नहीं था। परन्तु लोगों ने रंगाराम से चिढ़कर उसे ज़ख्मी कर दिया। अब मूलराज को विद्रोहियों के साथ मिलने के सिवाय कोई तरीक़ा न सूझा।

उसके सम्मिलित होते ही विद्रोह-अग्नि मुलतान के चारों ओर फैल गई। अगले दिन सवेरे अँगरेजी सेना पर गोले बरसने लगे। विद्रोहियों ने सरदार कान्हसिंह और उसके बेटे को क़ैद कर लिया। शाम होते-होते तीस आदमियों को छोड़कर शेष सारी सिख फौज मूलराज से जा मिली। घायल होते हुए भी एग्न्यु और ऐंडरसन ने बन्नू में मेजर एडवर्ड्ज़ को एक पत्र लिख दिया। इसे देखते ही वह कुछ तोपें, बारह सौ प्यादा और साढ़े तीन सौ सवार लेकर मुलतान की ओर चल पड़ा। परन्तु एग्न्यु और ऐंडरसन को विद्रोहियों ने मार डाला। एडवर्ड्ज़ ने, चलने से पूर्व, सारा हाल लाहौर में रेज़िडेंट को लिख दिया। सिंध-नदी पर पहुँच कर उसने रेज़िडेंट को दोबारा सहायता के लिए लिखा। रेज़िडेंट ने इस विषय में बड़े लाट को लिख दिया, और बस।

इस विद्रोह का समाचार मिलने पर लाहौर में कौंसिल बैठी। सभी सरदारों ने रेज़िडेंट से कहा—"इस समय सिख सेना का मुलतान भेजना उचित न होगा। इसके स्थान में जितनी जल्दी हो सके, अँगरेज़ी सेना भेजी जाय।" परन्तु रेज़िडेंट ने सरदारों के बार-बार कहने पर कोई ध्यान न दिया। जब सरदारों ने देखा कि रेज़िडेंट कुछ करने पर तैयार नहीं है तो वे अपनी-अपनी सेना लेकर मुलतान के लिए चल पड़े। रेज़िडेंट ही नहीं, डलहौज़ी और गफ़ भी इस समय मुलतान को सेना भेजने पर तैयार न थे। डलहौज़ी ने लिखा—"यह ठीक है कि अगरेज़ी सेना भेजे बग़ैर यह विद्रोह दबाया नहीं जा सकेगा और समस्त पंजाब में इसके फैल जाने का डर है। परन्तु पंजाब के संरक्षण के लिए हम अपनी सेना नहीं भेज सकते। वर्षा-ऋतु के कारण हमारी सेना का स्वास्थ्य बिगड़ जायगा।"

डलहौज़ी की इस उपेक्षा-वृत्ति के सम्बन्ध में कई मत प्रकट किये गये हैं। यदि इस घटना के महत्त्व को ग़लत समझ कर ऐसा किया गया तो यह अपराध अवश्य है, पर क्षम्य। लेकिन डलहौज़ी-जैसे आदमी से ऐसी भूल होना सम्भव न था। इसलिए यह बात भी कही गई है कि डलहौज़ी ने जानबूझ कर यह दलेरी की ताकि पंजाब में अधिक गड़बड़ फैल जाय और डलहौज़ी को पंजाब अपने अधीन करने का अवसर मिल जाय।

ऐडवर्ड्ज़ अकेला ही इधर-उधर से सहायता लेकर इस विद्रोह को दबाने में लगा रहा। मई १८४७ में उसने मंगरोटा के क़िले पर अधिकार कर लिया। पहले पहल डेरा ग़ाज़ीख़ाँ से कोर्टलेंड मदद को आ पहुँचा। परन्तु थोड़ी देर बाद वह उसे छोड़कर वापस चला गया। ऐडवर्ड्ज़ ने अपनी ज़िम्मेदारी पर नवाब बहावलपुर से सहायता माँगी। नवाब ने बारह हज़ार सेना भेज दी। यह देखकर और भी बहुत-से ज़मींदार अँगरेज़ों की सहायता करने पर तैयार हो गये।

केसरी के घाट पर दीवान मूलराज और ऐडवर्ड्ज़ की सेनाओं में लड़ाई हुई जिसमें रंगाराम के हमले से अँगरेज़ी फ़ौज के पाँव उखड़ने लगे। उस समय कोर्टलेंड की दो पल्टनें और छः तोपें मदद को आ पहुँचीं। मूलराज को मैदान छोड़कर पीछे हटना पड़ा। इससे सिंध और चनाब का इलाक़ा उसके हाथ से जाता रहा।

इस समय लाहौर दरबार की चार हज़ार सेना आ जाने से ऐडवर्ड्ज़ के पास अठारह हज़ार सैनिक हो गये। मुलतान से आठ मील की दूरी पर दीवान मूलराज ने पहली जुलाई को ऐडवर्ड्ज़ पर चढ़ाई कर दी। इससे अँगरेज़ी सेना के

पाँव उखड़ गये। लेकिन दुर्भाग्य से मूलराज के हाथी पर एक गोला आ गिरा जिसके कारण मूलराज को हाथी से उतरना पड़ा। उसकी सेना ने समझा कि वह मर गया है। इस कारण वह भागने लगी। मूलराज को भाग कर मुलतान के क़िले में आश्रय लेना पड़ा।

यदि एडवर्ड्ज़ सीधे ही मूलराज का पीछा करता तो सम्भव है कि उसे पूर्ण विजय प्राप्त हो जाती। परन्तु जब मूल-राज क़िले में प्रविष्ट हो गया तब क़िले का लेना आसान काम न था। एडवर्ड्ज़ रेज़िडेंट को लिखता रहा, परन्तु वहाँ से और सहायता न आई।

सिख लोग पहले ही अँगरेज़ी सरकार से नाराज़ थे। जब मुलतान के विद्रोह की खबर पंजाब में फैली तो खालसा सर्वत्र जाग उठा। सिखों को खयाल हुआ कि जो अँगरेज इतने-से विद्रोह को दबा नहीं सकते उनकी शक्ति का घमंड दिखावा मात्र है।

रानी जिंदाँ का निर्वासन—मुलतान के इस विद्रोह का प्रभाव जिंदाँ पर भी हुआ। वह शेखूपुरा में क़ैद थी। हेनरी लारेंस के चले जाने के बाद उसके कष्ट और भी बढ़ने लगे। नये रेज़िडेंट को पता लगा कि लालसिंह का अरदली साहबसिंह गुप्त रूप से रानी से मिला है। रेज़िडेंट ने रानी को कहला भेजा कि इस प्रकार की मुलाक़ातों से वह आगे को खबरदार रहे। साथ ही साहबसिंह को आज्ञा दी कि यदि वह शेखूपुरा के निकट देखा गया तो उसे सख्त सजा दी जायगी।

इसके कुछ दिन बाद रानी ने क़िले के रक्षकों को साठ-साठ रुपये की एक-एक कंठी इनाम के रूप में दी। रेज़िडेंट

को इस बात का पता लगा तो वह बहुत नाराज हुआ। सभी को वह कंठियाँ लौटा देने का आदेश हुआ। तत्पश्चात् उन को हटा कर दूसरे आदमी रक्षक रखे गये। उसे मालूम हुआ कि रानी ने एक आदमी राजा गुलाबसिंह और दूसरा महाराज दिलीपसिंह के पास भेजा है। इन आदमियों का कुछ पता न लगा। परन्तु इससे रानी की क़ैद सख़्त हो गई और यह हुक्म हुआ कि वह अपने नौकरों के सिवाय अन्य किसी से बातचीत न किया करे। यदि रानी को कोई पत्र भेजना हो तो क़िले के रक्षकों को दिखलाये बग़ैर न भेजा करे।

रानी ने तंग आकर अपने एक वकील जीवनसिंह को फ़रवरी, १८४७, में डलहौजी के पास कलकत्ता भेजा। जीवनसिंह ने बड़े लाट से कहा कि रानी के साथ बहुत अन्याय हो रहा है जिससे रानी को बहुत सख़्त तक़लीफ़ है। उसके साथ साधारण क़ैदियों-जैसा व्यवहार किया जाता है और यह कष्ट बिना किसी क़सूर के दिया जा रहा है। रानी का निवेदन है कि इस मामले की निष्पक्ष जाँच की जाय और जब तक उसका क़सूर सिद्ध न हो जाय तब तक उसके साथ रानियों-जैसा व्यवहार किया जाय।

डलहौजी ने साफ़ जवाब दे दिया कि सरकार तुमको रानी का वकील नहीं मानती। रानी को जो कुछ कहना है वह रेजिडेंट के द्वारा कहे।

जीवनसिंह ने दूसरी बार भेंट की। अबकी उसने यहाँ तक कह दिया कि रानी के सभी कष्ट सरदारों के कारण हैं। इसलिए वह चाहती है कि उसे किसी अँगरेज अफ़सर के अधीन कर दिया जाय। डलहौजी ने किसी बात की ओर ध्यान न दिया; बस, यही उत्तर किया—"रानी ने अपने

आप को रणजीतसिंह की विधवा और वर्तमान महाराज की माँ कहकर प्रार्थना की है। इस कारण वह मुझसे किसी बात की आशा न करें।"

इसके तीन महीने बाद, मई में, रेजिडेंट को मालूम हुआ कि मुलतान के विद्रोह के अंतस्तल में एक षड्यंत्र पाया जाता है। इसके बारे में रानी के वकील गंगाराम और एक सिख को फाँसी दी गई और दो अन्य निर्वासित किये गये। इससे रेजिडेंट को संदेह हुआ कि इसमें रानी का भी हाथ है। इस प्रस्ताव पर भी विचार किया गया कि रानी के अपराध पर खुली कचहरी में विचार किया जाय। परन्तु इसे उचित न समझ कर यह निर्णय किया गया कि रानी को पंजाब से बाहर रखा जाय। इसपर कौंसिल के तीन सदस्यों के हस्ताक्षर करवाये गये। इनमें से एक राजा तेजसिंह था। शेरसिंह की अनुपस्थिति में भाई गुलाबसिंह से भी हस्ताक्षर करवाये गये। इस निर्णय में यह भी लिखा गया कि यदि काशी में रहते हुए यह पता लगा कि रानी किसी अन्य षड्यंत्र में सम्मिलित है तो उसे चुनार में बन्द करके क़ैद को बहुत कड़ा कर दिया जायगा।

१४ जून को रेजिडेंट ने रानी को एक पत्र में यह लिखा—"कप्तान लम्स्डन और लेफ्टिनेंट हडसन के साथ कुछ सरदार भेजे जा रहे हैं। ये लोग शेखूपुरा से बाहर जाने के सम्बन्ध में आपसे जो कुछ कहें उसपर आचरण करने में विलंब न करें।"

पत्र पढ़कर रानी का माथा ठनका। वह समझ गई कि उसे अपने पंजाब से भी निकलना पड़ेगा परन्तु अब वह बेबस थी।

कुछ दिनों में ही कैपटन लम्सडन और लेफ्टिनेंट हडसन कुछ सिख सरदारों को लेकर शेखपुरा पहुँच गये और रानी को वहाँ से निकलने के लिए तैयार होने को कहा। उसे अपने साथ केवल थोड़ा-सा व्यक्तिगत सामान तथा आभूषण लेने दिये गये। उसे कहाँ जाना है, यह उसको बिलकुल नहीं बताया गया।

रानी को जब वे पंजाब की सीमा के बाहर ले गये तब उसे पता दिया गया कि उसको बनारस में रहना पड़ेगा और पंजाब में उसका आना बड़े लाट की आज्ञा से बन्द कर दिया गया है। बनारस में उसके खर्च के लिए कुछ पेंशन लगा दी गई।

रानी के लिए पंजाब से बाहर नजरबंदी में रहना एक बहुत ही कड़वा घूँट था। उसे यह ढाढ़स था कि नजरबन्दी का स्थान तीर्थराज बनारस है। परन्तु वहाँ महाराज रणजीतसिंह की रानी के नाते उससे बहुत कुछ दान-पुण्य की अपेक्षा थी। वह स्वयं भी धार्मिक जीवन व्यतीत करना चाहती थी। परन्तु उसकी पेंशन उसके लिए अपर्याप्त थी। इसलिए उसने न्युमार्च नाम का एक अँगरेज वकील किया और उसे अपना पक्ष सरकार के सामने रखने को कहा। उसने हर एक बात की जाँच की और रानी के खर्च के विषय में मेकेगर से पत्र-व्यवहार किया। इस पर उसे बड़े लाट ने उत्तर दिया—"जो रुपया रानी को मिल रहा है वह उसके गुजारे के लिए पर्याप्त है।" न्युमार्च ने रानी को कलकत्ता के सुप्रीम कोर्ट से अपील करने को लिखा। इस न्यायालय ने भी बड़े लाट के निर्णय का समर्थन किया। अब रानी की इच्छा हुई कि न्युमार्च को इँगलैंड भेजा जाय। परन्तु इसके लिए वह पचास हजार रुपया फीस माँगता था और रानी के पास अब कुछ न था। सब ओर से निराश

होकर वह चुप बैठ गई। कुछ दिन बनारस में नजरबन्द रहने के बाद जिंदां नैपाल भाग गई। वहाँ से अँगरेजों ने उसे इँगलैंड भेज दिया।

अटारी के सरदार—रानी के निर्वासन की खबर ज्यों-ज्यों फैलने लगी त्यों-त्यों सिखों के दिलों में एक प्रकार की आग सुलगने लगी और धुआँ निकलने लगा। एक तो यों भी सिख लोग रानी को माता के बराबर समझते थे। उसके निर्दोष होते हुए निर्वासित किये जाने पर उनके अन्दर अशांति का होना स्वाभाविक था। परन्तु साथ ही यह भी भय प्रतीत होने लगा कि रानी को निकाल देने का परिणाम यह न हो कि पंजाब का राज उसके बेटे से भी छीन लिया जाय।

इस आग के सुलगाने की सामग्री मुलतान में पाई जाती थी। दीवान मूलराज का विद्रोह सिखों के दिलों में हर समय एक जोश-सा पैदा करता था। रेजिडेंट ने अपनी एक रिपोर्ट में बड़े लाट को लिखा कि सरदार शेरसिंह के डेरे से खबर आई है कि रानी के देश-निर्वासन का समाचार सुनकर खालसा सेना बहुत बेचैन हो रही है। सैनिक कहते हैं—रानी खालसा की माता है। जब वही देश से निकाल दी गई और बालक महाराज हमारे हाथ में है नहीं तो अब हम किसकी रक्षा करें? किसी दूसरे के लिए काम करने की जरूरत हमें नहीं। हम लोग अपने सरदारों को क़ैद कर मूलराज के साथ मिल जायँगे।

कई अँगरेज अफ़सरों की भी शहादत मौजूद है कि रानी की सजा पर लोगों में बहुत बेचैनी पैदा हो गई थी। परन्तु डलहौजी ने लोगों की चीख पुकार पर कोई ध्यान न दिया। यह शोर जनसाधारण में पाया जाता था। परन्तु बड़े सरदार

फिर भी अँगरेजी सरकार के साथ थे। इनमें सब से ऊँचा पद अटारी के बूढ़े सरदार चतुरसिंह का था जो हजारा का जागीरदार था। इसका बड़ा बेटा शेरसिंह सेना का नायक था। दो अन्य बेटे लाहौर दरबार की कौंसिल के सदस्य थे।

सरदार चतुरसिंह की लड़की की सगाई महाराज दिलीप-सिंह से हो चुकी थी। वृद्ध सरदार के मन में अब दो इच्छाएं थीं। एक तो लड़की का ब्याह हो जाय; और दूसरी, एक वर्ष तीर्थ-यात्रा में व्यतीत करे। उसने रेजिडेंट को लिखा कि उसे महाराज दिलीपसिंह से अपनी लड़की का ब्याह करने की अनुज्ञा दी जाय। इसके लिए कोई ज्योतिषी नियुक्त किया जाय जो लगन तथा मुहूर्त निकाले। यदि सरकार ब्याह की इजाजत न दे तो फिर उसे अपने पद से दो बरस की छुट्टी दी जाय ताकि वह तीर्थ-यात्रा कर सके। सरदार शेरसिंह ने भी रेजि-डेंट से मिल कर कहा कि ब्याह की तैयारी में कम से कम एक वर्ष लग जायगा। इस ब्याह से एक और लाभ यह होगा: लोगों के दिलों में जो संदेह पंजाब के ले लिये जाने के बारे में पैदा हो गया है, वह दूर हो जायगा। इसका उत्तर दस दिन में मिलना चाहिए। रेजिडेंट ने टाल-मटोल में जवाब दिया कि महाराज का ब्याह रेजिडेंट की स्वीकृति के बग़ैर नहीं हो सकता और रेजिडेंट इस विषय में कौंसिल से गुप्त परामर्श करेगा। इस उत्तर से चतुरसिंह और शेरसिंह, दोनों, नाराज हो गये।

अब एक अन्य घटना हुई जिसने जलती आग पर तेल डालने का काम किया। हजारा की मुसलमान आबादी दिल से सिख-शासन से घृणा करती थी। सरदार चतुरसिंह को परामर्श देने के लिए रेजिडेंट ने कप्तान ऐबट को नियुक्त

किया। ऐबट का स्वभाव बड़ा विचित्र था। उसकी तबीअत में संदेह इतना प्रधान था कि वह प्रत्येक कार्य को संदेह की दृष्टि से देखता। संयोग से एक सरदार झंडासिंह के अधीन रहनेवाले कुछ सैनिक विद्रोह करने की सोच रहे थे। इन सैनिकों को दंड दिया गया। ऐबट चाहता था कि झंडा-सिंह को भी षड्यंत्रकारी ठहरा कर सजा दी जाय। इस मामले की रिपोर्ट ऐबट और चतुरसिंह, दोनों, ने अपनी-अपनी ओर से भेजी। रेजिडेंट ने फैसला किया कि झंडासिंह का कोई दोष नहीं और उस पर संदेह करना व्यर्थ है। इसके साथ ही उसने वृद्ध सरदार चतुरसिंह के परिवार की राज-भक्ति की बहुत प्रशंसा की।

इतने में सरदार चतुरसिंह की सेना के सैनिक विद्रोह की भावना दिखलाने लगे। उसके अफसर इसे दबाने में लग गये। फिर भी ऐबट के दिमाग में यह बात समा गई कि चतुरसिंह अंदर से उन सैनिकों को सहायता कर रहा है और जल्द ही लाहौर पर आक्रमण करके अँगरेजों को पंजाब से निकालना चाहता है। संशयात्मा ऐबट वहाँ से छत्तीस मील की दूरी पर सरबरण में चला गया। चतुरसिंह इससे चकित हो गया। उसने अपना वकील ऐबट के पास भेजा जिसे यह रूखा-सा उत्तर मिला—"मैं तुम्हारे मालिक का विश्वास नहीं करता।"

चतुरसिंह ने फिर भी शांत रहकर ऐबट को कहला भेजा कि यदि उसे वहीं रहना है तो वह चतुरसिंह या उसके बेटे को अपने साथ रहने दे। ऐबट ने इसके बजाय मुसलमानों को लोभ देकर चतुरसिंह के विरुद्ध उभारना शुरू किया। ६ अगस्त, १८३८, को मुसलमानों के दल के दल चतुरसिंह के मकान के गिर्द एकत्र हो गये। हजारा की सेना पलखी में थी।

चतुरसिंह ने शहर के सिपाही जमा करके उन्हें आज्ञा दी कि तोप की सहायता से मुसलमानों को हटा दिया जाय। तोपखाने में कानौरा-नामक एक अमेरिकन था। जब उसे साथ जाने को कहा गया तो उसने उत्तर दिया "मैं कप्तान ऐबट की आज्ञा के बग़ैर कहीं नहीं जाऊँगा।" अब उसे समझाया गया कि यदि तुम तोपखाना लेकर न पहुँचोगे तो शत्रु हरिपुर पर क़ब्ज़ा कर लेंगे और हमारा शासन नष्ट हो जायगा। परन्तु कानौरा ने न केवल इस आज्ञा का पालन न किया प्रत्युत तोप लेकर बीच में खड़ा हो गया—"जो कोई मेरे सामने आयगा उसे मैं गोले से उड़ा दूँगा।" उसने एक सिख हवलदार को चतुरसिंह के सैनिकों पर गोला चलाने का आदेश भी दिया। हवलदार के इनकार करने पर कानौरा ने उस बेचारे का गला तलवार से काट डाला और पिस्तौल निकालकर दो सैनिकों को भी मार डाला। यह देखकर सिख सैनिकों ने कानौरा को काट डाला।

अब ऐबट ने रेजिडेंट से शिकायत की कि सरदार चतुरसिंह ने कानौरा का वध करवा दिया है। रेजिडेंट ने इस बारे में चतुरसिंह से जवाब माँगा। उसने समझ लिया कि इस मामले में ऐबट का दोष है। अपने पत्र में उसने ऐबट की हर बात का खण्डन किया और उससे पूछा कि वह किस आधार पर कानौरा के वध का इल्ज़ाम सरदार चतुरसिंह पर लगाता है, क्योंकि चतुरसिंह ने सारी कार्यवाही अपनी तथा शासन की रक्षा के लिए की है। फिर भी ऐबट ने चतुरसिंह को लिख भेजा कि "यदि कानौरा के क़ातिल को मेरे सुपुर्द कर दें तो आपकी जागीर तथा सेना बनी रहेगी। आपके इस काम की जाँच क़ानून के अनुसार की जायगी। मैं तुरन्त ज़िला हज़ारा को शांत कर दूँगा।"

चतुरसिंह यह बात कैसे मान सकता था ? उसने कानौरा के क़ातिल को पुरस्कार देना उचित समझा था। यदि चतुरसिंह उस आदमी को ऐबट के हवाले कर देता तो उसकी सारी सेना बिगड़ जाती। चतुरसिंह ने ऐबट से मिलना चाहा; परन्तु उसने यह भी गवारा न किया। अब ऐबट ने चतुरसिंह पर यह अपराध लगाया कि उसने जम्मू के राजा गुलाबसिंह को अपने बेटे शेरसिंह को लाहौर पर आक्रमण करने के लिए पत्र लिखे हैं। रेज़िडेंट ने इस बात की जाँच करने के लिए कप्तान निकलसन को नियुक्त किया। उसने लिखा कि इन पत्रों में मुसलमानों के विद्रोह को दबाने के लिए ही चार पलटनें भेजने को कहा गया है। परन्तु तत्पश्चात् न मालूम किस कारण ऐबट और निकलसन दोनों की राय एक हो गई और निकलसन ने भी चतुरसिंह को यह लिख भेजा—"आप बिना विलंब के आत्म-समर्पण कर दें और कानौरा के क़ातिल को मेरे पास ले आवें। तब मैं आपके जीवन तथा मान का उत्तर-दायित्व ले सकता हूँ। परन्तु अपनी जागीर या पद की कोई आशा न रखें." इसके साथ ही रेज़िडेंट को भी लिखा कि चतुरसिंह को उसके पद तथा जागीर से पृथक कर दिया जावे।

यह अचरज की बात थी। परन्तु इससे भी बढ़कर आश्चर्य इस बात का था कि उसी रेज़िडेंट ने, जो अभी तक चतुरसिंह को निर्दोष समझता था, निकलसन का समर्थन कर दिया। रेज़िडेंट ख़ूब जानता था कि कानौरा के वध का कारण न जानकर निकलसन इस मामले में भूल कर रहा है। उसने १४ अगस्त को ऐबट को लिखा था—"कानौरा को जो दंड दिया गया उसे आप क़त्ल नहीं कह सकते। आपका ऐसा कहना न्याय के सर्वथा विरुद्ध है।" परन्तु यह जानते हुए भी रेज़िडेंट ने चतुरसिंह की जागीर और निज़ामत को ज़ब्त करने

की इजाज़त दे दी। अब चतुरसिंह के लिए कोई चारा न था। बाध्य होकर उसने तलवार की शरण ली। अपने बेटे शेरसिंह को भी उसने इस बात से सूचित कर दिया।

इधर सरदार चतुरसिंह का यह हाल हो रहा था और उधर उसका लड़का शेरसिंह मेजर एडवर्ड्ज से मिलकर मुलतान का विद्रोह दबा रहा था। इस बात का जिक्र पहले आ चुका है कि यद्यपि सरदारों ने रेजिडेंट से कह दिया था कि मुलतान का विद्रोह दबाने के लिए सिख सेना पर पूर्ण विश्वास नहीं किया जा सकता तथापि सभी सरदार अंगरेजों की सहायता कर रहे थे।

जून १८४८ में गुरुमहाराजसिंह ने लगभग पाँच हजार सैनिक एकत्र करके होशियारपुर के इलाक़े में ग़दर मचा दिया। मिश्र साहबदयाल ने एक हज़ार सिपाही लेकर उसे दबाया। कुछ पहाड़ी राजाओं ने भी विद्रोह का झंडा उठाया। परन्तु सिख सरदार उनके विरुद्ध जाने पर तैयार हो गये। मेजर एडवर्ड्ज ने १३ जुलाई को लिखा—"यद्यपि शेरसिंह के अधीन सेना के कुछ हिस्से विश्वसनीय नहीं हैं तथापि शेरसिंह का बड़ा ज़बर-दस्त प्रभाव है और सब लोग उसके शासन को मानते हैं। उसकी सेना के दो-एक आदमियों ने कुछ शोर मचाया; परंतु शेरसिंह ने उनको कड़ा दंड देकर शेष सैनिकों के अंदर डर पैदा कर दिया।"

शेरसिंह के पहुँचने तक एडवर्ड्ज चुपचाप बैठा रहा। इस बीच में दीवान मूलराज अपने किले को सुदृढ़ बनाता और नई सेना भरती करता रहा। फिर भी वह शेरसिंह के आग-मन पर डरने लगा। उसने शेरसिंह तथा अन्य सरदारों के पास अपना संदेशवाहक भेजा कि वे उसकी सहायता करें। परंतु शेरसिंह ने उसका मुँह काला करके गदहे पर सवार कर,

वापस किया। मूलराज ने इधर से निराश होकर लाहौर की सिख सेना को अपने साथ मिलाने का प्रयत्न किया। इस पर एक हिस्सा उसके साथ जा मिला।

२० जुलाई को मूलराज के क़िले से अँगरेज़ी सेना पर गोले बरसने लगे। पर शेरसिंह ने क़िले पर हमले करके गोलाबारी को रोक दिया। मूलराज ने एक बार फिर अपनी कुछ सेना भेज कर शेरसिंह की फ़ौज को अपने साथ मिलाने की कोशिश की; परंतु शेरसिंह ने इस तरकीब को सफल न होने दिया। तंग आ-कर दीवान मूलराज ने शेरसिंह को क़त्ल करने के लिए सुजानसिंह-नामक सैनिक भेजा; परंतु वह अपने साथियों समेत पकड़ा गया। सुजानसिंह को गोले से उड़ा दिया गया। इन बातों से शेरसिंह की सेना में अशांति-सी फैल गई और शेरसिंह को उसे सँभालने में बड़ी कठिनाई पेश आई।

इन सब बातों के होते हुए अँगरेज़ अफ़सरों के दिलों में शेरसिंह के विषय में संदेह उत्पन्न हो रहे थे। १८ अगस्त को शेरसिंह ने मेजर एडवर्ड्ज़ से अपने पिता से किये गये बुरे व्यवहार का ज़िक्र किया। फिर भी जब कभी मूलराज की ओर से हमला होता तभी शेरसिंह अँगरेज़ी सेना की रक्षा के लिए उपस्थित रहता। मेजर एडवर्ड्ज़ ने अपने एक पत्र में उसके कार्य की प्रशंसा करते हुए यह लिखा है—"सिख लोग शेरसिंह से बहुत बिगड़े हुए हैं। वे उसे सिखों का घातक और मुसलमानों का पैदा किया हुआ कहा करते हैं। उन्होंने उसका नाम शेरसिंह के बजाय शेख़सिंह रखा हुआ है।"

सितम्बर में बड़े लाट ने मेजर एडवर्ड्ज़ की सहायता के लिए मुलतान सेना भेजी। इसके साथ सेनानायक हैवलेस तथा इंजीनियर नेपियर, दोनों, थे। हैवलेस के अधीन आठ हज़ार पैदल, डेढ़ हज़ार सवार और चवालीस तोपें थीं। एडवर्ड्ज़

के पास दस हज़ार पैदल, तीन हजार घुड़चढ़े और अड़तालीस छोटी-बड़ी तोपें थीं। इसके अतिरिक्त नवाब बहावलपुर के पाँच हज़ार पैदल, दो हज़ार सवार तथा कुछ तोपें और शेर-सिंह के तीन सौ सवार, लगभग एक हज़ार पैदल तथा बारह तोपें थीं।

९ सितंबर की रात को कुछ अँगरेज़ी तथा देशी फ़ौज ने क़िले पर आक्रमण कर दिया। किन्तु उन्हें कुछ सफलता न प्राप्त हुई और उनके दो-तीन सौ सैनिक मारे गये। उधर धर्मशाला की लड़ाई में मूलराज के पाँच सौ सैनिक काम आये। इस प्रकार अँगरेज़ी सेना क़िले से सौ क़दम की दूरी पर पहुँच गई। इस समय शेरसिंह को समाचार मिला कि उसके पिता की जागीर ज़ब्त करने का हुक्म हो गया है। वह इस अपमान को सहन न कर सका। उसका दिल जलने लगा। अब वह अपनी तलवार अँगरेज़ों के विरुद्ध चलाने पर तैयार हो गया।

१३ सितंबर की रात को उसने अपने भाई गुलाबसिंह को एक गुप्त पत्र इस आशय का लिखा - "सिंह साहब (पिताजी) लिखते हैं कि वे कप्तान ऐबट की आज्ञा का पालन करते रहे, परन्तु उसने हजारा के मुसलमानों से मिलकर सिंह साहब को बहुत कष्ट दिये और सिख सेना को नष्ट करने के लिए बड़ा प्रयत्न किया। गत सप्ताह से मेजर एडवर्डज़ का विचार भी बदला हुआ है। इसलिए मैंने सिंह साहब से मिलने का दृढ़ निश्चय कर लिया है। यदि तुमको सिंह साहब की आज्ञा और मेरी राय का कुछ मान है तो इस पत्र को पाते ही सिंह साहब के पास पहुँच जाओ अन्यथा जम्मू या अन्यत्र चले जाना। इसमें क्षण भर भी विलंब न करना। यदि तुम्हें मेरी सम्मति ठीक न मालूम दे तो तुम्हारी जो

इच्छा हो करो परन्तु याद रखो कि पिता का आदेश मानना सबसे बड़ा कर्तव्य है। यह जीवन दो दिन का है। यदि जिंदा रहे तो फिर मिलेंगे, नहीं तो जो ईश्वर को मंजूर है वही होगा।

इस पत्र के लिखने के पश्चात् शेरसिंह ने यह घोषणा की—"पंजाब के लोगों से यह बात छिपी हुई नहीं है कि महाराज रणजीतसिंह की रानी के साथ फ़िरंगियों ने किस प्रकार का अत्याचार किया है। रानी का जो अपमान हुआ या इस कारण लोगों के साथ जो अनुचित व्यवहार किया गया उसके लिखने की आवश्यकता नहीं। पंजाबियों की माता तुल्य रानी जिंदां को निर्वासित करके फ़िरंगियों ने एक तो संधि तोड़ी है, दूसरे महाराज रणजीतसिंह की संतति तथा हम सब सिखों के साथ ऐसा अत्याचार किया है कि हम धर्म से वंचित हो गये हैं। फिर राज्य का सारा पुराना गौरव भी मिट रहा है। बस, अब देखते क्या हो? आओ, अपने मान तथा जान-माल की रक्षा के लिए एक हो जायँ।"

१४ सितम्बर प्रातः ही शेरसिंह अंगरेजी सेना से अलग होकर मुलतान क़िले की ओर गया। एक दिन पहले उसने मूलराज को लिख भेजा था कि कल मैं आप से मिलना चाहता हूँ। मूलराज को शेरसिंह की बातों पर विश्वास न हुआ। उसका खयाल था कि शेरसिंह उसे धोखे में फँसाना चाहता है। इसलिए शेरसिंह के लिए उसने क़िले के बाह्य भाग में तोपों के सामने तंबू लगवा दिये। साथ ही एक धर्मशाला में ले जाकर शेरसिंह से 'ग्रंथ' पर हाथ रखवाया। शेरसिंह ने प्रतिज्ञा की कि मैं मूलराज से किसी प्रकार का छल-कपट नहीं करूँगा परन्तु मूलराज के मन से सन्देह फिर भी न दूर हुआ। वह अपनी सेना लेकर क़िले में प्रविष्ट हो गया। जब

शेरसिंह ने देखा कि मूलराज का शक किसी तरह दूर नहीं होता तब इसे और कोई रास्ता नजर न आया। मुलतान छोड़कर उसने अपने पिता से मिलने का निश्चय किया।

यह मूलराज की बड़ी भूल थी। शेरसिंह पर सन्देह करना उसके लिए अनुचित न था फिर भी उस पर इतना अड़े रहना ऐसी भूल थी जो स्वयं मूलराज और सिख सरदारों के लिए घातक सिद्ध हुई। यदि मूलराज शेरसिंह पर विश्वास कर लेता तो सम्भव है, पंजाब के इतिहास का पन्ना पलट जाता। शेरसिंह के अलग हो जाने पर अँगरेजी सेना में घबराहट पैदा हो गई। दो दिन तक अँगरेजों ने सारा काम बन्द रखा। परन्तु जब लाहौर की शेष सेना उनके अधीन शांत रही तब उन्हें कुछ होश आया। पर सितम्बर का उत्तरार्ध उन्होंने विचार-विमर्श में ही गुजार दिया। मूलराज की शक्ति दिन प्रति दिन बढ़ती गई। इस बीच में उसने काबुल के अमीर दोस्तमुहम्मद खाँ को लिखा और उसने अपने बेटे को सेना देकर मुलतान भेज दिया।

इस प्रकार अक्तूबर का सारा मास निकल गया। ४ नवम्बर को सेनानायक हैवलेस ने मूलराज की बढ़ती हुई सेना के विरुद्ध तोपें गाड़ दीं और क़िले पर गोले बरसाना आरम्भ किया। जब मूलराज की सेना इसकी परवाह न करके फिर भी आगे बढ़ आई तब हैवलेस ने संगीनों से हमला करने की आज्ञा दी। अब मुलतानी सेना मुक़ाबले में न ठहर कर पीछे हटने लगी।

दिसम्बर मास में बम्बई से और अँगरेजी सेना आ गई जिससे अँगरेज अफ़सरों का उत्साह बढ़ गया। २५ दिसंबर को हल्ला करके अँगरेजी सेना ने क़िले का बहुत-सा बाह्य

भाग ले लिया। मूलराज को क़िले में बन्द होना पड़ा। इससे बढ़ कर उसके लिए दुर्भाग्य की बात यह हुई कि ३० दिसंबर को एक गोला क़िले के बारूदखाने में जा गिरा। वहाँ लगभग पाँच हज़ार मन बारूद पड़ी थी। उसमें आग लग जाने से धुएँ के ऐसे बादल छाये कि रात-जैसा अँधेरा हो गया। इस मौक़े पर सरदार काहनसिंह और उसका बेटा, जो क़ैद थे, मर गये।

२ जनवरी को बंगाल की फ़ौज ने देहली दरवाज़े पर धावा बोला। इसमें सफल न होकर वह बम्बई की सेना से आ मिली जो ख़ूनी बुर्ज पर हमला कर रही थी। दोनों ने मिलकर वह बुर्ज ले लिया। यह देखकर मूलराज घबरा गया। केवल तीन हज़ार सैनिक लेकर वह क़िले के अंदर चला गया और फाटक बंद कर लिया। उसकी शेष सेना शहर छोड़ कर भाग गई।

३ जनवरी को अँगरेज़ी सेना शहर में प्रविष्ट हुई। उसने क़िले को चारों ओर घेर लिया। मूलराज ने शत्रुदल के नायक को संदेश भेजा कि वह झुकने पर तैयार है। शत्रु ने उत्तर दिया—"जब तक आप स्वयं उपस्थित नहीं होते, आपकी कोई बात नहीं सुनी जायगी।" १२ जनवरी को मूलराज ने अपनी क़िस्मत आज़माने के लिए अँगरेज़ी सेना पर आक्रमण किया, पर वह सफल न हुआ। चार दिन के बाद क़िले में जाने के दो रास्ते हो गये। मूलराज ने अब फिर अपना आदमी अँगरेज़ों के पास भेजा। अबकी भी उसे वही जवाब मिला।

२१ जनवरी को हैवलोस ने क़िले पर अधिकार करने के लिए सेना को आदेश दिया। अब मूलराज को आत्म-समर्पण के सिवाय कोई उपाय दिखाई न दिया। उसने कहला भेजा

—"मैं उपस्थित होने को तैयार हूँ यदि मेरे प्राणों तथा मेरे परिवार के मान की रक्षा की जाय।" हैवलेस ने उत्तर दिया —"आपके प्राणों के विषय में मैं कुछ नहीं कह सकता। हाँ, आपके परिवार की रक्षा की प्रतिज्ञा मैं कर सकता हूँ।"

अगले दिन क़िले पर हमला होने लगा। सवेरे ६ बजे मूलराज ने आत्म-समर्पण कर दिया। उसे लाहौर लाया गया। तीन अँगरेज़ों ने कचहरी में मुक़द्दमा करके उसे पहले फाँसी की सज़ा सुनाई, बाद में प्राण-दंड को कालापानी में बदल दिया। लाहौर से कालापानी जाते हुए रास्ते में ही दीवान मूलराज की मृत्यु हो गई थी। वह अपमान से बच गया।

अँगरेज़ों और सिखों में दूसरा युद्ध—कुछ समय से सिखों के अंदर आग सुलग रही थी। उनको अपना कोई नेता न दिखाई देता था। पेशावर आदि स्थानों में सिख फ़ौज ने उठने का निश्चय किया, परन्तु उनको दबा दिया गया। शेरसिंह की घोषणा निकलने पर उन लोगों को सबसे बड़ा सरदार, नेता के रूप में, मिल गया। १५ नवम्बर को रेज़िडेण्ट ने एक घोषणा निकाली जिसमें उन सब लोगों को प्राण-रक्षा का वचन दिया जो अँगरेज़ों के विरुद्ध हथियार न उठायँगे। साथ ही सरदारों से प्रार्थना की कि वे युद्ध में अँगरेज़ी सेना को खाद्य-सामग्री आदि से सहायता करें।

इस घोषणा से पूर्व ही लार्ड गफ़ पचीस हज़ार सेना और, एक सौ एक तोपें लेकर फ़ीरोज़पुर आ गया। १३ नवंबर को वह लाहौर पहुँच गया। आते ही वह शेरसिंह के विरुद्ध मैदान लेने को तैयार हो गया। २२ नवंबर को उसने कैंपबेल और कोलमैन को रामनगर जाने की आज्ञा दी। वह आप भी साथ हो लिया। उसे मालूम था कि शेरसिंह के पास बहुत-सी सिख

सेना रामनगर में एकत्र हो गई है। रामनगर पहुँचने पर उन्हें सिख सेना का कोई पता न लगा। जब बहुत देर बाद सिख सेना दिखाई पड़ी तब उसपर गोले फेंके गये। वे बड़े चकित हुए जब कोई भी गोला सिखों को न लगा। अब अँगरेज़ी फ़ौज आगे बढ़ी। इसपर आगे से गोलों की ऐसी बौछाड़ पड़ी कि दो तोपें और खाद्य-सामग्री के छकड़े वहीं छोड़ कर अँगरेज़ सैनिक भाग आये। गफ़ इतना घबरा गया कि उसने पीछे हटने का निश्चय कर लिया।

अँगरेज़ी फ़ौज को पीछे हटते देखकर सिखों ने उनका पीछा किया और युद्ध के लिए ललकारा। विलियम हैवलाक नाम का अँगरेज़, जो नेपोलियन के साथ युद्ध में वीरता दिखला चुका था, यह ललकार सहन न कर सका। उसने गफ़ से लड़ाई की अनुज्ञा माँगी। अपने साथ सवारों के दो तुरूप ले कर वह पंजाबी सेना पर जा टूटा। स्वयं उसने शत्रु की पंक्ति तोड़ दी और अपने साथियों को अपने पीछे आने के लिए कहता गया। सिखों ने ऐसी गोली चलाई कि हैवलाक वहीं खेत रहा और बहुत-से अँगरेज़ सवार मारे गये। इस लड़ाई में सिखों ने कई अँगरेज़ों को गिरफ़्तार किया। शेरसिंह ने उनके साथ आदर-पूर्वक व्यवहार किया और उनके खान-पान का विशेष प्रबंध कर दिया।

रामनगर में पराजित होकर गफ़ ने तीन कोस पर अपनी छावनी बनाई और बड़ी-बड़ी तोपें मँगवाईं। २ दिसम्बर को शेरसिंह पर दो विभिन्न दिशाओं से हमला करने का निश्चय किया गया। शेरसिंह के साथ सामने से लड़ने के लिए स्वयं गफ़ वहाँ ठहरा और नेपोलियन के युद्ध में वीरता का प्रदर्शन करनेवाले सर जोज़ेफ़ थैकविल को चनाब की बाईं ओर से हमला करने के लिए नियुक्त किया। थैकविल उस दिन चनाब

पार होकर वजीराबाद पहुँचा। रात चुप-चाप रहकर अगले दिन उसका निश्चय हमला बोलने का था।

शेरसिंह को शत्रु की इस चाल का पता लग गया। उसने कुछ सेना गफ़ के लिए रामनगर में रख दी, शेष को साथ लेकर थैकविल के विरोध के लिए निकाला। थैकविल ने इसकी सूचना गफ़ को दे दी। गफ़ ने कहला भेजा कि मैं ब्रिगेडियर गाडबी को भेज रहा हूँ। थैकविल तो गाडबी की प्रतीक्षा करता रहा, इतने में शेरसिंह ने हमला कर दिया। थैकविल ने पीछे हटना शुरू किया। जिधर से गाडबी के आने की आशा थी उधर से शेरसिंह ने सादुल्लापुर के पास थैकविल को जा घेरा। थैकविल ने अपनी सारी सेना ऊख के एक खेत के पीछे कर ली और लड़ने पर तैयार हो गया। दिन के दो बजे लड़ाई आरम्भ हुई। दो घंटे तक एक दूसरे पर हमले होते रहे जिसमें ज्यादातर अँगरेजी सेना को नुक़सान उठाना पड़ा।

इतने में शाम हो गई। थैकविल ने सहायता की बाट देखते-देखते वहाँ से हट जाना ही उचित समझा। शेरसिंह ने भी शत्रु का पीछा करना ठीक न समझा और विजय की खुशी में चनाब के दक्षिणी पुल से पार हो गया। इस लड़ाई से गफ़ को ऐसा आघात हुआ कि उसे अगले चालीस दिन तक फिर हमला करने का साहस न हुआ।

१० जनवरी को लसूड़ी पहुँचकर अँगरेजी सेना एकत्र करने का प्रयत्न किया गया। यहाँ से चार कोस की दूरी पर रसूल-नाम के गाँव में शेरसिंह ने अपनी छावनी बनाई। सामने एक जंगल-सा था। अँगरेजों को उसकी तैयारी का कुछ पता न लग सकता था। १३ जनवरी को अँगरेजी सेना दुश्मन पर हमला करने के लिए आगे बढ़ी। कई कोस चलने

के बाद वह चिलियाँवाला के मैदान में आ पहुँची। अगले दिन हमले का निश्चय था। परन्तु शेरसिंह ने यह समाचार पाकर चुपके से धावा बोल दिया। शेरसिंह की इस चालाकी पर गफ़ बहुत चकित हुआ। उसने सिखों पर गोलाबारी करने का हुक्म दिया। दो घंटे तक गोले बरसने के बाद साढ़े तीन बजे सेना को आगे बढ़ने की आज्ञा हुई। कैंपबेल की सेना सबसे आगे थी। इसके एक भाग का अफ़सर पेनीकुक था। दोनों भागों ने मिलकर पंजाबी सेना पर आक्रमण किया। उन्होंने जाकर पंजाबी तोपों के अंदर कीलें गाड़ दीं। पंजाबी सैनिक तलवारें लेकर उनपर टूट पड़े और सबका अन्त कर दिया। इनमें स्वयं कैंपबेल भी था। एक सैनिक ने उसे तलवार से घायल कर दिया; परन्तु एक गोरे ने अपनी तलवार उठाकर अपने सेनानायक को बचा लिया। पंजाबियों ने तोपों से कीलें उखाड़ दीं और वे गोले बरसाने लगे। अन्त में कैंपबेल जीत ही गया। सिखों की चार तोपें उसके हाथ लगीं।

कैंपबेल तो जीत गया, परन्तु उसके साथी पैनीकुक की बुरी गत बनी। पैनीकुक ने एक बड़ी सेना के साथ पंजाबियों पर हमला किया; परन्तु उन्होंने तलवारों तथा गोलियों से ऐसा उत्तर दिया कि अँगरेज़ी फ़ौज मुक़ाबिले पर ठहर न सकी। पैनीकुक सेना सहित मारा गया और उसका झंडा पंजाबियों के हाथ आया।

एक अन्य स्थान पर गिल्बर्ट ने पंजाबियों पर हमला बोला। इसमें उनकी चार तोपें उसने छीन लीं। उनका पीछा करने के बजाय गिल्बर्ट ने अपने ज़ख्मियों को उठाना उचित समझा। इस पर पंजाबियों ने पीछे से आकर गिल्बर्ट की खूब गत बनाई। यदि कप्तान डौन उसकी सहायता को न पहुँचता तो,

मालूम नहीं; उसकी क्या हालत होती। थोड़ी देर बाद पंजाबी घबराये और भागने लगे। उनकी तीन तोपें अँगरेजों को मिलीं। उधर पंजाबी सैनिकों ने गाडबी को मैदान से भगा दिया। इस लड़ाई में सैनिकों सहित अँगरेजों के उन्नीस अफ़सर मारे गये।

सवारों की लड़ाई भी कम गरम न थी। कैंपबेल ने अपने एक अफ़सर को अमरसिंह पर आक्रमण करने का आदेश दिया। पंजाबियों ने ऐसी तलवार चलाई कि बहुत से अँगरेज तलवारों के शिकार बने। यूनिट नाम का अँगरेज़ भी मौत के मुँह में चल दिया। पंजाबियों की वीरता के सम्बन्ध में स्वयं थैकविल ने लिखा है—"मुझे ऐसा मालूम होता था कि हमारा एक आदमी भी जीवित न बचेगा। एक सिख सैनिक अँगरेजी फ़ौज के तीन सवारों को काटता था।"

अँगरेजों ने फिर भी हिम्मत हाथ से न जाने दी। कर्नल पोप ने सवारों की रेजमेंटों से बड़ी तेजी से हमला किया। एक रेजमेंट भालों से आगे बढ़ती थी। सिखों ने अपनी ढालों से उनके भालों को निकम्मा बना दिया और तलवारों से अँगरेजी सवारों को जमीन पर सुलाना शुरू किया। इस वीरता के कारण अँगरेजों के छक्के छूट गये। मैदान में उनकी लाशों के ढेर लग गये। पोप भी वहीं मारा गया। अँगरेजी फ़ौज भागने लगी। पंजाबियों ने पीछा करके जो कोई मिला उसे भी काट डाला। अँगरेजी सेना को अपनी तोपों की भी सुध-बुध न रही। मेजर क्रिस्टी तोपें लेकर भागा; परन्तु पंजाबियों ने उसे रास्ते ही में घेर लिया और सभी तोपें छीन लीं। कितने ही अँगरेज प्राण बचाने के लिए जंगल को भाग गए। सिख सैनिक बड़े जोर से आगे बढ़ रहे थे कि गफ़ को भी अपना डेरा छोड़ भाग

जाने का परामर्श दिया गया। परन्तु गफ़ ने ऐसा करना उचित न समझा। उसने बढ़ती हुई सेना पर वहीं से तोपों के गोले बरसाना शुरू किया।

सिखों के लिए यह दिन सचमुच प्रसन्नता एवं गौरव का था जब उन्होंने उन अँगरेज़ सवारों की सेना को भी भगा दिया जिन्होंने नेपोलियन के साथ लड़े गये युद्ध में विजय प्राप्त की थी। जो झण्डे उन्होंने वहाँ से प्राप्त किये थे, अब पंजाबियों के हाथ में चले गये। इस पर भी गफ़ ने हिम्मत न हारी और एक बार फिर शत्रु पर हमला करने का निश्चय किया। ब्रायण्ड और व्हाइट को दायें पथ पर आक्रमण की आज्ञा दी गई। कुछ देर के लिए सरदार अतरसिंह की तोपों का चलना बन्द हो गया। ब्रायण्ड ने समझा कि यह मेरी तोपों के चलने का परिणाम है। परन्तु थोड़ी ही देर बाद अतरसिंह की तोपों से ऐसी तेज़ गोलाबारी हुई कि अँगरेज़ी सेना सहन न कर सकी। उनके सैनिक मारे गये। तोपों का चलना बन्द हो गया और खाद्य-सामग्री से भरी गाड़ियाँ चकनाचूर हो गईं। साँझ हो गई। वीरों के रक्त से सिंची हुई भूमि में, अँधेरा छा गया। उस दिन की लड़ाई समाप्त हो गई।

रात को अँगरेज़ अफसर परस्पर मंत्रणा करते रहे कि उन्हें रात के अँधेरे ही में हमला करना चाहिए या नहीं। कुछ एक की सम्मति थी की गफ़ को मैदान से हट जाना चाहिए। इस पर कैंपबेल बहुत नाराज़ हुआ। गफ़ ने भी यह कह दिया—"क्या मैं अपने मरे हुए सैनिकों को छोड़ कर चला जाऊँ? ऐसा कभी नहीं हो सकता।" रात धीरे-धीरे बढ़ती जाती थी। भूख-प्यास सेना को सता रही थी। अंत में गफ़ ने मैदान छोड़ देना ही उचित समझा। अपनी छः बड़ी और

बारह छोटी तोपें छोड़ कर अँगरेजी सेना चल दी। उसके खाद्य पदार्थ तथा झंडे भी वहीं रहे। चलते हुए उन्हें यह भय रहा कि कहीं पीछे से शत्रु हमला न कर दे।

वास्तव में यह बात समझ में भी नहीं आती कि शेरसिंह ने इस समय हमला क्यों न किया। उसकी सेना ने अपने मृतकों को जलाया और तोपें तथा खाद्य-सामग्री उठा कर ले गई; आक्रमण न किया।

चिलियाँवाला न केवल पंजाब प्रत्युत भारत के इतिहास में बड़ी वीरता का दिन है। हल्दीघाटी के समान चिलियाँ-वाला पर भी हिन्दू अभिमान कर सकते हैं। इस विजय के कारण शेरसिंह ने तोपों की आवाज से आकाश गुँजा दिया। आश्चर्य की बात यह है कि गफ़ और डलहौज़ी ने भी हर एक तोपखाने को एक सौ एक तोपें चलाने की आज्ञा दे दी जैसे चिलियाँवाला में उनकी विजय हुई है। एडविन ने तो यहाँ तक लिख दिया है—"यदि पंजाबी अँगरेजों पर ऐसी एक और विजय प्राप्त कर लेते तो अँगरेजों को पंजाब ही से नहीं प्रत्युत हिन्दुस्थान से भी हाथ धोने पड़ जाते।" अन्य कई अँगरेजों ने भी स्वीकार किया है कि चिलियाँवाला की लड़ाई अँगरेजों के लिए भारत की सभी लड़ाइयों से ज़्यादा भयानक थी। इँगलेंड में इसकी चर्चा इतनी अधिक हुई कि ब्रिटिश गवर्नमेंट को गफ़ के हटा देने के सिवाय कोई उपाय नज़र न आया। विलिंगटन के ड्यूक ने नेपियर को प्रधान सेनापति नियुक्त करते हुए उसे कहला भेजा—"यदि आप नहीं जाना चाहते तो स्वयं मुझे हिन्दुस्थान जाना पड़ेगा।" परन्तु गफ़ का भाग्य अच्छा था जो किसी अन्य अँगरेज सेनापति के पहुँचने से पूर्व गुजरात में लड़ाई हुई, जिसमें गफ़ की विजय हुई।

चिलियाँवाला की लड़ाई के बाद पचीस दिन तक अँगरेज वहीं और सिख रसूल में पड़े रहे। दोनों ओर सेना-वृद्धि कर के लड़ाई की तैयारी की जाने लगी। इस लड़ाई के दो दिन बाद चतुरसिंह भी अपने बेटे के पास पहुँच गया। पेशावर और क़िला अटक से मेजर लारेंस, लेफ्टिनेंट हर्ट आदि कई अँगरेजों को क़ैद करके, वह अपने साथ ले आया। सिख सरदार अँगरेज क़ैदियों के साथ बहुत अच्छा व्यवहार करते थे। वे उन्हें अपने साथियों से मिलने की इजाज़त भी दे देते थे। पंजाबियों के लिए इसके दो बहुत बुरे परिणाम निकले। एक तो इन क़ैदियों ने अर्थात् गुप्तचरों का काम करना आरम्भ किया। पंजाबियों "पाँचवे दस्ते की बातें सुनकर अँगरेज अफ़सरों को सूचित कर दिया कि सिख अँगरेजों की बड़ी तोपों के चलने से डरते हैं। इसी कारण गफ़ ने बड़ी तोपें मँगवाने का प्रबन्ध कर लिया। दूसरा, शेरसिंह ने इनके द्वारा गफ़ को सुलह का संदेश भेजा। अँगरेज क़ैदियों ने वापस आकर एक चाल के तौर पर यों ही झूठमूठ यह कह दिया कि हमने अपने सेनापति से इस विषय में बातचीत की है। बस, इतनी ही बात सुन कर शेरसिंह सुलह पर भरोसा करने लगा और उसने लड़ाई के लिए ज्यादा तैयारी करना छोड़ दिया। अँगरेजों को बड़ा लाभ यह हुआ कि इस बीच में मुल्तान जीत कर अँगरेजी फ़ौज चिलियाँवाला आ पहुँची जिससे दोनों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

६ फरवरी, १८४६, को अँगरेजों को यह सूचना मिली कि शत्रु-सेना रसूल से चल दी है। पहले तो गफ़ हँस पड़ा कि यह सिखों की भूल है। परंतु शीघ्र ही उसे पता चला कि शेरसिंह तीस हजार सेना और साठ तोपें लेकर लाहौर जा रहा है। यह सुनकर गफ़ की घबराहट का ठिकाना न रहा और

उसने शेरसिंह का रास्ता रोकने का निश्चय किया। शेरसिंह को लाचार गुजरात में मोरचा बाँधना पड़ा।

२१ फ़रवरी को सबेरे ही अँगरेज़ों ने अपनी एक सौ तोपें गाड़ दीं। स्वयं गफ़ उनके पास खड़ा होकर उनके चलाने का प्रबंध देखने लगा। थैकविल को दूसरे तोपख़ाने की व्यवस्था दी गई। पंजाबी सैनिक भी अपनी छोटी तोपें ले आये और निर्भय होकर मुक़ाबला करने लगे। दो घंटे तक तोपें चलने से आकाश धुँआधार हो गया। अंत में सिखों की छोटी तोपें चकना-चूर होने लगीं। उनकी रसद की गाड़ियाँ भी टूटने लगीं। यह देख कुछ सिखों ने तलवारें हाथ में पकड़ लीं और गोलों की चिंता न करते हुए दुश्मन को चीर कर गफ़ तक जा पहुँचे। परंतु गोलों की बौछार से इन वीरों के प्राण चले गये। फिर भी पंजाबी सेना ने अपनी दिलेरी बनाये रखी और तलवारों से हमला करती रही।

इतने में एक छोटी-सी घटना हुई जिसने पंजाब के भाग्य को बदल दिया। इस लड़ाई में अमीर दोस्त मुहम्मदख़ाँ पंद्रह सौ पठान लेकर शेरसिंह की सहायता करने आ पहुँचा। ये पठान सवार पंजाबी सेना के दायें हाथ खड़े थे। थैकविल के सवारों ने इन पर ऐसा आक्रमण किया कि पठान झंडे छोड़कर भाग निकले। कहा जाता है कि पठानों के भागने का कारण लोभ था। दायें पक्ष की सेना के पैर उखड़ नेजा पर अँगरेज सेना के अंदर घुसने को स्थान मिल गया।

इस समय पंजाब के हिन्दू वीरों ने अद्वितीय शौर्य का प्रमाण दिया। घुसनेवाले अँगरेज सैनिकों के पास संगीनें थीं। हिन्दू वीर एक हाथ से संगीन पकड़ते और दूसरे से तलवार का वार करते। परन्तु इस वीरता को भी तोपों के गोलों ने मिट्टी में मिला दिया। तोपों की अग्नि के सामने

तलवार कब तक ठहर सकती थी! अंत में पंजाबी सेना में ठहरने की शक्ति न रही। परंतु उन्होंने प्राण बचाने का यत्न फिर भी न किया। वे प्रसन्नतापूर्वक मृत्यु से आलिंगन करते रहे।

अँगरेजी सेना ने तनिक भी दया न की। मैदान में जहाँ कहीं कोई शस्त्रहीन पंजाबी मिला उसे तलवार या गोली का शिकार बना लिया। गुजरात में शेरसिंह की हार हुई। उसका सारा सामान तथा तोपें अँगरेजों के हाथ आईं। गिलबर्ट ने भागते हुए सिखों का पीछा किया। उन्हें आत्म-समर्पण के सिवाय कोई चारा न दिखाई पड़ा।

१४ मार्च गिलबर्ट को और शेख़ अमामुद्दीन ने कुछ सिखों को रावलपिण्डी में आ घेरा। उस समय उनके पास न तो लड़ाई का सामान ही था, न खाने-पीने का। सरदार शेरसिंह ने गिलबर्ट के सामने हथियार फेंकते हुए दिलेरी से यह कहा—"अँगरेजों के अगणित अत्याचारों के कारण हमने युद्ध किया है। स्वदेश के संरक्षणार्थ हमसे जो कुछ हो सका हमने किया। अब हमारी यह अवस्था है कि हमारे सभी वीर सदा के लिए मैदान में सोये पड़े हैं। हमारी तोपें तथा अन्य हथियार हमारे हाथों से निकल गये हैं। इसलिए इस समय अपने आपको आपके हवाले करते हैं। जो कुछ हमने किया है, उसके लिए हमें कुछ भी खेद नहीं। जो कुछ हमने आज किया है वही हम, शक्ति प्राप्त होने पर, कल भी करेंगे।"

पंजाबी सैनिकों की आँखों से आँसू बह रहे थे जब उन्होंने अपने हथियार गिलबर्ट के सामने फेंके। सब ने रोते हुए यह कहा—"आज महाराज रणजीतसिंह की मृत्यु हो गई है।" शेरसिंह और चतुरसिंह नजरबन्द करके कलकत्ता भेज दिये गये।

इस लड़ाई के समय लाहौर में शांति रही। कौंसिल में आठ पंजाबी सरदार थे। इनमें से दो, शेरसिंह तथा रणजोधसिंह अँगरेजों के विरुद्ध लड़े; शेष सब अँगरेजों के साथ रहे। उन्होंने अंगरेजी सेना के सामान, रसद आदि पहुँचाने में पूरी सहायता की। स्वयं रेजिडेंट ने कहा कि पंजाब के जनसाधारण ने, जिनमें सिख भी सम्मिलित थे, इस विद्रोह में कोई भाग नहीं लिया। जम्मू-नरेश तथा सतलज के इस पार की रियासतों ने धन तथा जन से अंगरेजों की मदद की। अकेले पटियाला से अँगरेजों को पचीस लाख रुपया मिला।

इस बात पर भी कोई इनकार नहीं हो सकता कि खालसा के इस दूसरे युद्ध में महाराज दिलीपसिंह का कोई हाथ न था। पंजाब के राज-प्रबन्ध का सारा अधिकार रेजिडेंट के हाथ में था और महाराज दिलीपसिंह की रक्षा तथा प्रांत के शासन का उत्तरदायित्व रेजिडेंट के सिर पर था। दिलीपसिंह को सम्भवतः पता भी न था कि लाहौर से बाहर क्या हो रहा है। इसी कारण वह चकित रह गया जब उसके साथ खेलनेवाले साथी गुलाबसिंह को पकड़ लिया गया और राज-प्रासाद को उसके सैनिकों ने घेर लिया।

इन सब बातों के बावजूद डलहौजी ने पंजाब को लेने का निश्चय कर रखा था। इँग्लैंड से भारत-सरकार के मंत्री इलियट को लाहौर भेजा गया ताकि पंजाब कौंसिल में सभी शर्तें तय करके पंजाब को अँगरेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया जाय। यहाँ पर यह लिख देना आवश्यक है कि सर हेनरी लारेंस इसे अन्याय समझकर इसके विरुद्ध था। उसे डलहौजी के निश्चय से बड़ा आघात हुआ परंतु डलहौजी यह बात कभी न सहन कर सकता था कि उसकी मरजी के सामने कोई रुकावट खड़ी हो।

इलियट लाहौर आया। उसने सबसे पहले राजा दीना नाथ तथा राजा तेजसिंह को बुलाकर पंजाब को अँगरेजी राज्य के साथ मिला देने के विषय में पूछा। इलियट ने एक संधिपत्र तैयार कर रखा था। जागीरों की जब्ती के भय से दीनानाथ और तेजसिंह, दोनों ने उस पर हस्ताक्षर कर दिये। तत्पश्चात् फकीर नूरुद्दीन तथा भाई निधानसिंह से हस्ताक्षर करवाये गये। दो अन्य सदस्यों से भी दस्तखत करवा-कर अगले दिन २६ मार्च, १८४६, को कौंसिल बुलाई गई।

उस दिन महाराज दिलीपसिंह अपने सिंहासन पर अंतिम बार बैठा। दरबार में हरएक के मुख पर उदासी छाई हुई थी। जो सरदार पहले बहुमूल्य वस्त्र पहनकर दरबार में आया करते थे वे मैले-से कपड़े पहने हुए थे। निश्चित समय पर इलियट, सर हेनरी लारेंस तथा अन्य अँगरेज अफसर दरबार में पहुँचे। महाराज दिलीपसिंह और सरदारों ने द्वार पर उनका स्वागत किया। दाईं ओर अँगरेजी सेना शस्त्र लिये खड़ी थी। सरदारों की भीड़ लगी हुई थी। दिलीपसिंह की मुख-मुद्रा भी उस समय बहुत गंभीर थी। उसने समझ लिया था कि यह अंतिम दरबार किस उद्देश से किया जा रहा है।

सब लोगों के बैठ जाने पर इलियट ने एक भाषण दिया। तत्पश्चात् एक मौलवी ने फारसी भाषा में इस आशय की घोषणा पढ़ी कि पंजाब को आज से सरकारी बना दिया गया है। इसका अनुवाद करके सुना दिया गया। इस पर कुछ मिनट तक सन्नाटा छाया रहा। अब राजा दीनानाथ ने रोते हुए बड़े नरम शब्दों में इस तजवीज का विरोध किया—"इस अवसर पर अँगरेजी सरकार को अपनी उदारता का प्रमाण देना चाहिए। अँगरेज वह जाति है जिसने नेपोलियन के साथ लड़ाइयाँ करके फ्रांस को उसके असली बादशाह के अर्पण कर

दिया। पंजाब भी महाराज दिलीपसिंह को क्यों न दिया जाय ?" इस पर इलियट ने दीनानाथ को धमका दी—"चुप रहो, नहीं तो कालापानी भेज दिये जाओगे! अब उदारता तथा दयालुता का समय गया। मैं बड़े लाट की तरफ़ से संधि-पत्र पर हस्ताक्षर करवाने आया हूँ और यह काम कल कौंसिल में हो चुका है।"

अब किसी को कुछ भी कहने का साहस न हुआ। वह कागज महाराज दिलीपसिंह के सामने रख दिया गया। दिलीप-सिंह ने अपने नौकर मियाँ कीमा के कहने पर हस्ताक्षर कर दिये। दरबार खतम हुआ। महाराज रणजीतसिंह के क़िले पर अब अँगरेजी झंडा लहराने लगा। लाहौर के लोगों को मालूम हो गया कि अब वे अँगरेजी सरकार की प्रजा हो गये हैं और उन्हें अँगरेजी क़ानून पर चलना पड़ेगा।

उस कागज़ पर ये बातें लिखी थीं :—

१—महाराज दिलीपसिंह और उनके उत्तराधिकारी पंजाब के राज्य के संबंध में सभी अधिकार आदि छोड़ते हैं।

२—लाहौर दरबार की जितनी संपत्ति है उस पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अधिकार होगा।

३—महाराज रणजीतसिंह ने जो कोहनूर हीरा शाहशुजा से लिया था वह महाराज को इँगलैंड की भेंट करना होगा।

४—महाराज दिलीपसिंह, उनके परिवार तथा नौकरों के लिए ईस्ट इंडिया कम्पनी अधिक से अधिक पाँच और कम से कम चार लाख रुपये वार्षिक दिया करेगी।

५—महाराज दिलीपसिंह के साथ आदर का व्यवहार किया जायगा। उन्हें महाराज दिलीपसिंह बहादुर ही कहा जायगा। यदि वे ब्रिटिश सरकार के अधीन रहे तो उन्हें

आजीवन जैसा उचित होगा, चार-पाँच लाख रुपया मिलता रहेगा। बड़ा लाट उनके रहने के लिए जो स्थान उचित समझेगा वहीं उन्हें रहना पड़ेगा।

नवयुवक दिलीपसिंह को पहले डाक्टर लोगन के अधीन रखा गया। बाद में उसे अपनी माँ जिंदाँ के साथ इँगलैंड भेज दिया गया। डाक्टर लोगन के साथ रहते हुए वह ईसाई बन गया। सफोक में उसने अपनी जमीन खरीदकर मकान बना लिया। मिस्र की एक ईसाई स्त्री से उसने ब्याह किया जिससे उसके एक संतान हुई। इस प्रकार वह विलास में रहता था जब उसके स्वभाव में परिवर्तन दिखाई देने लगा। गवर्नमेण्ट से इजाजत लेकर वह पंजाब आया। यहाँ उसने न केवल 'अमृत' चखा वरन पंजाब के पुराने सरदारों से पत्र-व्यवहार करना शुरू किया। गवर्नमेंट ने उसे ऐसा करने से रोका और इँगलैंड लौट जाने का आदेश किया। परन्तु वह भेष बदलकर किसी प्रकार अपने नौकर अरूड़सिंह के साथ मास्को (रूस) जा पहुँचा। उसकी ईसाई स्त्री, वियोग के कारण, इँग्लैंड में मर गई। जिंदाँ भी १८६३ में अंधी होकर वहीं मरी। तब उसका मृतक लेकर वह हिंदुस्थान आया और पंचवटी में, गोदावरी के तट पर, उसका अंतिम संस्कार किया।

दिलीपसिंह की मृत्यु १८९२ में पैरिस के एक होटल में हुई। पहली स्त्री से उसके कई बच्चे हुए। सबसे बड़े लड़के विक्टर की मृत्यु १९१८ में इँग्लैंड में हुई। उसकी दो लड़कियाँ १९०७ में लाहौर आई थीं। इनमें से एक ने लाहौर के मेडिकल कालेज के प्रिंसिपल से ब्याह किया।

दसवाँ प्रकरण

नवीन युग

स्वतन्त्रता का अन्त—पंजाब को साथ मिला लेने से अँगरेजी राज्य की सीमा पेशावर से परे जमरोद तक जा पहुँची। ऐसा मालूम होता है कि महाराज रणजीतसिंह ने इतना बड़ा साम्राज्य बनाकर अँगरेजी राज के विस्तार के लिए रास्ता साफ कर दिया। जो काम करते अँगरेजों को पर्याप्त समय लगता उसे एक ही सेना के साथ युद्ध करके उन्होंने दो-चार मास के अन्दर पूरा कर लिया। महाराज रणजीतसिंह के राज्य को छोड़कर शेष भारत अँगरेजी सरकार के अधीन हो चुका था। कुछ एक देशी रियासतें राजपूताना, महाराष्ट्र और उत्तरी भारत में थीं। इन्होंने अँगरेजी सरकार के साथ 'सबसिडियरी' सम्बन्ध जोड़ लिया था। इस पद्धति का प्रचलन वेलजली ने आकर आरम्भ किया। इसका उद्देश्य यह था कि भारत में जो भी देशी राज्य कायम रहना चाहे वह अपनी रक्षा का उत्तरदायित्व अँगरेजी सरकार को सौंपकर उससे मित्रता करे। किसी भी स्वतन्त्र राज्य के लिए जीवन की पहली शर्त यह है कि उसके पास अपनी सैन्य-शक्ति हो जो आंतरिक तथा बाह्य संकटों में उसकी रक्षा कर सके। यह सैनिक शक्ति राज्य के लिए बाँहों के समान होती है। वेलजली ने इन रियासतों के लिए मित्रता की मर्यादा यह निश्चित की कि वे अपनी भुजाओं पर भरोसा छोड़ दें और स्व-रक्षा के

लिए अपने खर्च पर अँगरेज अफ़सरों के अधीन अपने यहाँ सेना रखें।

पंजाब स्वतन्त्र था। अँगरेजी राज्य के साथ पंजाब के मिल जाने से भारत में स्वतन्त्रता का अन्त हो गया। इसके पश्चात् भारत में एक नवीन युग का आरम्भ हुआ। इस युग में अँगरेजी सभ्यता का प्रभाव बिना किसी रोक-टोक के इस देश में फैलने लगा। कहा जाता है कि समस्त देश में एक शासन तथा एक-जैसा पश्चिमी सामान प्रस्तुत हो जाने से देश को लाभ हुआ है। परन्तु इस लाभ का आधार दासत्व की वे जंजीरें हैं जिन्होंने सारे देश को एक कोने से दूसरे कोने तक जकड़ रखा है। इस दासत्व में पड़कर भारत के विभिन्न प्रान्तों के हिन्दुओं ने (जिनमें सिक्ख, जैन, बौद्ध आदि सम्मिलित हैं) एक-दूसरे से मिलना, संकट के समय एक-दूसरे से सहानुभूति करना तथा अपने दिलों से पुराने पक्षपात को दूर करना सीखा है। इस कारण राष्ट्रीयता (हिन्दुस्थान में राष्ट्रीयता और भारतीयता समानार्थक शब्द हैं) का भी कुछ विकास हुआ है। यदि यह दासता और उसे दृढ़ बनाये रखने के साधन—रेल, तार, शिक्षा-प्रणाली आदि न होते तो आज इस देश का स्वरूप सर्वथा भिन्न होता।

संसार में दासत्व से बढ़कर कोई राष्ट्रीय पाप नहीं है। इसके कारण मानव मानवता से गिर जाता है। दासत्व का दुःख मृत्यु से भी बढ़कर होता है। अपने राष्ट्रीय पापों को दूर करने के लिए कड़े प्रायश्चित्त की आवश्यकता होती है। यह भी देखा जाता है कि मानव-शरीर के अन्दर से विभिन्न विष निकालने के लिए कभी-कभी अन्य विष बाहर से अन्दर डाला जाता है। इसी प्रकार कहा जाता है कि राष्ट्र में राष्ट्रीयता की लुप्त भावना को जागृत करने के लिए सम्भवतः दासत्व

की आवश्यकता थी। जो भी हो, अब हमारा कल्याण तभी हो सकता है जब हम अपना कल्याण आप करने का यत्न करें।

सन् सत्तावन—हमारी जो पीढ़ियाँ अँगरेजी शासन की छाया में उत्पन्न हुई हैं वे छुटपन से ही एक ऐसी परिस्थिति को देख रही हैं और उन्हें यह खयाल बहुत ही कम आता है कि उन पर एक विदेशी शक्ति का राज्य है। संसार के इतिहास में एक नियम सर्वत्र देखा जाता है। जो जाति दूसरों से युद्ध करके उन्हें जीत लेती है वह ऐसे साधनों का प्रयोग करती है जिनकी सहायता से विजित लोगों से विजेता के लिए घृणा दूर हो जाय।

अँगरेज जाति अन्य जातियों को अपने अधीन लाने के प्रयोग चिरकाल से कर चुकी थी। अँगरेज राजनीतिज्ञों को स्वाभाविकतया यह विचार हुआ कि जिन लोगों के शरीरों को हमने तलवार के द्वारा अपने नियंत्रण में किया है उनके लिए ऐसे साधन निकालने चाहिए जिनसे उनके मन तथा बुद्धि भी हमारे वश में हो जायँ। मन तथा बुद्धि को क़ाबू में लाना ही साम्राज्य को सुदृढ़ बनाना होता है। आरम्भ में इतने बृहत् देश बल्कि भूखंड तथा करोड़ों की आबादी को अपने अधिकार में देखकर कई समझदार अँगरेज घबरा गये। अपने उत्तरदायित्व की गम्भीरता पर वे विचार करने लगे कि किन साधनों से वे 'गले में पड़े चक्की के इस पाट' को उठाने के योग्य हो सकेंगे।

ये विचार तो विजेताओं के मन में आते थे, परन्तु विजित अपना राज्य खोकर दूसरों की ओर आँखें लगाये देख रहे थे। वक़्त गुजरने पर वे अपने दुर्भाग्य पर विचार

करने लगे कि क्या था और क्या हो गया। जिन विजेताओं के साथ उन्होंने कुछ समय पूर्व युद्ध किया, उनके प्रचलित किये साधनों को वे पसन्द न कर सकते थे। परन्तु जिस डलहौजी के हाथ में भारत के शासन के सूत्र थे और जिसने अपनी दृढ़ धारणा-शक्ति से पंजाब को अँगरेजी राज्य के साथ मिलाया था उसे इतना गर्व था कि देश के बड़े से बड़े आदमी की सम्मति की भी उसे रत्ती भर परवाह न थी।

सन् सत्तावन के गदर से पंजाब के इतिहास का प्रत्यक्ष रूप में कोई सम्बन्ध नहीं। परन्तु यह प्रांत देश का एक भाग है। इसलिए यह आवश्यक मालूम होता है कि उस हलचल पर हम एक विहंग-दृष्टि डालें जिसने १८५७ में एक बड़े भूकम्प की भाँति देश को एक सिरे से दूसरे सिरे तक हिला दिया। अपनी स्वाधीनता को बनाये रखने के लिए देश का यह आन्दोलन शीघ्र ही बुझनेवाले दीपक की अन्तिम चमक के समान था।

डलहौजी ने पंजाब को तो हस्तगत किया ही; इसके साथ ही वह सभी देशी राज्यों के शासन मिटाकर भारत की राजनीतिक भूमि को समतल बना देना चाहता था। उसने देशी रियासतों के अधिकारों को विचित्र उपेक्षा से अपने पाँव तले रौंदना शुरू किया। नागपुर की रानियों को उसने दत्तक-पुत्र गोद लेने से रोक दिया और उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली। नागपुर के नरेशों का अपमान चरम सीमा तक जा पहुँचा जब—

सरे आम नीलाम छापते थे अँगरेजों के अखबार
'नागपूर के जेवर ले लो!' 'लखनऊ के लो नौलखहार!'

उसने अन्तिम पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक नाना साहब

की पेन्शन को बन्द कर दिया, झाँसी की रानी को मुतबन्ना बनाने की आज्ञा न दी, लखनऊ के नवाब वाजिदअली-शाह को गद्दी से हटा दिया और देहली के बुड्ढे बादशाह के मर जाने पर उसके बेटों से शाही उपाधियों को हटा लेने का निश्चय किया। जहाँ पर भारत का बड़ा लाट अपना स्टीम रोलर चला रहा था वहाँ पर भारत की सेना के हिन्दू तथा मुसलमान सैनिकों में इस कारण अशांति दिखाई दे रही थी कि उनके मज़हब में हस्तक्षेप करके उन्हें मज़हब से विमुख करने का यत्न किया जा रहा है। डलहौजी तो चला गया, परन्तु देशी नरेशों तथा भारतीय सैनिकों के मन में बेचैनी का बीज बो गया। इसी ने उसके उत्तराधिकारी कैनिंग के राज्य-काल में भयानक विद्रोह का रूप धारण कर लिया।

देशी नरेश यह बात समझने लग गये कि अँगरेज़ों का शासन भारत के लोगों के सहयोग पर अवलम्बित है और इसमें सबसे बड़ा भाग सेना का है। वे इस बात का यत्न करने लगे कि किसी प्रकार सैनिक अँगरेज़ी शासन के विरुद्ध हो जायँ। अपने गुप्त-चरों द्वारा उन्होंने सैनिक नेताओं पर अपना प्रभाव डालना आरम्भ किया। कहा जाता है कि सैनिकों को जो कारतूस अँगरेज़ अफ़सरों से मिलते थे उनमें गाय और सुअर की चरबी का प्रयोग होता था और गोली चलाते समय कारतूस को मुँह में लगाना पड़ता था। बस, इससे सैनिक बिगड़ उठे। इस मामले ने फूस के ढेर के लिए चिनगारी का काम किया। कलकत्ता के पास बारकपुर की पल्टनों के कुछ सैनिकों ने इसी आधार पर दंगा कर दिया। इसमें अँगरेज़ अफ़सर भी क़त्ल किये गये। उन दोनों पल्टनों को नौकरी से अलग कर देने पर भारतीय सेना के दिल हिल गये।

मई १८५७ में मेरठ के सैनिकों ने कारतूस छूने से इनकार

कर दिया। उन्हें गिरफ़्तार करके जेल में डाल दिया गया। उनके साथियों ने गिरजे पर हमला करके आग लगा दी। अपने अफ़सरों को क़त्ल करके सारी पल्टनें पैदल देहली पहुँचीं। देहली के बादशाह के सामने राजभक्ति की शपथ लेकर उसे उन्होंने देश का सम्राट् प्रसिद्ध किया। जिस किसी शहर में पल्टनों को यह ख़बर पहुँची वहीं उन्होंने अपने अफ़सरों का अन्त किया और देहली की ओर कूच करने लगीं। यों तो भारत का कोई ऐसा शहर न था जहाँ इस अग्नि की ज्वालाएँ भड़क न उठी हों, तो भी देहली, लखनऊ और कानपुर इस विद्रोह के केंद्र थे।

सम्भव था कि यह आग पंजाब में फैल जाती। कई इतिहासज्ञों का मत है कि यदि ऐसा हो जाता तो इस देश में अँगरेज़ी राज्य के बचाव की कोई सूरत न रहती। पंजाब को थोड़े ही दिन पूर्व जीता गया था। अभी खालसा के सैनिक जीवित थे जो अँगरेज़ी सरकार के मुक़ाबिले पर लड़ते रहे थे। पंजाब में इस आग को आने से रोक देना अँगरेज़ी साम्राज्य की बड़ी भारी सेवा थी जो मान्टगुमरी नाम के जुडिशल कमिश्नर ने की। चीफ़ कमिश्नर लारेंस रावलपिंडी गया हुआ था जब ग़दर का समाचार लाहौर में अफ़सरों को मिला।

मांटगुमरी ने बड़े-बड़े अफ़सरों की एक बैठक की। उस में निर्णय हुआ कि कमांडिंग अफ़सर कारबेट मियाँमीर (लाहौर छावनी) में स्थित सारी सेना से शस्त्र ले ले। १३ मई को मियाँमीर में चार देशी रेजमेंटें थीं—इनमें साढ़े तीन हज़ार सैनिक थे। गोरे केवल तीन सौ थे। स्वयं मांटगुमरी मियाँमीर चला गया। वहाँ उसने सैनिकों की परेड ली। ख़ास ढंग से सभी देशी सेनाओं को अँगरेज़ी सैनिकों के

सामने लाकर आज्ञा दी गई कि वे अपने हथियार जमीन पर रख दें। अंगरेज सिपाहियों की बंदूकें भरी हुई थीं। देशी सिपाहियों ने शस्त्र रख दिये जिससे पंजाब का संकट दूर हो गया। इन पलटनों ने उसी दिन प्रातः शस्त्रागार पर अधिकार करने का निश्चय किया था।

इस घटना के छः घंटे बाद फ़ीरोजपुर की पल्टन उठ खड़ी हुई। उसने तोपख़ाना लेने का यत्न किया; परन्तु अँगरेज़ सैनिकों के होने से वह सफल न हो सकी। इधर-उधर बहुत-सा नुक़सान करके वह भाग गई। उसके कुछ सैनिक पटियाला में पकड़े गये, बाक़ी देहली पहुँच गये। देहली और पेशावर के अफ़सर बड़े बुद्धिमान् सिद्ध हुए। पेशावर सर्वथा सुरक्षित रहा और मुलतान की पल्टनों से मियाँमीर की तरह शस्त्र ले लिये गये। मुलतान की एक पलटन विद्रोह करके सीमा प्रदेश के पार पाकिस्तान को भाग गई। पठानों ने इन सैनिकों को पकड़वा दिया और ये सब गोली से मार दिये गये। लुधियाना में एक पल्टन ने विद्रोह किया; परन्तु उसे तुरन्त दबा दिया गया।

अँगरेजों की दृष्टि से पंजाब इस आन्दोलन से न केवल सुरक्षित हो गया प्रत्युत इस आग के फैलाव को रोकने में वह अँगरेजी सरकार का पूरा सहायक बन गया। लाहौर में नई रेजमेंट बनाने का काम प्रारम्भ हो गया। इनमें सिख और सीमाप्रदेश के मुसलमान दौड़ दौड़कर भरती होने लगे। सिखों में उन भारतीय सैनिकों के विरुद्ध लड़ने की भावना जागृत की गई जिन्होंने थोड़े दिन पहले उनके भाइयों को पंजाब में पराजित किया था। चार मास में अठारह नई रेजमेंटें तैयार हो गईं। एक के बाद दूसरी रेजमेंट देहली भेजी गई। पटियाला, नाभा और जींद ने सात हजार आदमी

दिये। काश्मीर-नरेश ने दो हज़ार सिपाही, एक सौ नव्वे सवार और एक सौ चालीस तोपची भेजे।

सभी की आँखें देहली की ओर लगी हुई थीं। बहादुरशाह को जब सम्राट् घोषित किया गया तब कई पंडितों और मुल्लाओं ने जनसाधारण से कहा कि वे विदेशियों के विरुद्ध लड़ने और उनको स्वदेश से निकालने के वास्ते तैयार हो जायँ। सम्राट् ने बख्तख़ाँ को प्रधान सेनापति नियुक्त किया। लगभग तीन मास अँगरेज़ी सेना देहली के बाहर पड़ी रही। इस बीच में शहर के अन्दर कुप्रबन्ध और गड़बड़ी फैलने लगी। बादशाह बुड्ढा था। उसके अन्दर लड़ाई करने का साहस न था। प्रतिदिन यह घोषणा की जाती कि बस, कल बादशाह शत्रु पर आक्रमण करेंगे। परन्तु अगले दिन दोपहर तक तो वह बेगमों के पास ही पड़ा रहता।

सेना को नियमपूर्वक वेतन न मिलता था। सैनिक अफ़सरों की आज्ञा मानने से इनकार करने लगे। शहर में उन्होंने लूटमार भी शुरू कर दी। जिस बादशाह का सम्राट् घोषित किया जाना ग़दर फैलने का कारण बना वही अब उसकी असफलता का कारण सिद्ध हुआ। सभी देशी पल्टनें पुराने बादशाह के सिंहासन पर आ जाने से नये विदेशी शासकों के विरुद्ध विद्रोही हो गईं। परन्तु यदि पुराने शासकों में स्वतन्त्रता बनाये रखने की योग्यता होती तो वे इसको पहले खो ही क्यों बैठते?

१६ सितंबर को अंगरेज़ों ने देहली जीत ली। विद्रोही नरेश गोली का निशाना बना दिये गये। उनके मृतक शरीर उसी चबूतरे पर फेंके गये जहाँ औरंगज़ेब ने गुरु तेगबहादुर का वध करवाया था। बहादुरशाह पर अभियोग चलाने के बाद उसे रंगून भेज दिया गया।



महाराज रणजीतसिंह

देहली के विजित हो जाने से आन्दोलन की असफलता की नींव पड़ गई। लखनऊ, कानपुर, प्रयाग आदि में लड़ाई जारी रही। परन्तु देहली ले लेने से अँगरेज़ों का उत्साह बहुत बढ़ गया। उधर भारतीय सैनिकों ने समझ लिया कि उनका लड़ना अब हारी हुई बाज़ी के लिए यत्न करना है।*

देहली में अँगरेज़ी फ़ौज के ३८३७ आदमी मारे गये, परन्तु उनका सब से बड़ा नुक़सान निकलसन की मृत्यु थी। उसे हमला करते हुए मर्मभेदी घाव लगा जिससे वह नौ दिन में मर गया। उसकी मृत्यु का समाचार सुनकर लारेंस रो पड़ा— 'हमने अपने बहुत-से सैनिक खोये हैं; परन्तु निकलसन से किसी का मुक़ाबला नहीं हो सकता। वह मर गया है, पर उसका यश अमर रहेगा।"

चीफ़ कमिश्नर ने पंजाब के सैनिकों का धन्यवाद किया। रविवार को मुग़ल महल में ईश्वर को धन्यवाद दिया गया। अँगरेज़ी सरकार के लिए यह एक बड़ा संकट था। पंजाब उसके लिए सहारा सिद्ध हुआ। इस सेवा के बदले देहली और हिसार का प्रदेश पंजाब के साथ मिलाकर सर जान लारेंस को इस प्रांत का पहला लेफ्टिनेंट गवर्नर बना दिया गया।

नामधारी आन्दोलन—ग़दर की अग्नि को बुझते दो बरस लग गये। इसके बाद भारत में वह सन्नाटा छाया जो मृत्यु का चिह्न होता है। जिस भारतीय सेना ने इस आन्दोलन में सब से अधिक भाग लिया वह संयुक्त प्रांत तथा अवध से भरती की गई थी। इस कारण भारत के इस भाग को ग़दर करने की सज़ा भुगतनी पड़ी। ग़दर को दबाने के लिए शहरों तथा देहात के लोगों पर जो सख़्तियाँ की गईं उनका संबंध

---

* देखिए परिशिष्ट अ।

पंजाब के इतिहास से नहीं है। जो सैनिक भागकर पंजाब में आश्रय लेने आये उनको जगह जगह तोपों के सामने खड़ा करके उड़ा दिया गया।

ग़दर की समाप्ति पर भारत के शासन में एक बड़ा परिवर्तन यह हुआ कि हिंदुस्थान के राज्य को ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ से निकालकर इँगलैंड की महारानी और उसकी पार्लमेंट के सुपुर्द कर दिया गया। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने कई अरब रुपया लेकर भारत को महारानी के हाथ बेच दिया। इस रुपये को भारत के सिर पर सदा के लिए ऋण का रूप दे दिया गया। तत्पश्चात् हिंदुस्थान का बड़ा लाट, गवर्नर-जनरल, महारानी का प्रतिनिधि (वायसराय) कहलाने लगा। महारानी ने इस देश के शासन-सूत्र अपने हाथ में लेकर एक घोषणा निकाली। इसमें कहा गया कि आगे को किसी देशी राजा या नवाब को अकारण गद्दी से वंचित न किया जायगा। देश में पूर्ण मज़हबी स्वतंत्रता होगी, सरकार किसी के मज़हब में हस्तक्षेप न करेगी और महारानी भारत के लोगों को अपनी प्रजा समझेगी।

इस घोषणा से यह सिद्ध हो जाता है कि इँगलैंड को यह विश्वास हो गया कि ग़दर के दो ही बड़े कारण थे। एक—देशी रजवाड़ों के अधिकार छीनना; दूसरा—लोगों के मज़हब में हस्तक्षेप करना। ये दोनों उसने अपनी ओर से दूर कर दिये। जिन आदमियों ने ग़दर में सरकार की सहायता की थी उनको अवध तथा संयुक्तप्रांत में जागीरें देकर तालुक़ादार बना दिया गया। उनको अपनी प्रजा से लगान प्राप्त करने का अधिकार मिल गया जिससे वहाँ के किसानों की ग़रीबी तथा मुहताजी की कोई हद न रही।

पंजाब में ग़दर के कारण किसी प्रकार की सख्ती न की गई, इसलिए यहाँ थोड़ा-बहुत जीवन दिखाई देता था। संभवतः इसी जीवन के परिणाम-स्वरूप यहाँ सिखों के अन्दर नामधारी-नाम का धार्मिक आन्दोलन धीरे-धीरे फैलने लगा। प्रकट रूप से यह इतना धार्मिक था कि इसे आंतरिक शुद्धि का प्रयत्न कहा जा सकता है। परन्तु इसके 'अंतस्तल' से क्रांति का विचार काम करता था।

इसके प्रवर्त्तक जिला लुधियाना के रहने वाले तरखान बाबा रामसिंह थे। एक समय ये महाराज रणजीतसिंह की खालसा फौज में नौकर थे। खालसा की शक्ति नष्ट हो जाने पर रामसिंह अपने पुराने काम में लग गये—बढ़ई बन गये। ये अटक के क़िले में भी काम करते रहे थे। उन्हीं दिनों हज़ारो में पुठहार-प्रदेश का एक साधु बालकराम रहता था। रामसिंह बालकराम की संगति करने लगे। साधु के विचारों का उन पर बड़ा प्रभाव हुआ कि उन्होंने एक सभा बनाई। इसके सिद्धान्तों तथा नियमों का प्रचार प्रायः सिखों में किया गया। इसकी शिक्षा दो भागों में बाँटी जा सकती है। एक व्यक्तिगत शुद्धता पर जोर देता है। स्त्री तथा पुरुष, दोनों, इसके सदस्य हो सकते हैं और दोनों का दर्जा बराबर होता है। हरएक सदस्य के लिए प्रातः उठकर केशों-सहित स्नान करना आवश्यक होता है। मांस खाने की मनाही है। झूठ बोलने से परहेज़ करना चाहिए। अपनी संपत्ति पर अन्य सदस्यों का अधिकार समझना भी आवश्यक है। यदि एक सदस्य किसी दूसरे के यहाँ चला जाय तो अतिथि को रखना तथा भोजन आदि देना उसका कर्त्तव्य है। भोजन की जूठन छोड़ना बुरा समझा जाता है। भोजन तथा वस्त्र की दृष्टि से हरएक को अपना जीवन सादा

रखना चाहिए। ये बातें ऐसी साधारण हैं कि प्रत्येक मनुष्य को ही इन पर आचरण करना अच्छा समझना चाहिए। परंतु इस आन्दोलन में सम्मिलित होनेवाले इन बातों का अपने जीवन में विशेष ध्यान रखते।

इनकी शिक्षा के दूसरे भाग का संबंध समष्टिगत जीवन से है। इसके अंतस्तल में यह धारणा काम करती है कि खालसा राज्य का स्थान लेनेवाले नये विदेशी शासन से किसी प्रकार का संबंध या संपर्क न रखा जाय। पंजाब को कई जिलों में बाँट कर हरएक जिले का एक अधिकारी नियुक्त किया गया। अपने जिले के अधिकारी की आज्ञा का पालन करना हरएक नामधारी के लिए आवश्यक था। वह अपना झगड़ा या मुक़द्दमा अँगरेजी कचहरी या न्यायालय में ले जाने के बजाय जिले के उस अधिकारी के समक्ष ले जाय। सरकारी डाकखाने के द्वारा अपनी चिट्ठी आदि कभी न भेजे। अपनी चिट्ठियाँ एक दूसरे के पास पहुँचाने के लिए जिस किसी नामधारी को कहा जाता वह हरकारे का काम करता। कहते हैं कि एक समय ये चिट्ठियाँ एक दूसरे के पास सरकारी डाक की अपेक्षा कम समय में पहुँच जाया करतीं। कोई नामधारी रेल-गाड़ी पर कभी न चढ़ता। न कभी किसी विदेशी कपड़े या अन्य वस्तु का प्रयोग करता, न अपने बच्चों को सरकारी स्कूल में भेजता।

जब भारत में गदर का आन्दोलन आरंभ हुआ तब बाबा रामसिंह ने पंजाबी में अपनी संस्था का प्रचार शुरू कर दिया था। थोड़े ही समय में इसके सदस्यों की संख्या बहुत बढ़ गई। दस-बारह वर्ष में ये दो लाख हो गये। उन सिखों को, जिन्होंने पंजाब में खालसा-राज देखा था, बाबा रामसिंह के विचार बहुत प्रिय मालूम होते थे। कहा जाता है

कि बाबाजी की वाणी में विशेष प्रभाव था और जिस मनुष्य के कान में उनका मंत्र पड़ जाता वह उनका अनुगामी बन जाता। एक बार कुछ बदमाश परीक्षा लेने के लिए उनके पास गये। उन पर भी बाबा रामसिंह का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे उनके शिष्य हो गये।

संख्या बढ़ जाने पर वे लोग बाबा रामसिंह को अपना गुरु समझने लगे। इस कारण सिख-पंथ से नामधारियों का मतभेद हो गया और वे सिख-पंथ की एक उपशाखा समझे जाने लगे। नामधारियों में धार्मिक आवेश के साथ-साथ अँगरेजों तथा मुसलमानों के विरुद्ध प्रबल भावना पाई जाती थी। अँगरेजों की आँखों का रंग प्रायः बिल्ली की आँखों जैसा होता है। घृणा के कारण नामधारी लोग अँगरेजों को बिल्ली कहते। जब कभी वे थोड़ी-बहुत संख्या में एकत्र हो जाते तो जोर-जोर से कूकते या चीख मारने लगते। वे कहते, "हम बिल्ले को निकाल रहे हैं।" इन लंबी और ऊँची कूकों या चीखों के कारण उनका नाम 'कूका' भी पड़ गया।

नामधारियों में खालसा से प्रेम तथा स्वाधीनता की प्रबल इच्छा पाई जाती थी। उनका जीवन शुद्ध तथा त्यागमय भी था। सरलता के कारण वे यह न समझते थे कि अँगरेजी सरकार उनके आन्दोलन या संस्था के प्रचार का भली भाँति निरीक्षण कर रही है। हर एक जिले में सूबों के नेताओं और कार्यकर्त्ताओं की सूची रक्खी जाती थी। उनके प्रचार तथा अन्य कार्यों का विवरण तैयार करके पुलिस अपने अफसरों को नियमपूर्वक भेजता। नामधारी अपने काम को देखते थे; पर वे विरोधी की चालों से अनभिज्ञ थे। गवर्नमेंट धैर्य से कुछ वर्ष तक प्रतीक्षा करके मौका ढूँढ़ रही थी।

सन् १८७१ में ऐसा अवसर सरकार को मिल गया। कुछ जोशीले नामधारियों को इस कारण बहुत क्रोध था कि अमृतसर-जैसे तीर्थस्थान में गो-हत्या क्यों की जाती है। इसलिए एक रात उन्होंने अमृतसर के सभी बूचड़ों का वध कर दिया। नगर में सनसनी फैल गई। वहाँ के कमिश्नर ने हिंदू रईसों को संदेह में गिरफ़्तार कर लिया कि यह घटना उनके षड्यंत्र का परिणाम है। जिन कूकों ने यह काम किया था उन्होंने बाबा रामसिंह को सूचित कर दिया। बाबा ने उनसे कहा—"काम आपने किया है, पर इसके बदले में पकड़े गये हैं निर्दोष आदमी। अब आपका कर्त्तव्य यह है कि आप सरकारी अफ़सर के समक्ष जाकर अपना उत्तरदायित्व स्वीकार कर लें।" उन्होंने ऐसा ही किया। फलस्वरूप उन पर अभियोग चलाकर उनको फाँसी का दंड दिया गया।

बाबा रामसिंह लुधियाना के समीप भैणी साहब नाम के गाँव में रहा करते थे। यहीं उनकी गद्दी थी। यहाँ प्रति वर्ष नामधारी सम्प्रदाय का उत्सव हुआ करता था। उस अवसर पर प्रायः सभी नामधारी यहाँ एकत्र होते। अमृतसर में कुछ साथियों को फाँसी की सज़ा मिलने से उनके अन्दर सरकार के विरुद्ध तीव्र भावना उत्पन्न हो गई। जब वे उत्सव पर एकत्र हुए तब यह शोर सुनाई देने लगा कि अपने साथियों की मृत्यु का बदला अँगरेज़ों से लेना चाहिए।

बाबा रामसिंह जानते थे कि उनके सम्प्रदाय में गवर्नमेण्ट के मुक़ाबिले के लिए शक्ति नहीं। परन्तु उनके चेलों में ऐसे जोशीले आदमियों का ज़ोर बढ़ गया जो इस अवसर पर अपने गुरु की बात भी सुनने पर तैयार न थे। खुले अधिवेशन में इस बात की चर्चा आरम्भ हो गई। इस पर दो दल हो गये। अन्त में निश्चय यह हुआ कि इस सम्बन्ध में 'ग्रन्थ' से आज्ञा ली

जाय। ज्यों ही 'ग्रन्थ' खोला गया त्यों ही जोशीले दल ने शोर करना शुरू कर दिया कि बस, अब शस्त्र उठाने का समय आ गया है। बाबा रामसिंह समझाते रहे—"अभी धीरज से काम लेना चाहिए। तुम्हारे अन्दर शक्ति नहीं है।" परन्तु उनकी बात की ओर ध्यान न दिया गया और बहुमत के निर्णय के अनुसार विभिन्न कैम्पों को आज्ञा-पत्र भेज दिये गये कि सभी सदस्य तैयार होकर लड़ने के लिए आ जायँ।

सरकार को सारे मामले का विवरण गुप्तचरों द्वारा विधि-पूर्वक मिल रहा था। ज्योंही उसे इस निर्णय की सूचना मिली त्योंही सभी ज़िलों में आदेश पहुँच गया कि ज़िले में जितने नामधारी नेता हैं उन्हें गिरफ़्तार कर लिया जाय। इसके साथ ही बाबा रामसिंह और उनके सहोदर ज़ालिमसिंह को भी पकड़ लिया गया। पटियाला और जालंधर की सेनाओं को कूच करने के लिए आदेश पहुँच गया। कारण, नामधारी अधिवेशन में यह निर्णय किया गया कि अँगरेज़ी सरकार के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने से पूर्व सभी नामधारी एकत्र होकर ज़िला लुधियाना के एक ज़मींदार के मकान पर हमला कर दें। वहाँ से हथियार ले लेने चाहिए। तत्पश्चात् रियासत मालेरकोटला के शस्त्र तथा कोप पर क़ब्ज़ा करना चाहिए। मालेरकोटला का नवाब उस समय बालक था। इसलिए यह ख़याल किया गया कि मालेरकोटला पर हमला करने पर बहुत विरोध न होगा।

विभिन्न स्थानों में जब नेता पकड़े गये तब नामधारी चेलों में घबराहट-सी पैदा हो गई और जो बातें अधिवेशन में की गई थीं उनमें से किसी पर आचरण न हो सका। जो नामधारी अपने ज़िलों से लड़ाई के लिए चले वे अपने नेताओं को साथ न देखकर अपने घरों को लौट गये। फिर भी कुछ सौ आदमी मालेरकोटला जा पहुँचे। वहाँ अँगरेज़ी

फ़ौज और पटियाला से आई हुई सेना पहले ही से उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। वे सब भी धर लिये गये। उनमें से साठ नामधारियों को बगैर मुकद्दमा चलाये तोपों के सामने खड़ा करके उड़ा देने का आदेश हुआ। इसपर इनमें से हर एक प्रसन्नतापूर्वक दौड़ते हुए तोपों के सामने जाता। इस वीरता एवं त्याग को देख कर अँगरेज दर्शक ने लिखा है—"उस दिन मैंने कई ईसा बलि होते देखे।"

बाबा रामसिंह तथा ज़ालिमसिंह को बरमा में निर्वासित कर दिया गया। उनके कुछ साथी कालापानी भेज दिये गये। साथ ही नामधारियों के संबंध में कुछ एक बहुत सख्त क़ानून बना दिये गये। किसी स्थान में पाँच नामधारियों का एकत्र होना क़ानून के विरुद्ध हो गया और भैणी साहब के गुरुद्वारे में पुलिस की बाक़ायदा चौकी बिठला दी गई। इसके बाद नामधारी संप्रदाय चलता रहा और अब भी चल रहा है। उनके सदस्यों में धार्मिक श्रद्धा तथा जोश भी पाया जाता है। परन्तु सरकार की एक चोट ने उसे एक दृष्टि से, कम से कम कुछ समय के लिए, बलहीन बना दिया।

आर्यसमाज—पंजाब में अँगरेज़ी सरकार का दबदबा अच्छी तरह जम गया। बड़े-बड़े नगरों में अँगरेज़ी स्कूल स्थापित हो गये। लाहौर के अंदर सरकार की ओर से एक बड़ा कालेज या महाविद्यालय भी बन गया। बंगाल के कुछ बाबुओं तथा वकीलों ने पंजाब में आकर लोगों को बताया कि अँगरेज़ी राज्य में धन तथा मान उपार्जन करने का बड़ा साधन अँगरेज़ी शिक्षा है। हिंदू और अहिंदू अपने लड़कों को इन स्कूलों में भेजने लगे। धीरे-धीरे उनके अंदर यह विचार काम करने लगा कि वे नये शासन के नये ढंग ग्रहण

करके अपने तथा अपने परिवार के लिए प्रभाव पैदा करें। बंगाल, मद्रास तथा बम्बई के प्रदेशों में अँगरेज़ी शिक्षा तथा सभ्यता का सिक्का जम चुका था। इसका एक स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि शिक्षित समुदाय, जो समाज में मस्तिष्क का स्थान ले रहा था, अपने पुराने विचारों तथा रीति-रिवाजों से घृणा करने लगा। इसके अतिरिक्त क्योंकि इस शिक्षा के प्रसार में ईसाई पादरियों ने बहुत ज्यादा भाग लिया था इसलिए इस समुदाय का एक हिस्सा अपने अध्यापक पादरियों के प्रभावाधीन होकर अपने धर्म को तिलांजलि देने पर तैयार हो गया।

बंगाल के दूरदर्शी हिन्दुओं ने यह भय अनुभव किया कि कहीं अँगरेज़ी शिक्षा हिन्दू धर्म तथा राष्ट्रीयता को हड़प न कर जाय। इनकी रक्षा के लिए बंगाल के नेता राजा राममोहन राय ने ब्राह्मसमाज की नींव डाली। या तो राजा राममोहन राय की आँखें अँगरेज़ी सभ्यता से चौंधिया गई थीं या उन्हें अपनी प्राचीन पवित्र संस्कृति को अच्छा बताने का साहस न हुआ जो उन्होंने हिन्दुओं को केवल इतना कह कर ही ईसाई बनने से बचाया कि धार्मिक सत्यता सभी मज़हबों तथा पंथों में पाई जाती है; और, हिंदू धर्म में भी यह वैसी ही विद्यमान है जैसी ईसाई मज़हब में। इसलिए हमें विभिन्न मज़हबों में से उस सत्यता को ग्रहण करना चाहिए और किसी विशेष मज़हब या पंथ के लिए पक्षपात न रखना चाहिए। यद्यपि ब्राह्मसमाज के दूसरे नेता बाबू केशवचन्द्र सेन अँगरेज़ी सभ्यता तथा ईसाई मज़हब के प्रभाव में राजा राममोहन राय की अपेक्षा अधिक आ गये थे तो भी ब्राह्मसमाज ने बंगाल के शिक्षित वर्ग को ईसाई बनने से बहुत हद तक बचा लिया।

बम्बई के शिक्षित समुदाय में भी इसी प्रकार के विचार

फैलने लगे। वहाँ का प्रार्थना-समाज एक प्रकार से ब्राह्मसमाज ही की एक शाखा था। मद्रास प्रांत में कर्मठों या प्राचीन पंथा-वलंबियों (आर्थोडाक्स) का ज्यादा जोर था। यद्यपि ईसाई मज़हब अन्य प्रांतों की अपेक्षा वहाँ अधिक फैला तो भी इसमें कोई संदेह नहीं कि कर्मठों ने उच्च श्रेणियों को ईसाई मज़हब से सुरक्षित रखा। कुछ बंगालियों के पंजाब में आ जाने से यहाँ एक आध स्थान में ब्राह्मसमाज स्थापित हो गया; परन्तु पंजाब के लोगों के मन पर इसकी शिक्षा का गहरा प्रभाव न पड़ा।

पंजाब के हिन्दुओं के मन में एक प्रकार की अशान्ति पाई जाती थी, जब १८७६ में स्वामी दयानन्द सरस्वती लाहौर आये। ये रहनेवाले मोरवी (काठियावाड़) के थे। समाज की दुर्दशा देखकर इन्होंने घर-द्वार छोड़ दिया और कई वर्ष हिन्दू संस्कृति के आधार वेद आदि के अध्ययन में लगा दिये। अंत में मथुरा के अंधे विद्वान् स्वामी विरजानन्द को गुरु धारण कर शिक्षा ग्रहण की। गुरु ने उपदेश दिया—"देशी रियासतों का सुधार और वौद्धिक धर्म का प्रचार करो।"

देश के विभिन्न मज़हबों तथा पंथों में एकता लाने के लिए स्वामी दयानन्द ने देहली में एक सम्मेलन किया जिसमें ब्राह्मण, ब्राह्मसमाजी, मुसलमान तथा ईसाई निमंत्रित किये गये। परन्तु उन्हें मालूम हुआ कि अभी ऐसी एकता का समय नहीं आया। इसलिए इस बीच में हिंदू समाज के बचाव का कोई अन्य उपाय करना चाहिए।

इस समाज में बहुत-सी खराबियाँ आ गई थीं। वे इसे अन्दर से खा रही थीं। उधर बाहर के शत्रु इसको आसानी से अपना शिकार बना रहे थे। इन त्रुटियों को दूर करने के लिए स्वामी दयानन्द ने काशी में ब्राह्मण पंडितों से शास्त्रार्थ

या वाद-विवाद किये ताकि वे लोग उन बाह्य आडंबरों को, जिन्हें वे धर्म बनाये बैठे थे, छोड़कर वास्तविक धार्मिकता की ओर प्रवृत्त हों। लेकिन उन पंडितों की अवस्था विचित्र-सी थी। वे स्वार्थ तथा आलस्य में फँसे हुए थे। स्वजाति तथा स्वधर्म का विचार उनसे लुप्त हो चुका था। जो संकट हिंदू धर्म तथा संस्कृति के सामने थे उनकी ओर आँखें बंद करके उन्होंने समझ रखा था कि जाति के लिए संकटों का कोई अस्तित्व ही नहीं है। यदि हिंदू संख्या में कम हो रहे हैं तो होने दो। यदि करोड़ों हिन्दू पतित होकर मुसलमान या ईसाई बन गये हैं तो क्या हुआ ? ※

यह सब से बड़ा रोग था जो हिंदू समाज को खा रहा था। यदि हिंदुओं के रक्षक ब्राह्मणों में मुसलमान मुल्लाओं तथा ईसाई पादरियों के मुक़ाबले पर स्वधर्म की रक्षा का विचार काम कर रहा होता तो हिंदुओं के लिए यह नौबत न आती। सोई हुई जाति में से एक मनुष्य उठा। उसे अपनी उस प्राचीन श्रेष्ठ संस्कृति की रक्षा की चिंता हुई जिसके लिए ऋषियों ने अपनी बुद्धि तथा ज्ञान का उपयोग किया, श्रीराम तथा श्रीकृष्ण जैसे राष्ट्रपुरुषों ने जीवन अर्पण किये, शंकराचार्य तथा कुमारिल-भट्ट जैसे विद्वानों ने अपने प्राण दिये, अग्निकुल राजपूत उत्पन्न हुए; राजपूताना में राजपूतों, महाराष्ट्र में मराठों तथा पंजाब में गुरुओं ने सतत कार्य किया। तब अकेले स्वामी दयानंद को चिंता थी। इसी कारण कई लोग उन पर हँसते थे, कुछ ईर्ष्या के मारे विरोध करते थे।

जो समाज गिर जाता है उसे एक विशेष रोग लग जाता है। उसके घटक स्वयं तो जाति के लिए कुछ करने पर तैयार

※ देखिए परिशिष्ट घ।

नहीं होते, परन्तु यदि कोई नरपुंगव कर्मक्षेत्र में निकलता है तो उसे भी ईर्ष्यावश कुछ करने नहीं देते। उनमें रचनात्मक कार्य के लिए तो सामर्थ्य नहीं होता, परन्तु विरोध के लिए कहीं न कहीं से निकल आता है। पतित लोगों को ऐसे विरोध में आनन्द भी आता है।

ब्राह्मणों से निराश होकर स्वामी दयानन्द ने १८७५ में एक स्वतंत्र आन्दोलन खड़ा किया। इसके लिए कुछ नियम बनाये जिनमें परिवर्तन करके अगले वर्ष लाहौर में आर्य-समाज नाम की संस्था स्थापित की गई। पंजाब में उन्होंने कुछ ही मास व्यतीत किये। अधिक समय उन्होंने राजपूताना में खर्च किया ताकि राजपूत रियासतें हिन्दूत्व के संरक्षण को अपने हाथ में लेकर प्राचीन हिन्दू नरेशों के समान इस महान् कार्य की पूर्ति के लिए प्रयत्न करें।

पंजाब के लोगों के जीवन में एक विशेषता पाई जाती है। जब ये किसी काम को अपना लेते हैं तब अन्य बातों की परवाह नहीं किया करते। स्वामी दयानन्द के उद्देश को भी यहाँ के कई हिन्दुओं ने अपना लिया और आर्यसमाज के लिए काम करना आरम्भ कर दिया। प्रांत के सभी बड़े नगरों में आर्यसमाज की शाखाएँ खुल गईं। इन्होंने जगह-जगह लड़कों के लिए स्कूल और लड़कियों के लिए पाठशालाएँ बना दीं। फिर वेतन पर प्रचारक रखकर आर्यसमाज के विचार फैलाने का यत्न किया। जब कभी देश पर दुर्भिक्ष, भूचाल आदि का संकट आया, आर्यसमाज ने उसके निवारण में यथेष्ट सहायता की।

अपने बच्चों की शिक्षा को आर्यसमाज ने अपना सबसे बड़ा कार्य समझ लिया। १८८३ में स्वामी दयानन्द की मृत्यु पर

यह निश्चय किया गया कि लड़कों के लिए एक कालेज बनाया जाय। लाहौर में पहले एक स्कूल खड़ा किया जिसे, पंजाब विश्वविद्यालय के नियमानुसार, चौथे वर्ष कालेज बना दिया गया।

पंजाब की हिन्दू आबादी में जो अच्छा भाग था उसको आर्यसमाज ने अपनी तरफ कर लिया। मुसलमानों ने हिंदुओं की इस जागृति को देखकर जगह-जगह अपनी अंजुमनें बनाना आरम्भ कर दिया। सिखों ने सिंह-सभाएँ बना कर अपने आपको हिन्दुओं से पृथक् करने का यत्न किया। आर्यसमाज की खंडन-मंडन की पद्धति को पसन्द न करके कुछ हिन्दुओं ने सनातन धर्मसभा बनाई।

आर्यसमाज अभी बनी ही थी कि उसमें फूट के लक्षण दिखाई देने लगे। शिक्षा की समस्या एक गहरा और कठिन प्रश्न था। जनसाधारण का संतोष तो इस बात से हो जाता है कि शिक्षा का प्रसार सत्कार्य है। परन्तु विचारणीय बात यह है कि शिक्षा भी तो अच्छी या बुरी हो सकती है। अच्छी शिक्षा से सुधार एवं उन्नति की आशा हो सकती है, बुरी से बिगाड़ का डर। सम्भव है, आरम्भ में यह विचार किसी बुद्धिमान् आर्यसमाजी के मन में उत्पन्न हुआ हो, परन्तु बाद में यह प्रश्न आर्यसमाज के सामने बड़े प्रबल रूप में उपस्थित हुआ—क्या अँगरेजी सरकार की शिक्षा-प्रणाली, जिसके अनुसार आर्य-समाज ने स्कूल तथा कालेज बना कर अपनी सारी शक्ति को उनके चलाने में लगा दिया, सरकार ने अपने हित के लिए तैयार की थी या भारत के हित के लिए? दयानन्द कालेज की स्थापना के समय एक दूरदर्शी सज्जन ने आर्यसमाज से कहा—"ये कालेज रस्से हैं। विदेशी गवर्नमेण्ट इनके द्वारा देश को दासत्व में बाँधना चाहती है। आर्यसमाज एक

और रस्सा बनाकर हिन्दुओं को दासत्व में और ज्यादा जकड़ने की जिम्मेदारी अपने ऊपर क्यों लेती है ?" परन्तु आर्यसमाज में आगे बढ़कर काम करनेवाले अधिकतर वही लोग थे जिन्होंने सरकारी शिक्षा प्राप्त कर रखी थी। स्वाभाविकतया उनको यह मोटा-सा सत्य दिल्लगी मालूम दी और उन्होंने इसे हँस कर हटा दिया।

इस दृष्टिकोण को राजनीतिक कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त धार्मिक प्रवृत्ति के विचारशील आदमी भी थे जिन्हें दयानन्द-कालेज बनने के बाद यह विचार आया कि अपनी इस संस्था को पंजाब विश्वविद्यालय के अधीन करके हम आर्यसमाज के उद्देश्य को धोखा दे रहे हैं। वे कहने लगे—"आर्यसमाज का काम अँगरेजी शिक्षा का प्रसार नहीं है। इसे तो वेद, शास्त्र आदि के प्रसार द्वारा आर्य-संस्कृति का संरक्षण करना है।"

संयोग से जो आर्यसमाजी सरकारी शिक्षा-पद्धति के पक्ष में थे वे मांस भक्षण को लापरवाही से देखते थे। सर्वसाधारण में यह बात अच्छी नहीं समझी जाती थी। इसपर १८६२ में आर्यसमाज के दो दल हो गये—एक, मांस-पार्टी; दूसरी, घास-पार्टी। पहले ने सरकारी ढंग पर स्कूल-कालेज चलाने को एक प्रकार से अपना उद्देश्य बना लिया, दूसरे ने काँगड़ी (हरद्वार) में गुरुकुल खोल लिया। इसी कारण इनको कालेज पार्टी और गुरुकुल पार्टी कहा जाने लगा।

बाद में जब इन आर्यसमाजों की संपत्तियाँ बन गईं और बंकों में धनराशियाँ हो गईं तब, खेद से कहना पड़ता है, इस क्षेत्र से धार्मिकता उड़ गई। यही कारण है कि आर्यसमाज के मन्दिरों को किराये पर देने का रिवाज भी चल पड़ा है।

इसके साथ ही अब गुरुकुल पार्टी ने भी स्कूल तथा कालेज खोलने आरम्भ कर दिये हैं।

ईसाई पादरियों की देखादेखी आर्यसमाज ने स्कूल-कालेजों के अतिरिक्त अनाथालय तथा अस्पताल भी खोले। ये भी अपना-अपना काम करते हैं, परन्तु कार्यकर्त्ताओं में मिशनरियों-जैसी धार्मिकता, सात्त्विकता, जोश तथा लगन का अभाव दिखाई देता है। इसी कारण अब इनका वह मान नहीं जो आरम्भ में था।

इंडियन नेशनल कांग्रेस—संयुक्त प्रांत में कुछ देश-भक्तों ने, लोगों में जातीयता की भावना बनाये रखने के लिए, गोरक्षिणी सभा बनाई। राजनीतिक आन्दोलन समझ कर गवर्नमेंट इसे पसंद न करती थी। गौओं को बचाने का प्रयत्न करने पर इस प्रांत में कई स्थानों में बलवे हुए जिन्हें गवर्नमेंट ने बड़ी सख्ती से दबाया।

सरकार ने निश्चय किया कि हिन्दुस्थान के लोगों को अपने आंतरिक भाव तथा शिकायतें प्रकट करने के लिए एक संस्था बनाकर देनी चाहिए। इसी उद्देश्य से वायसराय डफ़रन के काल में ह्यूम-नाम के अँगरेज ने, जो ग़दर के वक्त इटावा का कलेक्टर रह चुका था, बंगाल, बम्बई आदि के कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों को एकत्र करके इंडियन नेशनल कांग्रेस की नींव रखी। तब कांग्रेस का काम इतना ही था—बड़े दिनों की छुट्टियों में भारत के किसी बड़े शहर में इकट्ठे होकर प्रस्तावों के रूप में लोगों की शिकायतों को गवर्नमेंट के समक्ष रख देना। इस अवसर पर कुछ आदमी अँगरेजी में लंबे-लंबे भाषण भी झाड़ देते। तीन-चार बरस तक गवर्नमेंट ने कांग्रेस को प्रोत्साहन दिया। तत्पश्चात् कांग्रेस में कुछ

स्वतंत्र विचार प्रकट किये जाने लगे। तब गवर्नमेंट ने उससे अपना मुँह मोड़ लिया।

सन् १८९३ में कांग्रेस का पहला अधिवेशन लाहौर में हुआ। तब कांग्रेस के लिए पंजाब में बहुत जोश था। इधर-उधर से कई आदमी अधिवेशन के लिए लाहौर में आये। आर्यसमाज के नेताओं को कांग्रेस पर कोई विश्वास न था। देशभक्ति की दृष्टि से तब कहा जाता कि "कांग्रेस गवर्नमेंट का खड़ा किया गया ढोंग है ताकि इसकी सहायता से शिक्षित वर्ग की बढ़ती हुई बेचैनी को दूर किया जाय। कांग्रेस वह डंडा है जो शिक्षित वर्ग के भूत को ऊपर नीचे चढ़ने के लिए प्रस्तुत किया गया है ताकि ये लोग अन्य कोई कार्य न कर सकें।"

धार्मिक और राजनीतिक संस्थाओं में एक बड़ा अन्तर होता है। धार्मिक संस्था विशेष धार्मिक सिद्धांतों को अपना कर उन्हें कभी छोड़ने पर तैयार नहीं होती। राजनीतिक संस्था का एक दृष्टि से कोई विशेष सिद्धांत नहीं होता। उसकी कार्य-प्रणाली भी बदलती रहती है। अच्छे आदमियों के आगे आने से काम अच्छा होने लग जाता है, बुरे आदमियों के आने से काम ढीला पड़ जाता है। बाहर से दबाव पड़ने पर धार्मिक संस्था कभी-कभी गिर जाती है। तब वह न्याय तथा साहसपूर्वक शत्रु का विरोध न करके पीछे हट जाती है। यह उसके लिए परीक्षा का समय होता है। हर एक मजहब या पंथ के लिए कभी न कभी परीक्षा का समय आया करता है। तब राजनीतिक सत्ता रखनेवाले उसे दबाया करते हैं। यदि वह मजहब उस समय दब जाता है तो उसकी उन्नति तथा प्रसार का द्वार तत्काल ही बन्द हो जाता है। भारत का शासन अँगरेज जाति के हाथ में है और ये लोग अच्छी तरह

जानते हैं कि जो संस्था आज धार्मिक है वह उन्नति करके कल राजनीतिक रूप धारण कर सकती है। आर्यसमाज को भी यह नियम समझ लेना चाहिए था कि यदि परीक्षा के समय वह भय के कारण दब जायगी तो उसके जीवन का अन्त हो जायगा—वह जीवन जो दूसरे लोगों को अपनी ओर आकर्षित करके उन्नति का साधन बन सकता है।

स्वदेशी तथा स्वराज्य-आन्दोलन—भारत के इतिहास में १९०५ का वर्ष चिर-प्रसिद्ध रहेगा। तब कर्जन का राज्य था। वह शक्ति के घमंड में जैसा चाहता वैसा करता। इन दिनों रूस और जापान का युद्ध हुआ। रूस जैसे बड़े राष्ट्र को पराजित करके जापान के छोटे राष्ट्र ने अपने लिए नाम पैदा कर लिया। इसका प्रभाव भारत के लोगों पर भी हुआ। इससे पूर्व भारत के मन पर योरपीय राष्ट्रों के बड़प्पन का एक। झूठा-सा जादू काम कर रहा था। इस युद्ध ने उसे तोड़ दिया कुछ भारतीय समझते थे कि योरप के लोग राज करने के लिए पैदा हुए हैं और एशिया के लोग उनके अधीन रहने के लिए। (यह विचार स्वयं योरपीय शासकों ने अपने मनोवैज्ञानिक प्रचार-द्वारा शासित वर्ग के मन में बिठला दिया था।) जापान ने इससे उल्टी बात को ठीक सिद्ध कर दिया। इससे भारत के लोगों में भी आत्माभिमान का भाव विकसित होने लगा।

कर्जन ने बंगाल के दो टुकड़े करके सभी बंगालियों को अपने विरुद्ध कर लिया। बंगाल में बहिष्कार के शस्त्र का प्रयोग किया जाने लगा। इसके साथ ही स्वदेशी तथा स्वराज्य की लहर फैलने लगी। कांग्रेस भी इस लहर के प्रभाव में आ गई। पंजाब पर भी इसका प्रभाव हुआ। कांग्रेस में पुराने

नरम दल के मुक़ाबिले पर एक उग्र दल खड़ा हो गया। पंजाब में इस उग्र दल ने लोगों को अपनी ओर खींचना आरम्भ किया। यह आन्दोलन अब शिक्षित वर्ग के हाथ से निकलकर लायलपुर तथा ज़िला लाहौर के जाटों में काम करने लगा।

इतने में १९०७ आ गया। अब अँगरेज़ अफ़सरों के दिल में इस विचार से भय उत्पन्न होने लगा कि सन् ५७ के ग़दर को अर्द्ध शताब्दी हो गई है। पंजाब में जब मालिया न देने के आन्दोलन ने प्रचंड रूप धारण कर लिया तब ११ मई का दिन आने से पूर्व ही लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह को निर्वासित कर दिया गया। लालाजी आर्य-समाज के नेता रह चुके थे। उनका निर्वासन आर्यसमाजियों के लिए पहली परीक्षा थी। उन्होंने कहा कि लालाजी का आर्यसमाज से कोई सम्बन्ध न था। इस प्रकार उन्होंने जनता के सामने अपनी निर्बलता का प्रमाण दिया।

सन् १९०७ में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन सूरत में हुआ। पंडाल में ही पुराने, नरम दल, और नये, उग्र दल में लड़ाई हो पड़ी तथा उग्र दल के नेता श्री बाल गंगाधर तिलक ने कांग्रेस को छोड़ दिया। इस पर कांग्रेस एक बार फिर अपने पुराने तरीक़े पर चलने लगी। १९०८ में बंगाल में आतंकवादियों की बंब-पार्टी का प्रादुर्भाव हुआ। इससे हर प्रांत की गवर्नमेंट को चिंता होने लगी। श्री तिलक ने अपने विचार-पत्र में इसपर टीका करते हुए लिखा कि बंब-पद्धति के प्रचलन का अधिकतर उत्तरदायित्व गवर्नमेंट की दमन की नीति के सिर पर है। इस कारण उन्हें छः वर्ष के लिए बरमा में निर्वासित कर दिया गया। जेल में उन्होंने भगवद्गीता के संबंध में गीता-रहस्य नाम की पुस्तक लिखी।

पंजाब में भी क़ानून सख्त कर दिया गया। गवर्नमेंट ने हर प्रकार के राजनीतिक आन्दोलन का दमन करने में बड़ी तत्परता दिखलाई। इस प्रकार चार-पाँच बरस बीत गये। १९१० में श्री भाई परमानंद पर, जो लाहौर के दयानन्द-कालेज में इतिहास तथा राजनीति के अध्यापक थे, गवर्नमेंट ने एक राजनीतिक-अभियोग चलाया। इसके निर्णय से पूर्व ही आर्य-समाज के कुछ नेताओं से गवर्नमेंट ने कहा—"आप हमारे साथ हो जायँ, नहीं तो आपको विरोधी समझा जायगा।" इसपर, कहा जाता है, कि दयानंद-कालेज की प्रबंधक समिति ने अपनी नीति गवर्नमेंट के अनुकूल बना ली और भाई परमानन्द को कालेज की सेवा से पृथक् कर दिया।

सन् १९१४ में योरप का महायुद्ध आरम्भ हुआ। उत्तरी अमेरिका में बहुत-से सिख तथा अन्य पंजाबी खेतों, बाग़ों आदि में मजदूरी करते थे। एक स्वतंत्र देश में रहने और अमेरिका की गोरी आबादी के साथ बराबरी के दर्जे पर काम करने से इन पंजाबियों के अन्दर देशप्रेम तथा मानव-समता के भावों ने विकास किया। महायुद्ध के आरम्भ में इन्होंने समाचारपत्रों में पढ़ा कि इँग्लैंड भारत की सेना को अपनी रक्षा के लिए फ्रांस में लाने का प्रयत्न कर रहा है। सैकड़ों नहीं वरन् हजारों पंजाबी, जिनमें अधिक संख्या सिखों की थी, कनाडा तथा अमेरिका के पश्चिमी किनारे से चल पड़े ताकि स्वदेश पहुँच कर सैनिकों तथा अन्य लोगों को तब तक विदेशी गवर्नमेंट की सहायता करने से रोक दें जब तक भारत को स्वतंत्रता प्राप्त न हो।

पंजाब का लेफ्टिनेंट गवर्नर ओडवायर बना। उसने आते ही देहली षड्यंत्र का अभियोग चलाया। क्रांतिकारी दल के एक

नेता श्री रासबिहारी बसु ने वायसराय हार्डिंग पर बम्ब फेंका। इस कारण सर्व श्री मास्टर अमीरचन्द, अवधबिहारी आदि को अभियुक्त किया गया। रासबिहारी बसु बड़ी चालाकी से जापान जा पहुँचे। एक क्षमा-प्रतिज्ञ अभियुक्त के कहने पर गवर्नमेंट ने देहली में कई नवयुवकों को फाँसी की सजा दी। इनमें से एक भाई मतिदास के वंशज भाई बालमुकुंद थे। ये भाई परमानन्द जी के चचेरे भाई थे।

अभी यह मुक़द्दमा चल रहा था कि योरप का महायुद्ध शुरू हो गया। अमेरिका से आये हुए कुछ पंजाबी पंजाब में पहुँचकर एक प्रकार से सरकार के विरुद्ध राजनीतिक आन्दोलन करने लगे। ओडवायर ने अपनी नीति निश्चित कर ली थी। एक भाषण मे उसने कहा—"अमेरिका के पिस्तौल तथा बंगाल के बम्ब का प्रतिरोध पूरी शक्ति से किया जायगा।" जब कनाडा तथा अमेरिका से आनेवाले पंजाबियों का जहाज भारत के तट पर लगा तो सभी पंजाबियों को गिरफ़्तार करके जेलों में भेज दिया गया। जो लुक-छिप कर निकल गये उनके घरों पर पुलिस पहले ही से डेरा डाले बैठी थी। उन्होंने इधर-उधर घूमना और गवर्नमेंट के विरुद्ध विचित्र-सी तदबीरें सोचना आरम्भ किया। इन देशभक्तों के समूह के समूह लाहौर-जेल में क़ैद किये गये। इनके संबंध में एक के बाद दूसरा, इस प्रकार षड्यंत्र के ग्यारह मुक़द्दमे चलाये गये जिसके फलस्वरूप फाँसी तथा कालापानी की सजा एक साधारण-सी बात बन गई।

जब तक महायुद्ध जारी रहा, ये मुक़द्दमे भी चलाये गये। ओडवायर का उद्देश था कि इन कड़ी सजाओं तथा जेल की यातनाओं के द्वारा पंजाब के लोगों को त्रस्त कर दिया जाय ताकि महायुद्ध में सहायता देने के लिए जो तरीक़े पंजाब में

गवर्नमेंट ने ग्रहण किये थे उनमें किसी तरह की रुकावट खड़ी हो। स्वर्गीय राष्ट्रभक्त लाला हरदयाल, जिनकी असाधारण प्रतिभा की बातें पंजाब के लोगों को कभी भूल नहीं सकतीं. महायुद्ध के श्रीगणेश से पूर्व ही अमेरिका चले गये थे। इन पंजाबियों का मार्ग-दर्शन उन्हीं का काम था। उनके लेखों तथा भाषणों ने इन पर जादू का-सा असर किया। सच बात तो यह है कि जो कोई भी उनके संपर्क में आ जाता वही उन पर मुग्ध हो जाता। इसके कई आश्चर्यजनक उदाहरण मिलते हैं। एक पंजाबी चौदह बरस तक अमेरिका में रहकर प्रतिदिन दस-पंद्रह रुपया कमाता रहा। परन्तु यह सारा रुपया वह शराब में उड़ा देता। लालाजी के संसर्ग में आकर वह देश के निमित्त जान पर खेलने के लिए तैयार हो गया। एक कृपण अपने निजी सुख के लिए बहुत ही थोड़ा खर्च करता। पैसा-पैसा जोड़कर उसने अमेरिका में हजारों डालरों की संपत्ति बना ली। सत्तर वर्ष की आयु में लालाजी के कारण उसके अन्दर ऐसा परिवर्तन आया कि वह सारी धन-संपत्ति लालाजी के आन्दोलन, 'ग़दर' के अर्पण करके स्वयं मृत्यु का आलिंगन करने के लिए अमेरिका से भारत को चल पड़ा। ऐसे अनेक पंजाबियों ने उस काम के लिए, जिसमें वे देश की भलाई समझते थे, प्रसन्नता-पूर्वक प्राणों का उत्सर्ग कर दिया। ये घटनाएँ इतनी ताजा हैं कि ये इतनी जल्दी इतिहास का विषय नहीं बन सकतीं। पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि ओडवायर इँग्लैंड का बड़ा राज-नीतिज्ञ था या नहीं, पर ये लोग जरूर सच्चे राष्ट्रभक्त थे।

महायुद्ध शुरू हुआ और खतम भी हो गया। युद्ध-काल में, वरन् अंत तक, इँग्लैंड को जर्मनी से बड़ा भारी संकट बना रहा। यदि आरम्भ में इँग्लैंड को भारत से सेनाओं

की सहायता उसी प्रकार न पहुँचती जिस प्रकार अन्त में अमेरिका से पहुँची तो यह कहना मुश्किल है कि इँग्लैंड की दशा इस समय कैसी होती। महायुद्ध के दिनों में इँग्लैंड के लोग भारतीय सेनाओं की सहायता की सच्चे दिल से क़द्र करते थे। इँग्लैंड में, चाहे इस कारण चाहे किसी अन्य कारण से, यह विचार बल पकड़ता गया कि भारत तथा इँग्लैंड का हित इसी में है कि भारत में स्वयं भारत का शासन हो। युद्ध-काल में इँग्लैंड के राजनीतिज्ञ बार-बार यह कहते रहे—"अँगरेज़ तो निर्बल एवं छोटी जातियों को जर्मनी के अत्याचार से बचाने के लिए लड़ रहा है। इँग्लैंड इस युद्ध के द्वारा संसार में स्वतंत्रता को बनाये रखना चाहता है।" महायुद्ध की समाप्ति पर इँग्लैंड की ओर से यह घोषणा की गई थी कि भारत के शासन में सुधार कर के शीघ्र ही स्वराज्य का श्रीगणेश कर दिया जायगा। इसके अनुसार सुधार-क़ानून (रिफ़ार्म-ऐक्ट) आया और कौंसिलों की योजना तैयार करके पार्लमेण्ट में पास कर दी गई। कौंसिलों के जारी करने का समय भी निश्चित कर दिया गया।

असहयोग—इँग्लैंड ने एक हाथ से जो कुछ देना चाहा वही दूसरे हाथ से ले लेने का विचार किया। सुधार-योजना के साथ-साथ राजनीतिक अपराधियों के लिए रालेट-ऐक्ट नाम का क़ानून बनाया गया। इसका उद्देश एक दृष्टि से न केवल राजनीतिक अपराधियों को सज़ा देना था प्रत्युत भारत के लोगों में स्वातंत्र्य की भावना तथा इच्छा को कुचल डालना था।

कांग्रेस का नेतृत्व इस समय एक अन्य सज्जन के हाथ में आ गया। १६०७ से १६१५ तक कांग्रेस नरम दल के हाथ में एक मृतप्राय संस्था रही। न तो वह कुछ काम करती, न लोगों

पर उसका प्रभाव था। १६१४ में लोकमान्य तिलक निर्वासन भोग कर वापस आ गये। नरम दल के नेता श्री गोपाल कृष्ण गोखले मर गये। १६१५ की कांग्रेस लखनऊ में हुई। लोकमान्य तिलक का जिस जोश से स्वागत किया गया उससे प्रकट होता था कि देश की हवा बदल गई है और कांग्रेस नये हाथों में आ रही है।

गुजरात-काठियावाड़ के श्री मोहनदास कर्मचंद गांधी अफ़रीका में बैरिस्टरी करते थे। इसके साथ ही वे वहाँ के भारतीयों की सेवा भी करते रहे। महायुद्ध के बाद ये भारत लौटे। अहमदाबाद के पास इन्होंने अपना साबरमती-आश्रम बनाया। रालेट-ऐक्ट को भारत मंजूर करने पर तैयार न था। उसके विरुद्ध स्थान-स्थान में सार्वजनिक सभाएँ की गईं। गांधीजी पंजाब को आ रहे थे कि उनको रास्ते में रोक कर गिरफ़्तार कर लिया गया। देहली, अमृतसर आदि शहरों में विरोध-सभाएँ हुईं। गवर्नमेंट जनता के मत-प्रदर्शन को दबा देना चाहती थी।

इस संघर्ष में लोगों की ओर से कहीं-कहीं ज्यादती हुई और उन्होंने कुछ रेलवे-स्टेशनों तथा कचहरियों को आग लगा दी। परिणाम-स्वरूप अमृतसर के जलियाँवाला बाग में कई भारतीयों को मशीन गन से उड़ा दिया गया और पंजाब के विभिन्न शहरों में मार्शल-ला, अर्थात् फ़ौज का राज्य, हो गया। लेफ़्टिनेंट गवर्नर ओडवायर अपनी अवधि से कुछ ज़्यादा पंजाब में इसलिए रह गया कि इस आन्दोलन का अंत कर दे। मार्शल-ला उसका अंतिम कार्य था। मार्शल-ला के दिनों में जो अभियोग लाहौर, अमृतसर, गुजरांवाला, वज़ीराबाद, हाफ़िज़ा-बाद, कसूर आदि में चलाये गये और जो सज़ाएँ बड़े-बड़े सज्जनों तथा मान्य व्यक्तियों को बिना दोष दी गईं वे अभी

तक लोगों को याद हैं। पंजाब पर किये गये इस अत्याचार की जाँच करने के लिए कांग्रेस की ओर से एक समिति नियुक्त की गई। गांधीजी भी इस समिति के सदस्य थे। समिति का विचार था कि गवर्नमेंट जलयाँवाला बाग के अत्याचार पर खेद प्रकट करेगी; परन्तु उसने इस ओर ध्यान भी न दिया। तब गांधीजी को गवर्नमेंट के साथ पूर्ण असहयोग का विचार सूझा।

इस बीच में मुसलमानों को गवर्नमेंट के विरुद्ध एक खास मजहबी शिकायत पैदा हो गई थी। योरप के महायुद्ध में टर्की जर्मनी के साथ था। महायुद्ध के अंत में, वर्साई की संधि के समय, टर्की के लिए जो शर्तें तय की गईं उन पर तुर्क राजी न थे। टर्की का मामला लंबा होता गया और यूनान तथा टर्की में लड़ाई छिड़ गई। इस लड़ाई में अंदर ही अंदर से इँग्लैंड यूनान की सहायता करता रहा। भारत के मुसलमानों की प्रबल इच्छा थी कि कुस्तुनतुनियाँ (कांस्टेंटीनोपल) में टर्की के सुलतान, अर्थात् खलीफा, का राज्य पूर्ववत् बना रहे। यह सुलतान इस्लाम के प्रवर्तक का एक उत्तराधिकारी और इस कारण संसार के मुसलमानों का सब से बड़ा नेता समझा जाता था। भारत के मुसलमान उसके प्रति भक्ति प्रकट करना अपना कर्तव्य समझते थे। इँग्लैंड इस ओर ध्यान न देना चाहता था। इस कारण मुसलमानों ने खलीफा के पद, खिलाफत, की रक्षा के लिए कांग्रेस के साथ-साथ खिलाफत का आन्दोलन चलाया।

कलकत्ता में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ। इसमें दोनों की ओर से यह कहा गया—जब तक सरकार पंजाब के अत्याचार के लिए प्रायश्चित्त न करेगी और जब तक खिलाफत की समस्या उचित रूप से हल न की जायगी तब

तक भारत के हिन्दू तथा मुसलमान गवर्नमेंट के साथ असहयोग करते रहेंगे। गांधीजी ने देश से प्रेरणा की कि कम से कम एक वर्ष के लिए सब लोग असहयोग के कार्यक्रम पर आचरण करें ताकि उन्हें स्वराज्य मिल जाय। इस कार्यक्रम में सरकारी स्कूलों, कालेजों, कचहरियों, सरकारी नौकरी, फ़ौज, पुलिस तथा विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार सम्मिलित था।

कहा जाता है कि यह वर्ष गवर्नमेंट के लिए बहुत नाज़ुक था और उसे कुछ न सूझता था कि अहिंसात्मक असहयोग की लहर को कैसे रोका जाय। हज़ारों लोग सरकारी क़ानून तोड़ कर जेलों में जाने पर तैयार हो गये। उनके मन से क़ानून तथा पुलिस का भय उड़ गया। जब उन्हें गिरफ़्तार करके कचहरी में लाया जाता तो वे उसकी कार्रवाई में कोई भाग न लेते और उसके अधिकार को स्वीकार करने से इनकार कर देते।

कुछ क्षेत्रों में यह डर प्रकट किया गया कि यदि यह लहर दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई तो यह ऐसी बाढ़ का रूप धारण कर लेगी जिसमें विदेशी गवर्नमेंट बह जायगी। परन्तु अँगरेज़ों को अपना साम्राज्य बनाने तथा उसे क़ायम रखने में ऐसे कई संकटों का अनुभव हो चुका था।

अँगरेज़ जाति का एक बड़ा गुण धैर्य या चित्त-स्थिरता है। जब कभी उनके सिर पर नई आपत्ति आती है तो वे उद्विग्न होकर धीरज को हाथ से जाने नहीं देते प्रत्युत शांति-पूर्वक समय के गुज़र जाने की प्रतीक्षा करते हैं। योरप के दोनों महायुद्धों में उनकी सफलता का रहस्य यही है कि उन्होंने हौसला नहीं हारा और मैदान में डटे रहे।

भारत में अँगरेज़ों के लिए कोई बड़ी कठिनाई न थी। गांधीजी ने लोगों से एक ही वर्ष के लिए असहयोग करने को

कहा था, पर जनसाधारण में इतनी हिम्मत न थी कि वे बहुत देर तक मैदान में खड़े रह सकते। स्वयं प्रमुख कार्यकर्त्ता और नेता घबरा गये। यह घबराहट इस बात का लक्षण थी कि उनका साहस तथा धैर्य समाप्त हो गया है। संसार में संघर्ष का नियम सबके लिए एक ही तरीक़े पर चलता है। सफलता उसी की हो सकती है जो विपक्षी की अपेक्षा अधिक समय तक मैदान में डटा रहे।

गुरुद्वारा-आन्दोलन—जिस नियम को गांधीजी ने स्वराज्य-प्राप्ति का साधन समझा उसे सिक्खों की गुरुद्वारा-प्रबंधक कमेटी ने अपनी कार्यप्रणाली बना लिया। सिक्खों को महाराज रणजीतसिंह तथा उनसे पहले और बाद की परम्पराएँ भूली नहीं। ये परम्पराएँ उनके अन्दर नवजीवन का संचार करती रहती हैं। सिक्खों ने उन्नति की चाबी इसमें समझी कि गुरुद्वारों का सुधार करके सिक्ख सम्प्रदाय में नये प्राण डाले जायँ। जिन महन्तों के हाथ में गुरुद्वारों तथा हिंदू धर्मशालाओं का प्रबन्ध था वे पूँजीपति बन गये थे। हज़ारों रुपयों की सम्पत्ति को वे अपनी मिल्कियत बना बैठे थे। स्वाभाविकतया सरकारी अफ़सरों के साथ उनके सम्बन्ध अच्छे थे। गवर्नमेण्ट भी उनकी सहायता करना कर्त्तव्य समझती थी।

ननकाना साहब नाम के गुरुद्वारे की संपत्ति के प्रबंध का झगड़ा पहली घटना थी जिसने सिक्खों में अकाली-आन्दोलन की नींव रख दी। ननकाना साहब के महंत नारायणदास से गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी ने गुरुद्वारे की जायदाद के सम्बन्ध में माँग की। इसका उत्तर उसे कुछ न मिला, तब प्रबन्धक कमेटी ने भाई लछमनसिंह आदि को इस बात के लिए नियुक्त किया कि वे ननकाना साहब चुपचाप जाकर गुरुद्वारे पर अपना अधिकार कर लें। महंत इस खतरे को

सौंप गया। उनके मुक़ाबले के लिए उसने पहले ही हथियार और आदमी एकत्र कर लिये।

जब लछमनसिंह का दल एक दिन सबेरे 'ग्रन्थ' का पाठ सुनने के लिए गुरुद्वारे के अन्दर गया तो दरवाज़े बन्द करके उसे क़त्ल कर दिया गया। इससे पंजाब भर में सनसनी फैल गई। प्रबन्धक कमेटी ने स्थान-स्थान पर अकालियों की एक सेना भरती करने की आज्ञा दे दी। कमेटी समझ गई कि गुरुद्वारों पर अधिकार करने में उसे महंतों तथा गवर्नमेण्ट, दोनों, के साथ लड़ने के लिए तैयार होना चाहिए। कमेटी ने सत्याग्रह को अपनी कार्य-पद्धति बना कर विभिन्न स्थानों में अकाली-सेना को आदेश कर दिया कि वह गुरुद्वारों आदि का प्रबन्ध अपने हाथ में लेती जाय। बाद में गवर्नमेण्ट ने एक गुरुद्वारा क़ानून बना दिया और ये धर्म-स्थान, जिनमें से कई सनातनी हिंदुओं ने बनाये थे, सिक्खों ने बलात् अपने हाथ में ले लिये। गुरुद्वारों आदि के प्रबन्ध में कुछ सुधार किया गया, परन्तु धन-संपत्ति अधिक हो जाने से धार्मिकता एवं सात्त्विकता का एक प्रकार से लोप हो गया। फलस्वरूप बहुत-से हिन्दुओं ने इन गुरुद्वारों में जाना बन्द कर दिया।

पंजाब की सिख आबादी अपने सांप्रदायिक कार्य में लग गई। मुसलमानों ने योरप में खिलाफ़त और तुर्कों का रोबदाब बनाये रखने के लिए भारत सरकार पर दबाव डालना आरम्भ किया। उन्होंने खिलाफ़त कानफ़रेंस बनाई और उसके अधीन स्थान-स्थान पर खिलाफ़त कमेटियाँ खड़ी कीं। इससे मुसलमान भी संगठित होने लगे और उनमें नया सांप्रदायिक जीवन आने लगा। मुसलमानों के मज़हबी जोश ने भारत-सरकार पर अपना प्रभाव किया।

यदि भारत में यह आन्दोलन न होता तो ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के लिए अन्य मुसलिम देशों में अपना हाथ फैलाना आसान बात थी। गवर्नमेण्ट प्रयत्न कर रही थी कि मेसोपोटेमिया (इराक) में स्थायी शासन स्थापित करके वहाँ से ईरान तथा अफ़ग़ानिस्तान पर भी पूरा-पूरा दबदबा बनाकर रखा जाय। भारत के इस आन्दोलन ने उसके रास्ते में बाधा खड़ी कर दी। यही बात देखकर तब एक लेखक ने लिखा "मेसोपोटेमिया में अँगरेज़ी शासन है अवश्य, परन्तु अभी तक गवर्नमेण्ट का खर्च वहाँ की आय से कई गुना बढ़कर है। यदि यही अवस्था रही तो सम्भव है, अँगरेज़ मेसोपोटेमिया छोड़ने का निश्चय कर लें।" इसी आन्दोलन के कारण अफ़ग़ानिस्तान ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के रोब में ही नहीं आया प्रत्युत इसने अपनी स्थिति को स्वायत्त और पहले से कहीं बढ़कर दृढ़ बना लिया। मिस्र ने भी संघर्ष करके एक हद तक अपना स्वायत्त शासन बना लिया। इनके अतिरिक्त कमाल पाशा ने युद्ध में अपनी वीरता एवं योग्यता से कुस्तुनतुनिया तथा खिलाफ़त को बचा लिया यद्यपि कमाल पाशा के कारण सुलतान को गद्दी से उतारकर खिलाफ़त का अंत कर दिया गया।

खिलाफ़त की समस्या एक प्रकार से हल हो गई। भारत के मुसलमान तत्काल ही यह भूल गये कि गांधीजी के कहने पर हिंदुओं ने धन, धान्य तथा वस्त्रों के द्वारा इसलाम के लिए क्या कुछ किया। गवर्नमेण्ट के विरुद्ध मलाबार के विद्रोह में मुसलमान मोपलों ने सैकड़ों निर्दोष हिंदुओं का वध कर दिया, या बलात् पतित करके मुसलमान बनाया। मुलतान के दंगे में उन्होंने हिन्दूमंदिरों को गिराया तथा हिंदू नारियों पर अपना हाथ चलाया। यह देखकर भी भारत के मुसलमानों

ने मोपलों के प्रति सहानुभूति प्रकट की। फिर किसी मुसलिम नेता ने दंगाई मुसलमानों की निंदा करने का साहस भी न प्रकट किया। इन बातों ने हिंदुओं की आँखें खोल दीं।

यदि ये घटनाएँ और आगे न बढ़तीं तो यह मामला सम्भवतः यहीं खतम हो जाता। परन्तु मुसलमानों ने तो हिंदुओं को निर्बल समझकर स्थान-स्थान पर उनपर आक्रमण करने आरम्भ कर दिये। जिस हिंदू-मुसलिम-एकता के विषय में इतना प्रचार किया गया था वह सपना-मात्र सिद्ध हुई। ब्रिटिश साम्राज्य-वादियों की चाँदी हो गई।

हिंदू इस देश के वासी हैं। हिंदुस्थान हिंदुओं ही की पितृ-भू एवं पुण्य-भू है। उन्हीं के मन में इस देश से प्रगाढ़ प्रेम हो सकता है। हिंदू यह देखकर चकित रह गये कि कांग्रेस के कहने पर उन्होंने देश के लिए इतना परिश्रम किया, पर उन्हें न हिंदू-मुसलिम-एकता नजर आई और न स्वराज्य ही प्राप्त हुआ। अब हिंदुओं के लिए कौन-सा मार्ग रह गया था? क्या वे हाथ जोड़कर इस एकता के लिए प्रार्थना करें? क्या वे मुसलमान नेताओं से निवेदन करें कि अपने साथी मुसलमानों के आक्रमणों से आप हमारी रक्षा करें?

मुसलमानों की नीति स्पष्ट थी। उनमें से कुछ एक गांधीजी से मिलकर काम करने लगे। बहुत-से मुसलमान सरकार से मिलकर इस कारण अधिकार ले रहे थे कि वे साधारण मुसलमानों को कांग्रेस के विरुद्ध करके गवर्नमेण्ट के पक्ष में ला रहे हैं। मुसलमानों का तीसरा दल हर उचित-अनुचित साधन के द्वारा मुसलमानों की जनसंख्या बढ़ाने में लग गया ताकि हिंदुस्थान में मुसलमानों की संख्या हिन्दुओं के बराबर करके इस देश को हिन्दुस्थान के स्थान में पाकिस्तान

बनाया जाय। ये विभिन्न दल इसलाम के हित को अपने समक्ष रखकर दिल से एक-दूसरे के सहायक थे।

ऐसी परिस्थिति में हिंदुओं के लिए यही रास्ता था कि वे अपने आप को संगठित करें। समाज, धर्म तथा संस्कृति को बचाना हिंदुओं के लिए सबसे बड़ा कर्त्तव्य हो गया। उन्होंने समझ लिया कि स्वराज्य-प्राप्ति एक पुनीत कार्य है।

परन्तु स्वराज्य एक साधन है जिससे समाज, धर्म, संस्कृति तथा राष्ट्र का अस्तित्व बना रह सकता है। उद्देश राष्ट्रीय अस्तित्व को बनाये रखना है। हिंदू यदि बलवान् एवं सुसंगठित होंगे तो वे अपने आप को जीवित रखते हुए स्वराज्य प्राप्त करके उसे अपने हाथों में रख सकेंगे। हिंदू यह नहीं चाहते कि अहिंदू इस देश से निकल जायँ। परन्तु प्रत्येक हिंदू की यह मनोकामना अवश्य है कि अपने देश में इस महान् जाति को मिटने से बचाने के लिए पूरा-पूरा यत्न करे। नामत्व बुरा है, क्योंकि इससे जाति प्रायः नष्ट हो जाती है; परंतु मुसलमानों की उग्र साम्प्रदायिकता, धर्मांधता, हिंदुओं के प्रति घृणा और उन्हें हड़प करने का यत्न वैसा ही बुरा और अग्राह्य है। हिन्दुओं ने मुसलमानों पर पूर्ण विश्वास किया। उनके लिए भ्रातृ-भाव हिन्दुओं में दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा था। परन्तु इसका जो फल हिन्दुओं को मिला वह उनके लिए बहुत निराशाजनक था।

हिन्दुओं में एक निर्बलता चिरकाल से बनी हुई थी। उनमें पारस्परिक संगठन न रहा था। जब हिन्दुओं में संगठन-बल था तब कोई विदेशी शक्ति इनकी ओर बुरी नजर से देख न सकती थी। तब यदि कोई विदेशी शक्ति ऐसा करती तो उसे इसका मजा चखना पड़ता। यूनान के सिकन्दर या उसी के प्रतिनिधि सेल्यूकस ने जब ऐसा करने का साहस

किया तो उसे मुँह की खानी पड़ी। शकों या हूणों ने जब ऐसा किया तो उन्हें न केवल पराजित होना पड़ा प्रत्युत अपना अस्तित्व खोना पड़ा, क्योंकि हिन्दुओं ने उन्हें अपने अन्दर जज्ब कर लिया। सम्भवतः यही कारण है कि पंजाब में आज भी हूण पाये जाते हैं जो अपने आपको खत्री (क्षत्रिय) हिन्दू बतलाते हैं। एक समय ऐसा आया जब हिन्दुओं के सामने विरोधी शक्तियाँ न रहीं। सम्भवतः इसी कारण उन्होंने आक्रमणकारी विदेशियों से घृणा करना तथा द्वेष रखना भुला दिया। (अँगरेज अध्यापक सीले ने अपनी पुस्तक 'एक्सपेंशन आव् इँग्लेंड' में इसकी अच्छी तरह विवेचना की है।) इसके साथ ही परस्पर सहानुभूति रखना और समाज-हित से मिलकर काम करने की प्रवृत्ति खो दी। वैयक्तिक सद्गुणों पर हिन्दू बहुत जोर देते रहे। सामूहिक या सामाजिक गुणों की ओर उनका ध्यान कम गया।

रोग सदा कमजोर जगह देखकर ही आक्रमण किया करता है। हिन्दुओं की इस निर्बलता को देखकर आक्रमणकारियों ने भारत पर सैकड़ों हमले किये। संगठन तथा दूर-दर्शिता के अभाव के कारण ही हिन्दुओं की यह दुर्दशा हुई। यह एक बड़ी शिक्षा है जो हमारा इतिहास हमें सिखाता है। यदि अब भी हममें सांघिक भावना दृढ़ न होगी तो इस देश में हमारा जीवित रहना सम्भव नहीं। अपने प्राणों, अपने जान-माल, मान-मर्यादा तथा धर्म, संस्कृति एवं राष्ट्रीयता की रक्षा के लिए हर प्रकार के उत्सर्ग के लिए हमें कर्त्तव्य-बुद्धि से तैयार रहना होगा। इसी में हमारा उत्कर्ष, हमारा वैभव, हमारा जीवन तथा हमारे प्राण हैं। इसी मार्ग पर चलने से हमारा भारत एक बार फिर संसार में अपना उचित स्थान प्राप्त कर सकता है।

परिशिष्ट अ

अँगरेज़ भारत को कब छोड़ेंगे ?

'क्विट इंडिया !' (भारत छोड़कर चले जाओ !) यह नाद आज हिंदुस्थान के कुछ भागों में सुनाई देता है। एक समय यह स्वयं इँगलैंड के कुछ राजनीतिज्ञों के मुँह पर था। लगभग साठ बरस हुए, कुछ अँगरेज़ राजनीतिज्ञों ने यह विचार प्रकट किया था कि हिन्दुस्थान में हमने जो साम्राज्य बनाया है वह थोड़े ही दिन बना रहेगा और तब हमें उसे छोड़ना पड़ेगा। इस विषय में अँगरेज़ इतिहासवेत्ता जे० आर० सीले ने जो कुछ लिखा है वह मनोरंजक भी है और शिक्षाप्रद भी। थोड़ी देर के लिए उनकी बातों पर विचार करना लाभदायक ही होगा। यदि कहीं पर विद्वान् लेखक का मत हम हिन्दुओं के मत से भिन्न हो तो हमें इस बात की तरफ़ ध्यान देना चाहिए कि वे हमारी राय से भिन्न राय क्यों रखते थे।

अध्यापक सीले कैंब्रिज विश्वविद्यालय में पढ़ाया करते थे। वे रायल हिस्टारिकल सोसायटी के सदस्य भी थे। सन् १८८० में उन्होंने अपने विश्वविद्यालय के इतिहास के विद्यार्थियों के सामने इस विषय पर सोलह व्याख्यान दिये कि इँगलैंड ने मुख्य देशों में अपना फैलाव किस प्रकार किया है। इन व्याख्यानों को बाद में पुस्तक-आकार दे दिया गया। सीले ने ये व्याख्यान अपने देश के अँगरेज़ विद्यार्थियों के लिए ही तैयार किये थे; परन्तु पुस्तक भारत में भी पहुँच गई। इसमें आठ-आठ व्याख्यानों के दो भाग हैं। दूसरे भाग के पहले चार व्याख्यानों में उन्होंने जो विचार प्रकट किये हैं उनको

यहाँ क्रमशः लिया जाता है ताकि उन्हें समझने में आसानी रहे। यह सारी कहानी सीले ही के शब्दों में दी जाती है—

कहा जाता है—'हम को अपना काम करना चाहिए। आस्ट्रेलिया, कनाडा और हिन्दुस्थान-जैसे दूर-स्थित देशों के मामलों में दखल देने की जरूरत नहीं। हम उनको सँभाल नहीं सकते। यह हमारा दुर्भाग्य था कि उनके साथ हमारा संबंध हो गया।' यह राजनीतिक प्रश्न है, साथ ही ऐतिहासिक समस्या भी। मैं तो इतिहास पढ़ाने का एक ही अर्थ समझता हूँ। मैं बताना चाहता हूँ कि राजनीति और इतिहास में मौलिक संबंध है। ये दोनों एक ही विषय के दो भिन्न-भिन्न रूप हैं। यदि राजनीति में इतिहास न हो तो वे केवल गँवारपन की बातें हो जाती हैं। और, यदि इतिहास क्रियात्मक राजनीति की उपेक्षा करता है तो वह केवल साहित्य बन जाता है। हमारे सामने समस्या है—हिन्दुस्थान के साथ क्या किया जाय ? क्या हमारे उपनिवेशों में गड़बड़ मच जायगी ? क्या कनाडा और आस्ट्रेलिया स्वतंत्र राज्य बन जायँगे ? क्या हमको हिन्दुस्थान छोड़ना पड़ेगा ? क्या हिन्दुस्थान के वायसराय और उसकी कौंसिल का स्थान कोई भारतीय गवर्नमेंट ले लेगी ?

जब हम भारत में इँगलैंड की विजय पर विचार करते हैं तो चकित रह जाते हैं। अँगरेजों की एक व्यापारी कम्पनी ने २० करोड़ एशियाई लोगों के देश को अपने अधीन कर लिया। यह कितने आश्चर्य की बात है ! परन्तु इस सफलता में ठोस सामग्री कितनी है ? यह बात तो समय ही बतायेगा कि भारत हमारे लिए थोड़े दिन का व्यापारी साम्राज्य है या इसके द्वारा पश्चिम और पूरब का मिलाप होनेवाला है। समय तो सभी को एक-जैसी बात बता देगा। परन्तु यदि

इतिहास का कुछ महत्त्व है तो उसे समय से पूर्व ही यह बात बता देनी चाहिए कि इस साम्राज्य का कब, क्या और किस तरह बननेवाला है। जब घटना हो गई तब तो सारी बात हमरी समझ में आ ही जायगी। हम इतिहास का अध्ययन इसलिए करते हैं कि घटना के होने से पूर्व ही हम यह जान जायँ कि भविष्य में क्या होनेवाला है। जब कोई घटना हो गई तब तो हम सब देख ही लेंगे कि जो कुछ हुआ है उससे भिन्न कुछ न हो सकता था। राजनीति-शास्त्र के विद्यार्थियों को तो दूरदर्शी होकर यह बता देना चाहिए कि भविष्य में किस प्रकार की घटना होगी। अब तो इतिहास इस प्रकार लिखा जाता है कि हम उससे राजनीतिक निष्कर्ष झटपट निकाल सकते हैं। जब हम किसी देश के इतिहास का अध्ययन करते हैं तो हम उसकी पिछली घटनाओं को ही नहीं पढ़ते प्रत्युत उसके भविष्य में होनेवाली घटनाओं को भी देखते हैं।

मेरी राय में हिन्दुस्थान का भूतकाल ही है, उसका भविष्य कोई नहीं। मैकाले ने लिखा है—'इन मुट्ठी भर अँगरेजों ने, जो इँग्लैंड से कितने ही मील दूर थे, संसार के एक बहुत बड़े साम्राज्य को अपने अधीन कर लिया।' इँग्लैंड और हिन्दुस्थान में व्यापार बहुत बढ़ गया है। यदि आज हिन्दुस्थान इँग्लैंड के हाथ से निकल जाय और हिन्दुस्थान की गवर्नमेंट अँगरेज व्यापारियों को अपने बन्दरगाहों में न आने दे तो हमें १२० करोड़ रुपये वार्षिक का घाटा होगा। हिन्दुस्थान को इँग्लैंड ने जीता और अब उसे अपने अधीन रखा हुआ है तो हिन्दुस्थान के उन सैनिकों की सहायता से, जिनको हिन्दुस्थान के रुपये में से वेतन दिया जाता है। हमारी अँगरेज सेना में तो केवल पैंसठ हजार आदमी हैं। हिन्दुस्थान के कारण इँग्लैंड को चिन्ता भी रहती है। टर्की, मिस्र, ईरान,

बरमा या अफ़ग़ानिस्तान में ज़रा-सी हलचल हो तो हमें चौकस होना पड़ता है। हिन्दुस्थान के कारण ही हमने रूस को सदा के लिए शत्रु बना रखा है।

अब प्रश्न यह पैदा होता है—इँग्लैंड के गले में हिन्दुस्थान के रूप में चक्की का जो पाट बँधा हुआ है उसे हम उतार कर क्यों न फेंक दें ? कुछ घटनाएँ ऐसी होती हैं जो यदि न होतीं तो बहुत अच्छा रहता। परन्तु जब वे हो चुकी होती हैं तब उनको वापस नहीं किया जा सकता। ऐसा समय आ सकता है जब हमको हिन्दुस्थान छोड़ना पड़े। परन्तु इस समय तो यह आवश्यक है कि हम वहाँ इस प्रकार राज करें जिस तरह हमें ही सदा के लिए उसपर राज करना है। हमने हिंदुस्थान को अँगरेज़ी गवर्नमेंट का आश्रय लेना सिखला दिया है। हमने उसे यहाँ तक पहुँचा दिया है कि वह हमारे सिवाय किसी दूसरे का भरोसा ही न कर सके। ऐसी अवस्था में हिंदुस्थान को छोड़ना हमारे लिए अपराध होगा।

क्लाइव के सम्बन्ध में लिखते हुए मैकाले ने हिंदुस्थान में काम करने वाले अँगरेज़ सैनिकों को 'साम्राज्य-निर्माताओं की नसल,' 'समुद्र की वीर सन्तान' आदि उपाधियाँ दी हैं। परन्तु यह बात तो हर कोई मानता है कि हिंदुस्थान में देशी सिपाही बहुत ज्यादा थे और अँगरेज़ बहुत कम और वे देशी सिपाही अँगरेज़ सैनिकों की सहायता करते थे। विभिन्न लड़ाइयों में भिन्न-भिन्न फ़ौजों के मुक़ाबले पर अँगरेज़ और देशी सैनिक दस और एक के अनुपात से हुआ करते थे। फिर हम क्यों जीते ? नसल के अतिरिक्त वास्तविक अन्तर अनुशासन, सैन्य-शास्त्र और नेतृत्व का था। हमारी सेना के पाँच में से चार हिस्से देशी सैनिकों के थे, केवल एक हिस्सा अँगरेज़ सैनिक थे। इस कारण हम यह नहीं कह सकते

कि हिंदुस्थान को विदेशियों (अँगरेजों) ने जीता। हिंदुस्थान के सैनिकों ने ही अपने देश को जीत कर हमारे हवाले कर दिया।

ऐसी घटना योरप में न हो सकती थी। यदि फ्रांस पर इँग्लैंड आक्रमण कर देता और फ्रांसीसियों को अच्छा वेतन देकर अंगरेजों की खातिर फ्रांस जीतने के लिए कहता तो क्या होता? जवाब मिलेगा—'यह ख्याल ही बिलकुल बेहूदा है। फ्रांसीसियों की सेना फ्रांस के विरुद्ध लड़ाई करे, सम्भव ही कैसे हो सकता है?' परन्तु हिंदुस्थान में ऐसा हुआ है। क्यों? वहाँ राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में गड़बड़ पाई जाती है। हिंदू यह समझते ही नहीं कि देश के लोग कौन हैं और विदेशी कौन हैं। हिंदुस्थान पर ग्यारहवीं शताब्दी से विदेशियों के आक्रमण ही होते रहे हैं। गजनी के महमूद के समय से एक के बाद दूसरा आक्रमण हुआ। इससे हिंदुओं में राष्ट्रीयता का सम्बन्ध टूट गया और शासन के क्रम का भी अन्त हो गया। जिसके हाथ में लाठी आई उसी ने भैंस सँभाल ली। ऐसा देश लोगों से देश-भक्ति के नाम पर प्रेरणा न कर सकता था। हम अंगरेज समझते हैं कि विदेशियों के विरुद्ध देश की खातिर लड़ना आदमी का परम धर्म है। परन्तु आदमी के लिए देश क्या है? समाज को मनुष्य परिवार समझकर रहता है। स्वाभाविकतया वह स्वदेश को अपनी माता समझने लगता है। परन्तु यदि समाज परिवार का रूप धारण न करे प्रत्युत वहाँ दो-तीन नसलें ऐसी हों जो एक-दूसरे से परस्पर घृणा करती हों (स्यात् एक आध देश से भी घृणा करती हो) तो वहाँ देशभक्ति नहीं हो सकती। ऐसे देश के गले में किसी समय विदेशी जूआ पड़ जाय तो यह एक बात है। परन्तु

यदि एक के बाद दूसरे का दासत्व चलने लगे तब वह बिलकुल दूसरी बात होती है।

भारत पर विजय प्राप्त करने में आश्चर्य इस बात का नहीं कि हम अँगरेजों ने विजय किस प्रकार प्राप्त की, प्रत्युत इस बात का कि इँग्लैंड को इसके लिए न तो प्रयत्न करना पड़ा और न किसी प्रकार का कोई कष्ट सहन करना पड़ा। नेपोलियन को कभी कोई आर्थिक कष्ट न हुआ था, क्योंकि वह जिस देश पर विजय प्राप्त करता वहीं से रुपया ले लेता। उसी प्रकार हमने भी हिंदुस्थान को हिंदुस्थान के रुपये से जीता है।

हिंदुस्थान के बारे में 'जीतना' शब्द बिलकुल ग़लत है। यह ग़लत-फ़हमी पैदा करता है। जीतना तो उस समय कहा जाता है जब एक देश की सेना दूसरे देश पर आक्रमण करे और उसे मजबूर करके उसकी स्वतंत्रता छीन ले। इँग्लैंड की गवर्नमेंट का तो इस मामले से कोई वास्ता ही न था। यह काम तो ईस्ट इंडिया कम्पनी ने किया। मुग़ल गवर्नमेंट की अराजकता ने अँगरेज व्यापारियों को बाध्य किया कि वे फ़ौजें रखें। इन फ़ौजियों की सहायता से उन्होंने लगभग सारा हिन्दुस्थान अपने हाथ में ले लिया।

इँग्लैंड में जन साधारण समझते हैं कि योरप के अंदर या बाहर जहाँ कहीं कोई देश है वहाँ एक जाति भी अवश्य होनी चाहिए। ऐसे लोग जातीयता का ठीक-ठीक अर्थ जानने का यत्न नहीं करते। वे यह कहना पर्याप्त समझते हैं कि अपने देश पर फ़्रांस के राज्य को हम अँगरेज सहन नहीं कर सकते और फ़्रांस पर जर्मनी के राज्य को फ़्रांसीसी सहन नहीं कर सकते। इससे आप लोग यह निष्कर्ष निकालते हैं कि हिन्दु-

स्थान के हिन्दू भी अपने यहाँ अँगरेजों का राज्य देखकर लज्जित होते होंगे। बस, यहीं पर वे भूल कर जाते हैं। वे यह विचार नहीं करते कि अँगरेज़ और फ़्रांसीसी केवल बस्तियाँ नहीं हैं। विशेष ढंग पर और विशेष शक्तियों के कारण अँगरेज़ लोग परस्पर एकीभूत है। यही हाल फ़्रांस का है।

राष्ट्रीयता बनाने में सब से पहली शक्ति है नसल और भाषा का एक होना। भारत में यह अंग नहीं पाया जाता। भारत तो केवल भौगोलिक नाम है, यह राजनीतिक नाम नहीं है। हिन्दुस्थान के लोगों का सम्मिलित या साझा हित नहीं, न हिन्दुस्थान एक राजनीतिक देश है। राष्ट्रीयता का एक अन्य अंग है मजहब। यह हिन्दुस्थान में एक तरह से पाया ही जाता है। यों तो यहाँ करोड़ों मुसलमान, सिख, ईसाई और बौद्ध भी हैं फिर भी ब्राह्मणत्व (हिंदूत्व) में विश्वास रखनेवाले हिंदू सबसे अधिक संख्या में हैं। बौद्ध मत संसार के उन बड़े मजहबों में से है जिन्होंने करोड़ों विदेशियों को अपने अन्दर जज़्ब किया। यह हिंदुस्थान में उत्पन्न हुआ। ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व भारत में इसका बहुत जोर था। परन्तु ब्राह्मण-धर्म ने इसको हड़प कर लिया। इस समय बौद्धमत एशिया के हर देश में पाया जाता है, परन्तु हिंदुस्थान में नहीं है। अब हिंदूत्व का मुक़ाबला हुआ इसलाम से। इसलाम ने पारसी मजहब को खत्म कर दिया। ईसाई मत को भी इसके कारण कुछ पग पीछे हटना पड़ा। मुसलमानी शासन हिंदुस्थान पर छा गये। फिर भी इसलाम हिंदुओं को मुसलमान न बना सका।

राष्ट्रीयता का सबसे बड़ा अंग मजहब होता है और यह हिन्दुस्थान में विद्यमान है। ऐसा मालूम होता है कि किसी न

किसी समय ब्राह्मणत्व (हिन्दूत्व) से ही हिन्दुस्थान की राष्ट्रीयता जन्म लेगी।

हिन्दुस्थान में हमारे साम्राज्य के होने का सबसे बड़ा कारण ही यह है कि वहाँ कोई राष्ट्रीयता नहीं अन्यथा अँगरेज़ नसल हिन्दुओं से उत्तमतर नहीं है। इसलिए यदि इटली के समान हिन्दुस्थान में भी राष्ट्रीयता का आन्दोलन चल पड़ा तो अँगरेजी शक्ति तुरन्त खतम हो जायगी, वह इटली में आस्ट्रिया की तरह भी मुक़ाबला न कर सकेगी। कारण : यदि पैंतीस करोड़ लोग विद्रोह कर दें तो इँग्लेंड के पास उनका प्रतिरोध करने के लिए कुछ नहीं है। यदि हिन्दुस्थान में राष्ट्रीयता का भाव कमजोर-सा भी हो, यदि वह विदेशियों को देश से निकालने का खयाल न भी पैदा करे और केवल यह विचार उत्पन्न करे कि विदेशियों की सहायता करना हिन्दुस्थान के हिन्दुओं के लिए लज्जा की बात है तो उसी दिन हमारे साम्राज्य का अस्तित्व मिट जायगा। अपने साम्राज्य को बचाने के लिए हम इँग्लेंड के लाखों लोग मरवाने के लिए तैयार नहीं हैं। इसलिए ज्योंही हिन्दुस्थान ने यह प्रकट किया कि हम अँगरेज़ विदेशी विजेता हैं त्योंही यह हमारे हाथ से निकल जायगा।

राजनीतिक अनुभूति से पूर्व स्वतंत्रता के लिए प्रेम का होना आवश्यक है। जहाँ पर यह अनुभूति न हो वहाँ विदेशी शासन बहुत देर तक चलता रहता है। रूस में आइवन-नाम के अत्याचारी ज़ार (राजा) को लोगों ने क्यों बर्दाश्त किया ? इस कारण कि पहले तातारी लोग दो सौ वर्ष तक रूसियों को अपने पैरों तले रौंदते रहे थे। बस, रूसियों को इस दासत्व की आदत पड़ गई। इटली के पास अपने प्राचीन रोमन प्रजातंत्र का विचार विद्यमान था। रेनरी ने

लेवी की बातें सुना-सुना कर इटली के लोगों को विद्रोह के लिए तैयार कर दिया। हिंदुओं के पास कोई पुस्तक नहीं जिसे पढ़कर वे लोगों को समझा सकें और उनमें जोश पैदा कर सकें।

हिंदुस्थान में अँगरेजों का राज्य चमत्कार समझा जा सकता यदि (१) स्वयं हिंदुओं को राज्य करने का अभ्यास होता और (२) बीस करोड़ हिंदुओं को एक राष्ट्र या जाति के समान सोचने की आदत होती। जब ये दो बातें विद्यमान नहीं हैं तब हिंदुस्थान को ले लेने से अँगरेजों ने कोई आश्चर्यकारी बात नहीं की। यदि सेना के देशी सैनिकों की ओर से विद्रोह या ग़दर हो जाय तो हमारा साम्राज्य खतम हो जायगा। प्रश्न होता है—"१८५७ में भी तो ग़दर हुआ था। उसका तो ऐसा कोई परिणाम न निकला और हमारा साम्राज्य अभी तक बना हुआ है।" बात यह है कि सन् सत्तावन का ग़दर ऐसा आन्दोलन न था। वह सेना में आरम्भ हुआ, परन्तु जनसाधारण ने सेना का साथ न दिया। सैनिकों को छोटी-छोटी शिकायतें ही थीं। हिंदुओं के अन्दर विदेशियों के लिए घृणा न थी, क्योंकि वे जातीयता या राष्ट्रीयता की भावना से रहित थे। यही नहीं, ग़दर ने तो हिंदुओं को मुसलमानों के साथ मिला दिया। इसके अतिरिक्त पंजाब के सैनिकों ने विदेशियों की सहायता की, क्योंकि वे समझते थे कि संयुक्तप्रांत आदि के सैनिकों ने पंजाब को छीना है। फिर विदेशियों को जितने आदमियों की आवश्यकता होती उतने ही उन्हें सेना में भरती करने के लिए मिल जाते। इस प्रकार हिंदू ही हिंदुओं के विरुद्ध लड़ते।

इस कारण जब तक एक नसल को दूसरी के विरुद्ध लड़ाया जा सकता है, जब तक लोगों को शासन (गवर्नमेंट)

पर कड़ी आलोचना करने का अभ्यास नहीं आता, जब तक हिंदुओं को उठना नहीं आता तब तक इँग्लैंड भारत में राज्य करता ही रहेगा और इसमें कोई चमत्कार नहीं समझा जा सकता। यदि यह अवस्था बदल जाय, अर्थात् हिन्दू एक जाति हो जायँ, और वे हमको विदेशी समझने लगें तब हमारे राज्य के क़ायम रहने की कोई आशा नहीं हो सकती। कुछ अँगरेज़ों का मत है—'हिन्दुस्थान के किसान बहुत ग़रीब और तंग हैं। इस कष्ट के कारण वे हमको निकाल देंगे।' मैं तो समझता हूँ कि इतिहास में क्रांतियाँ इस प्रकार नहीं हुआ करतीं। ग़ज़ब तो यह है कि करोड़ों की यह आबादी सदियों से हद दर्जे की कंगाली में दिन काट रही है, फिर भी यह विद्रोह नहीं करती। यही नहीं, यदि यह ज़िन्दा नहीं रह सकते तो चुपचाप मर जाते हैं और यदि किसी प्रकार ज़िंदा रह सकते हैं तो ज़िंदा रह लेते हैं। इनके अन्दर अनुभूति मर चुकी है। भूख आदि ने इनकी इच्छाओं तथा आकांक्षाओं को मार दिया है।···जो जाति विद्रोह करती है वह ऊँचा उठने का प्रयत्न करती है। वह अपने अन्दर शक्ति अनुभव करने लगती है। परन्तु यदि ऐसा विद्रोह हो गया तो स्वयं हिन्दू सैनिक ही उसे दबा देंगे, क्योंकि वे शेष हिंदुओं को अपने भाई नहीं समझते और आज्ञा देनेवाले अंगरेज़ों को विदेशी नहीं ख़याल करते। यदि यह सन् सत्तावन-जैसा ग़दर न हुआ (जिसमें सेना के साथ जनसाधारण की सहानुभूति न थी और जब हम विदेशियों को देशी सेना सहायता के लिए मिल गई) प्रत्युत यह राष्ट्रीयता की व्यापक भावना का प्रदर्शन हुआ तो हमारे साम्राज्य के बचने की सभी आशाएँ उसी समय ख़तम हो जायँगी। कारण : हमने हिंदुस्थान को जीता नहीं। हम विजेताओं के समान हिंदुस्थान पर राज्य नहीं कर

सकते। यदि हम ऐसा करेंगे तो रुपये के कारण ही हमारी कमर टूट जायगी।

[अब भी यह मत इँग्लैंड में पाया जाता है। इसका प्रमाण यह समाचार है—

लंडन, मार्च ६ ('४६)। इंडिया-लीग की बैठक में पार्लमेंट के सदस्य मिस्टर रेजिनाल्ड सोरेन्सेन ने कहा—"हिंदुस्थान को छोड़ना हमारा काम है। भारत में बड़े ब्रिटिश अफ़सरों का भी यही विश्वास है। भारत में अपनी स्थिति को बनाये रखने के लिए हमें बीस और तीस लाख के दर्मियान सैनिक चाहिएँ। इतने सैनिकों की माताएँ, पत्नियाँ और प्रेमिकाएँ इसकी अनुज्ञा न देंगी। फिर नैतिक दृष्टि से भी यह बुरी बात है।"—रायटर।]

परिशिष्ट आ

भारत में सिकंदर की पराजय हुई

झेलम के युद्ध में सिकंदर की जीत हुई थी या पुरु की, इस विषय में डा० हरिश्चन्द्र सेठ ने अपने नाटक, 'पुरु और एलेक्जेंडर' की प्रस्तावना में कई महत्त्वपूर्ण बातें लिखी हैं। वे विचारणीय हैं। इसलिए यहाँ दी जाती हैं—

आधुनिक इतिहासकारों ने यह मान लिया है कि भारत में भी फ़ारस के समान एलेक्जेंडर की विजय हुई। यह बड़े खेद की बात है कि भारत के प्राचीन साहित्य में एलेक्जेंडर का नाम तक नहीं मिलता। इस कारण यूरोपियन ऐतिहासिकों की एलेक्जेंडर-सम्बन्धी झूठी-सच्ची बातों का निर्णय करना बड़ा कठिन हो गया है। परन्तु प्राचीन रोमन तथा ग्रीक इतिहासकारों—जैसे एरियन कार्टियस, स्ट्रेबो, डायडरस, प्लूटार्क और जसटिन के वृत्तांतों को ध्यान-पूर्वक पढ़ने से पता चलता है कि एलेक्जेंडर के भारत में भी विजयी होने की एक कल्पित गाथा गढ़ रखी है। जहाँ-जहाँ एलेक्जेंडर को पराजय की सम्भावना प्रतीत होती है वहाँ के ठीक वृत्तांतों को छिपा कर मनमानी गढ़ंत की है।

एलेक्जेंडर का भारतीय आक्रमण हिन्दूकुश और सिंध के मध्यवर्ती प्रदेश से आरम्भ हुआ। यहाँ पर अश्वक-नामक क्षत्रिय जाति ने एलेक्जेंडर के छक्के छुड़ाये। लगभग नौ मास तक एलेक्जेंडर को अश्वकों के विरुद्ध युद्ध करना पड़ा। उसने यहाँ हूणों के समान घोर अत्याचार किये। बड़े-बड़े नगर जलवाये, अनेक स्थानों पर स्त्रियों तथा बच्चों-सहित समस्त

जनता को मरवा डाला। लूट में लाखों बैल तक छीने, जिन्हें उसने ग्रीस (यूनान) भिजवाया। अश्वकों ने भी एक-एक पग के लिए उससे युद्ध किया, परन्तु एलेक्ज़ेंडर की सेना कई गुनी अधिक होने के कारण अश्वकों से न रोकी जा सकी। मालूम होता है कि एक स्थान पर जम कर लड़ने का प्रयत्न व्यर्थ समझ इन्होंने एलेक्ज़ेंडर को आगे बढ़ने दिया। जैसा बाद की घटनाओं से विदित होता है, एलेक्ज़ेंडर के सिंधु को पार करने पर उसके पीठ पीछे उस पर आक्रमण करने के विचार से ये लोग अपने नगर और ग्राम छोड़ कर पहाड़ी जंगलों में छिप गये। सिंधु पर अवस्थित आरनस-जैसे सुरक्षित दुर्ग को भी बचाने का इन्होंने प्रयत्न नहीं किया। यह बात कार्टियस के निम्न लेख से स्पष्ट होती है—"एलेक्ज़ेंडर ने यह दुर्ग तो जीत लिया परन्तु शत्रु पर विजय न पा सका।"

उत्तर-पश्चिम से भारत के अंदर आने के लिए आरनस का दुर्ग मुख्य द्वार था। इस अति सुरक्षित दुर्ग को शशिगुप्त नामक वहाँ के एक राजा के सुपुर्द कर, एलेक्ज़ेंडर सिंधु के पार उतरा। हमारा मत है कि चन्द्रगुप्त मौर्य और शशिगुप्त एक ही व्यक्ति हैं।

शशिगुप्त पहले अपनी सेना-सहित एलेक्ज़ेंडर के विरुद्ध फ़ारस लड़ने गया था, परन्तु जब फ़ारस के लोग बेक्ट्रिया में भी हार गये तो शशिगुप्त एलेक्ज़ेंडर से मिल गया। एलेक्ज़ेंडर जब झेलम के पार पंजाब में आगे बढ़ गया तो शशिगुप्त की अध्यक्षता में अश्वक लोग एलेक्ज़ेंडर के विरुद्ध खड़े हो गये और निकानोर नामक यूनानी सत्रप का वध कर डाला। अश्वकों का पुनः दबाना कठिन था। हमारा मत है कि इन्हीं के भय से ग्रीक (यूनानी) सेना व्यास नदी के किनारे से

भाग खड़ी हुई थी। आरनस का द्वार बन्द होने के कारण उन्होंने सिंध तथा मकरान के रेगिस्तान का मार्ग लिया, और यहाँ एलेक्जेंडर की अधिकांश सेना नष्ट हो गई। शशिगुप्त और चन्द्रगुप्त यदि एक ही व्यक्ति हैं तो स्पष्ट है कि चंद्रगुप्त ने ही एलेक्जेंडर को मार कर भारत से बाहर किया था।

सिंधु को पार करने में एलेक्जेंडर को कोई कठिनाई न हुई, क्योंकि सिंधु के इस पार आने से पूर्व ही तक्षशिला-नरेश आम्भी ने उससे संधि कर ली थी। उक्त संधि पर एलेक्जेंडर ने फ़ारस से लूटा हुआ सोने-चाँदी का इतना सामान आम्भी को दिया कि एलेक्जेंडर से उसके बहुत-से सेनापति तक रुष्ट हो गये थे। आम्भी का एलेक्जेंडर से संधि करने का कारण पुरु (पोरस) के प्रति उसका द्वेष था। यूनानी इतिहासकारों के कथन से विदित होता है कि एलेक्जेंडर के भारत में आने के पूर्व ही पुरु ने अभिसार (दक्षिण-काश्मीर) के नरेश से मिलकर अपना राज्य बढ़ाना आरम्भ कर दिया था। संभवतः तक्षशिला तक पुरु का हाथ पहुँच गया था और आम्भी को इनका सदा ही भय लगा रहता था।

यहाँ एलेक्जेंडर के आने पर भी अभिसार-नरेश पुरु को उसके विरुद्ध सहायता देने के लिए तैयारियाँ करने लगा। उसने एलेक्जेंडर के भेजे हुए दूत को क़ैद कर लिया, साथ ही उसको कुछ भेंटें भी भेज दीं। एलेक्जेंडर को अभिसार-नरेश की चालों का पता चल गया। उसने आम्भी से मिलकर तुरन्त पुरु की सेना पर धावा कर दिया और इसके पूर्व कि अभिसार-नरेश अपनी सेना-सहित युद्ध की सहायता के लिए आ सकें, एलेक्जेंडर तथा आम्भी झेलम के किनारे अपनी सेना ले पुरु की सेना के सामने आ डटे।

जैसा प्लूटार्क के लेखों से ज्ञात होता है, पुरु की सेना में केवल २० हज़ार पैदल और दो हजार घुड़सवार थे। इधर एलेक्जेंडर की सेना कई गुनी अधिक थी। उसकी सेना में एक लाख से अधिक पैदल और बीस हज़ार से ऊपर घुड़सवार थे। इसके अतिरिक्त तक्षशिला की सेना भी उसके साथ थी। एलेक्जेंडर के मुक़ाबले में इतनी थोड़ी सेना होने पर भी पुरु ने यूनानी सेना के छक्के छुड़ा दिये। हमारा तो ऐसा विश्वास है कि सम्भवतः झेलम के युद्ध में एलेक्जेंडर की हार हुई।

कार्टियस लिखता है कि हाथियों को ही देखकर यूनानी सेना भयभीत हो गई। समस्त सेना में उथल-पुथल मच गई। थोड़े समय पूर्व जो अपने को विजयी समझते थे वे भागकर बचने का मार्ग ढूँढ़ने लगे। ···जो साहस कर आगे बढ़ते उन्हें हाथी पैरों से कुचलते और उठा-उठाकर फेंक देते। इस प्रकार यूनानी सैनिक कभी आगे बढ़ते और कभी पीछे भागते थे। सन्ध्या-समय तक इसी तरह लड़ाई चलती रही।

इसके पश्चात् कार्टियस गोलमाल कर लिखता है कि यूनानी सैनिकों ने हाथियों के पैर काट डाले और विजयश्री एलेक्जेंडर के हाथ लगी। परन्तु एरियन के वृत्तांत से ज्ञात होता है कि एलेक्जेंडर ने सन्धि के लिए पुरु के पास दूत भेजे। बड़ी कठिनाई से पुरु ने एलेक्जेंडर से सन्धि की। इससे विदित होता है कि झेलम के युद्ध में कौन विजयी था! जसटिन के नीचे के वृत्तांत से भी विदित होता है कि झेलम के युद्ध में एलेक्जेंडर की हार हुई होगी—"युद्ध छिड़ जाने पर पोरस ने एलेक्जेंडर की सेना पर आक्रमण किया और शत्रु-सेना से एलेक्जेंडर को बन्दी के रूप में माँगा। एलेक्जेंडर ने तुरन्त पोरस पर हमला किया, पर घोड़े के घायल होने के

कारण वह सिर के बल पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसके सहचारियों ने उसको बचाया।"

इसके अतिरिक्त झेलम के युद्ध के बाद की घटनाओं से भी विदित होता है कि झेलम के युद्ध में पुरु की ही विजय हुई होगी। एलेक्जेंडर ने पुरु को स्वतन्त्र सम्राट् माना और बड़े गर्व से उनका मित्र बनना स्वीकार किया। ऐसा विदित होता है कि झेलम के युद्ध के पश्चात् पुरु एलेक्जेंडर और उसकी सेना को चनाब के पूर्वी प्रदेशों को विजय करने के लिए काम में लाये, क्योंकि एलेक्जेंडर के लौटने के समय उनका राज्य झेलम से लेकर व्यास तक फैल गया था।

भारतीय प्राचीन व्याकरण-ग्रंथों में एक स्थान पर इन ऊपर की घटनाओं की झलक मिलती है। पाणिनि के २, १, ६ सूत्र के उदाहरणार्थ कहा गया है—'मद्राणां समृद्धिः सुमद्रम्, यवनानां व्यृद्धिः दुर्यवनम्।'

मद्र-देश प्राचीन काल से पंजाब के मध्य भाग का नाम था और वहाँ के रहनेवाले भी मद्र कहलाये हैं। एलेक्जेंडर के समय पुरु यहाँ के सम्राट् थे। उपर्युक्त उदाहरण से मालूम होता है कि किसी समय पर मद्रों की विजय और यवनों (यूनानियों) की हार और दुर्गति हुई होगी जो जनसाधारण को भी अच्छी तरह मालूम थी। भारत के इतिहास को ध्यान-पूर्वक देखने से मालूम होता है कि मद्र और यवनों के बीच में एक घोर युद्ध और उसमें यवनों की दुर्गतिपूर्ण यह घटनाएँ केवल एलेक्जेंडर के समय की ही हो सकती हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पुरु एक महान् शक्तिशाली सम्राट् थे। मेगास्थनीज ने तो एक स्थान पर उनको चन्द्रगुप्त से भी बढ़कर बताया है। और इसमें सन्देह ही नहीं कि

अपने जीवनकाल में चन्द्रगुप्त से भी अधिक प्रतापशाली रहे होंगे। चन्द्रगुप्त के समस्त भारत के सम्राट् बनने के पूर्व ही पुरु की मृत्यु हो गई। हमारा तो ऐसा मत है कि यूनानी इतिहास-कारों का पुरु और मुद्राराक्षस-नाटक का पर्वतेश्वर एक ही व्यक्ति है। इस बात के अच्छे प्रमाण मिलते हैं। यदि यह विचार ठीक है तो मुद्राराक्षस से भी पता चलता है कि अपने जीवनकाल में पर्वतेश्वर (पुरु) चन्द्रगुप्त-जैसे प्रतापशाली सम्राट् से भी बढ़कर बली थे—'चन्द्रगुप्तादपि बलीयस्तथा सुगृहीतनामा देवः पर्वतेश्वरः' (पंचमोऽङ्कः)।

प्राचीन ऐतिहासिकों के वृत्तांतों से भी पता चलता है कि एलेक्ज़ेंडर के भारत से लौटने के पूर्व सम्राट् पुरु और आम्भी के बीच भी सन्धि हो गई थी और इन दोनों राज-घरानों में वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित हो गया था।

परिशिष्ट ३

फ़तहनामह

फ़तहनामह वह पत्र है जो गुरु गोविन्दसिंह ने औरंगजेब को लिखा। लगभग चालीस वर्ष हुए, पटना के गुरुद्वारा के महंत ने एक मराठा को फ़तहनामह की प्रति दिखलाई। उसने इसे एक मराठी पत्र में छपवा दिया। इसके सत्ताईस बरस बाद लंडन के ब्रिटिश म्युजियम के पुस्तकालय में खोज करते हुए इतिहास के एक विद्यार्थी को यह पत्र फटा हुआ मिला। पटना में वह पत्र अब नहीं मिलता। प्राप्त पत्र अपूर्ण है।

फ़ारसी में यह अपूर्ण पत्र यों है—

नामह गुरु गोविंदसिंह बा औरंगजेब
एक ओंकार वाहे गुरुजी की फ़तह

बनामे ख़ुदावंदे तेगो तबर,
ख़ुदावंदे तीरो सनानो सिपर—१
ख़ुदावंदे मर्दाने जंग आज़मा,
ख़ुदावंदे अस्पाने पा दर हवा—२
हुमां कू तरा पादशाही बदाद,
बमा दौलते दीन पिनाही बदाद—३
तुरा तुर्कताज़ी बह मकरोरिया,
मरा चारासाजी बह सिद्को सफ़ा—४
न ज़ेबद तरा नाम औरंगज़ेब,
न औरंगज़ेबां नयायद फ़रेब—५
न तसबीह अत अज दाना दूरे मुस्तावेश,

कजां दानासाजी वर्जां दामे .ख्वेश—६
तू खाके पिदर रा बह करदारे जश्त,
बखूने बरादर बदादी सरश्त—७
वजां खाना-ए खाम करदी बना,
बरायं दरे दौलते ख्वेश रा—८
मन अकनूं ब-अफ़जाले पुरुष अकाल,
कुनम आब आहन चुनां बरशगाल—९
जकाहे दकन्न तिश्ना काम आमदी,
ज मेवाड़ हम तल्ख काम आमदी—१०
बदीं सूचो अकनूं नगाहन रवद,
कि आं तल्खी व तिश्नगी अत रवद—११
चुनां आतिशो जेरे नआलत नहम,
ज़ पंजाव आवत न खु.रदन दहम—१२
च शुद गर शगाले ब मकरोरिया,
हमीं कुश्त दो बच्चा-ए शेर रा—१३
चूं शेर सियां जिंदा मानद हमी,
ज़ तो इंतक़ामे सतानद हमी—१४—
न दीगर जराअम बनाये खु.दात,
कि दीदम खुदा व कलाम .खुदात—१५
न सौगंदे तू ऐतबारे नमांद,
मरा जुज़ ब शमशीर कारे नमांद—१६
तूई गर्गे बारां कशीदा अगर,
नहम नीज़ शेरे ज़दामे बदर—१७
अगर बाज़ गुफ्त व शनीदत बमास्त,
नमायम तरा जादह पाक व रास्त—१८
बमीदां दो लश्कर सफ़ आरा शवंद,
ना जूदी बहम आशकारा शवंद—१९

मयानशा दो नरसंग रा फ़ासला..............
अजां पस दिरां अरसाए कार जार,
मन आयम जरीदा तू बादो सवार—२१
तू अज नाज़ व नेमत समर खुर्दहा,
ज़ज़ंगी जवानां व बर खुर्दहा—२२
तमहीदां बया ख़ुद बतेग़ो तबर,
ज़कुन खल्क खल्लाक जेरो जबर—२३

हिंदी में इसका अर्थ यह है—

मैं खड्ग और कृपाण के देवता के नाम पर इस पत्र को आरम्भ करता हूँ। वही बाण, बर्छे और ढाल का देवता है। १।

सबसे पहले मैं रण-योद्धाओं का स्मरण करता हूँ। उन घोड़ों का भी स्मरण करता हूँ जो हवा की तरह तेज भागते हैं। २।

जिस परमेश्वर ने तुझे यह साम्राज्य प्रदान किया उसी ने मुझे धर्मरक्षक बनाया। ३।

अपने साफल्य के लिए तुम मकर और फ़रेब का आश्रय लेते हो। मैं अपने सभी कार्यों में सत्य और स्पष्टता पर अवलंबित रहता हूँ। ४।

औरंगजेब की उपाधि तुम्हारे लिए ठीक नहीं। कारण औरंगजेब का अर्थ है, सिंहासन को सजाने वाला और ऐसे आदमी को फ़रेब से काम न लेना चाहिए। ५।

तुम्हारी तसबीह में कुछ मनके और एक धागा है, बस। ये मनके लालच के दाने हैं और धागा (सीधे-सादे लोगों को फँसाने के लिए) जाल। ६।

अपने कुकृत्यों से तुमने अपने पिता की मिट्टी को भाई के ख़ून से मिला दिया है। ७।

रक्त-मिश्रित इस मिट्टी से तुमने यह अस्थायी भवन बनाया है जिसे तू अपनी शान और साम्राज्य समझता है। ८।

जिस प्रकार वर्षा-ऋतु में आकाश में बिजली चमकती है उसी प्रकार अकाल पुरुष की कृपा से शीघ्र ही मैं (फिर) तलवार नंगी करूँगा। ९।

दक्षिण में पराजित होकर तुम निराश लौटे हो। मेवाड़ से भी तुम प्यासे आये हो। १०।

अब जब तुम मेरी ओर मुँह करोगे तो तुम्हारी भूख और प्यास का अंत सदा के लिए हो जायगा। ११।

पंजाब-प्रदेश में मैं तुम्हारे तलुओं के नीचे ऐसी आग बिछा दूँगा कि तुम्हें पानी की एक बूंद भी न मिल सके जिससे तुम जिन्दा रह सको। १२।

यदि शृगाल ने अपने मकर और फ़रेब से शेर के दो बच्चों को मार दिया है तो क्या हो गया। १३।

बड़ा शेर तो अभी जीवित है। वह व्यक्तिगत रूप से तुमसे बदला लेगा। १४।

जब तुम ख़ुदा का नाम लेते हो तो मुझपर इसका कुछ असर नहीं होता। मैंने देख लिया है कि तुम्हारा ख़ुदा क्या है और तुम्हारे ख़ुदा के शब्दों को भी मैं जानता हूँ। १५।

तुम्हारी सौगन्दों पर मुझे (अब) कोई विश्वास नहीं। खड्ग के सिवाय मुझे अब किसी पर भरोसा नहीं। १६।

तू अनुभवी गीदड़ है। (तुम्हारे मुक़ाबले के लिए) मैं अपने पिंजरे से शेर छोड़ूंगा। १७।

अब जब हमको एक दूसरे के आमने-सामने खड़े होने का अवसर मिलेगा तब, सच कहता हूँ, सत्पथ पर चलने के लिए तुम्हारा मार्ग दर्शन करूँगा । १८ ।

(और यह है *मार्ग-दर्शन* ।) युद्ध-क्षेत्र में ,मेरी और तुम्हारी सेनाएँ सजकर खड़ी हो जायँ जिससे वे एक-दूसरे के सामने हों । १६ ।

और उन दोनों सेनाओं के बीच दो फरलांग की दूरी हो ।......... । २० ।

तत्पश्चात् इस युद्ध-क्षेत्र में तुम्हारा मुक़ाबला करने के लिए मैं अकेला आगे बढ़ूँगा जब कि तुम अपने दो सवारों के साथ आ सकते हो । २१ ।

तुम राजकुमारों की तरह भोग-विलास में पले हो । सच्चे सैनिक से तुम्हें अभी तक पाला नहीं पड़ा । २२ ।

रण में अपनी कृपाण और तलवार लेकर आना । (अपनी आकांक्षाओं के लिए) निर्दोष लोगों को मत मारो । २३ ।

परिशिष्ट क

महाराज रणजीतसिंह का मृत्यु-दल

मुलतान का नवाब मुजफ्फरखाँ महाराज रणजीतसिंह को राजस्व देता था। परन्तु ऐसा मालूम देता है कि राजस्व देने में वह नियम का पालन न करता था। इसी कारण महाराज को उसके विरुद्ध कई बार अपनी सेना मुलतान भेजनी पड़ी। एक बार के हमले का रोचक वर्णन 'रणजीत-चरित' में यों दिया है—

जब मुलतान पर चढ़ाई की गई तब नवाब भी मुक़ाबले के लिए मैदान में निकला। पहले बंदूकों और तोपों से अग्नि बरसती रही, फिर दिन ढलते ही तलवार चलने लगी। बड़ा घोर युद्ध हुआ। लाशों के ढेर लग गये। अन्त में नवाब की सेना के पाँव उखड़ गये। वह भाग कर क़िले में जा छिपा। २५ फ़रवरी को मुलतान नगर पर रणजीतसिंह का अधिकार हो गया।

अब क़िले पर गोलाबारी शुरू हुई। पर इसका कुछ भी प्रभाव न पड़ता मालूम हुआ। तब महाराज ने कहा कि हमारी सेना में से कुछ ऐसे आत्म-त्यागी वीर निकलें जो क़िले के नीचे जाकर उसकी दीवार में सुरंगें लगा दें ताकि उनमें बारूद भर कर दीवार को उड़ा दिया जाय। तभी सेना क़िले में प्रवेश कर सकेगी।

परन्तु सुरंगें लगाने का कार्य आसान न था। वहाँ से जीते बचकर लौटने की कोई आशा न थी। महाराज ने अपनी

सेना से कहा—"मेरे प्यारे वीरो, इस तरह पड़े रहने से यह क़िला सर न होगा। इसे सर करने के लिए मुझे थोड़े-से निडर योधाओं की आवश्यकता है। ऐसे योधाओं को जो धर्म के निमित्त अपने सीस की बलि देने पर तैयार हों। वे आप मर कर दूसरों को जीवन दान दे सकेंगे।"

महाराज के ये शब्द सुनते ही कई योधा सामने आ गये। उनमें सबसे आगे वीर हरिसिंह नलवा थे। उनके उत्साह को देखकर स्वयं महाराज को भी जोश आ गया। वे भी दौड़कर उन वीरों की पंक्ति में जा खड़े हुए। इसपर वीर हरिसिंह ने कहा—"महाराज, सेवकों के होते हुए स्वामी का अपने आपको संकट में डालना उचित नहीं। यदि हम वीर-गति को प्राप्त हुए तो हमारे जैसे और कई सैनिक उत्पन्न हो सकते हैं। परन्तु परमात्मा न करे, यदि महाराज का बाल भी बाँका हो गया तो संसार में पंजाब-केसरी का जन्म बार-बार न होगा।" इस प्रकार सरदारों के मना करने पर ही महाराज लड़ाई में जाने से रुके।

इस घटना से सारी सेना में उत्साह का समुद्र ठाठें मारने लगा। वीर हरिसिंह, सरदार निहालसिंह और सरदार अतरसिंह के अधीन पचहत्तर मनचले योधा तैयार होकर बाहर निकले। हर एक नवयुवक महाराज के सामने विजय-घोष करता और महाराज उसकी पीठ पर थपकी देकर उसे बिदा करते।

देश-प्रेम से मतवाले इन वीरों का जत्था मस्त हाथियों के समान क़िले की तरफ़ बढ़ा। इनको आते देखकर नवाब की सेना ने इनपर गोलियों की वर्षा आरम्भ कर दी। परन्तु ये शेर गोलियों की परवाह न करते हुए क़िले की ओर बढ़ते ही चले गये। क़िले तक पहुँचने में इनमें से कई बहादुर

गोलियों का निशाना बन कर वीर-गति को प्राप्त हुए। जो बचे उन्होंने दीवार के पश्चिमी बाजू में सुरंग खोदकर बारूद भर दिया। लेकिन पलीते को आग लगाने से पहले उन्हें दीवार से काफ़ी दूर हट जाने का ध्यान न रहा। उन्होंने मन में संकल्प कर रखा था कि दीवार में सूराख़ हो जाने पर सबसे पहले वही क़िले में प्रविष्ट होंगे। परन्तु हुआ क्या? आग लगते ही एक भारी धमाके के साथ दीवार का बहुत-सा मलबा बहादुरों के इस मृत्यु-दल के तीन वीरों—हरिसिंह नलवा, निहालसिंह और अतरसिंह—पर आ गिरा। तीनों बहुत बुरी तरह से घायल होकर भूमि पर गिर पड़े। उसी समय उनपर मुसलमानों ने राल से जलती हुई हाँडियाँ क़िले पर से फेंकीं। एक हाँड़ी वीर हरिसिंह पर आ पड़ी जिससे उनका शरीर झुलस गया। ठीक उसी समय एक हिन्दू नवयुवक की नज़र उनपर पड़ी। वह दौड़कर उनके पास पहुँचा। उनकी वर्दी फाड़कर उसने आग बुझा दी। फिर उनके घायल शरीर को अपनी पीठ पर लादकर गोलियों की वर्षा में से बाहर निकाल ले गया। इस प्रकार निहालसिंह और अतरसिंह को भी उनके बहादुर साथियों ने उठाकर छावनी में पहुँचा दिया; परन्तु वहाँ पहुँचने से पूर्व ही प्राण त्याग दिये।

महाराज रणजीतसिंह अपने सवार लिये खड़े ही थे। दीवार के गिरते ही उन्होंने धावे की आज्ञा दे दी। वीर सैनिक तुरन्त क़िले की ओर दौड़ पड़े। उधर तोपख़ाने ने गोला बरसाने शुरू कर दिये। तोपों की मार से क़िले का दरवाज़ा टुकड़े-टुकड़े हो गया।

क़िले में हिंदू सेना के प्रविष्ट होते ही नवाब का सारा साहस भंग हो गया। उसने सफ़ेद झंडा दिखा कर हार मान ली। तत्पश्चात् उसने ढाई लाख रुपया और पच्चीस

बहुमूल्य घोड़े प्रति वर्ष महाराज को देना स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त विद्रोह न करने का वचन देकर उसने अपने बह-नोई अबूबकर को जमानत के रूप में लाहौर रखने के लिए प्रस्तुत कर दिया।

पंजाब के इस युग के इतिहास में आत्महत्या के लिए इस प्रकार तैयार होनेवाले हिंदू वीरों का यह मत्यु-दल एक दृष्टि से निराला था। योरप तथा शांत महासागर के गत महा-युद्ध में ऐसे कई उदाहरण सुनने तथा पढ़ने में आये हैं। इससे पूर्व बहुत कम सैनिकों को इस बात का गर्व प्राप्त हुआ है।

परिशिष्ट ख

वीर हरिसिंह और पठान

संत सूरजसिंह ने 'चमकदे लाल' में लिखा है कि हरिसिंह नलवा एक बार शिंकयारी से दूर जंगल में डेरा डाले पड़े थे कि एक हिंदू नवयुवक ने आकर अपनी करुणामय कथा सुनाई। (शिंकयारी वर्तमान ऐबटाबाद से कुछ मील दूर है।) उसका दादा इलाके भर में धन के लिए बहुत प्रसिद्ध था। नवयुवक का विवाह एक सुन्दरी युवती से हुआ था। उसे डोले में बिठाकर वह अपने रिश्तेदारों के साथ गाँव को ला रहा था कि मिचनी के खान (मुसलमान सरदार) ने उन सबको घेर लिया। उनसे कहा गया—"इस नव-विवाहिता सुन्दरी को मिचनी के ख़ान के महल में दाखिल करो, क्योंकि यह हजारी ख़ान की बेगम बनने योग्य है। तुम कंगालों के यहाँ इसकी क्या क़द्र होगी। ख़ान के पास स्वर्ग भोगेगी। तुमको इससे इनकार नहीं करना चाहिए बल्कि तुम भी इसलाम में आकर सुख प्राप्त करो और पठानों के साथ रोटी-बेटी का व्यवहार करो।"

नवयुवक का दादा यह सुनकर काँपने लगा। वह जमीन पर गिर पड़ा। पठान सवार ने डोले में हाथ डाल कर दुलहन को खींच लिया और अपने घोड़े पर बिठला कर दौड़ गया। बुड्ढे दादा को साथ लेकर दूल्हा और उसके साथी मिचनी के ख़ान के क़िले में पहुँचे और कहा—"यदि हमने कोई कसूर किया है तो क्षमा किया जाय। यदि रुपये की

जरूरत है तो हम बहू के बराबर तौल कर देने को तैयार हैं। प्रजा की लड़कियाँ आपकी बेटियाँ हैं। हमारी बहू हमें वापस दे दी जाय।"

सरदार ने देखा कि ये बहुत धनवान् हैं। उन्हें लूटने के पश्चात् क़ैद में डाल दिया गया। पहरेदारों को घूँस देकर नवयुवक किसी तरह वहाँ से भाग आया।

यह वृत्त सुनकर नलवा ने उसी रात महासिंह आदि एक सौ सवारों को साथ लेकर मिचनी के ख़ान के क़िले के गिर्द घेरा डाल दिया। ख़ान के पास संदेश भेजा कि उस हिंदू की नवविवाहिता स्त्री को वापस दे दो। वह न माना। क़िले से पाँच सौ सवार लेकर वह बाहर निकला। घोर संग्राम होने लगा। दो घण्टे तक खूब गुत्थमगुत्था युद्ध हुआ। हिंदुओं की तलवारों तथा कृपाणों ने पठानों का जोश ठण्ढा कर दिया। वे पीठ दिखाने लगे। तब ख़ान का स्वयं हरिसिंह से युद्ध हुआ। हरिसिंह ने उसे वार करने को कहा। ख़ान ने एड़ियों के बल ऊँचा हो कर हमला किया। इसे नलवा ने ढाल से रोक लिया और कहा—"दूसरा वार भी तुम्हारा है।" उसका दूसरा वार भी नलवा ने रोक लिया। अब नलवा की बारी थी। उन्होंने पहले ही वार से पठान सरदार के दो टुकड़े कर दिये। पठानों में भगदड़ मच गई। हिंदू ललना को निकालने के बाद क़िले को गिरा दिया गया। नवयुवक का नाम दुष्ट-दमन सिंह रक्खा गया।

हरिसिंह नलवा हज़ारा के शासक थे। उन्हें महाराज रणजीतसिंह का आदेश पहुँचा कि डेरा ग़ाज़ीखाँ और डेरा इस्माईलख़ाँ जाकर मालिया वसूल किया जाय। नलवा डेरा की ओर चल पड़े। वे अपने लड़के गुरदित्तसिंह को हरिपुर का क़िलादार और हर्षसिंह को उसका सहायक नियुक्त कर

गये। यह देख कर मुहम्मदखाँ अफ़ग़ान ने विद्रोह कर दिया। वह कृष्णगढ़ के क़िले के गिर्द घेरा डालने की तैयारी करने लगा।

हर्षसिंह को भंग पीने की आदत थी। भंग पीकर वह मस्त पड़ा रहता परन्तु इस अवसर पर उसने शत्रु को क़िले के नज़दीक फटकने भी न दिया। तो भी इर्द-गिर्द का सारा इलाक़ा बिगड़ बैठा था। जहाँ कहीं हिन्दू आबाद थे उन्हें पठानों ने लूट लिया। वे हिंदुओं के बाल-बच्चों को पकड़ कर ले गये। बूढ़ी स्त्रियों और नन्हीं बच्चियों को तो उन्होंने रुपया लेकर छोड़ दिया, युवतियों को उन्होंने क़ैद में रख लिया। ऐसी घटना शहर शिक्यारी में विशेष रूप से हुई।

यह समाचार सुनकर हरिसिंह हज़ारा पहुँचे। शत्रु पर उन्होंने ऐसा आक्रमण किया कि अफ़ग़ानों के छक्के छूट गये। कई हज़ार मारे गये। कई हज़ार शिक्यारी की एक मसजिद में जा छिपे। उस स्थान को आग लगा कर शत्रु को अंदर ही अंदर भून दिया गया। जो बच कर भागे उन्हें तलवार से काट दिया गया।

जिन हिंदू स्त्रियों को पठानों ने पकड़ लिया था वे अभी ज़िंदा थीं। पखली या अंगरूद के गिर्द बहुत-से पठान एकत्र हो रहे थे। एक प्रातः उन्हें चुपचाप घेर लिया गया। नलवा के पास उस समय केवल पाँच सौ सवार थे। छोटा-सा संग्राम हुआ। पठान ठहर न सके। हरिसिंह ने एक हज़ार पठान स्त्रियाँ और बच्चे पकड़ लिये। फिर शिक्यारी में आ कर उन्होंने यह घोषित किया कि यदि पठान एक हिंदू स्त्री को छोड़ देंगे तो हम उसके बदले में दो पठान स्त्रियाँ मुक्त कर देंगे। तब पठानों ने सभी हिंदू नारियों को छोड़ दिया। नलवा के सैनिकों ने इनमें से हर एक को उसके माता-पिता के पास पहुँचाया।

परिशिष्ट ग

वीर हरिसिंह और ख़ैबर

एक इतिहासज्ञ के ये वाक्य बहुत सुन्दर हैं—"वीर-श्रेष्ठ हरिसिंह ने सचमुच उलटी गंगा बहा दी। उत्तर-पश्चिम से पंजाब और शेष भारत पर सदियों तक आक्रमण होते रहे हैं। आक्रमणों की इस नदी को हरिसिंह ने कान से पकड़ा और पंजाब से उत्तर-पश्चिम को ले गये।"

इसके महत्त्व पर विचार करने से कई ऐसी बातें मालूम होती हैं जिन पर साधारणतया हिंदुओं ने बहुत कम ध्यान दिया है।

महाराज रणजीतसिंह ने अफ़ग़ानों के हमलों को रोकने के लिए दर्रा ख़ैबर के पास ही जमरोद में सन् १८३६ में एक क़िला बनवाया। इसकी दीवारें चार गज़ चौड़ी और बारह गज़ ऊँची थीं। इसमें ८०० सैनिक, २०० सवार, ८० तोपें और बहुत-सी युद्ध-सामग्री रखी गई। हज़ारा से सरदार महांसिंह को बुला कर इसका क़िलेदार नियुक्त किया गया।

क़िले में पानी का कष्ट था। लोग ख़ैबर की ओर से आनेवाली नहर से पानी लेते थे। परन्तु इस पर भरोसा न हो सकता था। इस कारण क़िले के अन्दर कुआँ खोदा गया। ख़ैबर के अफ़रीदियों को बारह सौ रुपया वार्षिक दिया जाता था कि वे इस नहर को कभी बन्द न होने दें। जमरोद और पेशावर के दरमियान बुर्ज-हरिसिंह के अतिरिक्त कई छोटे-छोटे क़िले भी बनाये गये ताकि पठानों को क़ाबू में रखा जा सके।

इन क़िलों और नाकाबन्दियों को देखकर अफ़ग़ानिस्तान का अमीर दोस्त मुहम्मदख़ाँ घबरा गया। उसे डर पैदा हुआ कि अब हिंदू जलालाबाद और कन्धार पर आक्रमण करेंगे। स्वयं उसे सेनानायक हरिसिंह के सामने आने का साहस न था। उसने दरबार कर के इसलाम के नाम पर काफ़िरों से लड़ाई करने के लिए अफ़ग़ानों को उकसाया। सब से पहले उसने अपने पाँच लड़के इस मजहबी युद्ध के लिए दिये। इससे सब जगह जोश फैल गया। अफ़ग़ानिस्तान का कोई घर भी न बचा जिसने एक सैनिक न दिया हो।

१५ एप्रिल, १८३७, को अमीर की बड़ी सेना लेकर नवाब-सललनन मिर्ज़ा समीख़ाँ लंडीखाना पहुँचा। यहाँ उसने सभी अफ़रीदी घरानों को बुला कर उनमें रुपया बाँटा। वे सभी उसके साथ हो गये। जमरोद पर हमला होने लगा।

सेनानायक हरिसिंह काम अधिक होने से थक गये थे। वे पेशावर में थे। कुछ दिन से उन्हें ज्वर आ रहा था। वैद्य उन्हें आराम करने को कहते थे। लाहौर में कुँअर नौ निहाल सिंह का ब्याह था। इस कारण पेशावर की हिंदू सेना लाहौर चली गई थी। नलवा ने जब सुना कि दोस्तमोहम्मद हमले के लिए आ पहुँचा है तब जवाबी तैयारी शुरू कर दी। एक साँडनी-सवार लाहौर दौड़ाया कि महाराज पेशावर की सेना लौटा दें; परन्तु ३० एप्रिल तक कोई उत्तर न आया।

अफ़ग़ान फ़ौज लंडीखाना से जमरोद पहुँच गई। २८ एप्रिल को उसने क़िले पर गोलाबारी शुरू कर दी। महाँसिंह भी तोपों से जवाब देने लगा। दिन भर के संग्राम के बाद अफ़ग़ान एक इंच भी आगे न बढ़ सके। रात को दोनों ओर

की सेनाएँ आराम करने लगीं। दूसरे दिन अफ़ग़ान बार-बार हल्ला करते; परन्तु हिन्दू केवल एक हज़ार थे और अफ़ग़ान तीस हज़ार। अन्त में अफ़ग़ानों ने क़िले को घेर लिया। क़िले में जानेवाली नहर को अफ़ग़ानों ने काट डाला और क़िले की दीवार में तोपों से एक सूराख़ भी कर दिया। मुहम्मद अफ़-ज़ल ने क़िले के अन्दर जाने का निश्चय किया। परन्तु मिर्ज़ा ने कहा—"क्यों मौत के मुँह में जाते हो? हिन्दुओं को घेरे में लेकर भूखा मारना ही बेहतर है।"

रात को महासिंह ने सरदारों की सभा बुलाई और कहा—"बाहर के साथ हमारा सम्बन्ध टूट चुका है। करतार की यही इच्छा है कि देश की ख़ातिर प्राणों की आहुति देकर हम लोग अपने नाम अमर कर जायँ। प्रभु ने बलिदान का अवसर दिया है। पूर्वजों का स्मरण करके शत्रु को वह हाथ दिखाओ कि वह कभी न भूले। अब पहले रेत को बोरियों से दीवार ठीक करदो, फिर एक नवयुवक सेनानायक हरिसिंह को यहाँ का हाल पेशावर में पहुँचावे।"

क़िले की दीवार डेढ़ पहर में ठीक कर दी गई। 'रणजीत-चरित' के लेखक श्री सन्तराम के अनुसार महासिंह ने सैनाना-यक नलवा को यह पत्र लिखा —

"श्रीमान् परम कृपालुजी, सहविनय फ़तह स्वीकार करें। अगणित तुर्क क़िले का घेरा डाले पड़े हैं। आज भयानक युद्ध हुआ, पर वे क़िला न ले सके। यह सब आपका प्रताप है। अब सवेरे यदि सहायता न पहुँची और पानी का प्रबन्ध न हुआ तो क़िले की कोई आशा न रखें।

२२ बैशाख, १८६४। आपका सेवक महासिंह।"

चिट्ठी को पेशावर कौन पहुँचावे? चारों ओर से तो अफ़ग़ानों ने घेर रखा था। कई बार पूछा गया, पर किसी की

हिम्मत न हुई। जब निराशा छा गई तब रसोई बनानेवाली महरी शरणकौर बोली—"आपकी वीरता देखकर कौन आपका हाथ न बटायेगा। मुझे इजाजत हो तो मैं भी कुछ सेवा कर जन्म सफल करूँ। यह चिट्ठी पहुँचाने का काम करने को मैं तैयार हूँ। शत्रु की भीड़ को चीरकर इसे ठिकाने पहुँचाना भगवान् के हाथ में है परन्तु मेरा शरीर इसके लिए प्रस्तुत है। यदि प्रातः चार बजे तक पेशावर से तोप चलने की आवाज़ आ जाय तो समझ लें कि मैं पहुँच गई।"

चिट्ठी उसे दे दी गई। उसने वह कमर से बाँध ली। प्रभु से प्रार्थना करने के पश्चात् उसने एक पोस्तीन उलटा करके पहन लिया जिससे बाल ऊपर हो गये। अब हाथ-पाँव के बल वह कुत्ते की तरह चल पड़ी। धीरे से फाटक खुला और वह बाहर हो गई। आहट पाकर सात पठान उधर लपके। लेकिन कुत्ता झाड़ियाँ सूँघता निकल गया। अब केवल एक पहर रात शेष रह गई थी।

आग का समुद्र चीर कर वह वीर क्षत्राणी पेशावर पहुँची। सेनानायक नलवा ज्वर के कारण लेटे पड़े थे। पत्र पढ़कर उन्होंने दस हज़ार सेना जमरोद भेज दी। महांसिंह की चिट्ठी पर सिफ़ारिश लिखकर उसे लाहौर रवाना कर दिया गया। प्रातः तीन बजे पेशावर से तोप चली। जमरोद के हिन्दू वीरों का साहस दुगुना हो गया। अभी सूर्य का उदय नहीं हुआ था कि स्वयं सेनानायक नलवा जमरोद आ पहुँचे। वे अफ़ग़ानों पर टूट पड़े। दो बार हमला किया गया। परन्तु अफ़ग़ान दीवार के समान डटे रहे। तीसरे हमले में उनके पाँव उखड़ गये। भगदड़ मच गई। मिर्ज़ा समीखाँ और मुहम्मदखाँ घायल हुए। मुहम्मद अफ़ज़लखाँ, मुहम्मद आज़मखाँ

और ज़रीख़ाँ की सेनाएँ नष्ट कर दी गईं। नलवा का नाम पठानों के लिए हौआ था। जब उन्हें पता लगा कि स्वयं नलवा लड़ रहे हैं तो वे अपनी चौदह तोपें छोड़कर भाग गये। इनमें से एक कोह-शिकन या पर्वत-तोड़ तोप भी थी।

निधानसिंह भगौड़ों को मारता हुआ खैबर में दूर तक चला गया। इतने में शमसुद्दीनख़ाँ दो हज़ार सैनिक लेकर आ पहुँचा। निधानसिंह से लड़ाई होने लगी। नलवा एक गुफा के निकट खड़े हो कर लड़ाई का रंग देखने लगे। गुफा से एक गोली निकलकर उनके शरीर-रक्षक अजायबसिंह को लगी। वह ठण्ढा हो गया। अब नलवा गुफा की ओर बढ़े। पठानों ने अन्दर से दो गोलियाँ छोड़ीं। एक नलवा के पेट में लगी, दूसरी पसलियों में। इस पर हिन्दू वीरों ने गुफा को घेर कर सभी पठानों के टुकड़े-टुकड़े कर दिये।

नलवा अपने घोड़े को दौड़ा कर जमरोद पहुँचे। उन्हें दो आदमियों ने घोड़े से उतारा तो सभी के दिल काँप उठे। घावों से फुहारे छूट रहे थे।

निधानसिंह को अमरसिंह ने सहायता पहुँचाई। रात होते ही पठान भाग गये। वे इतने डरे कि फिर जमरोद या पेशा-वर की ओर मुँह न किया।

ख़ून ज्यादा बह जाने से नलवा बहुत कमज़ोर हो गये। यदि ख़ून बाहर से डाला जाता तो वे बच जाते। उनकी अवस्था देखकर सभी दुखी थे। उनके दर्शन के लिए विभिन्न सरदार उनके पलँग के पास एकत्र हुए। शेर ने कहा—"प्रिय बन्धुओ, यह नश्वर शरीर आज शायद आत्मा से पृथक् हो जायगा। आपने जिस वीरता से इस क़िले और राज्य के मान की रक्षा की है उसके लिए बधाई देता हूँ। एक बात सुन लें।

जब तक महाराज की सेना न आ पहुँचे तब तक इस क़िले से विजय का झण्डा लहराये रखें। आठ सौ बरस के बाद अपने अपने उस प्रदेश को पठानों से वापस लिया है जो जयपाल के समय में हिन्दू राष्ट्र से छिन गया था।"

वे कुछ और कहना चाहते थे कि हृदय की गति बन्द हो गई। जिस नरकेशरी की दहाड़ से सारा अफ़ग़ानिस्तान काँपता था, जिस वीर का नाम लेकर पठान माताएँ अपने बच्चों को डराया करती थीं (और हैं), जिस सच्चे क्षत्रिय ने हिन्दू शक्ति तथा वैभव को चार चाँद लगा दिये वह सदा की नींद सो गया।

३० एप्रिल, १८३७, को आधी रात के समय नलवा का अन्तिम संस्कार किया गया। परन्तु जब तक लाहौर से सहायता न पहुँची तब तक क़िले से बाहर यह ख़बर न निकली।

बाद में कुछ फूल जमरोद में गाड़ कर समाधि बनाई गई। शेष को लेकर श्रीमती देसाँ ने गुजरांवाला में समाधि बनाई जहाँ से स्फूर्ति लेने आज भी वीर पुरुष जाया करते हैं।

महाराज रणजीतसिंह ने नलवा का मृत्यु-संवाद सुना तो रोने लगे। वे स्वयं सेना लेकर ख़ैबर को गये। पठान यह समाचार सुनकर क़ाबुल जा पहुँचे।

परिशिष्ट घ

पंजाब के कुछ वर्तमान मुसलमान घराने

सर सिकंदर हयात के समान पंजाब के भूतपूर्व प्रधान मंत्री खिज़र हयात खाँ जात के टिवाना हैं। वायसराय के एग्जेक्टिव कौंसिल के भूतपूर्व सदस्य फ़ीरोज़खाँ तो अपने नाम के साथ ही नून लिखते हैं। ये टिवाने, नून आदि कहाँ से आये और कब, किस प्रकार मुसलमान बने ?—इस विषय पर 'पंजाब चीफ़्स'-नाम की पुस्तक प्रकाश डालती है।

ज़िला गुजरांवाला में चक-नाम के जनपद या क़बीले के बहुत-से गाँव हैं। असल में ये चौहान राजपूत थे। तीन सौ बरस हुए, देहली से पंजाब आये। सन् १६०० में उनका एक नेता गागू पतित हो कर मुसलमान बन गया। बस, तत्पश्चात् सारा समुदाय पतित हो गया।

ज़िला गुजरात में चिभ लोग आबाद हैं। इनका संबंध काँगड़ा के राजपूतों से था। उनके साथ इनकी ब्याह-शादियाँ हुआ करती थीं। उनका एक नेता उदयचंद सन् १४०० में काँगड़ा से आकर भिंबर में रहने लगा। उसका विवाह राजा श्रीमत की लड़की से हुआ। वह अन्य आत्मीयों का वध करके स्वयं राजा बन गया। जब बाबर ने पंजाब पर हमला किया तब वह बाबर से जा मिला। स्वधर्म से पतित होकर उसने बाबर से राज्य प्राप्त किया।

कैलाश अपने आपको राजा जयपाल के वंशज बतलाते

हैं। ग्यारहवीं शताब्दी में महमूद ग़ज़नवी के आक्रमण के समय ये पतित होकर मुसलमान बन गये।

ज़िला शाहपुर के टिवाना तथा घेब" और ज़िला झंग के सियाल एक ही नसल की शाखाएँ हैं। इन सब का पूर्वज रामशंकर धावन का राजपूत था। धावन नगर प्रयाग और जयपुर के दरमियान स्थित था। पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में ये लोग पंजाब में आये और पतित होकर मुसलमान बन गये।

ज़िला शाहपुर के क़बीले नून का पूर्वज गंज राजपूत था। पंजाब में आने पर इनका संबंध टिवानों के साथ हो गया। इस प्रकार ये भी पतित हो गये।

खोखर लोग ज़िला झेलम में पाये जाते हैं। ये पिंडदादन-खाँ और अहमदाबाद में आकर आबाद हुए। पहले राजपूत थे। झेलम में आकर गक्खड़ और जंजोएँ क़बीले से ब्याह-शादियाँ करते हुए पतित हो गये।

जंजोएँ राजपूत थे। अपने एक नेता अजामोल के साथ सन् १५०० से पूर्व पंजाब में आये। इनका राज्य रावलपिंडी से मुलतान तक फैला हुआ था। इनका पूर्वज राजमल था। यह अपने आप को पांडवों का वंशज बतलाता था। इनका संबंध राठौर राजपूतों से था। सन् ८६० में ये लोग जोधपुर और कन्नौज से निकलकर पंजाब आये। यह सुन कर कि पांडवों ने झेलम की उत्तरी पहाड़ियों में छिप कर आश्रय लिया था, राजमल इन पहाड़ियों की ओर आया और एक नगर राजगढ़ आबाद किया जिसका नाम बाद में मलोट हो हो गया। ग़ज़नी के महमूद ने एक हमले के समय यहाँ के राजा को बुला भेजा। परन्तु उसने विदेशी के पास जाने से

इनकार कर दिया। यह महमूद ने उसके विरुद्ध अपनी सेना भेजी और उसे पराजित करके गिरफ्तार कर लिया। अपने प्राण बचाने के लिए राजा स्वधर्म से पतित हो गया। क्योंकि उसने 'जंजू' (यज्ञोपवीत) तोड़ा था इस कारण उसके सारे जनपद का नाम जंजोएँ पड़ गया। राजमल के लड़के की दो शाखाएँ भखियाला और मावनवाला में आबाद हुइ।

रावलपिंडी और झेलम का जनपद गक्खड़ बड़ा शक्ति-संपन्न था। ये लोग सदा एक ही सरदार के राज्य में रहे। अवान, खट्टर, गूजर और जंजोएँ परस्पर लड़ते रहते थे। परन्तु गक्खड़ों के दर्रामयान कभी लड़ाई नहीं हुई। इन्होंने एक बार तिब्बत पर आक्रमण करके उस पर अधिकार भी कर लिया। काश्मीर पर इन्होंने तेरह वर्ष तक राज्य किया। गजनी के महमूद के समय इनके एक सरदार ने पंजाब के बड़े भाग पर क़ब्जा कर लिया। जब शहाबुद्दीन गोरी ने पंजाब पर हमला किया तब उसने इस क़बीले को दबाना चाहा और इसकी बड़ी संख्या को क़त्ल कर दिया। जब शहाबुद्दीन वापस गया तब रास्ते में सिंध के किनारे तंबुओं में ठहरा। गरमी के कारण तंबुओं के परदे हटा दिये गये थे। अब कुछ गक्खड़ आये। उन्होंने विदेशी आक्रमणकारी के पहरेदार को क़त्ल किया और शहाबुद्दीन को चौबीस घाव लगाये, पर वह मरा नहीं। (कई गक्खड़ों को बलात् पतित करके मुसलमान बनाया गया।)

ज़िला अटक का जोधरा जनपद वास्तव में राजपूत था। महमूद के हमले के समय से ये लोग पतित होकर मुसलमान बने। ये जम्मू में भी जाकर आबाद हुए। इस ज़िले के खट्टर और अवान जनपद भी एक समय हिंदू थे। चौधरी भी एक राजपूत क़बीले से थे। चौदहवीं शताब्दी में ये पंजाब आये।

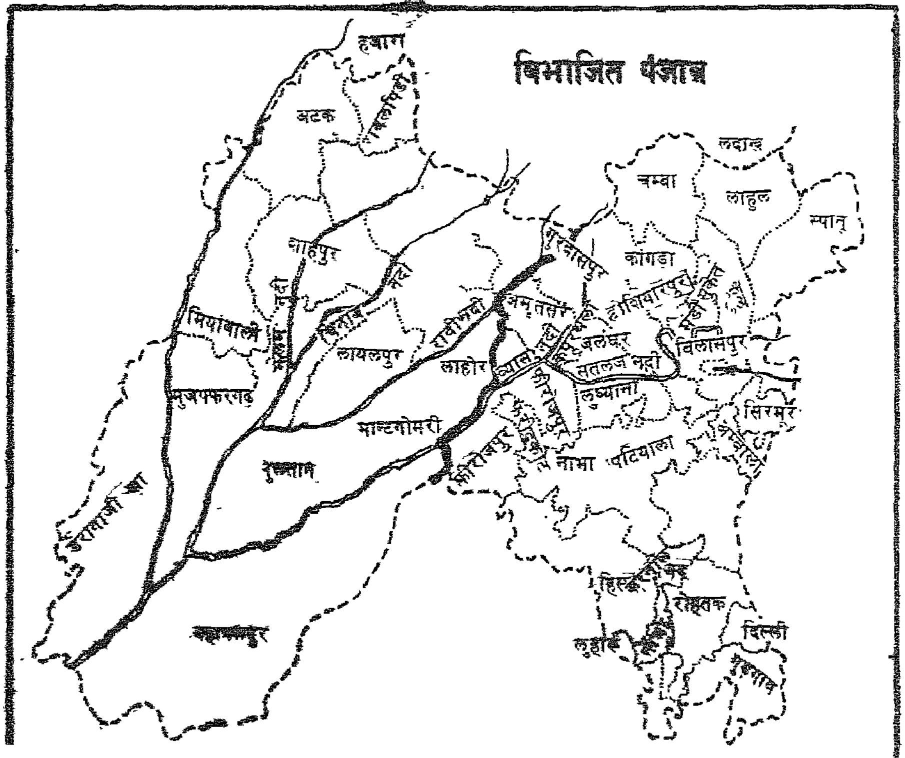
ख़ुशाब और तलागंग की तहसीलों में फिरते रहे। अंत में फतहजंग की तहसील में आकर आबाद हो गये। इनके साथ दूसरा क़बीला बंधियाल भी राजपूत था।

लायलपुर और झंग के ज़िलों में एक क़बीला खरल है। ये लोग अपने आप को राजाकर्ण की संतान बतलाते हैं जो हस्तिनापुर के चन्द्रवंशी घराने से था। मुसलमान बन कर ये बड़े मतांध और हिन्दू राज्य के विरोधी हो गये। इन्होंने लूटमार को अपना पेशा बना लिया। इनके एक पूर्वज खयाल जासिन ने सोलहवीं शताब्दी में कोट कमालिया की नीव रखी।

सियाल जिला झंग में आबाद हैं। इनका पूर्वज रामशंकर १२३० में जोनपुर आ गया। उसके घराने में झगड़े पैदा हो गये जिससे उसका लड़का सियाल १२४३ में पंजाब चला आया। निचले प्रदेश में तब कोई अमन-क़ानून न था। इस कारण खरल, टियाना, घेबा, नून आदि बहुत-से क़बीले वहाँ से चलकर पंजाब आ गये। सियाल पाकपटन आया। बाबा फ़रीद ने उसे पतित कर मुसलमान बनाया। वहाँ से वह सियालकोट पहुँचा जहाँ उसने एक क़िला बनवाया। सियाल की छठी पीढ़ी के जयपाल ने १३८० में मंकीर आबाद किया। वहाँ से चलकर १४४६ में मलख़ाँ ने झंग-सियाल आबाद किया।

मुलतान का क़बीला वाह पनवारगोत्र का राजपूत था। अपने आप को ये लोग चंद्रवंशी घराने के राजा श्रीखण्ड की संतान बताते हैं! तीस पीढ़ियों तक यह क़बीला हिन्दू रहा। तब इसका एक सरदार तकीख़ाँ पतित होकर मुसलमान बना। उसके एक उत्तराधिकारी संगरख़ाँ ने उछवाड़ (रियासत बहावलपुर) से चलकर ख़ानेवाल आबाद किया।

नहार भी राजपूत थे। ये जिला डेरागाजीख़ाँ के शहर राजनपुर और जामपुर में आबाद हुए।


विभाजित पंजाब
हजारा
अटक
लद्दाख
चम्बा
लाहुल
कांगड़ा
गुरदासपुर
अमृतसर
होशियारपुर
जलंधर
बिलासपुर
सतलज नदी
लुध्याना
सिरमूर
लाहौर
रावी नदी
लायलपुर
शाहपुर
मियांवाली
मुजफ्फरगढ़
मान्टगोमरी
मुल्तान
फीरोजपुर
नाभा
पटियाला
अम्बाला
हिसार
रोहतक
दिल्ली

पाकिस्तान बनने से पूर्व और बाद में

कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर कलाकार तो थे ही, विचारक भी वे उच्च कोटि के थे। देश की विभिन्न समस्याओं के विषय में उनके विचार मननयोग्य हैं। हिन्दू-मुस्लिम-समस्या के विषय में उन्होंने एक बार कहा—"हिन्दू-मुस्लिम एकता के विषय में जो कुछ मैं कहूँगा वह आप को पसन्द न होगा। आप लोग उन व्यक्तियों से बहुत जल्दी नाराज़ हो जाते हैं, जिनका आप से मतभेद होता है। हिन्दू-मुस्लिम-एकता का प्रश्न बहुत पेचीदा है, क्योंकि इस देश में जितने लोग रहते हैं उनकी गणना मानव या भारतीय के रूप इसमें नहीं प्रत्युत हिन्दू, मुसलमान आदि के रूप में होती है। और हम इसमें ऐसे फँस गये हैं कि इससे निकलना कठिन प्रतीत होता है। लोग कहते हैं कि हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिए सम्मिलित चुनाव बहुत आवश्यक है। मानो सम्मिलित चुनाव के होते ही राजनीतिक एकता हो जायगी। परन्तु मेरी समझ में नहीं आता कि इस प्रकार वोटों से बने सदस्य किस प्रकार एक-दूसरे के निकट आ सकते हैं जब कि हमारे हृदयों में वास्तविक परिवर्तन नहीं उत्पन्न होता। मुसलमानों की सामाजिक व्यवस्था ऐसी है कि वे परस्पर एक होकर रह सकते हैं और अपने मजहब वाले के लिए सब-कुछ कर सकते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम इस समस्या के अन्तस्तल में जाने का प्रयत्न करें, क्योंकि जब तक अंतस्तल में न जायँगे, इसको हल न कर सकेंगे और राजनीतिक एकता असम्भव रहेगी। जब तक मुसलमानों से हृदय साफ नहीं हो जाते तब तक हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न सम्मिलित चुनाव से हल न होगा।"

यहाँ पर स्वाभाविकतया ये प्रश्न उठते हैं—यह समस्या

उत्पन्न कैसे हुई ? क्या यह अँगरेजों के आने से पूर्व यहाँ विद्यमान थी ? थी तो किस रूप में ?

महाराज रणजीतसिंह जब पंजाब में राज्य कर रहे थे तब उनके दरबार में हिन्दू और मुसलमान, दोनों, दरबारी थे। उनका प्रधान मन्त्री और कुछ अन्य ऊँचे पद-अधिकारी मुसलमान थे। उनके सैनिक अधिकारियों में भी कई एक मुसलमान थे। यह ठीक है कि हजारा-प्रदेश को, जहाँ मुसलमानों की आबादी बहुत अधिक है और हिन्दू आटे में नमक के बराबर भी नहीं, जीतने के लिए उन्होंने किसी मुसलमान को नहीं, हरिसिंह नलवा को सेना देकर भेजा तो भी यह कहा जा सकता है कि रणजीतसिंह के काल में वह समस्या नहीं दिखाई देती थी।

अँगरेजों ने जब भारत पर पूर्ण अधिकार कर लिया तो शासन चलाने के लिए उन्होंने भेद-नीति से काम लेना आवश्यक समझा। यह बात प्रायः सभी पराधीन देशों में देखी जाती है। परन्तु आश्चर्य है कि भारत में अपने आपको देशभक्त कहनेवाले कुछ लोगों ने ही विदेशी शासकों को इस भेद-नीति पर आचरण करने में प्रोत्साहन दिया।

विदेशी जूए को उतार फेंकने के लिए यहाँ के कई देशभक्तों ने सम्प्रदाय, पंथ, मजहब या मत-मतांतर का विचार न करते हुए हिन्दू-मुसलमानों को राष्ट्र के लिए त्याग की भावना से अपने साथ मिलाया। ये देशभक्त प्रायः क्रांतिकारी थे जो देश को स्वतन्त्र करने के लिए हर एक साधन से लाभ उठाना न केवल उचित प्रत्युत उसे उपयोग में लाना अपना कर्त्तव्य समझते। बंगाल, महाराष्ट्र, पंजाब आदि में जितने क्रांतिकारी हुए उन सब ने इसी धारणा को लेकर अपना काम किया।

और यदि इसके लिए आवश्यकता पड़ी तो अपने प्राणों का सहर्ष उत्सर्ग कर दिया।

गांधीजी पहले देशभक्त थे जो राजनीति में अहिंसा का सिद्धांत ले आये। सतत प्रचार द्वारा उन्होंने कई लोगों को अपने साथ कर लिया। इनमें से कुछ ने अहिंसा को सिद्धांत रूप में स्वीकार किया; परन्तु अधिकतर ने इसे नीति के रूप में अपनाया। (विधायक तथा अहिंसात्मक साधनों को कुछ क्षेत्रों में समानार्थक समझा गया है, परन्तु यह ठीक नहीं है।)

परिस्थिति को सामने रखते हुए यह कहा जा सका है कि अहिंसा को राजनीतिक क्षेत्र में लाना बुरा न था; एक दृष्टि से वह अच्छा ही था (यद्यपि स्वर्गीय देशभक्त लाला हरदयाल, भाई परमानन्दजी आदि का मत था कि किसी देश को अहिंसात्मक साधनों से स्वतंत्रता न तो मिली है, न मिल सकती है)। परन्तु संभवतः इस अहिंसा-नीति के कारण ही गाँधी जी ने यह आवश्यक समझा कि इस देश के मुसलमानों को हर हालत में अपने साथ लेना ही चाहिए। यों तो मुसलमान देशभक्त क्रांतिकारियों के साथ मिलकर राष्ट्र के हित अपने प्राण देने पर तैयार होते थे, परन्तु गांधीजी ने मुसलमानों को मोल चुकाना आरम्भ किया। टर्की के खलीफा और खिलाफत का भारत की राजनीति से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं था। परन्तु गांधीजी ने कलकत्ता विशेष कांग्रेस में यह प्रस्ताव स्वीकृत करवाया कि मुसलमानों की मजहबी आपदाओं में सभी भारतीय उनकी सहायता करें। कारण: ऐसा करने से मुसलमान उनके पीछे होकर कांग्रेस को बलवान बना देंगे। उन्होंने यह न सोचा कि ऐसा करके वे मुसलमानों के अंदर मजहबी भावनाएँ उत्तेजित कर रहे हैं।

इस विषय में गांधीजी के साथ वर्त्तमान लेखक का जो पत्र-व्यवहार हुआ वह सारे मामले पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। गूजरखाँ (जिला रावलपिंडी) में एक हिन्दू पर मुसलमानों ने मिट्टी का तेल छिड़क कर उसे जीवित ही भून डाला।

गूजरखाँ छोटा-सा स्थान है। हिन्दुओं की जनसंख्या वहाँ बहुत थोड़ी थी। फिर इर्द-गिर्द का प्रदेश मुस्लिम था। इसलिए वहाँ के हिन्दू भयभीत हो गये। सरकार अर्द्ध-मुस्लिम थी। इसलिए उसे क्या पड़ी थी जो इस अत्याचार की खोज करती। मामला दबा दिया गया। वर्तमान लेखक ने इस विषय में गांधीजी को पत्र लिखा। वे उस समय गोलमेज़-सम्मेलन के लिए जा रहे थे। वह पत्र उन्हें मिल तो गया बम्बई में ही परन्तु उत्तर उन्होंने अदन से दिया। उसमें यह स्पष्ट लिखा कि वे हिन्दू-मुस्लिम समस्या को 'आर्थोडाक्स' (पुराने) ढँग से हल नहीं करना चाहते। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वे मुसलमानों को ख़ुश करके, घूँस देकर, अपने साथ मिलाने में विश्वास करते थे।

इस बात को स्वयं मौलाना मुहम्मदअली ने १९२३ में काकनाडा-कांग्रेस के अध्यक्ष-पद से यों स्वीकार किया— "ख़िलाफ़त आन्दोलन को निःस्वार्थ भाव से चलाना निस्संदेह गांधीजी की उदारता थी। परन्तु वे स्वयं कहा करते हैं कि वे मुसलमानों की गौ, ख़िलाफ़त, को बचाने का यत्न इसलिए कर रहे हैं कि कृतज्ञ मुसलमान बदले में गांधीजी की गौओं की रक्षा करने पर तैयार हो जायँ।"

मुस्लिम-तुष्टीकरण की नीति अपनाने में सब से पहले कांग्रेसी गांधीजी नहीं थे, यह हमें मानना पड़ेगा। १९१६ में, जब लोकमान्य तिलक भी जीवित थे, कांग्रेस ने मुसलमानों

के साथ लखनऊ में समझौता किया। इसकी पहली शर्त यह थी—"कोई ग़ैर-सरकारी सदस्य किसी धारा-सभा में ऐसा बिल या प्रस्ताव उपस्थित नहीं कर सकता जिसका विरोध उससे सम्बंध रखनेवाले सदस्यों का तीन-चौथाई भाग करता हो। दूसरी यह थी—"केंद्रीय धारा" सभा के निर्वाचित सदस्यों में एक तिहाई मुसलमान होंगे।"

यह ठीक है कि १६०६ में वायसराय मिण्टो के कहने पर ढाका के नवाब ने मुस्लिम लीग स्थापित की। यह भी ठीक है कि मिण्टो ने योरप जाते हुए आग़ाख़ाँ को अदन से वापस बुलाकर एक मुस्लिम शिष्टमंडल के द्वारा मुस्लिम माँगें उपस्थित करने की एक प्रकार से आज्ञा दी और परिणाम-स्वरूप मुसलमानों की इच्छाओं को उत्तेजित करते हुए मिंटो-मार्ले योजना के अनुसार भारतीय शासन में मुसलमानों को उनकी जनसंख्या के अनुपात से भी अधिक अधिकार दे दिया। यह भी ठीक है कि इंडियन नेशनल कांग्रेस की नींव अँगरेज़ पेंशनर ह्यूम ने १८८५ में इस कारण रखी थी कि इसके द्वारा भारतीयों के मन की बात विदेशी सरकार को मालूम होती रहे। परन्तु इसका अर्थ यह कहाँ से निकल आया कि लोकमान्य तिलक जैसे देशभक्त भी लखनऊ के समझौते जैसा राजनीतिक विष स्वयं तैयार करके आप पी जायँ और समस्त देश को भी पिला दें? दुर्भाग्य की बात है कि विदेशियों की कूटनीति की गहरी चाल को न समझ कर इन भद्र पुरुषों ने अदूरदर्शिता का प्रमाण दिया और विभाजन तथा पाकिस्तान की आधार शिला रख दी।

मुसलमानों में मज़हबी तथा साम्प्रदायिक भावनाएँ उत्तेजित हो जाने पर १६२६ से १६२८ तक उन्होंने देहली, गुलबर्गा, कोहाट, लखनऊ, सहारनपुर, प्रयाग, कलकत्ता, जबलपुर,

रावलपिंडी, पटना, ढाका आदि में दंगे किये। कोहाट में तो उन्होंने हिन्दुओं के मकानों तथा दूकानों को मिट्टी के तेल से जला डाला और माल-मता लूट लिया। तब हजारों हिन्दुओं को वह नगर छोड़कर रावलपिंडी आना पड़ा। ये निर्वासित कई मास तक धर्मशालाओं आदि में पड़े रहे। गांधीजी ने कहा कि जब कोहाट के मुसलमान हिन्दुओं को वापस बुलावें तभी हिन्दू अपने घरों को लौटें। किन्तु मुसलमानों ने तो ऐसा नहीं किया। तब सरकार ने हिन्दुओं की रक्षा का विशेष आश्वासन दिया। इस प्रकार हिन्दुओं का बड़ा अपमान हुआ।

मलाबार में मुसलमान मोपलों ने हिन्दुओं पर बहुत अधिक अत्याचार किये; हिन्दू स्त्रियों पर उनके रिश्तेदारों के सामने बलात्कार किये और स्त्री-पुरुषों को मार कर कूओं में डाल दिया।

इन घटनाओं ने कुछ राष्ट्रभक्तों तथा विचारकों को सोच में डाल दिया। वे कहने लगे कि देश की स्वतंत्रता के लिए हिंदू-मुसलिम-एकता को आवश्यक शर्त बतलाने का अर्थ यह है कि मुसलमानों को हर काम पर अपने साथ रखना चाहिए। परंतु उधर विदेशी शासक अँगरेज बैठा है जो पहले से ही मुसलमानों को अनुचित रिआयतें देता चला आ रहा है। इसलिए कांग्रेस मुसलमानों की जितनी ज्यादा ख़ुशामद करेगी उतने ही ज्यादा अधिकार अँगरेज मुसलमानों को देंगे, क्योंकि देने की शक्ति तो अँगरेज के हाथ में है। हिन्दू तो अधिक से अधिक यही कह सकते हैं कि जब देश स्वतंत्र होगा तब हम तुम्हें अँगरेजों से मिलनेवाले अधिकारों से बढ़ कर देंगे।

तपस्वी राष्ट्रभक्त स्वर्गीय हरदयाल ने इस विषय पर उन्हीं दिनों लिखा—"इस बात का क्या प्रमाण है कि यदि हिन्दू

और मुसलमान मिल जायँगे तो जरूर स्वराज्य मिल जायगा ? यह भी तो कांग्रेसी नेताओं की मन-मानी बात है। सन् १८५७ के गदर में हिंदुओं और मुसलमानों में एकता थी। तब कौन-सा तीर मार लिया ? दोनों की हार हुई। खिलाफ़त के आन्दोलन के समय दोनों में बड़ा एका था। तब क्या स्वराज्य मिल गया ?

"मेरी सम्मति में यदि केवल दो लाख अँगरेजों के मुक़ाबले में बाईस करोड़ हिन्दू अपना स्वराज्य स्थापित नहीं कर सकते तो उनके साथ सात करोड़ मुसलमानों को मिला देने से भी स्वराज्य नहीं मिलेगा, क्योंकि दो लाख अँगरेज बाईस करोड़ से बरतर रहेंगे, बल्कि यदि इन हिन्दुओं और मुसलमानों के साथ तिब्बत, ब्रह्मा, जावा और चीन के वासियों को भी मिला दिया जाय तो भी ये दो लाख अँगरेज निकम्मे और कायर लोगों को पराजित करके मैदान से भगा देंगे। केवल संख्या से विजय नहीं होती है।"

देश के विभिन्न स्थानों में जो दंगे हुए उन्होंने यह भी सिद्ध कर दिया कि सामाजिक दृष्टि से हिन्दू निर्बल हैं और आक्रमण होने पर वे अपनी रक्षा आप नहीं कर सकते। सरकार विदेशी है, इस कारण वह हिन्दुओं का बचाव करना अपना कर्त्तव्य नहीं समझती। इसके अतिरिक्त सेना और पुलिस में मुसलमानों की अधिक संख्या होने से वे दंगों में प्रायः मुसलमानों की सहायता करते हैं।

ऐसी स्थिति में निर्बल रहते हुए हिन्दुओं से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे देश की स्वतंत्रता प्राप्त कर सकेंगे और यदि वह किसी तरह प्राप्त भी हो गई तो वे उसे सँभाल ही सकेंगे। हिन्दू-समाज को अपनी पुनीत संस्कृति एवं प्राचीन

सात्त्विक परम्पराओं के आधार पर संगठित करने तथा बलवान् बनाने के लिए डाक्टर केशव बलराम हेडगेवार ने १६२५ ई०, नागपुर में, राष्ट्रीय स्वयंसेवक-संघ की नींव रखी। बिना किसी प्रकार का ढोल पीटे यह संस्था शांति-पूर्वक अपना कार्य करने लगी।

क्रांतिकारी भाई परमानंदजी, जिन्हें अँगरेजी सरकार के विरुद्ध षड्यंत्र के अभियोग में पहले फाँसी की सजा का आदेश सुनाया गया और बाद में कालापानी भेज दिया गया, जब पाँच बरस के पश्चात् वहाँ से लाहौर लौटे तो गांधीजी तथा लाला लाजपतराय के साथ मिलकर शिक्षा के क्षेत्र में काम करने लगे। परन्तु सांप्रदायिक मुसलमानों की ओर से हिन्दुओं पर किये गये आक्रमणों को देखकर भाईजी का विचार बदल गया। १६३० में इधर मुसलिम लीग के अधिवेशन के सभापति कवि मुहम्मद इकबाल ने मुसलमानों के लिए एक प्रकार से पृथक् भूमि-भाग की माँग की। मुसलमानों के संबन्ध में यही आशंका उन्हीं दिनों भाई परमानंदजी ने, सिंध के हिंदू-सम्मेलन के सभापति के रूप में, प्रकट की थी यद्यपि भाईजी कवि इकबाल से कभी न मिले थे, इकबाल के उस भाषण के प्रकाशित होने से पूर्व देखना तो एक ओर रहा। एक प्रकार से यह भविष्य-वाणी थी, परंतु इतिहासज्ञ भाई परमानंदजी मिस्टर जिन्ना की चौदह माँगों के प्रकाश में यह देख रहे थे कि भारत के मुसलमान किस ओर जा रहे हैं और उनको प्रोत्साहित करके गांधीजी तथा कांग्रेस कितनी भयंकर भूल कर रहे हैं। आत्म-निरीक्षण करते हुए अपनी नीति में परिवर्तन करने के बजाय कांग्रेस ने इस चेतावनी की अवहेलना की।

एक बार डाक्टर मुंजे ने वायसराय वेवल से इस आशय का प्रश्न किया—'भारत-सरकार और अँगरेज़ मिस्टर जिन्ना

के आगे इतना क्यों झुकते हैं ?' उन्हें इस प्रकार का उत्तर मिला—'इसलिए कि गांधीजी उन्हें खरीदना चाहते हैं। वे ऐसा करते हैं ताकि भारत में अँगरेजी सत्ता समाप्त हो जाय। इस कारण हमें मिस्टर जिन्ना के दाम ज्यादा देने पड़ते हैं।' इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है : जिन्ना को, जो एक समय राष्ट्रवादी भारतीय थे, कट्टर संप्रदायवादी मुसलमान बनाने में सबसे बड़ा हाथ गांधीजी की नीति का था। गोलमेज-कांफ्रेंस (१६२६) में गांधीजी ने मुसलमानों को 'कोरा चैक' दे दिया कि आप अपनी जो भी माँगें चाहें लिख दें, मैं उन्हें स्वीकार कर लूँगा। परन्तु मुसलमान अधिक बुद्धिमान् थे। उन्होंने देखा कि देने की शक्ति तो अँगरेज़ के हाथ में है, न कि गांधी जी (या कांग्रेस के हाथ में। इसलिए उन्होंने सम्राज्यवादी अँगरेज़ों के साथ अपना गठजोड़ पूर्ववत् बनाये रखा। परिणामस्वरूप 'सांप्रदायिक निर्णय' (कम्युनल एवार्ड) की घोषणा की गई जिसका फल यह निकला कि सांप्रदायिक वोट देने की रीति स्थिर रही, बहुसंख्यक मुस्लिम प्रांतों में 'मुसलमानों को विधायक बहुमत दिया गया और जिन प्रांतों में मुसलमानों की अल्पसंख्या थी वहाँ उन्हें, संख्या के अनुपात से, कहीं अधिक अधिकार दिये गये।

इस 'सांप्रदायिक निर्णय' के सम्बन्ध में बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने कहा—"यह बिलकुल गलत है। यह इस प्रकार बनाया गया है कि भारत में अनेक नये भेद खड़े हो जायँ ताकि इस देश पर ब्रिटेन का आधिपत्य सदा ही बना रहे। इसका उद्देश्य एक संप्रदाय को दूसरे से लड़ाना है।" श्री जयकर ने लिखा—"यह निर्णय भारत की उन्नति में बाधक है। लखनऊ के समझौते ने तो भारत को केवल हिन्दू और मुसलमानों में विभक्त किया था, परन्तु यह तो भारत को हिन्दू स्त्रियों और मुस्लिम

स्त्रियों में, योरपीयों और ऐंग्लो-इंडियनों में, गोरे ईसाइयों और काले ईसाइयों में, सवर्ण हिन्दुओं और दलित जातियों में और अंतत: उत्तरी भारत तथा दक्षिणी भारत में बाँट देगा।"

पंडित मदनमोहन मालवीय ने प्रयत्न किया कि कांग्रेस इसको अस्वीकार कर दे। केंद्रीय एसंबली में जब यह मामला पेश हुआ तो मि० जिन्ना ने इसका समर्थन किया, भाई परमानंदजी ने इसका विरोध किया, और कांग्रेसी चुप रहे। परिणामस्वरूप जिन्ना बाजी ले गये। इस पर केंद्रीय एसम्बली की ओर से ब्रिटिश पार्लमेंट को सूचित किया गया कि 'भारत सांप्रदायिक निर्णय को स्वीकार करता है।'

सन् १९३५ में भारत की शासन-पद्धति का नया ढाँचा गवर्नमेंट ऑव् इंडिया ऐक्ट के रूप में प्रकाशित हुआ। कांग्रेसी नेताओं ने १९३६ के लखनऊ-अधिवेशन में इसे दोष-पूर्ण पाया। इसमें सांप्रदायिक निर्णय का विष उन्हें सबसे अधिक दु:खदायक प्रतीत हुआ। फिर भी खुले अधिवेशन के लिए जो प्रस्ताव तैयार किया गया उसमें सांप्रदायिक निर्णय का कोई उल्लेख न था। श्री दिनेश चक्रवर्ती ने इसके संशोधन में लिखा कि 'यह जनतंत्र तथा राष्ट्रीयता का विरोध और सांप्रदायिक चुनाव पर निर्भर है। यह देश के अंदर भिन्न-भिन्न वर्ग उत्पन्न करता है। इसलिए कांग्रेस सांप्रदायिक निर्णय सहित नव विधान को अस्वीकार करती है।'

पं० पंत के अतिरिक्त स० पटेल ने इन शब्दों में इसका विरोध किया—"इस संशोधन को स्वीकार करने से सांप्रदायिक स्थिति अधिक बिगड़ जायगी। यदि वे सांप्रदायिक निर्णय का विरोध करना चाहते हैं तो उनको सरकार और मुसलमानों से युद्ध करने के लिए और इस वर्ष जो शांति बनी हुई है उसे नष्ट करने के लिए तैयार रहना चाहिए।"

शुद्ध राष्ट्रीयता एवं निष्पक्षता के आधार पर खड़े होने के बजाय कांग्रेस १८८५ से ही मुसलमानों को खुशामद करती चली आ रही थी। फिर भी जब १९३५ के ऐक्ट तथा सांप्रदायिक निर्णय के अनुसार विभिन्न प्रांतों की धारासभाओं के चुनाव हुए तो ४४६ मुसलमान सदस्यों में से केवल २६ कांग्रेसी मुस्लिम उम्मीदवार सफल हुए। (इन २६ में से १५ पठानों के प्रदेश सीमाप्रांत के थे।) चुनाव के फलस्वरूप ११ में से ७ प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने। जिन्ना की मुस्लिम लीग चाहती थी कि इन प्रांतों में कांग्रेस लीग के साथ मिल कर मंत्रिमंडल बनाये। ऐसा न होने पर कांग्रेसी नेताओं की मनोवृत्ति से अनुचित लाभ उठाया। गांधीजी तो उन्हें कोरा चैक देते फिरते थे और, स० पटेल सांप्रदायिक निर्णय को अन्याय-पूर्ण देखकर भी उसका विरोध न करते थे, क्योंकि उनके मत-अनुसार इसका अर्थ मुसमानों से युद्ध करना होता यह देखकर मुसलमानों ने कांग्रेस को डराने का यत्न किया : कहा कि 'कांग्रेसी प्रांतों में मुसलमानों पर बड़े भीषण अत्याचार किये गये हैं।' इस कल्पित आक्षेप को सिद्ध करने के लिए पीर-पुर कमेटी बनाई गई। इसने अपने विवरण में लिखा कि कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने मुसलमानों के मजहबी अधिकारों में हस्तक्षेप किया है, मुस्लिम सांस्कृतिक परंपराओं को कुचला है और सरकारी नौकरियों में उन्हें कम भाग दिया है।

इसपर युक्तप्रांत की पंत-सरकार तो भू-शायी हो गई। इसके पतन का वृत्तांत वे प्रस्तुत-पत्रक करते हैं जो इस सर-कार ने विशेष रूप से उर्दू में छपवा कर मुसलमानों में ही बाँटे। एक में यह छापा गया—"कांग्रेसी शासन-काल में मुसलमानों पर कोई पाबंदी नहीं लगाई गई, प्रत्युत कुछ स्थानों में उनपर से पाबंदियाँ हटा दी गईं। कई स्थानों में

हिन्दुओं को मन्दिरों में पूजा या आरती करने या शंख बजाने से रोक दिया गया है। बाराबंकी में कथा कराना और होली में स्वयं हिन्दुओं पर रंग डालना वर्जित कर दिया गया। बाँदा में ब्याह का जुलूस निकालने की इजाज़त न दी गई। 'आँवला (बरेली) में हिन्दू स्त्रियाँ ब्याह में ढोल नहीं बजा सकतीं। ४५ हिन्दुओं ने जब इन आदेशों को भंग किया तो उन्हें सजाएँ दी गईं। फ़र्रुखाबाद में ताज़ियों की खातिर बिजली के तार कटवा दिये गये।

"यद्यपि युक्तप्रांत में मुसलमानों की जनसंख्या १४ प्रतिशत है और हिन्दुओं की ८५ प्रतिशत तो भी कांग्रेस-सरकार ने नौकरियों में मुसलमानों को अनुपात से कहीं ज्यादा अधिकार दिया है। यहाँ तक कि कुछ स्थानों पर तो मुसलमान ५० प्रतिशत से भी अधिक रखे गये हैं।

"जिला-मजिस्ट्रेट की कार पर एक मुसलमान ने हमला किया। मुस्लिम लीग के कहने पर उसे छोड़ दिया गया। अधिकतर मुसलमान सार्वजनिक सभाओं में उत्तेजक भाषण देते हैं। कांग्रेस सरकार तथा मंत्रियों पर व्यक्तिगत आक्षेप करते और जनसाधारण को हिंसा के लिए उभाड़ते हैं, तो भी किसी मुसलमान को गिरफ्तार नहीं किया गया। इसके मुक़ाबले पर कांग्रेसी कार्यकर्ता बाबू केदारनाथ (गोरखपुर) को मुसलमानों के विरुद्ध भाषण देने पर एक साल सख्त क़ैद की सज़ा हुई।

"किसी मुस्लिम समाचारपत्र के विरुद्ध साम्प्रदायिक द्वेष फैलाने के अपराध में कोई कार्रवाई नहीं की गई। दूसरी ओर हिन्दुओं के दो पैंफ्लेट और एक समाचारपत्र इस कारण ज़ब्त कर लिये गये कि उनसे मुसलमानों के जी दुखते हैं।"

जब मुसलमानों ने देखा कि ये कांग्रेसी केवल एक रिपोर्ट से इतने भयभीत हो गये हैं तो वे धमकियाँ देने लगे। १९३८ में मुस्लिम लीग के कलकत्ता अधिवेशन में फ़ज़लुल हक़ ने कहा—"हम ज़बानी बातचीत करनेवाले नहीं, प्रत्युत लीग का प्रत्येक सदस्य बब्बर शेर है।" लखनऊ - अधिवेशन में उसी सज्जन ने कहा—"यदि मुसलमानों अत्याचार किये गये तो मैं अपने प्रांत, बंगाल, में इसका प्रतिकार लूँगा।"

योरप में युद्ध छिड़ जाने पर भारत-सरकार ने कांग्रेस से सहायता माँगी। वायसराय से सहमत न होने पर कांग्रेस के निश्चय के अनुसार कांग्रेसी मंत्रियों ने त्यागपत्र दे दिये। इसपर मुसलमानों ने कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के पंजे से छूटने का बहाना बना कर समस्त भारत में 'मुक्ति-दिवस' मनाया।

वायसराय के सामने सम्मिलित माँग रखने के लिए कांग्रेसी नेताओं ने लीग से एक बार फिर समझौते की बातचीत आरम्भ की पर वे सफल न हुए। इसपर १९३९ में गाँधीजी ने लिखा—"मुस्लिम लीग की माँगों की कोई सीमा नहीं हो सकती।" कुछ दिन बाद मौलाना आज़ाद ने लिखा—"यदि ब्रिटिश सरकार कांग्रेस को शासन का उत्तर-दायित्व नहीं सौंपती तो मुस्लिम लीग ही को सौंप दे।" गाँधीजी ने हृदय से इसका समर्थन किया। उन्होंने यहाँ तक लिख दिया कि यदि हैदराबाद के निज़ाम को भारत का सम्राट् बना दिया जाय तो मैं उसके राज्य को घरेलू समझूँगा।

१९४२ में पहली बार गाँधीजी ने यह कहा—"पहले भारत स्वतंत्र हो, बाद में सांप्रदायिक झगड़ों का निर्णय हो जायगा।" खेद इस बात का है कि इसपर आचरण न किया गया। यदि १९४२ के बाद भी इस नीति को क्रियात्मक रूप दे दिया जाता तो देश का इतना अहित न होता।

इसी वर्ष गाँधीजी को अन्य साथियों के साथ पकड़ लिया गया। इनको छुड़ाने का यत्न किया गया, पर वायसराय न माना। तब श्री भूलाभाई देसाई ने १९४५ में गाँधीजी के आशीर्वाद से वह योजना तैयार की जिसमें मुसलमानों को, मुसलमानों के रूप में, पचास प्रतिशत शासन-अधिकार देने का निश्चय था। मुसलमानों की ओर से इसे लियाकत अली ने मान लिया। वायसराय वेवल ने शिमला में एक राजनीतिक सम्मेलन बुलाया जिसे 'समभाग-सम्मेलन' (पैरिटी कांफ्रेंस) कहा गया। जिन्ना ने इसे भी लात मारकर असफल बना दिया।

१९४६ में ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के तीन सदस्य, सर्व श्री पैथिक लारेंस, क्रिप्स और एलेग्जांडर राजनीतिक गुत्थी को सुलझाने के लिए भारत आये। इसे 'ब्रिटिश कैबिनेटमिशन' कहा गया। यह अपने साथ एक योजना लाया जिसके अनुसार भारत के अनेक खण्ड हो जाते थे। एक भारतीय राजनीतिज्ञ के शब्दों में इस योजना ने मुसलमानों को ९५ प्रतिशत पाकिस्तान दे दिया। फिर भी कांग्रेस ने इसे स्वीकार कर लिया। परन्तु अंतरिम सरकार फिर भी न बन सकी।

अब मुसलमानों को शेष ५ प्रतिशत पाकिस्तान प्राप्त करना था। कांग्रेस के इस स्वभाव को वे जानते ही थे कि वह लड़ाई-झगड़े से डरती है। अपनी माँग की पूर्ति के लिए उन्होंने दंगों का आश्रय लिया। 'प्रत्यक्ष कार्यवाही' (डायरेक्ट एकशन) के लिए १६ अगस्त (१९४६) का दिन निश्चित किया गया। उस दिन मुसलमानों को क्या करना होगा, इस विषय में उनके नेताओं ने स्पष्टता से काम लिया। कई दिन पहले

लियाकत अली खाँ ने कह दिया—'मुस्लिम रक्त की हर बूँद उस भयानक संघर्ष के लिए सुरक्षित रखो जो निकट भविष्य में हमारे सामने आ सकता है। तब मैं संघर्ष-स्थल पर तुम्हारा नेतृत्व करूँगा।'

विभिन्न प्रांतों की एसम्बलियों के मुस्लिम लीगी सदस्यों की दिल्ली में हुई एक बैठक में सर फीरोज खाँ नून ने कहा—'यदि हिन्दू हमें पाकिस्तान दे दें तो वे हमारे सर्वोत्तम मित्र होंगे। भले ही हमें अपनी स्वतन्त्रता के लिए लड़कर मरना पड़े, हम अपने बच्चों को हिन्दुस्तान के दास नहीं रहने देंगे। यदि हमें केंद्रीय सरकार या हिन्दू राज्य के अधीन कर दिया गया तो हम वह सर्वनाश ला देंगे जो चंगेज खाँ और हलाकू के कामों को छाया डाल देगा।'

इस सिलसिले में सबसे पहले कलकत्ता में, तत्पश्चात् पूरबी बंगाल, पश्चिमी पंजाब तथा सीमाप्रांत में विध्वंसात्मक कार्य किया गया। कलकत्ता में एक प्रकार से शांति-भंग करने के लिए चिनगारी फेंकी गई। शेष स्थानों में आग फैल गई। यहाँ नर-संहार, बलात्कार और अमानुषिक अत्याचार किये गये। मकान और दूकानें लूटी तथा जलाई गईं। तलवार के जोर से कितने ही स्त्री-पुरुषों को पतित करके मुसलमान बनाया गया। अनेक हिन्दू सतियों का मुसलमानों के साथ निकाह पढ़ा दिया गया। बच्चों को भालों की नोकों पर टाँग दिया गया। देव-स्थानों को जलाकर भस्मसात कर दिया गया। ऐसी कितनी ही बातें की गईं जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता।

यह अत्याचार शायद बन्द हो सकता था यदि वायसराय मौंटबेटन और उसके सरकारी परामर्शदाता कांग्रेसी सदस्य इसके लिए प्रयत्न करते। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। बहाना यह बनाया गया कि हम प्रांतीय शासन में हस्तक्षेप नहीं कर

सकते। यह बात ठीक होती यदि बाद मे हिन्दू-बहुसंख्यक बिहार-प्रांत में भी हस्तक्षेप न किया जाता।

कलकत्ता और पूरबी बंगाल में बहुत-से बिहारी मार दिये गये। उनके सम्बन्धियों को बिहार में क्रोध आया और वहाँ उपद्रव हुआ। स्वयं कांग्रेस के प्रधान आचार्य कृपलानी ने कहा—'पूरबी बंगाल के लोगों पर जो अत्याचार किये गये हैं वैसे ही यदि मेरे साथ होते तो मैं नहीं कह सकता कि प्रतिकार के रूप में मैं क्या करता। यदि भावुक और शिक्षित व्यक्ति अत्यन्त उत्तेजना की अवस्था में अवांछनीय प्रतिकार करने लगते हैं तो जनसाधारण तो और भी वैसा करेंगे।'

पण्डित नेहरू ने जहाँ पर बंगाल के विषय में कुछ न किया वहाँ पर मुस्लिम लीगी अब्दुर्रब निश्तर को साथ लेकर बिहार आये और पठान सेना भी भेजी। जैसा कि पार्लमेंट में कहा गया, स्वयं पण्डितजी ने ही हिन्दुओं पर गोली चलाने का आदेश दिया। नगरनौसा में 'आवश्यकता से अधिक गोलियाँ चलाई गईं। घरों में छिपे हुए पुरुष ही नहीं, अबलाएँ और शय्या पर पड़े रोगी भी गोली का शिकार बना दिये गये। सैनिकों ने जी खोलकर लूट-मार की।"पुलिस और सेना की गोलियों ने कई हजार की जान ले ली।'

तत्पश्चात् मुसलमानों ने सीमाप्रांत के हरिपुर हजारा और पंजाब के झेलम तथा रावलपिंडी के जिलों में हिन्दुओं पर अत्याचार किये—उनके मकान तथा दूकानें जला दीं, कई एक को मार दिया, शेष को अपने घर-द्वार से भगा दिया। कितने ही नर-नारियों और बच्चों को भून दिया गया। अनेक पतित करके मुसलमान बनाये गये। केंद्रीय एसम्बली में इस बारे में यह प्रश्न किया गया—सीमाप्रांत में कांग्रेसी सरकार

ने मुसलमानों को यह अत्याचार करने से क्यों न रोका? पण्डित नेहरू ने उत्तर दिया कि सीमाप्रांत ने केन्द्र से सहायता तो माँगी थी, परन्तु वहाँ सेना भेजना उचित न समझा गया। इसका कारण न बताया गया। पर लोग यह तो देख ही रहे थे कि बिहार हिन्दू बहुसंख्यक प्रांत है और सीमाप्रांत मुस्लिम बहुसंख्यक।

अब जिन्ना ने देखा कि यही अवसर है कांग्रेस को और भी अधिक दबा कर अपनी बात मनवाने का। इसी कारण उन्होंने यह वक्तव्य दिया—'भारत इस समय गृह-युद्ध के किनारे खड़ा है। इस लपेट में चालीस करोड़ हिन्दू, मुसलमान और अल्पसंख्याएँ आयँगी। यह गृह-युद्ध राजनीतिक विचार-विनिमय से ही रुक सकता है'।

यह धमकी अपना काम कर गई। कांग्रेस ने पाकिस्तान की माँग स्वीकार कर ली। वायसराय मौंटबेटन ने ३ जून, १९४७, को ब्रिटिश सरकार की वह योजना प्रकाशित कर दी जिसके अनुसार सीमाप्रांत तथा पंजाब का पश्चिमी भाग और बंगाल का पूर्वी भाग मुस्लिम लीग के अर्पण कर दिया गया। इस प्रकार भारत की पूर्वी तथा पश्चिमी सीमाओं पर पाकिस्तान बना दिया गया और कांग्रेसी नेताओं ने इस पर स्वीकृति की मुहर लगा दी यद्यपि भारत की भोली भाली जनता से वे यह कहते चले आ रहे थे कि पाकिस्तान कभी नहीं बनेगा, बनेगा तो हमारी लाशों पर।

यह विभाजन १५ अगस्त, १९४७, को हुआ। तब समस्त भारत में कांग्रेस की ओर से उत्सव और ख़ुशियाँ मनाई गईं। उसमें यह प्रचार किया कि भारत को जो स्वतंत्रता मिली है इसके दिलाने का श्रेय कांग्रेस तथा उसके नेताओं

को प्राप्त है। परन्तु किसी ने इस बात की ओर ध्यान न दिया कि बरमा और सीलोन में तो यह कांग्रेस न काम करती थी। फिर उन्हें क्यों और कैसे स्वतंत्रता मिल गई ? वास्तव में बात यह है कि दूसरे महायुद्ध में ब्रिटेन को जन-धन की दृष्टि से बहुत हानि पहुँची। इतनी अधिक कि उसके लिए अपना गृह-प्रबन्ध करना कठिन हो गया। इसी कारण उसने अपने उपनिवेशों तथा अधिकृत प्रदेशों को अपने हाथ से जाने देने में ही लाभ समझा। अँगरेज साम्राज्यवादी बहुत बुद्धिमान् हैं। भारत को तथा-कथित स्वतंत्रता देकर उन्होंने एक दृष्टि से आर्थिक नीति के सूत्र अपने हाथ में ही रखे। विभिन्न युद्धों आदि के कारण ब्रिटेन पर भारत का जो अरबों रुपयों का ऋण था उसे तुरन्त नहीं चुकाया गया प्रत्युत उसे नई-पुरानी मशीनों आदि के रूप में देने का निश्चय किया गया। स्वाभाविकतया जब 'ब्रिटिश कामन-वेल्थ' से पृथक् होने का समय आया तो प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू पृथक्त्व के पक्ष में अपना मत न प्रकट कर सके। इस प्रकार भारत अभी (१९४९) तक ब्रिटेन के साथ नत्थी हुआ चला आता है।

पाकिस्तान बनने से कुछ पूर्व जिन्ना ने एक वक्तव्य में कहा कि पाकिस्तान के हिन्दुओं को इधर भारत में आ जाना चाहिए और भारत के मुसलमान चाहें तो पाकिस्तान चले जायँ। आबादियों की इस अदली-बदली का अर्थ मुस्लिम लीगी एवं मतांध मुसलमानों ने यह लिया कि पाकिस्तान से हिन्दुओं को निकाल देना चाहिए। इसी कारण उन्होंने पूर्वी बंगाल के नोआखाली, ढाका आदि प्रदेशों, सीमाप्रांत के हरिपुर हजारा तथा ऐबटाबाद और पंजाब के रावलपिंडी तथा झेलम के जिलों में हिन्दुओं के सर्वनाश का प्रयत्न किया है। मुसलमान को इस कार्य में कुछ अन्य बातों ने भी सहायता दी।

पहली, सीमाप्रांत तथा पंजाब में मजिस्ट्रेट, पुलिस तथा सेना प्राय: मुस्लिम थी। दूसरी, प्रांतों के अँगरेज गवर्नर प्राय: साम्राज्यवादी थे। इस कारण वे हिन्दुओं पर अन्याय एवं अत्याचार होने पर भी मुसलमानों का पक्ष लेते। तीसरे, कांग्रेस ने चिर समय से यह प्रचार कर रखा था कि हिन्दुत्व सांप्रदायिकता है और सांप्रदायिकता विष है। स्वभावत: हिन्दुओं के अंदर समष्टि या सामाजिक भावना का विकास न हुआ। वे सोचते तो व्यक्तिगत हानि-लाभ की बातें ही

जब बंगाल-बिहार के समान सीमाप्रांत तथा पंजाब में हिन्दुओं पर अत्याचार किये गये तब कोई राजनीतिक, धार्मिक या सामाजिक संस्था पीड़ितों की सहायता के लिए आगे न निकली। यह देखकर सांस्कृतिक संस्था राष्ट्रीय स्वयंसेवक-संघ के कार्यकर्ताओं ने पंजाब (तथा सीमाप्रांत) के लिए पंजाब रिलीफ़ कमेटी बनाई और इसके लिए देश के विभिन्न स्थानों से दस लाख रुपया एकत्र किया। उसके पास हजारों स्वयंसेवक कार्यकर्त्ता तो थे ही। उन्होंने संघ के सदस्यों के रूप में नहीं बल्कि व्यक्तिगत रूप में पंजाब के हर जिले में पंजाब रिलीफ़ कमेटी की जिला-शाखा खोल दी। इनके द्वारा धन, वस्त्र, अनाज, दवाइयाँ आदि एकत्र करके या खरीदकर पीड़ितों को दी जाने लगीं।

हिंदू निर्वासितों के लिए सबसे पहले वाह में एक शिविर बनाया गया। (यह स्थान रावलपिंडी से थोड़ी दूर पेशावर की ओर है।) आसपास के प्रदेश से निकाले गये हजारों हिन्दू इसमें आने लगे। इनके खान-पान, रहन-सहन, औषध-वस्त्र आदि के प्रबन्ध में सबसे बड़ा हाथ संघ रिलीफ़ कमेटी का था। उसके हजारों स्वयंसेवक पीड़ित निर्वासितों की सेवा

के लिए लाहौर, रावलपिंडी आदि संघ-शाखाओं से भेजे गये। कमेटी का रुपया भी बहुत खर्च हुआ।

जब १५ अगस्त निकट आने लगा तब लाहौर में इस आशय के बड़े-बड़े पोस्टर दीवारों पर लगे हुए दिखाई देने लगे कि काफ़िरों को किसी प्रकार खतम करना होगा। वास्तव में यह कार्य हरिपुर हज़ारा-कांड से ही शुरू हो चुका था और सीमाप्रांत, पंजाब तथा सिंध में जहाँ-तहाँ अव्यवस्थित रूप से चल रहा था। अँगरेज़ों ने देखा कि अब हम तो जा ही रहे हैं। उन्होंने शासन-कार्य एक प्रकार से मुसलमानों के हाथ में दे दिया। मुसलमानों में यह हिदायत काम कर रही थी कि काफ़िरों को पाकिस्तान से निकालने पर ही यह प्रदेश पाक (पवित्र) बन सकता है। इसलिए अब उन्होंने मुस्लिम मजिस्ट्रेटों, पुलिस, सेना आदि के सहयोग से नर-संहार करना आरम्भ किया।

सियालकोट के मुसलमानों ने पास ही जम्मू तथा काश्मीर में भी जाकर यह निंद्य कार्य किया और करवाया। राजौरी, मीरपुर, भिम्बर आदि प्रदेशों में हिन्दुओं की जन-संख्या मुसलमानों की अपेक्षा थोड़ी थी। इसके अतिरिक्त यहाँ के बहुत-से मुसलमान सेना में भरती थे। पाकिस्तानियों ने ऐबटाबाद को केंद्र बनाया और वहाँ से सैनिकों को बन्दूकें, मशीनगनें, हथगोले आदि शस्त्र देकर लारियों में काश्मीर भेजा। इन लोगों ने वहाँ जैसा सर्वनाश किया उसका उदाहरण संसार के इतिहास में कहीं नहीं मिलता। स्थानीय सरकारी मुस्लिम अधिकारी और साधारण मुसलमान पाकिस्तानी सेना के साथ मिल गये। उन्होंने मकानों तथा दूकानों को लूटने के बाद उन्हें मिट्टी के तेल की सहायता से जला दिया। हिन्दू स्त्रियाँ तथा बच्चे प्रायः किसी बड़े मकान या

हवेली में एकत्र हो जाते और संघ के स्वयंसेवक अन्य पुरुषों को साथ लेकर उनकी रक्षा का कार्य करते। यदि उनके पास कोई शस्त्र होते तो वे आत्म-संरक्षण की दृष्टि से आक्रमणकारी पर जवाबी चोट करते, नहीं तो अबलाओं और बच्चों को सुरक्षित करने में जुटे रहते।

एक ही मकान या हवेली या मुहल्ले में हजारों लोगों को कितने दिन तक बन्द रखा जा सकता है! अन्य-अनाज और जलाने की लकड़ी समाप्त हो गई। कई स्थानों में पानी न मिला, क्योंकि कुओं पर पाकिस्तानियों ने अधिकार कर लिया था। बच्चे तक बिलबिलाने लगे तो कुछ माताएँ उन्हें पेशाब पिलाने पर बाध्य हुईं, बहुत-से मर गये।

पुरुषों ने देखा कि बर्बरों के पंजों से बहिनें और माताएँ बच नहीं सकतीं, क्योंकि किसी प्रकार की सरकारी या ग़ैर सरकारी सहायता पहुँच नहीं रही और अन्य पशुओं के समान खून के प्यासे पाकिस्तानी हमको घेरे बैठे हैं। अब अपनी मान-मर्यादा बचाने के लिए उन्होंने राजपूतों की पुनीत प्रथा, जौहर, की शरण ली। बहिनों को भाइयों ने और माताओं को बेटों ने अपने हाथों से पोटाशियम सायनाइड आदि विष पिलाये। सतीत्व की रक्षा-हेतु कितनी ही कुँआरी और विवाहिता पद्मिनियों ने कुओं में छलाँगें लगा लीं, पर किसी पर-पुरुष को छूने की इजाज़त न दी। ऐसी भी वीरांगनाएँ थीं जिन पर विष ने अपना प्रभाव न किया। तब वे पगड़ियाँ बाँध कर अपने पुरुषों के साथ मिल आक्रमणकारियों पर शेरनियों की तरह टूट पड़ीं और मरीं। चौबारा जैसे कुछ स्थानों में जब हिन्दू आबादी को मुसलमानों ने घेर लिया तब वृद्ध पुरुषों ने, नवयुवकों के कहने पर, अपनी बहू-बेटियों के सिर

चारा काटनेवाले टीके से अलग कर दिये, क्योंकि न तो उनके पास किसी प्रकार का विष था और न कोई शस्त्र ।

पाकिस्तानियों ने अनेक कुकृत्य किये । उन्होंने पुरुषों और बच्चों को जीवित ही जला दिया और बुद्धि एवं भावना प्रधान मानव के सतत प्रयत्न के फलों, कला के नमूनों, को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया । परन्तु उनका सबसे बड़ा जघन्य एवं कुत्सित कार्य था विवाहित तथा अविवाहित अबलाओं को जबरदस्ती पकड़ ले जाना । राजौरी से दो हजार और भिम्बर से एक हजार युवतियों का अपहरण किया गया । ये चीखीं-चिल्लाईं तो इनके मुँह में कपड़ा ठूँस दिया गया । इन्होंने हाथ-पाँव मारे तो इनके हाथ-पैर रस्सियों से बाँध दिये गये । कई दिन तक इनको भूखा रख गया । जब ये शारीरिक दृष्टि से निर्बल हो गईं तब इन्हें भेड़-बकरियों के समान हाँक-कर अन्य स्थानों के अतिरिक्त झेलम के पास अलीबेग-नाम के शिविर में ले जाया गया ।

रास्ते भर में आस-पास के मुसलमान इनको देखने आते । दर्शकों को जो लड़कियाँ पसंद आतीं उन्हें वे बाँहों से पकड़ घसीट ले जाते । ये बेचारी चिल्लाती रह जातीं । आगे चल कर एक नहर आई । इसमें पानी गहरा था और तेज भी । हिंदू युवतियों ने इसे देख कर ईश्वर का धन्यवाद किया । देखते ही देखते सैकड़ों 'महिलाओं ने पानी में छलाँग लगा दी और कुछ ही क्षण में परमात्मा में लीन हो गईं ।

जैसी घटनाएँ जम्मू-काश्मीर में हुईं वैसी ही घटनाएँ पश्चिमी पंजाब तथा सीमाप्रांत के हजारों नगरों, कसबों, और ग्रामों में हुईं । लाखों मनुष्य मार दिये गये, करोड़ों रुपयों की संपत्ति नष्ट कर दी गई और अनेकों देवालय तथा गुरुद्वारे

भ्रष्ट कर दिये गये। परन्तु इनसे कहीं बढ़ कर दुःख एवं हिन्दू मानसिक क्लेश की बात यह है कि हज़ारों हिन्दू युवतियों को, जिनमें अनेक शिक्षित एवं प्रभुभक्त हैं, दासियाँ बना कर आँसुओं के हार पिरोने के लिए मुसलमानों ने अपने घरों में रख लिया। यह भी कहा जाता है कि इनमें से कई एक को पेशावर में दस-दस रुपये में नीलाम किया गया है। पठान इनको सीमाप्रांत की सीमा से परे ले गये हैं। उनके साथ जो बच्चे हैं उन्हें विभिन्न यातनाएँ दी जाती हैं। न मालूम कितनी लड़कियों से वेश्या-वृत्ति करवाई जाती है।

ये अन्याय और अत्याचार उन स्वयंसेवकों ने बताये हैं जो अलीबेग-जैसे बंदी-शिबिरों से किसी न किसी प्रकार निकल कर आये हैं।

समस्त पूर्वी पंजाब में भी मुसलमानों ने पश्चिमी पंजाब जैसा अत्याचार करने का निश्चय कर रखा था। अमृतसर में उन्होंने मस्जिदों के नीचे भूमि के अंदर बंब-फैक्ट्रियाँ बना रखी थीं। अन्य कितने ही स्थानों में मुस्लिम नवाबों और बड़े जमींदारों तथा जागीरदारों ने शस्त्र-अस्त्र एकत्र कर रखे थे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के उत्तरदायी कार्यकर्त्ताओं को अपने गुप्तचरों द्वारा मुसलमानों की इन तैयारियों का पता लगता रहता था। वे जान गये कि मुसलमान दिल्ली तक सारे प्रांत पर अपना अधिकार करना चाहते हैं। इसलिए उन्होंने अपने प्राणों से पंजाब की रक्षा करने का प्रयत्न किया। संघ के कितने ही कार्यकर्त्ताओं को कई मास तक लाहौर के क़िले में क़ैद कर अनेक प्रकार की अमानुषी यातनाएँ दी गईं। उन्हें कई दिन तक सोने न दिया गया, बिजली की बहुत तेज़ रोशनी में रखा गया, खाने-पीने को कुछ न दिया गया, नंगा करके बहुत ज्यादा पीटा गया जिससे उनके शरीर सूज गये

और उनके मुँह के आगे पुरीष बाँध दिया गया। समाज-संरक्षण के इस संघर्ष में संघ के अनेक कार्यकर्त्ताओं की आँखें, बाजू, टाँगें और सिर भी चले गये। कई एक के शरीर पाकिस्तानी गोलियों से छलनी हो गये। इस पर भी वे अपने-अपने काम पर डटे रहे। मृत्यु पर उन्होंने मखौल उड़ाया। हार कर मृत्यु ने उनको अपनी गोद में ले लिया।

इस प्रकार यह प्रदेश बच गया और दिल्ली भी बच गई। इसके प्रमाण पश्चिमी पंजाब के निर्वासित हिन्दू तथा पूर्वी पंजाब के उत्तरदायी सार्वजनिक कार्यकर्त्ता प्रचुर संख्या में प्रस्तुत करते हैं।

कुछ मास तक पश्चिमी तथा पूर्वी पंजाब में कोई व्यवस्थित सरकार न थी। तब कोई राजनीतिक संस्था पीड़ितों की सहायता के लिए आगे न बढ़ी, बल्कि इनके नेता शिमला आदि सुरक्षित स्थानों में जा बैठे। इस काल-खंड में संघ के स्वयंसेवकों ने, वे जहाँ कहीं थे, समाज-सेवा का कार्य किया—माँ-बहिनों को बचाया, बच्चों को माता-पिता के पास पहुँचाया और अरक्षितों को अन्न-वस्त्र तथा औषधि दिया। यह काम जान-जोखिम का था। उन्होंने प्रयत्न किया कि जहाँ-जहाँ हिंदुओं को मुसलमानों ने घेर लिया है वहाँ-वहाँ से उन्हें निकाला जाय। कुछ एक भेष बदल कर, गुप्तचर के रूप में काम करने लगे। उन्होंने दिल्ली आकर सरकार को सारी स्थिति से सूचित किया। जहाँ पर आक्रमण हुए वहाँ पर उन्होंने सबसे आगे बढ़ कर अपनी छातियों में गोलियाँ खाईं। समाज, धर्म तथा संस्कृति के संरक्षणार्थ सर्वश्री वीरेन्द्रकुमार, प्रद्युम्नसिंह आदि अढ़ाई सौ जीवन-सदस्यों तथा कार्यकर्त्ताओं ने राष्ट्र की बलिवेदी पर अपने प्राणों की बलि चढ़ाई। इन अमरकीर्ति नरपुंगवों को जिन लोगों ने क्षण भर भी

समाज-सेवा करते देखा है वे आज भी उनका स्मरण करके अपने आप को धन्य मानते हैं।

जब दोनों ओर व्यवस्थित सरकारें काम करने लगीं तब विभिन्न ज़िलों में लायसन आफ़िसर नियुक्त किये गये। पाकिस्तान के कई छोटे-छोटे गाँवों में जो हिन्दू फँसे हुए थे उनमें से कई एक को किसी प्रकार निकाल कर लाहौर के दयानन्द-कालेज की इमारत में रखा जाता था। यहाँ भी संघ के कार्यकर्त्ता कई मास तक लाख डेढ़ लाख रुपया खर्च कर इनके खान-पान, दूध, औषध, लकड़ी आदि का प्रबन्ध करते रहे। उन दिनों लाहौर, और पाकिस्तान के अन्य शहरों में किसी हिन्दू का अपने आपको हिन्दू प्रकट करना मृत्यु के मुख में जाना था। लायसन आफिसरों का एक बड़ा कर्त्तव्य अपहृत स्त्रियों तथा बच्चों को अपने देश में वापस लाना था। पाकिस्तानियों ने अब चालाकी से काम लिया। उन्होंने प्रायः बहुत-सी अपहृत हिंदू लड़कियों को गुजरात, झेलम तथा रावलपिंडी के ज़िलों और रियासत बहावलपुर में एकत्र करके किसी भारतीय लायसन आफिसर का प्रवेश इन स्थानों में निषिद्ध घोषित कर दिया। इसके अतिरिक्त पाकिस्तान के प्रायः सभी मुसलमान अधिकारियों में यह भावना काम करती है कि काफ़िरों की सुन्दरियाँ जितनी अधिक संख्या में अपने क़ब्ज़े में लाई जायँ उतना ही अधिक सवाब (पुण्य) प्राप्त होता है। इसी कारण यदि किसी भारतीय लायसन आफ़िसर को यह पता लग भी जाता कि अमुक स्थान में अपहृत हिन्दू लड़की है तो वहाँ का पुलिस कर्मचारी उस लड़की को इधर-उधर भगाने में मुसलमानों की सहायता करता और भारतीय अधिकारी को ख़ाली हाथ लौटना पड़ता। इस सिलसिले में एक ग़ैर-सरकारी भारतीय कार्यकर्त्ता ने पाकिस्तान

एसम्बली के एक पूर्व-परिचित मुस्लिम सदस्य से एक अपहृत हिन्दू लड़की को निकालने में सहायता के लिए कहा। इसका उत्तर उसने यह दिया—"हमारे हाथ में इस समय ऐसी सुन्दर एवं सभ्य जाति की लड़कियाँ आई हैं। आगे चलकर वे हमारी जाति की वृद्धि करनेवाली हैं। ऐसी स्थिति में हम इनको अपने हाथ से जाने कैसे दें? हमारे यहाँ इसे सवाब समझा जाता है। हर एक मुसलमान की यही धारणा है। यदि आप पराई लड़कियों को छोड़ रहे हैं तो इसका अर्थ यह नहीं कि हम भी मूर्खता का प्रदर्शन करें।"

इतिहास के विद्यार्थी के रूप में इस समस्या पर विचार करने से मालूम होता है कि इस मामले में भारत-सरकार की नीति का असफल होना निश्चित बात है। यहाँ यह समझा जाता है कि इधर से सभी मुसलमान स्त्रियों को निकालकर पाकिस्तान भेज देना चाहिए। पाकिस्तान इसको भारत की निर्बलता समझता है। इसी कारण पाकिस्तानी अफ़सर इनी-गिनी वृद्ध हिन्दू स्त्रियों को लौटाते हैं। इस समस्या को महाराज रणजीतसिंह के सेनापति क्षत्रिय-वीर हरिसिंह नलवा ने भी हल किया था। ऐबटाबाद के पास के मुसलमान हरिपुर-प्रदेश की कुछ सौ हिन्दू स्त्रियाँ उठा ले गये। नलवा के आदमी जब मुसलमानों की दुगुनी स्त्रियाँ पकड़ लाये तब हरिसिंह ने डौंडी पिटवा दी कि जो मुसलमान एक हिन्दू स्त्री को हमारे यहाँ लायगा उसे दो मुस्लिम स्त्रियाँ वापस दी जायँगी। परिणाम-स्वरूप कुछ ही दिन में सभी अपहृत हिन्दू स्त्रियों को मुसलमानों ने उनके घरों में पहुँचा दिया।

अब भारत-सरकार के सामने अन्य समस्याओं के अतिरिक्त निर्वासितों की समस्या भी है। लगभग एक करोड़ हिन्दू (जिनमें सिख, जैन, आर्यसमाजी आदि सभी संप्रदाय

सम्मिलित हैं) पाकिस्तान से निकाले गये हैं। इनमें से अधिकतर को अपना कोई माल-असबाब नहीं लाने दिया गया, बल्कि जो वहाँ से ला सके उनके कपड़े भी पाकिस्तानियों ने रास्ते में उतरवा लिये। इसलिए पश्चिमी पंजाबी, सिंध, सीमाप्रांत आदि के निर्वासित इस समय जगह-जगह भटक रहे हैं। उनके पास खाने को अन्न, पहनने को कपड़ा, सिर छिपाने को स्थान या आजीविका के लिए काम नहीं। सरकार कहती है कि उसने इस समस्या को हल करने के लिए करोड़ों रुपये खर्च किये हैं। परन्तु इसका बड़ा भाग न मालूम कहाँ चला गया है। फिर इन निर्वासितों को घरों से निकले दो बरस हो चुके हैं, फिर भी इनके लिए झोंपड़ियाँ भी नहीं बन पाईं।

दु:ख से कहना पड़ता है कि हमारा राष्ट्रीय चरित्र बहुत गिर चुका है। न तो विभिन्न प्रांतों के लोग इन निर्वासितों को अपने भाई समझते हैं और न हमारा चरित्र इतना ऊँचा है कि हम सरकारी काम को ईमानदारी से करें। इस कारण चारों ओर अंधकार ही अंधकार है।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
४	७	उलती	उलने
६	२३	सम्भावना	भावना
७	२०	विभिन्नतया	विभिन्न मत
१०	२६	बना	आधार बना
११	२३	शुद्धता	शुद्धता का
१२	२६	किसी	किसी आक्रा-मणकारी
२०	१६	वभिन्न	विभिन्न
२१	१३	ही	ही ने
२६	१	उदेश	उद्देश
२६	७	हर	इस
२८	१०	की	में
३१	११	की	की ओर से
३१	१८	स्वभविकतया	स्वाभाविकतया
३४	२०	की	निशिशल के प्रति
३५	६	मिलाकर	मिला दिया जाय तो
३७	५	ये	से
३७	२१	दूसरे	दूसरा
४३	१४	करती	करते
४५	६	नेता	नेता आगे
४७	१४	जगत	जगद्
५१	५	का	को
५१	२०	शक्ति की	शक्ति को
५३	१३	पहला	"पहला
५४	१४	पूर्णत्यी	पूर्णतया
५४	१५	क्रांति	क्रान्ति
५५	१३	गग्घर	घग्घर
६२	१६	सजरी	सर्जरी
६३	१३	को दोबारा	को
६३	२३	शत्र	शत्रु
६४	१८	ट्राय	ट्रायं
६७	१४	अहुरमज्द	अहुरमज्द
६७	२१	पाराना	पाल्ना
७५	७	में	पर
९०	१४	शताब्दियों	शताब्दिया
९२	१८	भीम	भीष्म
९५	५	युधिष्ठर	युधिष्ठिर
९६	२८	द्रपद	द्रुपद
९९	१०	गये।'	गये,
१०१	६	था	या
१०४	११	अकल्पयंत्	अकल्पयन्
१०८	१३	अग्न	अग्नं
१०८	१८	अहस्ताक्ष	अहस्ताक्ष
११३	१३	जाता है।	जाता।
११६	११	शुद्र	शूद्र
११८	६	बाद	बाद में
११८	१५	वैशिक	वैशेषिक
१२१	१२	सबमें	सबके
१२२	१३	बिल्ली के	बिल्ली की
१२८	२३	याद से	याद में
१३२	८	भारत में	भारत से
१३७	१४	हूणों	गणों

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१५३	११	ई० पू० में	ई० पू० का
,,	१६	पहूलवों	पहलवों
१५९	५	पदाक्रांत	पादाक्रांत
१६०	२	प्रतिष्ठायक	प्रतिष्टापक
१६५	१०	जाजौर	बाजौर
१७४	६	रहा था	रहे थे
,,	६	उसे	उन्हें
१९०	२०	कराया	कि कराया
१९५	७	कीनी भचाषांत	चीनी भाषांतर
२०१	१०	उनको	उसको
,,	११	उनकी	उसकी
२१२	१४	खेदपूर्ण	खेदपूर्वक
२१३	४	था। कारण	था, इस कारण
२१५	६	इसका	इस समय
२१८	१६	बद्द	बद्दू
२३६	१९	से भी ब्याह	से ब्याह भी
२४३	१७	निकले	निकल गये
२५४	१४	उपसेकड़	उसे पकड़
२५५	६	दीपाल	दीपालापुर
२५५	६	जालंधरपुर	जालंधर
२५६	६	पठानी	पठान
२५८	१०	शीलावती	लीलावती
२५८	२५	'कारबुन'	'कारकुन'
२६५	२०	दाराशिकोह के	दाराशिकोह को
२७०	८	किया	किया गया
२८०	१५	समाजिक	सामाजिक
२८१	१७	उन्हें	वे
२८५	४	हरगोविंदसिंह	हरगोविंद
२८४	५	गोविंद	गोविंदसिंह

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
२८६	२५	बुद्धिमा दुन्र्गा	बुद्धिमान् दुर्गा
२९०	२	फदे	फँदे
,,	१२	अंतम	अंतिम
,,	२१	काम	काल
,,	२२	बान	बन
३०२	१२	निर्दोश	निर्देश
३०७	३	अन्धे	अच्छे
३०९	१३	अग्रण	अग्रणी
३१२	४	स्वच्छाचारी	स्वेच्छाचारी
३२६	५४	में मालिक	के मालिक
३३७	२१	सँहाले	सँभाले
३३८	२	सत्ता दो	सत्ता को
३४६	२२	किया	दिया
३५३	१०	कहाँ आते	कहाँ से आते
३५६	२६	अब्दाली	अब्दाली को
३६२	२०	फुव्हारों	फुहारों
३७७	२४	चनपोट	चनपोट
३८३	१७	सिद्ध अफसर	अफसर सिद्ध
३९१	२४	जालंधर,	शत्रु जालंधर
३९२	२५	(महाराज)	महाराज में
३९४	२६	जहाँ	वहाँ
३९७	८	धार्मिक प्रवृत्ति	प्रवृत्ति धार्मिक
४१६	७	जंजीरों में	जंजीरों से
४४३	२४	दिया	किया
४४६	१४	मांमंह	मांमंद
४४८	२४	बनाता।	बताना
४६४	२४	भेंसबादी	सबादी
४६७	२०	का	को
४६८	१	अवाल	अकाल
४७५	१६	मोतीराम	मोतीराम था

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
४७७	२२	दीवान उमे	उसे
"	२६	अमृतसर	अमृतसर के
४८९	२५	रखा	रख
५०२	७	पक्की	पक्की
५३१	२	समय	समान
५३३	११	कड़ा	कटरा
"	"	आदि के	आदि
५३९	११	वे	ये
५४५	१	अँगरेज	अँगरेजी
५५०	२३	का	से बिजली का
५५२	१८	ताक	ताकि
५५६	२०	मैरांवाल	भैरोंवाल
५५७	२०	रेजीडेंट	रेजिडेंट
"	२५	रेजीडेंट	रेजिडेंट
५५९	२६	म: एक	कारण: मनुष्य
५६९	२६	किया	दिया
५९०	१०	ने	अर्थात् ने
"	११	पाँचवें दस्ते की	की
"	११	कर कर	"पाँचवें दस्ते" की
५९२	११	गिलबर्ट को	को गिलबर्ट
"	१५	हय	यह
५९३	१०	पर	से
६०३	१४	पाकिस्तान	अफगानिस्तान
६०९	१२	बिरली	बिरले
६०९	२०	सूबों	उन
६१२	६	अँगरेज	एक अँगरेज
६१४	१७	बौद्धिक	वैदिक
६१७	२१	की	ने वह
"	२३	सरकार ने	स्वयं
६२६	१५	रिफ़ार्म	रिफाज्म
६३६	११	साले	सीले
६४२	२२	शासन	शासक
६७५	९	इसमें	में
"	२०	से	के
६७८	२२	यौ	गौ
६८०	९	पकार	प्रकार
६९२		बलराम	बलीराम
६८४	१८	विरोध	विरोधी
६८५	१०	पर	पर उसने
"	२३	प्रस्तुत-पत्रक	पत्रक प्रस्तुत
६८८	१८	अंतरिक्त	अंतरिम
६८९	१२	छाया	छाया में
६९५	७	अन्य	अन्न
"	१४	अन्य	वन्य
६९६	१	टीके	टोके
६९८	१७	औषधि	औषध
६९९	२३	अयुक	अमुक
७०१	४	पंजाबी	पंजाब